हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता

लेखक

बेनी प्रसाद,

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, (लन्दन)।

प्रोफ़ेसर, राजनीतिशास्त्र ;

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

प्रयाग

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त।

१९३१

विषय-सूची

भूमिका

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता इतना बड़ा विषय है कि उसकी विवेचना के लिये हज़ारों पृष्ठों की कई पुस्तकों की ज़रूरत है। छः सात सौ पृष्ठों में उसका दिग्दर्शन भी कराना मानो सागर को गागर मे भरना है। यह पुस्तक न तो हिन्दू सभ्यता का पूरा इतिहास है, न उसका पूरा वर्णन है। इस में केवल कुछ मोटी मोटी बातों का थोड़ा सा उल्लेख है। विशेष अध्ययन के लिये पाठक उन ग्रन्थों और पत्रिकाओं को पढ़ें जिनका हवाला मूलपाठ में और टिप्पणियों में दिया है।

हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास के सम्बन्ध मे विद्वानों की जानकारी अभी अधूरी है और सैकड़ों बातों पर अभी मतभेद है नई नई सम्मतियां निकल रही हैं और कट रही हैं। इस पुस्तक में लेखक ने अपने अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि मूल सामग्री को पढ़ कर अपनी स्वतंत्र सम्मति स्थिर करें। पुस्तक में सब जगह तारीख़ ईस्वी सन् में लिखी हैं क्योंकि वही आज कल संसार में अधिकतर प्रचलित है।

भाषा के बारे में दो शब्द कहने हैं। जो शब्द हमारी मामूली बोल चाल में प्रचलित है उनको हिन्दी शब्द मानना चाहिये। वह संस्कृत से निकले हों या प्राकृत से; फ़ारसी से निकले हों या अरबी से; पर जब उनका चलन हो गया तब वह हमारे ही हैं। उनका बहिष्कार करना अपनी भाषा के भंडार को संकुचित करना है। अगर आज भी वह कुछ लोगों को कर्णकटु मालूम होते हैं तो इस का कारण यह है कि अब तक हम ने साहित्य में संकच

की नीति का अनुसरण किया है। स्वतंत्र प्रयोग से कर्णकटुता जल्द ही मिट जायगी और भाषा का कोष भी बढ़ जायगा।

इस पुस्तक के प्रूफ़ श्रीयुत विश्वेश्वर प्रसाद एम० ए०, इतिहास विभाग, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, ने देखे हैं। इस अनुग्रह के लिये उन को धन्यवाद देता हूँ। अनुक्रमणिका के लिये श्रीयुत् सत्यजीवन वर्मा एम० ए०, और शुद्धिपत्र के लिये श्रीयुत् विजयचन्द्र पांडे बी० ए०, एंव श्रीयुत् रामचन्द्र टंडन एम० ए० एल-एल० बी० को धन्यवाद देता हूं। मुझे बड़ा खेद है कि पुस्तक में छापे की ग़लतियां बहुत ज़्यादा हैं। कहीं कही इनसे अर्थ का अनर्थ हो जाने का डर है। मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूं और प्रार्थना करता हूं कि पढ़ने के पहिले शुद्धिपत्र के द्वारा पाठ को शुद्ध कर लें।

बेनी प्रसाद

संक्षेप

ई० आई०—एपिग्राफिया इंडिका (Epigraphia Indica).

आई० ए०—इंडियन एंटिक्वेरी (Indian Antiquary).

जे० आर० ए० एस०—जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी (Journal of the Royal Asiatic Society).

जे० बी० बी० आर० ए० एस०—जर्नल आफ़ दि बम्बई ब्रांच आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी (Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society).

जे० बी० ए० एस०—जर्नल आफ़ दि बंगाल एशियाटिक (Journal of the Bengal Asiatic Society).

जे० बी० ओ० आर० एस०—जर्नल आफ़ दि बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सुसायटी (Journal of the Bihar and Orissa Research Society).

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता।

पहिला अध्याय।

प्रारम्भ।

हिन्दुस्तान का इतिहास

यों तो सारा इतिहास एक है पर पढ़ाई की सुगमता के लिये अन्य देशों की तरह हिन्दुस्तान के इतिहास के भी तीन भाग किये जा सकते हैं—एक तो प्राचीन, जो बहुत ही पुराने समय से लेकर बारहवीं ईस्वी सदी तक रहा; जिसकी सभ्यता की परम्परा कभी टूटने न पाई; जिसके धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य, कला की धाराएं सारे देश में अपने ख़ास ढंग से बेखटके चलती रहीं और जिसके संगठन के मूल सिद्धान्तों को किसी भारी आपत्ति का सामना न करना पड़ा। बारहवी सदी में यह स्थिति बदल गई, उत्तर-पच्छिम से नई जातियां, नया धर्म, नई सभ्यता आईं जिन्हों ने देश की राजनैतिक अवस्था बिल्कुल बदल दीं, जिन्होंने समाज पर भी बहुत असर डाला और भाषा साहित्य कला के मार्गों को बदल दिया। इस वक्त से माध्यमिक भाग प्रारंभ होता है जो अठारहवीं सदी तक रहा। पुरानी सभ्यता के बहुत से सिद्धान्त और तत्व इस काल में भी मौजूद थे; देश के सब ही हिस्सों में उन्होंने बहुत सा विकास भी पाया पर नई शक्तियों और प्रभावों

से मिल कर वह एक नई सभ्यता के रूप में बदल गये। अठारहवीं सदी से हमारे इतिहास का अर्वाचीन भाग प्रारंभ होता है जिस में यूरोपियन प्रभावों से देश की राजनैतिक और आर्थिक अवस्था फिर उलट पलट हो जाती है और जीवन के सब अङ्ग बड़ी तेज़ी से रंग बदलते हैं। हर एक देश के लिये अर्वाचीन इतिहास सब से उपयोगी होता है क्योंकि वह वर्तमान स्थिति पर सब से ज़्यादा प्रकाश डालता है और वर्तमान गुत्थियों को सुलझाने में सब से ज़्यादा मदद देता है। पर कई कारणों से हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास का समझना भी बहुत ज़रूरी है। एक तो बहुत से पुराने विचार और रीति रिवाज अब तक क़ायम है; पुराने वेदान्त की प्रभुता अब तक बनी हुई है; पुराना संस्कृत साहित्य आज भी भाषा साहित्यों पर पूरा असर डाल रहा है; पुराने धर्मों के सिद्धान्त अभी तक माने जाते हैं। दूसरे, माध्यमिक और अर्वाचीन इतिहास के मर्म को पुराने इतिहास के बग़ैर कोई समझ नही सकता। तीसरे, प्राचीन समय में पच्छिम एशिया और पूर्वी एशिया पर हिन्दुस्तानी धर्म और संस्कृति का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि वह आज तक नही मिटा है। इन दूरवर्ती देशों की सभ्यता को समझने के लिये हिन्दुस्तान का पुराना इतिहास आवश्यक है। चौथे, वैज्ञानिक दृष्टि से भी पुरानी भाषा, कथा, धर्म, काव्य, गणित, ज्योतिष, एवं सामाजिक और राजनैतिक संगठन का बड़ा महत्व है। पुराने ज़माने में बहुत सी रचनाएँ हुईं जो आज कल की सामाजिक विद्याओं, दर्शनों और भाषा इत्यादि के विज्ञानों के बड़े काम की हैं। सच तो यह है १९ वी सदी में बौप, ग्रिम, मैक्स-मुलर इत्यादि ने जो नये २ शास्त्र चलाये वह हिन्दुस्तानी संस्कृति के आधार के विना ठहर ही न सकते थे। जब हिन्दुस्तानी सामग्री

का पूरा प्रयोग हो चुकेगा तब आज कल के समाजशास्त्र (सोशियोलोजी) का रूप बदल जायगा।

सामग्री

सौ बरस से विद्वानों की शिकायत है कि पुराने समय में हिन्दुस्तानियों ने इतिहास बहुत कम लिखा, अपनी किताबों या इमारतों या मूर्तियों पर तारीख़ डालने की परवा नहीं की और अब हमारे लिये पूरा इतिहास लिखना असम्भव सा कर दिया। राजनैतिक इतिहास के लिये तो आज बहुत सी खोज के बाद भी यह शिकायत दुरुस्त है। सभ्यता के इतिहास के लिये भी शिकायत ठीक है कि तिथियों के न होने से विकास का क्रम अच्छी तरह स्थिर नहीं होता। पर इसके बाद जो कठिनाई पड़ती है वह सामग्री की कमी से नहीं किन्तु बहुतायत से पैदा होती है। संस्कृत और पाली के साहित्य इतने विशाल हैं कि बरसों की लगातार मेहनत के बाद कहीं थोड़ा सा अधिकार उन पर होता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ही बरसों के लिये काफ़ी हैं। उनके बाद बहुत से श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र आते हैं जिन में सभ्यता के इतिहास की सामग्री मानो अक्षरशः कूट २ कर भरी है। दो बड़े वीर काव्य रामायण, और विशेष कर महाभारत अथाह सागर से जान पड़ते हैं। इस समय के बाद ही बौद्ध साहित्य शुरू होता है जिसके पाँच पाली निकाय और अन्य ग्रन्थ हज़ारों पृष्ठों में हैं। दूसरी ई० सदी के लगभग से संस्कृत साहित्य की धाराएं फिर प्रारंभ होती हैं। एक ओर तो मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पराशर इत्यादि के धर्मशास्त्र हैं जिनका क्रम अठारहवीं ई० सदी तक जारी रहा। दूसरे, वह रचनाएं हैं जो कुछ अदल बदल कर आठवीं सदी के लगभग १८ पुराणों के रूप में प्रकट हुईं। तीसरे, अर्थशास्त्र,

साहित्य

कामशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि हैं जो धर्म से कुछ गौण सम्बन्ध रखते हैं। चौथे, भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, बाणभट्ट, माघ, दण्डी, सुबन्धु, क्षेमेन्द्र, गुणाढ्य, सोमदेव इत्यादि का लौकिक काव्य है जिसमें युग २ की सभ्यता की तसवीर खिंची हुई है। पांचवें, बौद्ध संस्कृत साहित्य है जिसके बहुत से ग्रन्थों का पता हाल में ही नैपाल, तिब्बत, चीन और जापान से लगा है। छठे, संस्कृत और पाली जैन साहित्य है जो ब्राह्मण या बौद्ध साहित्य से किसी तरह कम नहीं है और जो बहुत से अंशों में उनकी सामग्री को पूरा करता है। सातवें, ब्राह्मण, बौद्ध और जैन लेखकों के व्याकरण, कोष, गणित, ज्योतिष्, कला इत्यादि २ के ग्रन्थ हैं जो अपने विषय के अलावा कभी २ राजनीति और समाज की बातों का भी उल्लेख करते हैं। आठवें, इन सब श्रेणियों के साहित्य की टिप्पणियां हैं जो लगभग सातवीं सदी से लेकर आज तक लिखी गई हैं। नवें, धुर दक्खिन का तामिल साहित्य है जिसकी परम्परा ईस्वी सन् के पहिले तक पहुंचती है। अधिक उपयोगी ग्रन्थों का ज़िक्र आगे किया जायगा और उनकी तिथि बताने का यथासम्भव उद्योग किया जायगा। यहां केवल इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि वेदों से लेकर १२वीं सदी तक का साहित्य हमारी पुरानी सभ्यता के इतिहास का मूल आधार है।

शिलालेख और ताम्रपत्र

पर सौभाग्य से कुछ और सामग्री भी है जो साहित्य की कमी को, बिल्कुल तो नहीं पर बहुत कुछ, पूरा कर देती है। ई० पू० तीसरी सदी में बौद्ध सम्राट् अशोक ने बहुत से लेख प्रजा की उन्नति के लिये शिलाओं पर खुदवाये जो आज तक वैसे हो बने हुये हैं और जिनका अर्थ प्रिंसेप, फ्लीट, हुल्ट्ज् और भांडारकर इत्यादि विद्वानों ने स्पष्ट कर दिया है। ई० पू० दूसरी सदी में उत्कल के

जैन राजा खारवेल का हाथीगुम्फा लेख है। पहिली ई० सदी के बाद आंध्र, क्षत्रप इत्यादि नरेशों के, चौथी सदी के बाद गुप्त महाराजाधिराजों के, और उसके बाद १२वी सदी तक देश के प्रायः सब ही राजवंशों के शिलालेख, ताम्रपत्र इत्यादि बहुतायत से मिलते हैं। बङ्गाल एशियाटिक सुसायटी. रायल एशियाटिक सुसायटी और उसकी बम्बई शाखा, एवं विहार और उड़ीसा रिसर्च सुसायटी की पत्रिकाओं में, कोर्पस इन्सक्रिपशनम् इन्डिकेरम्, इन्डियन एन्टिक्वेरी और एपिग्रेफिया इन्डिका में ऐसे हज़ारों लेख बीसों विद्वानों ने सम्पादन करके अपनी टीकाओं के साथ छपाये हैं। दक्खिन के लेख जो संख्या में और भी ज़्यादा हैं और जो १७ वीं सदी तक पहुंचते हैं एपिग्राफ़िया कर्नाटिका, साउथ इन्डियन इन्सक्रिपशन्स और मद्रास एपिग्रेफिस्ट्स रिपोर्ट में भी प्रकाशित हुये हैं। इन लेखों से सैकड़ों राजाओं और महाराजाधिराजों की तिथि और करनी मालूम पड़ती है, राजशासन का चित्र खिच जाता है और कभी २ समाज, आर्थिक स्थिति और साहित्य की बातों का भी पता लगता है।

यही प्रयोजन सिक्कों और मुहरों से भी सिद्ध होता है। जो ई० सन् के प्रारंभ के लगभग से पञ्जाब, सिंध, मालवा इत्यादि प्रदेशों में मिलते हैं। कभी कभी तो यह सिक्के धार्मिक और सामाजिक समस्याओं को मानो चमत्कार से हल कर देते हैं।

सिक्के और मुहर

सामाजिक और धार्मिक इतिहास के लिये पुरानी मूर्तियों और भवनों के ध्वंसावशेष भी बहुत उपयोगी हैं। तक्षशिला, सारनाथ, पाटलिपुत्र आदि को खोद कर जो मकान, बरतन, मूर्ति वग़ैरह

भवन और मूर्ति

निकाली गई हैं, इलूरा, अजन्ता, कार्ली इत्यादि में जो गुफ़ायें और चैत्यालय हैं, सांचो इत्यादि में जो स्तूप हैं वह पुरानी निर्माण कलाओं के भी अच्छे उदाहरण देते हैं। हिन्दू सभ्यता के इस अंग को समझने के लिये लंका, वर्मा, स्याम, कोचीन चाइना, जावा, सुमात्रा और वाली के उन मंदिरों और मूर्तियों पर नज़र डालना भी ज़रूरी है जिनके सिद्धान्त और नियम हिन्दुस्तान से लिये गये थे और जो असल में हिन्दू संस्कृति के ही हिस्से हैं।

विदेशी लेख

पुराने हिन्दुस्तान के बारे में कुछ परदेसी यात्रियों या लेखकों ने भी अपनी देखी या सुनी बातें लिखी हैं। इनके वर्णनों में बहुत सी आवश्यक बातों का ज़िक्र हैं जिनको हिन्दुस्तानियों ने साधारण समझ कर कहीं नही लिखा। ई० पू० छठी—पाँचवीं सदी में सिन्ध नदी के पच्छिम का प्रदेश ईरान के विशाल साम्राज्य में मिला लिया गया था। हेरोडोटस इत्यादि ग्रीक लेखकों ने,

ग्रीक

जिनके देश का सम्पर्क ईरान से था, हिन्दुस्तानियों के बारे में भी दो चार बातें कही हैं। ई० पू० ३२७ में मेसीडोनिया के महाराजा सिकन्दर (एलेक्ज़ान्डर) के साथ कुछ ग्रीक लेखक भी आये थे जिनके इतिहासों और वृत्तान्तों के अंश आगे के लेखकों में मिलते हैं। १०-१५ बरस के बाद सेल्यूकस निकेटर के राजदूत मेगस्थेनीज़ ने अपना देखा और सुना हुआ बहुत सा हाल लिखा। उसकी मूल रचना तो लोप हो गयी है पर इसकी बहुत सी बातें और लेखकों में इधर उधर पाई जाती हैं। इसी तरह कुछ अन्य ग्रीक और लैटिन किताबों में हिन्दुस्तान के बारे में ई० सन् के प्रारम्भ के इधर उधर की बातें लिखी हैं। पुराने यूरोपियन साहित्य के इन बिखरे हुये वाक्यों को १८४६ में जर्मन विद्वान् ई० ए० श्वान-

बक ने इकट्ठा करके प्रकाशित किया था। इनका अंग्रेज़ी अनुवाद जे० डब्ल्यू मेकक्रिंड्ल ने किया है। इन लेखों का उपयोग करते समय यह याद रखना ज़रूरी है कि भाषा और रीति रिवाज से अनभिज्ञ होने के कारण विदेशी यात्री कभी २ धोखा खा जाते हैं। दूसरे, हमारे पास तक जो वचन पहुँच पाये हैं उनमें शायद बीच के लेखकों ने, जो हिन्दुस्तान से बिल्कुल अपरिचित थे, कुछ नमक मिर्च लगा दिया है।

चीनी

पाँचवीं और सातवी ई० सदी के हाल के लिये चीनी यात्री बड़े काम के हैं जो बुद्ध भगवान के जीवनक्षेत्रों का दर्शन करने और बौद्ध शास्त्र पढ़ने और जमा करने आये थे। फ़ाहियान (५ वीं ई० सदी) का अनुवाद जाइल्स ने, और लेज ने भी अंग्रेजी में किया है और टामस वार्टर्स ने 'चाइना रिव्यू' के आठवें भाग में कुछ टिप्पणी की है। ह्वेनसंग या युआनच्वांग (७ वी ई० सदी) का अनुवाद सेम्युएल बील ने और थोड़ा सा वार्टर्स ने किया है। इट्सिंग (७ वी सदी) का अनुवाद जापानी विद्वान् टकाकुसू ने किया है।

पच्छिमी ऐशिया से हिन्दुस्तान का व्यापारिक सम्बन्ध ई० पू० ६-८ वीं सदी से चला आता था। इसके बाद बहुत से हिन्दू राजाओं ने पच्छिमी शासकों से मेल मिलाप के सम्बन्ध भी किये। ८वी ई० सदी से मुसलमानों से राजनैतिक सम्बन्ध प्रारंभ हुआ। ८ वी सदी में सिन्ध पर मुहम्मद बिन क़ासिम की अरब फ़ौज ने हमला करके विजय पाई।

अरब

अरबों में इतिहास लिखने की कला ने बहुत उन्नत पाई थी। सुलेमान, अबू ज़ैदुलहसन, इब्न खुर्दबा,

अलमसूदी, अल् इदरीसी इत्यादि अरबों ने नवी और दसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ हाल लिखा। १३वी सदी में चचनामा अर्थात् तारीख़ हिन्द वा सिंध की रचना हुई जिसमें ८वी सदी की लिखी हुई बहुत सी बातें शामिल कर ली गईं। ११वी सदी मे पंजाब और सिन्ध पर हमला करके महमूद ग़ज़नवी ने हिन्दुस्तान का दर्वाज़ा उतर पच्छिम वालों के लिये फिर खोल दिया। उसके दर्बार का एक विद्वान् अल्बेरूनी हिन्दुस्तान आकर संस्कृत का पूरा पंडित हो गया। उसने हिन्दू धर्म, साहित्य, विज्ञान इत्यादि का ऐसा चित्र खींचा जैसा पहिले किसी के ख़याल में भी न आया था। उसके बाद और मुसलमान तारीख़ों में भी कही २ हिन्दू सभ्यता की कुछ बातों का ज़िक्र आगया है। ग्रीक, लैटिन, चीनी और अरब ग्रन्थों का बहुत सा अनुवाद अंग्रेजी के द्वारा हिन्दी में भी हो चुका है।

भूगोल का असर

इस तमाम सामग्री के आधार पर इतिहास लिखने के पहिले सभ्यता के क्षेत्र पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। एशिया महाद्वीप के दक्खिन में हिन्दुस्तान कोई १८०० मील लम्बा और १८०० मील चौड़ा देश है जिसक रक़बा (वर्मा को छोड कर) लगभग १५ लाख वर्ग मील है। पर यह याद रखना चाहिये कि उत्तर की ओर नैपाल, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया का कुछ हिस्सा और दक्खिन की ओर लंका भी हिन्दू सभ्यता के दायरे में शामिल थे। दूसरे, फ़ारस बलोचिस्तान, सिंध और राजपूताने का रेगिस्तान पहिले इतना बड़ा न था जितना कि आज है। आरेल स्टाइन वग़ैरह ने ज़मीन खोद कर बालू के नीचे से जो शहर और मकान निकाले हैं वह

उत्तर पच्छिम

साबित करते हैं कि किसी समय हिन्दुस्तान के बाहर पच्छिमी रेगिस्तान की जगह पर हरे भरे खेत थे और घनी आबादी थी। सब प्रमाणों को जमा करने से यह नतीजा निकला है कि ई० पू० ६ वीं सदी से ई० स० की ६ वी सदी तक प्राकृतिक कारणों से ज़मीन धीरे २ सूखती गई, पानी कम होता गया और रेत के ढेर के ढेर निकलने लगे। जब तक रेगिस्तान न था या थोड़ा ही बना था तब तक हिन्दुस्तान और पच्छिमी देशों में व्यापार और आना जाना बराबर हुआ करता था। इस लिये इन प्रदेशों की सभ्यताओं ने एक दूसरे पर बहुत असर डाला।

आब हवा में परिवर्तन

आब हवा के बारे में भी यह कह देना आवश्यक है कि जैसा एल्जुवर्थ हंटिङ्गटन ने 'सभ्यता और आबहवा' 'तथा एशिया की नब्ज़' इत्यादि पुस्तकों में और दूसरे लेखकों ने संसार भर से नये पुराने तथ्य जमा करके सिद्ध किया है, बहुत से स्थानों की आब हवा बदल गई है। पुराने हिन्दुस्तान के बारे में दृढ़तापूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर सरस्वती इत्यादि नदियों के अस्तित्व से, रेगिस्तान की कमी से, जंगलों की बहुतायत से, और वैदिक साहित्य में ठंढे देशों से आये हुये आर्यों में गर्मी की कोई शिकायत न होने से, यह अनुमान अवश्य होता है कि उत्तर हिन्दुस्तान की आब हवा तीन चार हज़ार बरस पहिले आजकल के बराबर गर्म न थी। शायद यह भी एक कारण हो कि ऋग्वेद का जीवन का आनन्द और उल्लास फिर कभी नहीं दिखाई देता। छः हज़ार बरस पहिले के प्रमाण तो अब अच्छी तरह दिये जा सकते हैं। हड़प्पा और मोहे-नजोदड़ो में गेंडे और हाथी के चिन्ह मिलते हैं पर बबर शेर का कोई निशान नहीं मिलता। स्पष्ट है कि उस समय सिंध और पच्छिमी पंजाब में नमी ज़्यादा थी और हरियाली भी ज़्यादा थी।

यह भी साबित हो चुका है कि सिन्ध प्रान्त में उस समय सिंध नदी के अलावा एक और नदी भी बहती थी।

हिमालय पर्वत

हिन्दुस्तान के उत्तर में हिमालय है जो संसार की सबसे ऊंची पर्वतश्रेणी है, जिसकी एक ही घाटी में सारा आल्प्स् समा सकता है, और जो १५०० मील तक फैली हुई है। अगर हिमालय न होता तो तिब्बत की तीखी सर्द हवाएं उत्तर हिन्दुस्तान में आदमी का रहना ही मुश्किल कर देतीं और ज़मीन को उपजाऊ बनानेवाली नदियाँ कहीं भी न होती। यही देख कर एक समय हिन्दुओं ने हिमाचल को देवता माना था। दक्खिन-पूरब और दक्खिन-पच्छिम से आनेवाली मौसिमी हवाएं हिमालय से रुक जाती हैं, ठंढी हो जाती हैं, और उत्तर प्रान्तों में मूसलाधार पानी बरसाती हैं। इतिहास पर हिमालय पहाड़ का एक बड़ा असर यह भी हुआ है कि तिब्बत और तुर्किस्तान से या यों कहना चाहिये कि मंगोलियन संसार से हिन्दुस्तान का सम्बन्ध कम रहा। उत्तर के दर्रे इतने छोटे, ठंढे और डरावने हैं कि उनमें हो कर आना जाना बहुत मुश्किल है।

उत्तर-पूरब की पर्वत-श्रेणी

उत्तर-पूरब की तरफ़ पर्वतश्रेणी नीची हो गई है और इस लिये कुछ आमदरफ्त भी होती रही है। उधर से कुछ मंगोलियन आकर आसाम या शायद पूर्वबंगाल में भी बसे थे। पर इस तरफ़ का प्रदेश जंगलों और जंगली जातियों से ऐसा घिरा है कि इस ओर से व्यापारिक और मानसिक सम्बन्ध बहुत नहीं हो सका। चीन और हिन्दुस्तान से जो सम्पर्क था वह ज़्यादा तर समुद्र की राह से या मध्य एशिया के द्वारा था।

इसके विपरीत हिमालय पहाड़ की उत्तर-पच्छिमी नीची घाटियों के दर्रों ने हिन्दुस्तान के सारे इतिहास पर अपनी छाप लगा दी है। इस तरफ़ कई दर्रे हैं जिनमें होकर आर्य लोग हिन्दुस्तान आये थे और उनके पीछे ईरानी, ग्रीक, कुशन, सिथियन, हूण, अफ़गान और तुर्क आये जिन्होंने हिन्दुस्तान की राजनीति, समाज और सभ्यता पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इन रास्तों से ११ वीं ई० सदी तक मध्यएशिया, पूर्वी एशिया और योरप से व्यापार भी बहुत होता रहा और साहित्य, कला, दर्शन, के विचार भी आते जाते रहे।

उत्तर-पच्छिम की घाटियां

उत्तर का मैदान, जिसमें सिंध, गंगा, ब्रह्मपुत्र और सहायक नदियां बहती है, दुनिया के बड़े उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में गिना जाता हैं। कलकत्ते से पेशावर तक चले जाइये, कहीं कोई पहाड़ी या टीला न मिलेगा, कहीं कोई रेगिस्तान न मिलेगा। हर जगह हरे भरे खेत लहराते हैं, खेती के लिये उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता जितना इंग्लिस्तान, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि ठंढे और कुछ २ पहाड़ी देशों में करना पड़ता है। सदा से खेती ही यहां का प्रधान उद्योग रही है और सारी सभ्यता पर खेती की प्रधानता की मुहर सी लग गई है। जनता ज़्यादातर गाँवों में रहती हैं, गांव ही जीवन का केन्द्र है राजनैतिक संगठन का आधार है, आर्थिक जीवन का मूल है। इस मैदान में कोई प्राकृतिक रुकावट न होने के कारण सभ्यता, संगठन, धर्म भी एक से ही रहे, छोटी मोटी बातों में थोड़ा बहुत फ़र्क़ ज़रूर था, पर सिद्धान्त का कोई अन्तर नहीं था। जहां प्रकृति और सभ्यता की इतनी एकता हो वहां राजनैतिक एकता का प्रयत्न ज़रूर ही होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही, अर्थात् ई० सन् से कोई १००० बरस पहिले समुद्र

उत्तर का मैदान

के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैलनेवाले राज्य की कल्पना हो गई थी। मौर्यवंश, खारवेल, आंध्र, गुप्त, वर्धन और गूर्जर प्रतीहार वंशों ने इस कल्पना को चरितार्थ भी कर दिया। पर रेल, तार, बेतार इत्यादि के पहिले दुनिया भर में बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रदेशों का शासन बड़ी कठिनाई का काम था। इस लिए कभी तो बड़ा साम्राज्य बन जाता था और कभी उसके टुकड़े २ हो जाते थे। अठारहवीं सदी तक हिन्दुस्तान का राजनैतिक इतिहास इसी चक्र पर घूमता रहा। विशाल साम्राज्यों के समय में भी यात्रा की वर्तमान सुगमताएं न होने से प्रदेशों को बहुत कुछ स्वतंत्रता देनी पड़ती थी। ऐसा राजनैतिक संगठन होना भूगोल के कारणों से अनिवार्य था। पुराने ग्रीस से तुलना कीजिये तो साफ़ मालूम हो जायगा कि यहां एथेन्स, कारिंथ, से नगर राज्य बन ही न सकते थे और न वैसा घोर प्रज्वलित राजनैतिक जीवन ही पैदा हो सकता था। सिंध-गंगा मैदान इतना बड़ा है, इसके साधारण भाग भी इतने बड़े हैं कि यहां जनसत्ता के लिये राज्य के सब लोगों का इकट्ठा होना या प्रतिनिधियों का भी अच्छी तरह मिलना जुलना बहुत कठिन था। यही कारण है कि कई मामलों में जनसत्ता का सिद्धान्त मानते हुए भी यहां केन्द्रिक शासन में जनसत्ता का रूप लाना टेढ़ी खीर थी।

नदियां

उत्तर भारत के सारे जीवन पर नदियों का बहुत असर पड़ना ज़रूरी ही था। पहाड़ों से आई हुई नदियों की मिट्टी किनारे के मैदानों को सब से ज़्यादा उपजाऊ बना देती है। इस लिये इन प्रदेशों की आबादी सब से ज़्यादा थी, जलमार्गों केकारण उनका उद्योग व्यापार भी बढ़ा चढ़ा था और उनका वैभव सब से अधिक था। शहर भी ज़्यादातर नदियों के किनारे

बसे थे और सभ्यता के केन्द्र थे। कोई आश्चर्य नहीं है कि कई पुराने देशों की तरह यहाँ भी बड़ी नदियां जैसे गंगा और जमुना, गोदावरी और कावेरी पवित्र मानी गई हैं।

दक्खिन

उत्तरी मैदान के दक्खिन किनारे पर सतपुरा और विन्ध्याचल की श्रेणियां हैं जो कहीं भी बहुत ऊची नहीं है और इधर उधर, ख़ास कर पूरब की तरफ़, इतनी नीची हो गई है कि आने जाने में कोई रुकावट नहीं होती। इस तरह के पहाड़ों का नतीजा यह हुआ कि उत्तर और दक्खिन में कुछ भेद अवश्य हो गया, जाति का कुछ अन्तर बना रहा, भाषायें भी बहुत कुछ भिन्न रहीं, राजनैतिक इतिहास भी बहुधा अपने अलग रास्ते पर चलता रहा, पर सभ्यता के प्रधान तत्त्व एक हो गये। धर्म के वही सिद्धान्त दोनों ओर प्रचलित रहे, संस्कृत और पाली का पठन पाठन वैसा ही रहा, जीवन पर एक सी ही दृष्टि रही, दोनों भाग आपस में व्यापार ख़ूब करते रहे और ई० पू० चौथी सदी के बाद कई बार दोनों का घना राजनैतिक सम्बन्ध भी हो गया। उत्तर और दक्खिन की सभ्यता के मूल सिद्धान्त एक ही थे पर उनके इतिहासचक्र कभी २ अलग २ घूमते रहे। एक बड़ा भारी अन्तर यह था कि उत्तर-पच्छिम से आने वाली जातियां या तो दक्खिन तक पहुँचती ही न थीं या थोड़ी संख्या में पहुँचती थी। नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच का देश उतना चौरस नहीं है और न उतना उपजाऊ है जितना कि उत्तरी मैदान है। उसकी आबादी भी उतनी घनी नहीं थी और ख़ुश्की के व्यापार की मात्रा भी उतनी नहीं थी। पर पच्छिमी और पूर्वी किनारे पर समुद्र के द्वारा दूर २ के देशों से तिजारत का सुभीता था। समुद्र के मार्ग से हिन्दू सभ्यता और देशों में जा सकती थी और विदेशी विचार यहां आ सकते थे।

कृष्णा नदी के नीचे जो प्रदेश है और जिसे धुर दक्खिन कह सकते हैं वह पूरब में तो बहुधा चौरस है पर पच्छिम में पहाड़ों से घिरा हुआ है। आने जाने की कोई प्राकृतिक रुकावट न होने से यह भी सभ्यता के मूल सिद्धान्तों में दक्खिन की तरह उत्तर के समान हो गया पर दूर होने से यहां उत्तर का प्रभाव कम रहा, उत्तर की जातियां बहुत थोड़ी संख्या में आईं। इस लिये यहां की सभ्यता कुछ अंगों में उत्तर से जुदा रही, कुछ सामाजिक संस्थाएं निराली ही बनी रहीं, भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव बहुत कम हुआ, मन्दिर, भवन, मूर्त्ति इत्यादि बनाने की रीतियाँ भी भिन्न रहीं, राजनैतिक संगठन में भी गांव की व्यवस्था इत्यादि अपने ढंग की ही रहीं। धुर दक्खिन का इतिहास, बाक़ी हिन्दुस्तान के इतिहास का हिस्सा होते हुये भी, अपनी विशेषता रखता है जिस का ध्यान सभ्यता की समीक्षा में रखना आवश्यक है।

धुर दक्खिन।

धुर दक्खिन से ज़रा दूर पर सिंहलद्वीप या लंका का टापू है जिसका राजनैतिक इतिहास तो हिन्दुस्तान से ज़्यादातर अलग रहा है पर जिसकी सभ्यता—धर्म, भाषा, आचार विचार, कला विज्ञान—पर हिन्दुस्तान का और ख़ास कर धुर दक्खिन का प्रभाव सदा से बहुत रहा है। लंका के बारे में बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है पर हिन्दुस्तानी सभ्यता के इतिहास में उसको बिल्कुल छोड़ देना भी असम्भव है।

लंका

हिन्दुस्तान के उत्तर में, उत्तर-पच्छिम और उत्तर-पूरब में, मध्यहिन्द में, और पच्छिम में तमाम कोकन और मलाबार तट पर, जो पर्वतमालाएं हैं उन्होंने सभ्यता पर एक और प्रभाव डाला

पहाड़ी जातियाँ

है। चौरस मैदानों को जीतनेवाली जातियों से हार कर पुराने निवासी पहाड़ियों में शरण ले सकते थे। घाटियों और जंगलों की आड़ में वह अपने अस्तित्व, अपनी भाषा और रीतिरिवाज की रक्षा कर सकते थे। बाहर का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ने पर भी यह जातियां ज्यादातर अपने पुराने रास्ते पर ही चलती रहीं। आज भी इनमें तरह २ के व्याह, दायभाग, धार्मिक विश्वास और सामाजिक संस्थाएँ मौजूद हैं। साधारण हिन्दुस्तानी सभ्यता के प्रवाह से यह दूर रही हैं; इस पुस्तक में उनका ज़िक्र बहुत कम आयेगा पर उनसे थोड़ी सी जानकारी ज़रूरी है।

आदमी के चरित्र पर उद्योगधंधे का प्रभाव बहुत पड़ता है। उद्योग धंधे आबहवा के अनुसार होते हैं—

आब हवा

यह तो स्पष्ट है, पर गत सौ बरसों में विद्वानों ने यह पता लगाने की भी कोशिश की है कि स्वयं आबहवा का असर चरित्र पर कैसा पड़ता है? इस जटिल विषय पर निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर दो चार अनुमान किये जा सकते हैं। हमारे देश में ज़िन्दगी का दार-मदार खेती पर है, खेती मेह पर निर्भर है, मेह का बरसना अपने अधिकार की बात नहीं है, दैवगति सी मालूम होती है। आषाढ़ के महीने से भादों तक सारी जनता आस्मान पर टकटकी लगाए रहती है, वर्षा की प्रार्थना किया करती है, और अगर पानी न पड़े तो अपनी लाचारी पर हाथ मलती रह जाती है। अगर कभी अतिवृष्टि हो जाय या पाला पड़ जाय तो भी विवश होकर खेतों का सत्यानाश देखना पड़ता है। लोग सोचते हैं कि आदमी की ताक़त कुछ नहीं है, दैव ही प्रबल है। शायद यही कारण है कि हिन्दुस्तान में लोग क़िस्मत को बहुत मानते हैं, देवी देवताओं की पूजा बहुत करते हैं। दूसरी ओर,

दिन में सूरज की चमक, रात की चटकीली चांदनी, और सितारों की दिवाली—यह सब चित्त को ऊपर ले जाती हैं और देवताओं की कल्पना कराती हैं। इंग्लिस्तान वग़ैरह की तरह हिन्दुस्तान में ज़्यादा कुहरा नहीं पड़ता, ख़ूब उजेला रहता है। इसका असर मन पर यह पड़ सकता है कि स्पष्ट विचार और तर्क की प्रबलता हो। कुछ भी हो, तर्क का प्रेम हिन्दुस्तानी सभ्यता में अवश्य दिखाई देता है। धर्म और साहित्य की कल्पनाओं का भी कुछ सम्बन्ध शायद भूगोल से है। हिमालय की ऊंची चोटियां हज़ारों मील लम्बे मैदान, झूम २ कर बहने वाली लम्बी चौड़ी नदियाँ, मूसलाधार मेह और तूफ़ान, आकाश के नक्षत्रमंडलों के ढेर—यह सारा प्राकृतिक कौतुक कल्पना को उत्तेजित करता है।

हिन्दुस्तान की एकता

विशाल होते हुए भी हिन्दुस्तान की एकता नक़शे पर और इतिहास पर साफ़ लिखी हुई है। जैसा कि भूगोल के बड़े विद्वान् चिज़ोम ने कहा है, संसार में कोई देश नहीं है जो पड़ोसी देशों से इतना भिन्न हो जितना कि हिन्दुस्तान है। बहुत पुराने समय में ही जब आना जाना बहुत मुश्किल था, हिन्दुस्तानियों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि हमारा देश और शिष्टाचार बाहर वालों से जुदा है। रामायण और महाभारत के समय में 'भारतवर्ष' नाम से कश्मीर और कन्याकुमारी तक के, तथा सिंध से ब्रह्मपुत्रा तक के, देश का सम्बोधन होने लगा था। आपस में कितना ही फ़र्क़ हो पर दूसरों के सामने सब भारतवासी एक से ही जान पड़ते थे। सभ्यता के बहुत से अंगों में इस एकता का प्रतिबिम्ब नज़र आता है। गंगा, जमुना, सरस्वती, सिंध, नर्मदा, गोदावरी और कावेरी जो पवित्र नदियां मानी गई हैं वह देश के सब भागों से ली गई

हैं। आठवीं सदी में शंकराचार्य ने बद्रीनाथ केदारनाथ, रामेश्वर, द्वारिका और जगन्नाथ यह चार प्रधान तीर्थ देश के एक २ कोने से चुने थे। दूसरे तीर्थ जैसे हरद्वार, प्रयाग, बनारस, गया, उज्जैन और कांची भी देश भर में फैले हुये है। ब्रह्मपुराण इत्यादि में जो पवित्र मंदिर सरोवर आदि गिनाए हैं वह भी देश के सब ही हिस्सों से लिय गये हैं। जैनियों के तीर्थ सम्मेद शिखर, पावापुरी, श्रवण-वेलगोला, आबूपर्वत इत्यादि भी सारे देश में बिखरे हुये हैं। पुराने समय में साहित्य, विज्ञान, धर्म. की भाषाएं-संस्कृत और पाली सारे देश में पढ़ी जाती थीं। तक्षशिला, नालन्द, विक्रमशिला आदि विद्यापीठों में देश के कोने कोने से विद्यार्थी आते थे। अपनी कीर्ति स्थापित करने के लिये विद्वान् सारे देश में घूम कर दिग्विजय करते थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थिक और राजनैतिक सम्पर्क देश के सब प्रान्तों को एक दूसरे से जोड़ देता था।

सभ्यता के पहिले

देश की पुरानी सभ्यता का कुछ हाल इस पुस्तक में लिखा जायगा पर सभ्यता के पहिले की विवेचना इस के दायरे के बाहर है। इतना कह देना काफ़ी होगा कि किसी भी सभ्यता की सृष्टि एक दम नही होती। आदमी के जीवन के सब से पुराने चिन्ह जो दुनिया के लगभग सब हिस्सों में, गुफाओं से, ज़मीन के और नदियों के नीचे से निकले हैं और जिनको एक साथ अध्ययन कर के विद्वानों ने सब से पुराने जीवन का चित्र बनाया है वह साबित करते हैं कि किसी समय आदमी जैसे तैसे कच्चे मांस और जंगली कन्द मूल पर निर्वाह करता था और पत्थर या हड्डी के भद्दे औज़ार बना कर शिकार करता था। बहुत समय बीतने पर औज़ारों की शक्ल और शक्ति सुधर गई और पुराना पाषाण युग बदल कर नया पाषाण युग हो गया। उसके बाद धीरे २ और

उन्नति हुई और कांसे के हथियार बनने लगे जिससे यह युग कांसे का युग कहलाता है। इन युगों का परिमाण हज़ारों बरस का है। इस अर्से में जानवरों को पालने की प्रथा भी जारी हो गई थी। उसके बाद खेती शुरू हुई, और फिर उद्योग और व्यापार का जन्म हुआ। आपस के जीवन में भी परिवर्तन हुये, विवाह सम्बन्ध स्थिर हुये, कुटुम्ब की स्थापना हुई, हर एक जनसमूह एक मुखिया या एक बड़ा मुखिया और कुछ छोटे २ मुखिया मानने लगा। असभ्यता और अर्धसभ्यता की यह हज़ारों बरस की कहानी बड़ी दिलचस्प है और इन पृष्ठों से परे होने पर भी याद रखने के योग्य है। हिन्दुस्तान के यह सब से पुराने निवासी किस वंश के थे? इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है। पुरानी खोपड़ियों और हड्डियों पर बहुत ग़ौर किया गया पर न तो उनका समय ठीक २ स्थिर हुआ है और न यह पता लगा है कि उन आदमियों का सम्बन्ध दूसरी जातियों से क्या था? सम्भव है कि जिस समय मनुष्य की उत्पत्ति हुई उस समय हिन्दुस्तान या तो आस्ट्रेलिया से जुड़ा हुआ था या अफ़्रीक़ा से या दोनों से, और इन प्रान्तों में तथा लुप्त प्रदेशोंमें कोई एक ही जाति रहती थी, पर पीछे बढ़ते हुये समुद्र के द्वारा अलग हो जाने पर इधर उधर के लोग एक दूसरे से भिन्न हो गये और अपने अपने ढंग पर निराली संस्थाओं की रचना करने लगे। पर हज़ारों बरस से कहीं कहीं जमीन सूख जाने से या आबादी बढ़ जाने से या दूसरों की सम्पत्ति पर अधिकार करने की लालसा से, भिन्न २ जातियां एक दूसरे को ढकेलती रही हैं, इधर से उधर जाती रही हैं, कभी एक दूसरे का नाश करती रही हैं, कभी एक दूसरे से जुड़ती रही हैं, कभी एक दूसरे को ग़ुलाम बना कर दबाती रही हैं। यह

जातियों की उथल पुथल

उथल पथल इतनी बार हुई है और कभी २ इतने बड़े पैमाने पर हुई है कि संसार में कोई भी जाति ठीक अपने पुराने स्थान पर जम नही सकी है और न कोई जाति दूसरों की मिलावट से बच सकी है। इतिहास में विशुद्ध जाति कहीं पर नही मिलती।

हिन्दुस्तान में

हिन्दुस्तान के जाति समूहों के निवासस्थानों से अनुमान होता है कि जातियों की बहुत सी उथल पथल यहां इतिहास के पहिले हो चुकी थी। मध्य हिन्दुस्तान की दूर दूर तक की घाटियों और जंगलों में एक ही तरह के समूह रहते हैं, जिनकी भाषाएं मिलती जुलती हैं, रीति रिवाज मिलते जुलते हैं। जान पड़ता है कि यह लोग किसी दूरवर्ती पुराने समय में मैदानों में रहते थे पर किसी ज़ोरदार जाति के हमलों से तंग आकर इन्हें पहाड़ियों की शरण लेनी पड़ी। यह ज़ोरदार जाति कौन थी—आर्य या द्राविड़ या और कोई—यह बड़ी कठिन समस्या है जिसका उत्तर निश्चय पूर्वक नही दिया जा सकता। बिलोचिस्तान के एक हिस्से में ब्राहुई भाषा बोली जाती है जो धुर दक्खिन की द्राविड़ भाषाओं से मेल खाती है और जो आस पास की किसी भी भाषा से सम्पर्क नही रखती। इसका अर्थ (१) या तो यह है कि द्राविड़ लोग उत्तर-पच्छिम से आये थे और बिलोचिस्तान में अपना एक समूह छोड़ कर या किसी समूह पर अपनी छाप लगा कर तुरन्त ही या कुछ दिन के बाद किन्हीं कारणों से दक्खिन चले गये, (२) या किसी समय यह द्राविड़ लोग सारे हिन्दुस्तान के आदिम निवासी थे, पीछे आर्यों ने इनको उत्तर से निकाल दिया या अपने में मिला लिया पर किसी कारण से एक टुकड़ा उत्तर-पच्छिम में रह गया। दोनों धारणाओं में से एक का भी सबूत नही दिया जा सकता, पर यहां इतना और कह देना भी ज़रूरी है कि द्राविड़ शब्द का प्रयोग

केवल सुभीते के लिये किया जाता है, वास्तव में कोई द्राविड़ जाति नहीं है, दक्खिन में कई जातियां हैं और हर एक जाति सम्मिश्रित है। दूसरी बात यह है कि अगर हमें उत्तर में रहने वाली आदिम जाति का पता भी लग जाय तो उससे ऐतिहासिक समय के निवासियों के विषय में बहुत जानकारी नहीं हो सकती। पच्छिम से आई हुई जातियों के बसने पर यहां एक नई जाति की ही सृष्टि हो गई।

हड़प्पा और मोहेन्-जोदड़ो।

आर्यों के आने के पहिले उत्तर में कौन कौन सी जातियां थी इसकी कुछ जांच वैदिक साहित्य के आधार पर अगले अध्याय में की जायगी। यहां इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि आर्यों के आने के बहुत पहिले ही देश में सभ्यता की बहुत उन्नति हो गई थी। गत सात बरस में आर्किओलाजिकल डिपार्टमेंट (पुरातत्त्व-विभाग) के जान मार्शल, राखालदास बनर्जी, दयाराम साहनी, आदि अधिकारियों ने सिंध और पच्छिमी पंजाब में हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो स्थानों को खोद कर बहुत से बरतन, मकान, मंदिर, तालाब, स्नानागर और शहर निकाले हैं जो ऊंचे दर्जे की सभ्यता का परिचय देते हैं। यह सभ्यता कम से कम छः सात हज़ार बरस पुरानी है और सिंध, पंजाब, राजपूताना में और शायद इधर उधर के और प्रान्तों में भी फैली हुई थी। मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यता से तुलना करने पर मालूम होता है कि उस पुराने समय में भी हिन्दुस्तान में उनकी अपेक्षा जीवन के सुखों का अच्छा प्रबन्ध था। एक दृष्टान्त लीजिये। मोहेन्जोदड़ो नगर में सफ़ाई का जैसा इन्तिज़ाम था, गंदगी बहाने के लिये जैसी अच्छी नालियां थी वैसी दक्खिन मेसोपोटामिया के मशहूर शहर उर में भी न थीं।

हड़प्पा में १५० से ज़्यादा मिट्टी की मुहरें मिली हैं जिन पर

तरह २ के चित्र बने हुये हैं। इन चित्रों के और बाक़ी चीज़ों के अध्ययन से छः सात हज़ार बरस पुराने जीवन के विषय में बहुत सी बातें मालूम होती हैं। इस समय सिंध और पच्छिमी पंजाब में आजकल के बनिस्बत पानी कहीं ज़्यादा बरसता था, सिंध नदी के पूरब में एक और नदी बहती थी जो अब लोप हो गई है, सिंचाई का इन्तिज़ाम अच्छा था, खेती ख़ूब होती थी, मोहेनजोदड़ो में गेहूँ के जो दाने मिले हैं आज कल के पंजाबी गेहूं के से ही हैं। भोजन में रोटी के अलावा दूध का भी बहुत प्रयोग होता था। आधीजली हुई हड्डियां जो मकानों में मिली हैं यह बतलाती है कि उन दिनों मछली, कछुआ, घड़ियाल, बकरी, सूअर और गाय का माँस खाने की भी चाल थी। बहुत से मकानों में चर्ख़े की पिंडलियां मिली हैं जिनसे मालूम होता है कि घर २ में चर्ख़ा चलता था। बहुत महीन बुने हुये रुई के कपड़ों से पता लगता है कि बुनने की कला बहुत उन्नति कर गई थी। पुरुष बहुधा एक धोती पहनते थे और एक दुशाला डालते थे जो बायें कंधे के ऊपर से होकर दाहिने कंधे के नीचे आ जाता था पर दाहिने हाथ को खुला छोड़ देता था। पुरुषों में कोई २ तो मूछें मुड़ाते थे और कोई २ नहीं, ज़्यादातर लोग छोटी सी डाढ़ी रखते थे। बालों को माथे से ऊपर ले जाकर पीछे एक बड़ी चोटी बनाते थे। अभाग्यवश केवल एक ही बड़ी स्त्रीमूर्ति मिली है। इसके बाल बंधे नहीं हैं, खुले हुए हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह साधारण रीति थी या नहीं? उन दिनों ज़ेवर पहिनने की चाल बहुत थी। स्त्री पुरुष दोनों ही हसुली और छाप पहनते थे, स्त्रियां कान में बाली, हाथ पर चूड़ी,

भोजन

कपड़ा

ज़ेवर

कमर पर कर्धनी, और पैर में सॉठ वग़ैरह भी पहनती थी। अमीर आदमियों के ज़ेवर सोने चांदी के, और तरह २ के जवाहिरात के होते थे, हाथी दांत का भी प्रयोग होता था। ज़ेवर बनाने के हुनर मे उस समय के लोग आजकल के सुनारों और जौहरियों से किसी तरह कम न थे। सोने के कोई २ ज़ेवर इस सफ़ाई से बने हैं कि ताज्जुब होता है। ग़रीब आदमी सीप, कौडी वग़ैरह के ही ज़ेवरों से संतोष कर लेते थे। यह कपड़ा भी बहुत कम पहिनते थे, ग़रीब स्त्रियां केवल कमर पर एक धोती बांधती थी। एक वेश्या की छोटी सी मूर्ति भी मिली है जो बिल्कुल नंगी है।

गाड़ी

सवारी के लिए अमीरों के पास गाड़ियां थी जिनमें दो पहिये होते थे, ऊपर छत होती थी और आगे हांकनेवाला बैठता था। हड़प्पा में ऐसी गाड़ी का कांसे का जो नमूना मिला है वह मिस्र या मेसोपोटामिया से बहुत पुराना है और संसार में गाड़ी का सब से पुराना ढांचा है।

मकान

रहने के मकान और सरकारी दफ़्तर कभी २ बहुत बड़े बनाए जाते थे। एक भवन मिला है जो उत्तर से दक्खिन १६८ फ़ीट है और पच्छिम से पूरब १३६ फ़ीट है, जिसमें दोनों ओर बहुत से समकोण कमरे और दालान हैं और बीच में एक बड़ा कमरा चला गया है। यह भूमध्यसागर के टापू क्रीट के माइनोन सभ्यता के समय के पुराने महलों से मिलता जुलता है। सम्भव है कि क्रीट की तरह यहां भी कर रूप वसूल की हुई चीज़ें जमा की जाती हों। अफ़सोस है कि बहुत से मकान इतनी बुरी हालत में हैं कि उनसे कुछ नतीजा नही निकलता। पर दो बातें साफ़ मालूम होती हैं। एक तो नहाने के लिये

स्नानागार बड़े शानदार बनते थे, उनकी कोई २ दीवालें दस २ फीट मोटी हैं, धूप या आग से बनाई हुई ईंटें बड़ी ख़ूबसूरती से लगाई गई हैं, फ़र्श भी ईंटों के हैं और बड़े सुन्दर हैं। दूसरे तालाब बहुत थे और शायद उनमें से कुछ पवित्र माने जाते थे। मुहरों से मालूम होता है कि चीते वग़ैरह का शिकार ख़ूब खेला जाता था। लोहे की कोई चीज़ नहीं मिली है, भाले, कटार, गड़ासे, पंसिये, चाकू, वग़ैरह २ तांबे के बनते थे।

हथियार वग़ैरह

टीन और सीसे की भी बहुत सी चीज़ें बनती थीं। बहुत से औज़ारों के लिये काँसे का भी प्रयोग किया जाता था। तांबा शायद बिलोचिस्तान, वर्तमान राजपूताना और उत्तर अफ़ग़ानिस्तान से आता था। टीन शायद खेरावन से या और भी पच्छिम से आती थी। साफ़ ज़ाहिर है कि व्यापार दूर २ से होता था और उद्योग धंधे बहुत थे। मुहरों से पता लगता है कि देश की रक्षा के लिये सिपाही होते थे जो धातु की बनी हुई मज़बूत टोपियां पहिनते थे। अब तक कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली जिसके आधार पर सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का हाल लिखा जा सके। हड़प्पा और मोहेन्-

सुमेरियन सभ्यता

जोदड़ो की सभ्यता मेसोपोटामिया की सुमेरियन सभ्यता से बहुत मिलती जुलती है। पर इसका कोई प्रमाण नहीं है कि एक ने दूसरे की नक़ल की। अनुमान होता है कि बीच के रेगिस्तान न होने से हिन्दुस्तान और पच्छिम एशिया में आमदरफ़्त बहुत होती थी और इस लिये अनेक बातों में समता हो गयी थी[1]। हिन्दुस्तान से

---

[1]. हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो के लिये देखिये आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२४-२५ पृ० ६३-८० ॥ १९२५-२६ पृ० ७२-९८ ॥

लेकर भूमध्यसागर तक शायद एक ही विशाल सभ्यता थी जिसके भिन्न २ देशों में अनेक विभाग थे पर जो बहुत सी बातों में मिलती जुलती थी। कुछ भी हो, यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि पुराने समय में हिन्दुस्तान पच्छिमी देशों से बिल्कुल अलग न था वरन् विदेशों से बहुत सम्पर्क रखता था। दूसरे, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हिन्दुस्तान की आदिम सभ्यता आर्य सभ्यता से भी पुरानी थी और सम्भवतः उसने आर्य सभ्यता पर बहुत प्रभाव डाला। मोहेनजोदड़ो में पूजा के बहुत से लिंग मिले हैं। वैदिक साहित्य में शिश्न देवताओं की निन्दा की है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यों में पहिले लिङ्ग पूजा नहीं थी पर वैदिक काल के बाद उन्होंने अनार्यों से शिवलिङ्ग पूजा ग्रहण की। हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की खोज अभी जारी है। सम्भव है कि आगे चल कर आर्यों के अनार्यों से और बातें लेने के भी प्रमाण मिलें।

दूसरा अध्याय ।

ऋग्वेद (मँडल १—९) का समय ।

ऋग्वेद ।

हड़प्पा और मोहेन्‌जोदड़ो के ध्वँसावशेषों से जिस सभ्यता का परिचय मिलता है उसके अगले इतिहास का पता अभी तक नहीं लगा है। और सब सभ्यताओं की तरह उसमें भी परिवर्तन हुये होंगे, शायद कुछ उन्नति हुई होगी, दूसरी सभ्यताओं से सम्पर्क होने पर बहुत सा पारस्परिक प्रभाव पड़ा होगा। पर अभी तक इस के ऐतिहासिक चिन्ह नहीं मिले हैं। हड़प्पा और मोहेन्‌जोदड़ो के ध्वंसों के बाद इतिहास ऋग्वेद से शुरू होता है। ऋग्वेद दस मंडलों में विभक्त है जिनमें कुल मिलाकर १०२८ मंत्र हैं। इन मंत्रों की रचना भिन्न २ ऋषियों ने भिन्न २ समयों और स्थानों में की थी पर रचनाक्रम स्थिर करना असम्भव है। कई विद्वानों ने मंत्रों की भाषा, शैली, विचार और रचयिता के आधार पर कालक्रम बताने की चेष्टा की है [१]। पर काफी सामग्री न होने से इन में सफलता नहीं हुई है। निश्चयपूर्वक तो इतना

---

१ उदाहरणार्थ देखिये आर्नल्ड, वैदिक मीटर पृ० ४१। इसके प्रतिकूल, बेरीडेल कीथ, जे० आर० ए० एस० १९०६ पृ० ४८४—९०, ७१६—२२, १९१२, पृ० ७२६—२९।

ही कहा जा सकता है कि दसवें मंडल के मंत्र और मंत्रों के बाद रचे गये थे। इस लिये सब से प्राचीन सभ्यता का वर्णन पहिले नौ मंडलों के आधार पर ही किया जायगा, दसवें मंडल का प्रयोग बाद की सभ्यता के लिये ही हो सकता है। पहिले नौ मडलों के बारे में अनुमान है कि सब से पहिले २७ मंडल रचे गये थे जो गृत्समद, विश्वामित्र, कामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों के नाम से हैं। उनके बाद शायद वह मंत्र रचे गये जिनका नम्बर पहिले मंडल में ५१ से १६१ तक है। इसके बाद पहिले मंडल के अन्य मंत्र अर्थात् शुरू के पचास मंत्र और आठवें मंडल के मंत्र बनाये गये। तत्पश्चात् सोम देवता से सम्बन्ध रखनेवाले मंत्र शायद इन आठ मंडलों से निकाल कर एकत्र किये गये और यह समंत्रसूह नवें मंडल के रूप में प्रगट हुआ[1]।

ऋग्वेद का समय

ऋग्वेद के मंत्रों में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उनकी तारीख़ त की जा सके। विद्वानों ने बहुत सी अटकलें लगाई हैं पर अभी तक कोई ऐसा परिणाम नहीं निकला जिस पर सब सहमत हो सकें। कोई ६०–७० बरस हुये सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समुलर ने वैदिक और लौकिक संस्कृत के अन्तर की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरों से कर के अनुमान किया था कि ऋग्वेद ईस्वी सन् के १२००-१००० बरस पहिले रचा गया होगा। पर यह कोरा अनुमान है; सब भाषाओं में परिवर्तन एक ही क्रम

---

१ देखिये आर्नल्ड, वैदिक मीटर, ऋग्वेद संहिता की मैक्समुलर लिखित भूमिकाएं, मेक्डानेल, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४०-४८।

से नहीं होते। इस समय के दो बड़े वैदिक विद्वान मैक्डानेल और कीथ ने मैक्समुलर की सम्मति मान ली है पर कुछ और विद्वानों की राय है कि ऋग्वेद का समय बहुत पीछे ले जाना चाहिये । ज्योतिष् के प्रमाणों के आधार पर जर्मन विद्वान् जैकोबी ने ऋग्वेद का समय ई० पू० लगभग ४००० बरस और बालगंगाधर तिलक ने ई० पू० लगभग ८००० बरस ठहराया है। पर पूरी समीक्षा करने पर यह सम्मतियाँ भी अनुमानमात्र ही रह जाती हैं। कठिनाई यह है कि पुराने हिन्दुस्तान में ज्योतिष् की बहुत सी गणनाएं थीं और ठीक २ पता नहीं लगता कि ऋग्वेद में कौन सी गणना मानी है। हाल में पच्छिम एशिया के बोग़ज़क्वाई नामक स्थान पर मितन्नी लेख मिले हैं जो ई० पू० १४०० के हैं और जिनमें वैदिक देवताओं का उल्लेख है। इनसे वैदिक सभ्यता की प्राचीनता तो सिद्ध होती है पर ऋग्वेद के रचनाकाल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अब तक विद्वानों की बहस जारी है। हाल में ही विंटरनिज़ ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि ऋग्वेद ई० पू० २५०० के लगभग रचा गया था। अस्तु, ऋग्वेद ई० पू० १२०० या यों कहिये ई० पू० १५०० में अवश्य मौजूद था और सम्भव है कि उसके भी बहुत पहिले रचा गया हो; सब से पुराने मंत्र शायद बहुत ही प्राचीन हों[१] ।

---

१ ऋग्वेद के रचनाकाल के लिये देखिये, मैक्समुलर, ऋग्वेदसंहिता की भूमिकाएं, मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४०—४८, कीथ, कैंब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, १, पृ० १०९—११३ ।

जैकोबी, इंडियन एन्टिक्वेरी, २३ पृ० १५४ इत्यादि।

टीबो, इंडियन एन्टिक्वेरी, २४ पृ० ८५, ३९१ ।

बालगंगाधर तिलक ओरियन । विंटरनिज़, कलकत्ता यूनीवर्सिटी रीडरशिप लेक्चरस, पृ० १ इत्यादि।

ऋग्वेद की सभ्यता तो मंत्रों के रचनाकाल से भी पुरानी है। वह बड़े ऊंचे दर्जे की सभ्यता है; उसके विकास में सैकड़ों बरस लगे होंगे।

आर्य।

ऋग्वेद की भाषा भी बहुत उन्नति कर चुकी है और बहुत पेचीदा हो चुकी है। उसके विकास में भी सैकड़ों बरस लगे होंगे। यह सारी सभ्यता जिस जाति में प्रारंभ हुई और इतनी बढ़ी उसे स्वयं ऋग्वेद ने आर्य बताया है। ऋग्वेद में ही इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि यह आर्य लोग कहीं बाहर से हिन्दुस्तान में आये थे। ऋग्वेद में जमुना नदी तक ही मिलनेवाले प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं और वनस्पतियों का उल्लेख है; आगे के साहित्यों में पूर्वी प्रदेशों की भिन्न २ बातें भी मिलती हैं। इस से प्रगट होता है कि आर्य पच्छिम से आकर पहिले पंजाब में बसे और फिर आगे की ओर बढ़ते गये। सारे ऋग्वेद में अनार्यों के साथ लड़ाई की कशमकश मौजूद है। इससे भी मालूम होता है कि बाहर से आने वाले आर्यों को आदिम निवासियों से बहुत दिन तक युद्ध करना पड़ा। इसमें तो कोई संदेह नहीं मालूम होता कि आर्य लोग किसी समय पच्छिमी दर्रों में होकर हिन्दुस्तान में दाखिल हुये थे, पर यह पता लगाना बहुत कठिन है कि यह पहिले कहाँ रहते थे और दूसरी जातियों से इनके क्या सम्बन्ध थे? संस्कृत, पश्तो, फ़ारसी, आदि एशियाई भाषाओं में और ग्रीक, लैटिन, जर्मन, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, रशियन इत्यादि भाषाओं में

हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिटरेचर १ पृ०

मितन्नी लेखों पर विवाद के लिये, जे० आर० ए० एस० १९०९, जैकोबी पृ० ७२१, ओल्डनबर्ग, पृ० १०९५, कीथ पृ० ११९० । जे० आर० ए० एस० १९१०, जैकोबी पृ० ४५६, कीथ, पृ० ४६४, ओल्डनबर्ग पृ० ८६४ ।

बहुत सी समानताएं हैं। पिता, माता, भाई, इत्यादि २ के द्योतक बहुतेरे शब्द और बहुत सी क्रियाएं स्पष्टतः एक ही धातुओं से निकली हैं। इस लिये १९वीं सदी में विद्वानों की धारणा हुई थी कि यह सब भाषाएं एक ही आदिम भाषा की रूपान्तर हैं और इन सब भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज उस आदिम भाषा के बोलनेवाले एक ही समुदाय के अङ्ग थे। यह आदिम आर्य समुदाय था और बहुत प्राचीन समय में एक ही स्थान में रहता था। यहां तक तो विद्वान एक मत थे। इस धारणा को मैक्समुलर इत्यादि ने अपने लेखों और व्याख्यानों के द्वारा ऐसा फैलायाँ कि वह सर्वमान्य सी हो गई। हिन्दुस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस और यूरुप के अधिकांश निवासी एक ही आर्यजाति के वंशज मान लिये गये। आदिम स्थान के बारे में विद्वानों के भिन्न २ मत थे। बहुतों की राय थी यह स्थान मध्य एशिया था जो उस प्राचीन काल में हरा भरा प्रदेश था। पर धीरे २ वह सूखने लगा, तब आर्य लोग उसे छोड़ कर पच्छिम, दक्खिन और फिर पूरब की तरफ़ भिन्न २ देशों में जा बसे। पर कुछ विद्वानों की राय थी कि आदिम स्थान पूरबी रूस में था। कुछ और सम्मतियों के अनुसार यह स्थान फ़िनलैंड में था जहां अब भी संस्कृत से बहुत मिलती जुलती एक भाषा बोली जाती है। अथवा यह पुराना घर मध्य यूरुप में वर्तमान बोहेमिया (चेकोस्लोवाकिया) में था जहां के वृक्ष पशु इत्यादि सब से पुरानी ऋचाओं के से जान पड़ते हैं। बालगंगाधर तिलक की राय थी कि यह स्थान कहीं उत्तरी ध्रुव के पास था। यह विवाद अभी तय नहीं हुआ था कि दूसरी दिशाओं से सारी आर्य धारणा पर ही आपत्तियों की बौछार होने लगी। जातिसमस्या के कुछ विद्वानों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भाषा की समानता से जाति की समानता नहीं सिद्ध होती।

वरन्, पुरानी हड्डियों और खोपड़ियों की नाप से प्रगट होता है कि 'आर्य' भाषाभाषियों के पूर्वज एक जाति के नहीं हो सकते, वह भिन्न २ जातियों के रहे होंगे। भाषा, धर्म, और सभ्यता की समानताओं से केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि यह लोग किसी समय एक उन्नतिशील समुदाय के प्रभाव के नीचे आये थे या एक दूसरे की नक़ल करते रहे। अस्तु, अब पुरानी 'आर्य' धारणा नहीं मानी जाती अथवा यों कहिये कि इस परिवर्तित रूप में मानी जाती है। वर्तमान विश्वास से हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में एक नतीजा यह निकलता है कि उत्तर हिन्दुस्तान के भी सब लोग बाहर से आये हुये आर्यो की संतान नहीं माने जा सकते। बहुत से आर्य हिन्दुस्तान आये थे पर वह इतने न थे कि पुराने निवासियों को मटियामेट कर दें। उनकी प्रबल सभ्यता ने कुछ सदियों में सारे देश पर आधिपत्य जमा लिया पर सारे देश को आबाद करना उनके लिये असम्भव था।

पंजाब में आर्य

यह तो स्पष्ट है कि आर्य लोग हिन्दुस्तान में उत्तर-पच्छिम के दर्रों से आये थे, पर हर्नल आदि कुछ विद्वानों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि कुछ आर्य काश्मीर के रास्तों से आये और हिमालय के नीचे २ चलते हुये गंगा जमुना के मैदानों में आ बसे। इस विचार का अनुमोदन प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता ग्रियर्सन ने भिन्न २ प्रदेशों की प्रचलित भाषाओं की तुलना के आधार पर किया है। पर अभी तक इस मत को पुष्ट करने के लिये कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिला है। जब तक यह सम्मति और दृढ़ न हो जाय तब तक हमें इसी धारणा के अनुसार इतिहास लिखना पड़ेगा कि आर्य लोग उत्तर पच्छिम से आये थे। सम्भवतः

सब आर्य एक साथ न आये होंगे; जैसा कि जनसमूहों की गतियों में साधारणतः होता है, वह बड़ी छोटी संख्याओं के बहुतेरे जुत्थों में आये होंगे। ऋग्वेद के समय तक वह सारे पंजाब में तो फैल ही गये थे पर जमुना और गंगा के किनारों तक भी पहुँच गये थे। मंत्रों में पंजाब की पांचों नदियों का उल्लेख बार २ किया है—वितस्ता अर्थात् झेलम, असिक्की अर्थात् चिनाब, परुष्णी अर्थात् रावी, विपाश अर्थात् व्यास और शुतुद्री अर्थात् सतलज। जमुना का उल्लेख तीन बार और गंगा का एक बार मिलता है। गंगा के पूरब की नदियों का संकेत ऋग्वेद में कहीं नहीं है। अनाजों में चावल का ज़िक्र नहीं है क्योंकि वह पूरब की ओर पैदा होता है। जानवरों में चीते का संकेत नहीं है क्योंकि वह पूरब की ओर ही पाया जाता है। इन बातों से ऋग्वेद के आर्यों के निवास और भ्रमण की भौगोलिक सीमा अच्छी तरह ज़ाहिर होती है।

आर्यों का साधारण जीवन

अभाग्यवश ऋचाओं में इतनी ऐतिहासिक सामग्री नहीं है कि उस समय के जीवन का पूरा चित्र खींचा जा सके। तो भी कुछ मोटी २ बातों का पता अच्छी तरह लग सकता है। जीवन-निर्वाह के दो मार्ग थे—एक तो पशुपालन और दूसरे खेती। भेड़ बकरी बहुत थे जो खाने के काम आते थे। असबाब ढोने के लिये गदहे भी पाले जाते थे। यात्रा के लिये, दौड़ के लिये और लड़ाई के लिये घोड़े बहुत थे। बड़े आदमियों के पास सवारी के लिये रथ होते थे जिनको घोड़े खींचते थे। रखवाली और शिकार के लिये कुत्ते रहते थे। शिकार के द्वारा आनन्द प्रमोद और कसरत के अलावा भोजन की भी प्राप्ति होती थी। सब से उपयोगी

जानवर थे गाय और बैल गाय से दूध मिलता था। और दूध से मक्खन घी वगैरह भी बनते थे। जिनका प्रयोग भोजन में बहुतायत से किया जाता था। बैल हल चलाते थे। और गाड़ी भी खींचते थे। यह कभी २ खाने के काम भी आते थे। खेती से बहुत से अनाज, तरकारी और फल पैदा किये जाते थे। सिंचाई के लिये कूए, तालाब और कुल्या अर्थात् एक तरह की नहरें थी। पर कभी २ ऐसा सूखा पड़ता था कि ग़रीब आदमियों के जीने के लाले पड़ जाते थे [१]। रहने के लिये जो मकान थे उनके बनाने में लकड़ी का प्रयोग बहुत किया जाता था। मकानों में जो छाते थे वह भी लकड़ी के ही बनते थे। मकानों में बहुत से कमरे होते थे और आँगन भी होते थे [२]। ज़ेवर पहिनने की चाल बहुत थी; अमीर आदमी सोने और जवाहिर के तरह २ के ज़ेवर पहिनते थे [३]। आर्यसमूह आस पास के ही नही किन्तु दूर २ के प्रदेशों से भी व्यापार करते थे [४]।

जन

साधारण जीवन की और बातों का उल्लेख आगामी वर्णन में आ जायगा। यहाँ केवल यह बताने की आवश्यकता है कि साधारण जीवन की बातें सब ही आर्य समूहों में एक सी थी और अगले

---

१ ऋग्वेद १।१४६।४३॥ १।१०।३॥ १।६०।५॥ ८।५५।३॥ १।१८३।३॥ ७।१८।२३॥ ३।४५।३॥ ७।४९।२॥ ३।५३।१५॥ ८।८।११॥ ८।५५।१४॥ साधारण जीवन का सकेत प्रत्येक मंडल के बहुत से मन्त्रों में है।

२ ऋग्वेद ७।९९।३॥ १।५९।१॥ १।५२।६॥ ७।५५।८॥

३. ऋग्वेद १।३७।२॥ १।१-६।२॥ ५।५४।११॥

४ ऋग्वेद १।४८।३॥ १।५६।२॥ १।११६।५॥

इतिहास में भी एक सी बनी रही। आर्य लोग इस समय अनेक जनों में विभक्त थे। प्रत्येक जन एक पृथक् राजनैतिक समूह मालूम होता है। पांच जन विशेष कर बलवान और महत्वपूर्ण थे—पुरु, तुर्वशस्, यदु, अनु, और द्रुह्यु। इन का उल्लेख बहुतेरी ऋचाओं में आया है। इनके अलावा भरत, गंधारि, उशीनरस् इत्यादि थे।

वर्ग

भिन्न २ स्थानों में रहने पर भी आर्यजनों के धर्म, सामाजिक और राजनैतिक संस्था और रीति रिवाज एक से ही थे। ऋग्वेद के समय तक वर्ण-व्यवस्था क़ायम नहीं हुई थी, रोटी बेटी के व्यवहार में आगामी काल की सी रोक टोक नहीं हुई थी, पर कई कारणों से जनता में भिन्न २ वर्ग, भिन्न २ श्रेणियां, बन रही थी, और भविष्य के सामाजिक संगठन का अंकुर जम रहा था। इस महान् परिवर्तन के कारण राजनैतिक और जातीय थे एवं आर्थिक और धार्मिक थे। इन कारणों पर और इस परिवर्तन के क्रम पर ऋचाएं कुछ प्रकाश डालती हैं। आर्यसंगठन पर सब से अधिक प्रभाव तो आर्यों और अनार्यों के संग्राम और सम्पर्क का पड़ा।

अनार्य

ऋग्वेद, जो आर्यों का ग्रन्थ है, अनार्यों की निन्दा से भरा हुआ है। अगर किसी संयोग से अनार्यों की कोई रचना हमारे पास होती तो शायद उस में आर्यों के बारे में वैसे ही दुर्वचन मिलते। कुछ भी हो, आर्यों के प्रलाप से यह परिणाम हम नहीं निकाल सकते कि हिन्दुस्तान के पुराने अनार्य निवासी जंगली थे। सच तो यह है कि स्वयं ऋचाओं में इधर उधर ऐसे संकेत

हैं जिनसे ज्ञान पड़ता है कि अनार्यों की सभ्यता ऊँचे दर्जे की थी। अनार्यों के कई विभाग थे जैसे दास, किरात, कीकट, शंयु। दस्यु शायद उसी विभाग का दूसरा नाम है जो बहुधा दास कहलाता था पर यह भी सम्भव है कि उनका एक अलग समुदाय था। दासों के साथ २ पणियों का उल्लेख भी अनेक बार आया है। शायद इन दोनों समुदायों का निकट सम्बन्ध था। ऋग्वेद में तो नहीं पर आगामी साहित्य में चंडालों का भी ज़िक्र बार २ आया है। शायद यह अनार्य वर्ग गंगा के पूरब में कहीं आर्यों को ऋग्वेद के समय के बाद मिला। शूद्र शब्द सब से पहिले ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में आया है। वास्तव में यह भी संस्कृत शब्द नहीं मालूम होता। सम्भव है कि यह एक ऐसे बड़े अनार्य समूह का नाम था कि आगे चल कर यह एक पूरे वर्ण का द्योतक हो गया [1]। इन भिन्न २ अनार्य समुदायों की सभ्यता शायद एक दूसरे से कुछ पृथक् रही हो पर सामग्री के अभाव के कारण इस का पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। पर सामान्यतः उनके रहन सहन के बारे में कुछ बातों का पता ऋचाओं से लग सकता है। रहने के लिये वह मकान बनाते थे जिनको कभी २ अवसर पाने पर आर्यों ने जला दिया [2]। कम से कम दासों और दस्युओं के अपने शहर थे जिनको नाश करने की प्रार्थना आर्यों ने इन्द्र से बार २ की है [3]। रक्षा के लिये और युद्ध के लिये उनके पास सेनाएं थीं और क़िले थे। क़िलों

---

१ ऋग्वेद के सामान्य मंत्रों के अलावा विशेष कर देखिये ऋग्० ३। ५३। १४॥ ७। १८। ५॥ अथर्ववेद, १०। ४। १४॥ वाजसनेयि सहिता ३०। १६॥ निरुक्त, ६। ३२॥ ७। २३॥

२ ऋग्० ७। ५। ६॥

३. ऋग्० १। १०३। ३॥ १। ११७। २१॥ २। २०। ६-७॥ इत्यादि

में वह अपना ख़ज़ाना भी रखते थे [१] । बहुत से अनार्य या कम से कम उनके सर्दार बड़े अमीर थे—यह उन मंत्रों से प्रगट है जिनमें आर्यों ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि अनार्यों को मार कर उनका इकट्ठा किया हुआ धन हमें दे दो [२] । अनार्यों की अपनी भाषाएं थीं जो आर्यों को अजीब सी मालूम थी [३] । आर्यों ने उन को अन्यव्रत इत्यादि कहा है जिससे ज़ाहिर होता है उनके पृथक् धर्म, देवता, नियम इत्यादि थे [४] ।

आर्यों और अनार्यों में भेद

इन ऋचाओं से स्पष्ट है कि भाषा, रीति रिवाज और धम कि मामलों में आर्यों और अनार्यों में बहुत अन्तर था । इसके अलावा उनके शरीर की बनावट और रंग में भी कुछ भेद मालूम होता है। कहीं २ उनको अनास अर्थात् नाक से रहित कहा है जिससे ज़ाहिर है कि कम से कम कुछ अनार्य वर्गों की नाक आर्यों की नाक से बहुत छोटी होती थी । इससे अधिक महत्त्वपूर्ण भेद रंग का था । आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का रंग बहुत काला था । संस्कृत में रंग को वर्ण कहते हैं । वर्ण के भेद से वर्णव्यवस्था का नाम पड़ा और प्रादुर्भाव हुआ [५] । आज कल की तरह प्राचीन समय में भी गोरे रंगवालों को कालों से कुछ ग्लानि होती थी ।

---

१. ऋग्० ४ । ३० । १३ ॥ २ । २० । ६-७ ॥

२. ऋग्० १ । १७६ । ३-४ ॥ ८ । ४० । ६, १० ॥

३. ऋग्० ७ । ६ । ३ ॥

४ ऋग्० ८ । ७० । ११ ॥ ४ । १६ । ९-१० ॥ ७ । ६ । ३ ॥ १ । १७५ । ३ ॥ ९ । ४१ । २ ॥

५ ऋग्० २ । २० । ६ । ७ में इन्द्र काले दासों की सेनाओं का नाश करता है । ऋग् ९ । ४१ । १ में काले चमड़े को दूर भगाने की बात है ।

आर्यों और अनार्यों के सम्बन्ध

इस समय में अनार्यों को अपनी धन धरती के लिये, अपनी सभ्यता के लिये, अपने अस्तित्व के लिये आर्यों से घमासान युद्ध करना पड़ा। उस भयंकर संग्राम की झंकार आज भी ऋग्वेद के प्रत्येक मंडल में गूंज रही है। हमला करने वालों का सामना अनार्यों ने पग २ पर बहुत दिन तक बड़ी बहादुरी से किया। ऋग्वेद पढ़ने में कभी २ ऐसा मालूम होता है कि आर्यों के दाँत खट्टे हो रहे हैं और वह अपने देवताओं की शरण में भाग रहे हैं। पर अन्त में अनार्य हार गये। शायद संगठन में, सैन्यबल में, साहस और बुद्धि में वह आर्यों से घट कर थे। शायद उन सब ने मिलकर दुश्मन का मुकाबिला नहीं किया। उनके सब समूहों को एक २ करके आर्यों ने हरा दिया। शायद आर्यसभ्यता अनार्य सभ्यताओं से इतनी बढ़ कर थी कि उसकी विजय अनिवार्य थी। कभी २ आर्यों और अनार्यों में मेल भी हो जाता था। ऋग्वेद में बल्बूथ नामक एक व्यक्ति है जो दास मालूम होता है पर उसकी उदारता की महिमा ऋषि ने गाई है। कभी २ आर्य लोग स्वयं आपस में लड़ते थे। दाशराज्ञ युद्ध में अनेक राजाओं ने मिलकर सुदास पर हमला किया। पर सुदास ने उनके छक्के छुटा दिये। इस पारस्परिक घोर संग्राम में आर्यों ने अनार्यों से भी कुछ सहायता ली। पर यह संधियां स्थायी नहीं हो सकती थीं। अन्त में आर्यों ने सब ही अनार्यों की प्रभुता छीन ली। हारने पर कुछ अनार्य मार डाले गये, कुछ भाग कर मध्य हिन्द के पहाड़ों और घाटियों में जा बसे जहां उनके वंशज आज तक रहते हैं। बाक़ी अनार्यों ने आर्यों की अधीनता स्वीकार की। बहुत से ग़ुलाम बना लिये गये; दास

जाति के इतने अनार्य ग़ुलाम बनाये गये कि दास शब्द का अर्थ ही ग़ुलाम हो गया और अबतक है[१]। पर शायद अनार्यों की संख्या इनती ज़्यादा थी कि सब ग़ुलाम नहीं बनाये जा सकते थे। बहुत से पराधीन होकर खेती वारी या चाकरी या नीचे दर्जे के उद्योग धंधे करने लगे। पराजय के बाद आर्यों और अनार्यों के संग्राम का कोई सवाल न था, दोनों वर्ग शान्तिपूर्वक रहने लगे पर अनार्यों का दर्जा बहुत नीचा था। एक तो वह साधारण सभ्यता में आर्यों से घट कर थे, दूसरे उनका रंग काला था; तीसरे, पराजय का कलंक उनके माथे पर था; चौथे, धन धरती छिन जाने से वह ग़रीब हो गये थे। इस स्थिति में जहां कहीं ऐसे दो वर्ग साथ २ रहते हैं वहां कुछ जटिल प्रश्न ज़रूर ही पैदा होते हैं। दो सभ्यताओं का सम्पर्क हुआ नहीं कि एक का असर दूसरी पर पड़ने लगता है। स्वभावतः पराधीन वर्ग पर ज़्यादा प्रभाव पड़ता है पर स्वामियों का वर्ग भी अछूता नहीं बच सकता। अनार्यों ने आर्यों के धर्म, देवी, देवता, भाषा और रीति रिवाज बहुत कुछ अपना लिये पर आर्यों ने भी अनार्यों की कुछ बातें जानकर या अनजान में अवश्य ही ग्रहण की होंगी। ऐसी परिस्थिति में स्वामिवर्ग के नेताओं को चिन्ता होने लगती है कि कहीं हमारी सभ्यता का ह्रास न हो जाय और वह नीचे पराधीन वर्ग को अपने से दूर रखने की चेष्टा करते हैं। इस साधारण प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर समस्या वर्गों के सम्मि-

---

१. ऋग्० ७। ८६। ७॥ ८। ५६। ३॥ १०। ६२। १० इत्यादि में दास शब्द का अर्थ ग़ुलाम है। ग़ुलाम के लिये अंग्रेज़ी शब्द है स्लेव। वह भी स्लाव जाति के नाम से निकला है जिसके बहुत से व्यक्ति रोमनों से हार कर ग़ुलाम बनाये गये थे।

श्रण से उत्पन्न होती है। जहाँ दो वर्गों के स्त्री पुरुष पास २ रहते हैं वहां आपस में ब्याह सम्बन्ध या अनुचित सम्बन्ध हो ही जाते हैं। पर यह सम्मिश्रण स्वामिवर्ग के बहुतेरे आदमियों को बड़ा बुरा मालूम होता है। अगर पराजित वर्ग ग़रीब हो और रंग में काला हो तो बड़ी ग्लानि होती है और भय होता है कि हमारी सभ्यता, हमारा वंश, हमारा मानसिक बल, हमारा चरित्र बल, हमारा वास्तविक जीवन इनके सम्मिश्रण से मिट्टी में न मिल जाये। आज कल काले और गोरों के सम्बन्ध में यह स्थिति दक्खिन अफ़्रीक़ा में और अमरीकन संयुक्तराज्य की दक्खिनी रियासतों में मौजूद है। वहाँ अगर कोई गोरी लड़की काले से ब्याह करे या मित्रता ही करे तो उद्विग्न गोरी जनता दोनों का काम तमाम करदे। किसी काले पर गोरी स्त्री पर नज़र डालने का सच्चा या झूठा अभियोग लगाया जाय तो वह अमरीका में ज़िंदा जला दिया जाता है या और निर्दयताओं के साथ मार डाला जाता है। कोई गोरा आदमी काली स्त्री से ब्याह नहीं करने पाता यद्यपि दक्खिन अफ़्रीक़ा और अमरीका दोनों ही देशों में गोरे आदमी काली स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध बहुधा किया करते हैं। दोनों ही देशों में काले आदमी राजनैतिक जीवन से दूर रक्खे जाते हैं, शिक्षा, धन, गौरव के अवसर उनको बहुत कम दिये जाते हैं। यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि पुराने हिन्दुस्तान में ठीक इसी तरह की स्थिति पैदा हुई थी, जाति और सभ्यता की यह समस्याएं तमाम परिस्थितियों के अनुसार भिन्न २ रूप धारण करती हैं। पर इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि अनार्यों की पराजय के बाद उनके और आर्यों के पास २ रहने से सभ्यता और सम्मिश्रण के विकट प्रश्न उठे। अपनी सभ्यता, जाति और रुधिर की रक्षा के विचार से अपनी प्रभुता के गर्व से और अनार्यों की ग्लानि से, आर्यों ने

अनार्यों से सम्बन्ध रोकने की चेष्टा की। ऋग्वेद में तो अन्तर्जातीय ब्याह के बारे में कोई नियम नहीं मिलता। पर आगे चलकर धर्मसूत्रों में यह नियम मिलता है कि कोई द्विज अपनी कन्या शूद्र को न ब्याहे पर कुछ परिस्थियों में द्विज शूद्र कन्या से ब्याह कर सकता है। सम्भव है कि ऋग्वेद के समय में ऐसा कोई नियम न रहा हो पर सम्मिश्रण को रोकने का कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य हुआ होगा। यहां दो शक्तियों का मुक़ाबिला था; एक तो वह साधारण मानुषिक शक्ति जो सम्मिश्रण की प्रेरणा कर रही थी; दूसरी ओर आर्यों की आत्मरक्षण शक्ति या कहिये गर्व से प्रेरित वहिष्करण शक्ति थी जो आर्य समुदाय को विशुद्ध आर्य रखने की चेष्टा कर रही थी। पहिली शक्ति ने बहुत सा सम्मिश्रण करा ही दिया, आर्यों और अनार्यों का ख़ून कुछ मिल ही गया पर अन्त में इस शक्ति का प्रवाह रोक दिया गया। अनार्यों से ब्याह करने के मामले में कुछ कड़े नियम बनाये गये, प्रतिबन्धनों की व्यवस्था कर दी गई। इस प्रकार वर्णव्यवस्था प्रारभ हुई। प्रारंभ में सच पूछिये तो दो ही वर्ण थे—गोरे और काले, अथवा यों कहिये एक तो वह समुदाय जो बहुत कुछ आर्य था, दूसरे वह समुदाय जो बहुत कुछ अनार्य था। आगे चल कर पहिला समुदाय द्विज कहलाया और दूसरा शूद्र। यह नाम ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों में नहीं आये हैं, शायद उस समय तक व्यवस्था पूरी न बन पाई थी।

आर्य वर्ग

पर आर्यों और अनार्यों के इस महान् जातीय भेद के अलावा स्वयं आर्यों में कुछ भेद होने लगे थे। यह सच है कि इस समय सब आर्यों में, आवश्यक गोत्र छोड़ कर, ब्याह सम्बन्ध हो सकता था, खाने पीने के मामले में तो किसी तरह की रोक

टोक थी ही नहीं, उद्यम व्यवसाय की स्वतंत्रता थी। उदाहरणार्थ एक ऋषि कहता है कि मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है, मैं कविता करता हूँ[१]। पर प्रत्येक समाज में असमानताओं के कारण और धार्मिक, सैनिक या आर्थिक आवश्यकताओं के कारण वर्ग बन जाते हैं अर्थात् भिन्न २ भावों, विचारों या स्थितियों के लोग या भिन्न २ व्यवसाय करने वाले अपने कुछ पृथक् समुदाय बना लेते हैं। जहां कहीं मानसिक या व्यवसायिक असमानता होती है वहां अनेक श्रेणियों का बन जाना स्वाभाविक् है। जैसे २ सामाजिक संगठन पेचीदा होता जाता है वैसे २ श्रेणियां भी ज़्यादा होती जाती हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी पेचीदा होते जाते हैं। ऋग्वेद के समय में सामाजिक संगठन उतना पेचीदा नही हुआ था जितना कि हज़ार पाँच सौ बरस पीछे हो गया। तो भी इतनी भिन्नताएँ अवश्य हो गई थीं कि कई वर्ग पैदा हो जाय।

पहिला वर्ग तो धार्मिक क्रिया कांड वालों का था जो ब्राह्मण वर्ग कहलाया। ऋग्वेद के आर्यों को परलोक की उतनी चिन्ता नही थी जितनी कि उनके वंशजों को चार पांच सौ बरस पीछे हो गई।

धर्म

ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों में पुनर्जन्म का कोई संकेत नहीं है, कर्म संसार का सिद्धान्त कहीं नही है, उस समय आर्यों की दृष्टि मुख्यतः इसी जीवन पर रहती थी, यहीं वह आनन्द प्रमोद करना चाहते थे, जीवन का उभाड़ जैसा यहाँ है वैसा किसी आगामी युग में नही मिलता। इस मामले में वैदिक आर्य अगले हिन्दुओं

---

१ ऋग्० ९। ११२। ३॥

की अपेक्षा प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों से अधिक मिलते जुलते हैं। तथापि आर्य लोग बहुत से देवताओं में विश्वास करते थे, उनसे इस जीवन के सुख ऐश्वर्य की प्रार्थना करते थे, उनकी पूजा के लिये मंत्र बनाते और गाते थे, यज्ञ करते थे, बलि चढ़ाते थे, सोमरस की दीक्षा करते थे। ऋग्वेद के देवता ज्यादातर प्रकृति के देवता हैं अर्थात् अन्य प्राचीन देशों की तरह यहां भी

देवता

प्रभावशाली प्राकृतिक दृश्यों और शक्तियों में देवताओं की कल्पना कर ली गई है। द्यौः अर्थात् आकाश एक देवता है और उसके मुकाबिले में है पृथिवी। द्यौः के साथ २ अथवा यों कहिये कि बहुत कुछ उसके स्थान पर वरुण देवता है जिसकी गिनती प्रधान देवताओं में है। बहुत से मंत्रों में उसकी महिमा गाई है। एक और प्रधान देवता है इन्द्र जो मेह और तूफ़ान का देवता है, जो पानी बरसाता है, युद्ध में आर्यों की सहायता करता है और अनार्यों को ध्वंस करता है। सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन् और विष्णु सूरज से सम्बन्ध रखने वाले देवता हैं। शिव और मरुत् तूफ़ान के, रुद्र, वायु और वात हवा के और पर्जन्य पानी के देवता हैं। उषा प्रभात की सुन्दर देवी है। अग्नि और सोम भी प्रधान देवताओं में हैं। इनके अलावा और बहुत से देवता हैं एवं ऋभु, अप्सरा, गंधर्व इत्यादि अलौकिक जीव हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आगे चलकर इन देवताओं का रूप बदल गया; अथवा इन्हीं नामों से और देवता संबोधन किये जाने लगे। और बातों की तरह धार्मिक विश्वास भी प्रगतिशील होते हैं; सदा एक से नहीं रहते; पुराने नाम रह भी जायं तो अर्थ बदल जाते हैं। ऋग्वेद में मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है वैसा आगामी हिन्दू साहित्य में नहीं है। यहां देवता

मनुष्य जीवन से दूर नहीं हैं; आर्यों का विश्वास है कि प्रर्थाना करते ही वह सहायता करते हैं, शत्रुओं का नाश करते हैं। वह मनुष्य से प्रेम करते हैं, और प्रेम चाहते हैं। हिन्दू भक्तिसम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। यहां कुछ मंत्रों में आदमी और देवता के बीच में गाढ़े प्रेम की मित्रता की कल्पना की गई है। देवताओं को प्रसन्न रखने की बड़ी आवश्यकता है, उनकी कृपा हो तो ख़ूब पानी बरसेगा, धन धान्य की बढ़ती होगी, जानवर भले चंगे रहेंगे, घर, गांव, नगर, राज्य, आनन्दमय रहेंगे, जीवन सुखमय होगा। सब का ही कर्तव्य था कि देवताओं की भक्ति में मन्त्रों का उच्चारण करें और घी, अन्न, दूध, मांस और सोम के द्वारा

यज्ञ

यज्ञ करके उनको बलि दें। साधारण पूजा पाठ तो सब कर सकते थे पर समाज को कुछ ऐसे लोगों की भी आवश्यकता थी जो अपना सारा समय या कमसे कम अधिकांश समय धार्मिक कार्य में लगा सकें। नये मन्त्रों की रचना आवश्यक थी जो विशेष विद्वानों के द्वारा ही हो सकती थी। नये पुराने मन्त्रों का अर्थ सब को समझाने के लिये भी ऐसे आदमियों की ज़रूरत थी जो और कामों से बरी हों। धीरे २ यज्ञों का विधान बढ़ने लगा; बहुत बड़े पैमाने पर यज्ञ होने लगे जिनके लिये बहुत से आदमियों को बहुत समय तक तय्यारी और कार्यवाही करनी पड़ती थी। अकेले सोमयज्ञ के लिये ही कई पुरोहितों की आवश्यकता

ब्राह्मण

थी; उदाहरणार्थ, एक होतृ चाहिये था जो मन्त्र सुनाये, एक अध्वर्यु चाहिये था जो क्रियाकांड करे और अनिष्ट का निवारण करे, एक उद्गातृ चाहिये था जो सोम गाये। इनको कई सहायकों की आवश्यकता थी। ऋग्वेद से जान पड़ता है कि ऐसे

यज्ञों में बहुधा सात पुरोहित लगते थे। एक ऋचा में इनकी गिनती इस प्रकार की है—होतृ, पोतृ, नेष्टृ, अग्नीध, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन्। यज्ञ का सारा कांड ऐसा पेचीदा हो रहा था कि हर कोई उसे न तो याद रख सकता था और न पूरा कर सकता था। अस्तु, एक पुरोहितवर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया और जो जनता की धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा करता था। जो लोग अपने गुणों से या कर्मों से या आकांक्षाओं से पुरोहिती के योग्य थे वह ब्राह्मण हो गये। उन के घरों में उन के लड़के स्वभावतः मन्त्र पढ़ना या रचना सीखते थे, अपने पिताओं के साथ रह के ही यज्ञ की विधि जान जाते थे। पुरोहित का व्यवसाय सीखने की जैसी सुगमता, जैसी सुविधा, उनको थी वैसी किसी को नहीं थी। वह भी अपने वंश का काम करने लगे। इस तरह धीरे २ एक अलग ब्राह्मणवर्ग बन गया; पहिले और लोग भी इसमें शामिल होते रहे होंगे पर धीरे २ बाहर से आने वालों की संख्या कम होती गई। ऋग्वेद के समय में ब्राह्मणवर्ग के लोग औरोंसे ब्याह सम्बन्ध कर सकते थे पर साधारणतः सब लोग अपने से वंशवालों के साथ ही ब्याह करते थे। अभी युवकों और युवतियों को ब्याह की स्वतन्त्रता थी पर बहुधा उनका प्रेम उन्हीं से होता था जिन से अकसर मुलाक़ात होती थी और जो समकक्ष थे अर्थात् बहुधा जो अपने ही वर्ग के थे। यूरुप और अमरीका में और दूसरे देशों में आज कल भी ऐसा ही होता है। अस्तु, ब्याह की स्वतन्त्रता होने पर भी ब्राह्मणवर्ग धीरे २ एक अलग वर्ग होता गया।

ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से ब्राह्मणों के कर्म और पद का कुछ हाल मालूम होता है। एक जगह कहा है कि

ब्राह्मण सोम रस से वर्ष भर का यज्ञ करते हैं[1]। अन्यत्र ब्राह्मण और पितृ सोम पीने के लिये मिलते हैं जिससे प्रगट है कि ब्राह्मणों का पद बहुत ऊँचा था[2]। अनेक मन्त्रोंमें पुरोहितों का या देवताओं के पुरोहित अग्नि का यश गाया है और पुरोहितों को दान देने का उल्लेख है। दान में सिक्के, ज़ेवर, कपड़े, रथ, मकान, पशु, गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते वग़ैरह दिये जाते थे[3]। एक जगह कहा है कि सरस्वती कंजूस को नाश कर देती है[4], जिसका तात्पर्य यह मालूम होता है कि जो ब्राह्मणों को दान नहीं देता वह नष्ट हो जाता है। जो ब्राह्मण राजाओंके पुरोहित थे वह स्वभावतः बहुत प्रभावशाली थे। पर अभी २ बड़े २ पुरोहित भी आवश्यकता पड़ने पर सब काम करते थे। विश्वामित्र और वसिष्ठ तो रणक्षेत्र तक में जाते हैं[5]।

ब्राह्मणों का पद

जैसे धार्मिक आवश्यकता से ब्राह्मणवर्ग की उत्पत्ति हुई वैसे ही सैनिक आवश्यकताओं से क्षत्रियवर्ग का उदय हुआ। कह चुके हैं कि आर्यों को बहुत दिन तक अनार्यों

क्षत्रिय

---

१. ऋग्० ७। १०३। १, ७-८॥

२. ऋग्० ६। ७५। १०॥

३. उदाहरणार्थं, ऋग्० १। ४४। १०, १२॥ ३। २। ८॥ २। २४। ९॥ १। १। १॥ ३। ३। २॥ ५। ११। २॥ ७। ७०। ४॥ १। १२६। १-४॥ ५। ३०। १२-१५॥ ७। १८। २१-२४॥ ८। १। ३२-३३॥ १। ३१। २॥ ५। २७। १७॥ ५। ३९। ४॥ ५। ४२। ८॥ ६। २७। ८॥

४. ऋग्० ६। ६१। १॥

५. ऋग्० ३। ३३॥ ७। १८॥

से गहरी लड़ाई लड़नी पड़ी। अनार्यों की पराजय के पहिले ही वह कभी २ आपस में भी लड़ मरते थे[1]; पराजय के बाद आपस की लड़ाई मानो रोज़ की बात हो गई। यों तो लड़ाई में बहुत दिन तक सब तरह के लोग मैदान लेते थे और दुश्मन का मुक़ाबिला करते थे। जैसा कि ऋग्वेद में कई बार कहा है, मैदान में जनता इकट्ठी होती है, जनता अपना बल दिखाती है[2]। प्रभात की देवी के बारे में एक ऋषि कहता है कि उषा इस तरह आती है जैसे कि लड़ाई के लिये तय्यार जनता[3]। हथियारों से अपने जान माल की रक्षा करना सब का कर्तव्य था पर सारी जनता के लिये बार २ मैदान लेना समाज के लिये हितकर नहीं हो सकता था। अगर सब पुरुष एक दम रणक्षेत्र में उतर जायें तो खेती कौन करेगा, पशुपालन और दूसरे व्यवसाय कौन करेगा, घर पर स्त्री बच्चों की रक्षा कैसे होगी? धार्मिक और मानसिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन को ठीक २ जारी रखने के लिये ज़रूरी था कि कुछ लोग तो सैनिक सेवा में अपना जीवन ही लगा दें और बाक़ी कभी २ ज़रूरत पड़ने पर उनके चारों ओर जमा हो जाया करें। अर्थात् एक सुव्यवस्थित सेना हो, उसके सर्दार हो, नायक हो, उसकी शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो, हथियारों का ठीक २ इन्तिज़ाम हो, उनके लिये घोड़े या दूसरे जानवर

---

१. संग्रामों के दृष्टान्तों के लिये देखिये ऋग्० १ । ५१ । ९ ॥ १ । १०३ । ३ ॥ १ । ११७ । २१ ॥ १ । १३० । ८ ॥ २ । २० । ६-८ ॥ ५ । २९ । १० ॥ ५ । ३३ । ४ ॥ ५ । ३४ । ६ ॥ ६ । २२ । १० ॥ ६ । ३३ । ६ ॥ ६ । ४७ । २० ॥ ६ । ६० । ६ ॥ ६ । ६७ । ५ ॥ ८ । २५ । ७३ ॥ ८ । ४१ । ७-९ ॥ ९ । ४१ । १ ॥

२. ऋग्० ४ । २४ । ४ ॥ ६ । २६ । १ ॥

३. ऋग्० ७ । ७९ । २ ॥

बराबर तय्यार रहें। इस तरह की सेना में वही लोग शामिल हुये जो साहसी थे, बहादुर थे, शरीर के हृष्ट पुष्ट थे, समरभूमि के प्रेमी थे। ऐसी सेना शायद किसी ने एक निर्दिष्ट समय पर जान बूझ कर न बनाई थी। लड़ाई के युग में आप से आप उस का विकास हो गया था, धीरे धीरे वह आप ही आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक आर्य जन में बन गई थी। इन सिपाहियों के लड़के भी कुल-परम्परा से बहुधा सिपाही का काम अंगीकार करते थे। वंश का व्यवसाय करने की प्रवृत्ति आज भी प्रत्येक देश में थोड़ी बहुत पाई जाती है, प्राचीन समय में यह और भी प्रबल थी क्योंकि उन दिनों व्यवसाय की शिक्षा ज़्यादातर घर में ही मिल सकती थी। इस तरह आर्य समाज में एक सैनिक वर्ग बना। सैन्यबल के कारण राजनैतिक प्रभुता भी इस वर्ग के हाथ में रही। यह राज-नैतिक और सैनिक क्षत्रिय वर्ग बहुत दिन तक तो औरों से ब्याह सम्बन्ध करता रहा पर ब्राह्मणों की तरह अथवा यों कहिये वर्ग-मात्र की तरह इस की प्रवृति भी ज़्यादातर आपस में ही सम्बन्ध करने की थी। बल और प्रभुता के कारण इस वर्ग की बड़ी सत्ता थी, इसे स्वाभाविक गर्व था और सारा समाज इसका लोहा मानता था। ऋग्वेद में क्षत्रिय पद का बड़प्पन स्वीकार किया है और उन लोगों की निन्दा की है जो झूठ मूठ ही क्षत्रिय होने का दावा करते हैं [1]।

विश्

जैसे जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग दृढ़ होते गये वैसे वैसे वह शेष जनता से अधिकाधिक पृथक् होते गये। शेष आर्य जनता विश् कह-लाने लगी। विश् शब्द से पहले सारी आर्य जनता का बोध होता था। इस का मूल अर्थ तो केवल बैठना

---

१. ऋग्० ७। १०४। १३॥

है; घूमने फिरने के बाद जब आर्य लोग ज़मीन पर बैठ गये अर्थात् ज़मीन पर स्थायी रूप से बस गये और मुख्यतः खेती बारी से जीवननिर्वाह करने लगे, तब उनकी वस्ती विश् कहलाने लगी। वस्तीके अर्थ से यह शब्द बसने वालों का अर्थात् जनता का द्योतक हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग बनने पर एक ऐसे शब्द की आवश्यकता थी जो शेष जनता का बोधक हो। इस अर्थ में विश् शब्द का ही प्रयोग होने लगा—एक मन्त्र में पहिले क्षत्रियों के लिये बल की प्रार्थना की है और फिर विश् के लिये वही प्रार्थना की है [1]। ऋग्वेद के पहिले नौ मण्डलों में वैश्य शब्द कहीं नहीं आया है, केवल विश् का ही प्रयोग किया गया है। विश् बड़ा भारी वर्ग था, इस के लोग खेती, पशुपालन, तरह तरह की दस्तकारी इत्यादि बहुत से व्यवसाय करते थे। धीरे धीरे इन व्यवसाओं के अनुसार बहुत से छोटे वर्ग विश् समुदाय में बन गये।

अनेक वर्ग

व्यवसाय भेद के अलावा एक और कारण भी था जिस से वर्ग बने। जैसा कि फ्रेंच विद्वान् सेनार्ट ने बताया है, आर्यों में प्राचीन समय से यह प्रथा थी कि गोत्र या सम्बन्ध विशेष के दायरे में ब्याह नहीं करते थे पर बहुधा दूसरे विशेष गोत्रों में ब्याह करते थे। अन्तर्व्याह और बहिर्व्याह की इस परिपाटी से भी बहुत से वर्ग बने। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के एवं अन्य २ छोटे २ वर्गों के बनने में सैकड़ों बरस लगे होंगे। सामाजिक विकास सदा धीरे २ होता है, सामाजिक संस्थायें आहिस्ता २ परिपक्व होती हैं।

---

१. ऋग्० ८। ३५। १७-१८॥

ऋग्वेद के समय में वर्गव्यवस्था बन चुकी है पर आगामी काल की वर्णव्यवस्था अभी दूर है। आर्यों के बीच में अभी अन्तर्व्याह जारी है; एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश करना अभी सम्भव है; व्यवसाय की भी स्वतंत्रता है। यह ज़रूर है कि व्यवहार में ऐसा कम होता था पर कोई मनाही न थी। खान पान की तो कोई भी रोक टोक न थी।

तुलना

कह चुके हैं कि वर्ग सब समाजों में बन जाते हैं। पुराने ज़माने में कई देशों में वैसे ही वर्ग थे जैसे हिन्दुस्तान में। उदाहरणार्थ, ईरान में वर्गीकरण बिल्कुल इसी ढंग पर हुआ था। पुरानी कथाओं के आधार पर फ़ारसी कवि फ़िर्दौसी कहता है कि राजा यिम ने चार वर्ग बनाए[1]। पर सच यह है कि वहाँ भी वर्ग शताब्दियों के विकास से बने थे। पुराने बैबिलन, एसीरिया और मिस्र आदि में भी वर्ग थे।

अनार्य वर्ग

आर्य वर्गों के लिये तो ऋग्वेद साक्षी है पर क्या अनार्यों में भी कोई वर्ग थे? अनार्यों के कई जातियां थीं, यह तो ऋग्वेद से प्रगट है पर सम्भव है कि प्रत्येक अनार्य जाति में आर्यसंघर्षण के पहिले भिन्न २ वर्ग रहे हों। वह वर्ग भी शायद उन्हीं कारणों से पैदा हुये होंगे जिनसे आर्य वर्ग बने थे। जब पराजय के बाद अनार्य आर्यों से दब कर रहने लगे तब उनका पुराना वर्गीकरण कुछ बदल गया होगा पर बिल्कुल मिटा न होगा। सामाजिक संस्थाओं के बनने में जैसे देर लगती है वैसे ही मिटने में भी

१, शाहनामा १। १३२॥

देर लगती है। कभी २ तो परिस्थिति बदल जाने पर भी वह मिटाये नहीं मिटती। पुराने अनार्य वर्ग किसी न किसी रूप में जारी रहे होंगे।

सम्मिश्रित वर्ग

आर्यों और अनार्यों में जो थोड़ा या बहुत सम्मिश्रण हो गया था उस से उत्पन्न होनेवाले समुदाय का क्या हुआ? यहां ऋग्वेद से कोई सहायता नहीं मिलती। इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि शायद उनमें से कुछ आर्य समुदाय में रहे हों, शायद कुछ अनार्य समुदाय में ढकेल दिये गये हों, शायद उनके अलग वर्ग बन गये हों जैसा कि आजकल अफ्रीका में और अमरीकन संयुक्तराज्य की दक्खिनी रियासतों में, या एक छोटे पैमाने पर लंका, हिन्दुस्तान इत्यादि बहुतेरे देशों में दृष्टिगोचर है। इन सम्मिश्रित वर्गों की गिनती चाहे आर्यों में हुई हो, चाहे अनार्यों में पर व्यवहार दृष्टि से यह पृथक् वर्ग ही थे।

उपसंहार

यह विस्तृत वर्गव्यवस्था वर्णव्यवस्था में कैसे परिणत हुई? यह आगे बताया जायगा। ऋग्वेद के समय के बारे में निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है कि एक ओर आर्यों में और दूसरी ओर अनार्यों में बड़ा भारी अन्तर था, स्वयं आर्यों में कम से कम तीन वर्ग थे पर शायद इनके भीतर छोटे २ वर्ग और भी बन रहे थे; शायद अनार्यों में भी कई वर्ग थे; शायद सम्मिश्रित जातियों के भी अपने पृथक् वर्ग थे।

साधारण सामाजिक जीवन

अनार्य वर्गों के साधारण सामाजिक जीवन के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि समय के अनुसार वह आर्यों की संस्थाओं को अङ्गीकार करते जाते थे।

आर्यों के सामाजिक जीवन की एक झलक ऋग्वेद से मिलती है। संगठन के सिद्धान्त और व्यवहार में स्त्रियों का पद बहुत ऊंचा था। किसी तरह का पर्दा नहीं था। साधारण जीवन के अलावा समाज के मानसिक और धार्मिक नेतृत्व में भी स्त्रियों का हाथ था। जैसी कुछ शिक्षा उन दिनों थी उसके द्वार स्त्रियों के लिये भी खुले हुये थे। जिन स्त्रियों में धार्मिक साहित्य रचने की शक्ति थी उनको अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार चलने में कोई रोक टोक न थी। कई स्त्रियां ऋषि थीं जिनकी रचनाएं पुरुषों की तरह ऋग्वेद संहिता में आज तक शामिल हैं[१]। साहस और वीरता में भी स्त्रियाँ कम न थीं। कोई २ स्त्रियाँ तो समर भूमि में जाकर पुरुषों की तरह शूरता दिखाती थीं। उदाहरणार्थ, एक कथा है कि विश्पला लड़ाई में गई थी, जब लड़ते २ घायल हो गई तब अश्विनों ने उसका इलाज किया[२]। व्याह के मामले में भी स्त्रियों को बड़ी स्वतंत्रता थी। बहुधा जवान स्त्री पुरुष आपस में मिला जुला करते थे, अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करते थे और अपनी पसन्द के अनुसार एक दूसरे से व्याह कर लेते थे[३]। कोई कोई युवतियां अपने सौन्दर्य पर फूली न समाती थीं और अपने प्रेमियों के चित्त प्रसन्न करने में बड़ी कुशल होती थीं[४]। कभी २ प्रेमी युवक और युवतियां छिप कर मिलने का प्रयत्न करते थे। एक

स्त्रियों का पद

---

१. ऋग्० १। ११७ ॥ १। १७९ ॥ ५। २८ ॥ ६। १० । २ ॥ ८। ९१ ॥

२. ऋग्० १। ११२। १० ॥ १। ११६। १५ ॥ १। ११७। ११ ॥ १। ११८। ८ ॥

३. ऋग्० १। ११५। २ ॥ ९। ३२। ५ ॥ ९। ५६। ३ ॥

४. ऋग्० १। १२३। १० ॥

स्थान पर एक युवक मंत्र के द्वारा अपनी प्रेयसी के घर वालों को सुलाना चाहता है [1]। इन उल्लेखों से एवं ब्याह के बाद ही होने वाले संस्कारों से साफ़ ज़ाहिर है कि उन दिनों बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। ऋग्वेद में न तो कहीं बाल विवाह का उल्लेख है और न कोई ऐसी बात है जिससे बालविवाह का ज़रा भी अनुमान हो सके। इसके विपरीत एक उल्लेख से प्रगट होता है कि स्त्रियां कभी २ अधेड़पन के बाद ब्याह करती थीं। उदाहरणार्थ, घोषा नामक एक स्त्री बड़ी उम्र तक कुमारी ही रही [2]। कोई कोई स्त्रियां ऐसी भी थीं जो शादी से बिल्कुल इन्कार कर देती थीं और अपने पिता या भाई के साथ रहती थी। एक जगह एक स्त्री का उल्लेख है जो अपने मा बाप के घर पर ही बूढ़ी होती जाती है [3]।

ब्याह की रस्म

सगाई पक्की हो जाने के बाद नियत तिथि पर दूलह अपने सम्बन्धियों और मित्रों की बरात लेकर बेटीवाले के यहां जाता था। यहां दुलहिन के सम्बन्धी और मित्र उन सब की आव भगत करते थे। नियत मुहूर्त्त पर दूलह दुलहिन को एक पत्थर पर चढ़ा कर उसका पाणिग्रहण करता था। तब दोनों अग्नि की परिक्रमा करते थे। ब्याह की इस रस्म के बाद बड़ा उत्सव होता था जिस में लड़की लड़के, स्त्री पुरुष, अच्छे से अच्छे कपड़े और जे़वर पहिन कर शामिल होते थे [4]। कभी कभी ब्याह में दहेज भी दिया जाता था। उत्सव इत्यादि के बाद बरात विदा हो जाती थी। दूलह दुलहिन को रथ

---

१. ऋग्० ७। ५५। ५-६, ८॥

२. ऋग्० १। ११७। ७॥

३. ऋग्० २। १७। ७॥

४. ऋग० ४। ५८। ९॥

पर बैठाता था। मंत्र गाते हुये सब लोग बेटे वाले के यहां वापिस चले आते थे। शादी की यह रस्में बहुत दिन तक ऐसी ही जारी रही और आज कल भी बहुत कुछ वैसी ही है।

अनेक ब्याह

ऋग्वेद के समय में कुछ इने गिने आदमी—विशेष कर राजा महाराजा या बड़े पुरोहित अनेक ब्याह करते थे [१]। परिमित क्षेत्र में अनेक ब्याह की प्रथा हिन्दुस्तान में अब तक जारी रही है पर याद रखना चाहिये कि प्रकृति स्त्रियों और पुरुषों की संख्या को लगभग बराबर बनाती है। थोड़े से आदमी ही एक से ज़्यादा शादी कर सकते हैं। आर्थिक कारणों से और साधारण कौटुम्बिक सुख के कारणों से भी अनेक ब्याह परिमित ही रहते हैं। तथापि यह मानना पड़ेगा कि अनेक ब्याह की प्रथा की स्वीकृति ही स्त्रियों के पद को कुछ हल्का कर देती है क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है कि स्त्री केवल मनोरंजन की सामग्री है। बहुविवाह स्त्री के अन्तःकरण पर ऐसी चोट पहुँचाता है और उनके मानसिक जीवन में ऐसी विपत्ति डालता है कि सौतों में दिन रात झगड़े होना एक स्वाभाविक बात है। ऋग्वेद से प्रकट है कि अनेक ब्याह करने वाले महापुरुष कभी २ घरेलू संग्रामों की चिन्ताओं से बेतरह परेशान रहते थे [२]।

विधवा ब्याह

ऋग्वेद में विधवा ब्याह का कोई निषेध नहीं है पर यह ठीक ठीक नहीं मालूम होता कि विधवाएं अपने देवरों से ही ब्याह करती थीं या और किसी से भी कर सकती थीं। दसवें मण्डल में एक ऋचा है जो आर्य सभ्यता में विधवाओं के स्थान पर कुछ प्रकाश

---

१. ऋग्० १। ६१। ११॥ १। ७१। १॥ ७। १८। २॥ ७। २६। ३॥

२. ऋग्० १। १०४। ३॥ १। १०५। ८॥

डालती है। मरघट में अपने पति के शव के पास लेटी हुई विधवा से कहते हैं कि "उठो, स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को राज़ी है"[१]। इसी तरह अथर्ववेद कहता है कि "यह स्त्री (अर्थात् विधवा) पुराने धर्म का पालन करती हुई, अपने पति के लोक को पसन्द करती हुई, तुम्हारे पास जो मर गये हो, पड़ी है (पर) इसको यहीं संतान और सम्पत्ति दो। उठो स्त्री! जीवितों के संसार में आओ......(पूर्ववत्)"[२]। अनेक शताब्दियों के बाद पंडितों ने वैदिक ऋचा के अर्थ का अनर्थ करके इससे सती का विधान निकाला पर यह स्पष्ट है कि इस काल में विधवा पति के साथ जलाई नहीं जाती थी। तो भी एक प्रश्न उत्पन्न होता है। आख़िर विधवा मरघट में पति के उस शव के पास क्यों लेटती है जिसके जलाने की तय्यारी हो रही है? ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इस प्रश्न का कोई पक्का उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर एक अनुमान होता है। संसार की बहुतेरी प्राचीन जातियों में पुरुषों के, और विशेष कर, बड़े आदमियों के, शव के साथ उनकी प्यारी चीज़ें गाड़ने की या जलाने की चाल थी। उनका ख़्याल था कि उस पार भी आत्मा को इन चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी, किसी तरह यह उनके पास पहुँच जायंगी और इनको पाकर उन्हें संतोष और आनन्द होगा। कई जातियों में स्त्रियों की गिनती

---

१. ऋग्० १० । १८ । ८ ॥
२. अथर्व वेद १८ । ३ । १-२ ॥

भी इन आवश्यक चीज़ों में कर ली गई और वह पतियों के साथ दफ़न होने लगी या जलाई जाने लगीं। सम्भव है कि किसी दूरवर्ती भूतकाल में आर्यों में भी यह प्रथा रही हो। कह चुके हैं कि ऋग्वेद की सभ्यता के पीछे अनेक शताब्दियों का विकास है। अगर किसी बहुत पुराने युग में आर्यों में सती की प्रथा प्रचलित थी तो धीरे २ सभ्यता की प्रगति ने उस को मिटा दिया। विधवाओं का जलाना तो बन्द हो गया पर पुरानी प्रथा की एक लकीर, एक रस्म बाक़ी रह गई जैसा कि बहुधा हुआ करता है। लुप्त प्रथा की इस रस्म के अनुसार ही विधवा मरघट जाती थी और ज़रा देर के लिये पति के शव के पास लेट जाती थी। भविष्य में अर्थात् ई० पू० चौथी सदी के लगभग फिर कुछ भारतीय समुदायों में सती प्रथा कैसे चल पड़ी—यह हम आगे बतायेंगे। यहां केवल इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि बहुत पुराने काल में आर्यों में यह प्रथा भले ही रही हो पर ऋग्वेद के समय में बिलकुल न थी। इसके विपरीत विधवाओं का व्याह हो सकता था। देवर के साथ व्याह की सम्भावना तो सिद्ध है पर अगर देवर पहिले से ही विवाहित हो या भाभी से व्याह करने को राज़ी न हो तो क्या होता था? ऋग्वेद इस मामले में चुप है पर उस काल के साधारण सामाजिक संगठन और जीवन से यह सम्भव मालूम होता है कि विधवा और किसी से व्याह कर लेती होगी। एक मन्त्र[1] के आधार पर जर्मन विद्वान् पिशेल ने यह नतीजा निकाला है कि जिस

---

[1] ऋग्० १। १८५। ८॥

स्त्री का पति ग़ायब हो गया हो वह दूसरा व्याह कर सकती थी पर वैदिक साहित्य से इस का पूरा २ सबूत नहीं मिलता।

कुटुम्ब

आर्य कुटुम्ब का जीवन पैत्रिक सत्ता और स्त्री सन्मान के सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित था। पिता या पितामह एक तरह का गृहपति होता था जिसकी प्रधानता घर के और लोग मानते थे[१]। गृहपति से वीरता और उदारता की आशा की जाती थी[२]। पिता के मरने पर बड़ा लड़का

गृहपति

गृहपति होता था, साधारणतया वह कुटुम्ब की सम्पत्ति का स्वामी समझा जाता था; मकान, घोड़े, गाय बैल, द्रव्य, ज़ेवर, हथियार, दास इत्यादि सब पर उस की प्रभुता रहती थी। पर कभी २ भाइयों में बटवारा भी हो जाता था[३]। भाइयों का एक बड़ा कर्तव्य यह था कि शादी होने तक बहिनों का पालन पोषण करें। इसी से संस्कृत में भाई के लिये शब्द है भ्रातृ अर्थात् भरण करने वाला। जिन लड़कियों के भाई न थे उनको कभी २ बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती थी। एक ऋचा में निर्धन भ्रातृहीन लड़की का उल्लेख है जो दुराचार से अपना पेट भरती थी[४]।

स्त्री

ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक हिंदुस्तान में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा चली आती है। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम हो जाती है

१. ऋग्० ६।५३।२॥
२. ऋग्० ६।४९।८॥
३. ऋग्० १।७०।५॥
४. ऋग्० १।१२४।७॥

और स्त्रियों की पदवी भी कुछ नीची हो जाती है पर कम से कम ऋग्वेद के समय में स्त्रियों का पद गिरने न पाया। सास ससुर, देवर ननद के साथ रहते हुये भी बहू का प्रभाव बहुत था। अपने पति के साथ वह मंत्र पढ़ती थी, यज्ञ करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती और पीती थी[१]। एक वैदिक मंत्र में ऋषि कहता है कि पति पत्नी प्रेम पूर्वक साथ २ अनेक धार्मिक कार्य करते हैं; सुनहरे ज़ेवर पहिने हुये बेटी बेटों के साथ आनन्द करते हैं और पूरी आयु पाते हैं[२]। स्त्री घर का प्रबन्ध करती थी, और बहुत से कामों के अलावा ताने बुनने का काम भी करती थी[३]। इसमें आश्चर्य नहीं है कि कहीं २ अग्नि देवता की उपमा गृहपत्नी से दी है जो घर के सब लोगों की ख़बरदारी रखती है[४]। अन्यत्र उषा देवी के बारे में ऋषि कहता है कि वह गृहपत्नी की तरह सोने वालों को जगाती हुई आती है।[५] पत्नी के बिना घर घर नहीं है। एक मंत्र में ऋषि कहता है कि हे मघवन्, पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है[६]। यह भी कहा है कि हे इन्द्र! तुम सोम पी चुके, अब अपने घर की ओर जाओ, घर में तुम्हारी प्यारी पत्नी है, तुम्हारे लिये वहीं आनन्द है[७]। एक मंत्र में इन्द्र के मुंह से

---

१. ऋग्० १। १२१। ३॥ ५। ४३। १५॥

२. ऋग्० ७। ३१। ५-८॥ पतिपत्नी के प्रेम के लिये ऋग्० १। १०५। २। भी देखिये।

३. ऋग्० २। ३। ६॥ २। ३८। ४॥

४. ऋग्० १। ६६। ३॥

५. ऋग्० १। १२४। ४॥

६. ऋग्० ३। ५३। ४॥

७. ऋग्० ३। ५३। ६॥

यह ज़रूर कहलाया है कि स्त्रियों की बुद्धि कमज़ोर होती है और उनका चित्त बहुत संयम नहीं पसंद करता [१]। पर साधारणतया स्त्रियों का बहुत आदर सन्मान था।

संतान की लालसा

पुराने ईरानी, ग्रीक और रोमनों की तरह वैदिक आर्यों में भी संतान की लालसा बहुत थी अग्नि से प्रार्थना करते हुये एक ऋषि कहता है कि हम तुम्हारे पास अकेले ही बैठे न रह जायँ, हमारे वीर संतान हो, हमारे घर संतान से भरे पूरे हों [२]। इसी मंत्र में फिर पूरी आयु और वीर संतान की प्रार्थना की है [३]। एक दूसरा ऋषि प्रार्थना करता है कि हम निर्धन न हों, हमें वीर पुत्रों की कमी न हो, न पशुओं की कमी हो, न हमारी निन्दा हो [४]। एक तीसरे ऋषि का विश्वास है कि सोम देवता पूजा करने वाले को दुधारी गाय और तेज़ घोड़ा देता है और ऐसा वीर पुत्र देता है जो विद्या में, घर के काम में और सभा तथा समिति में निपुण हो और पिता के लिये गर्व का

कारण

कारण हो [५]। पुत्रों की कामना एक स्वाभाविक कामना है जिसे प्रकृति ने जाति की रक्षा के लिये अत्यन्त दृढ़ बनाया है। पर इसके कुछ और विशेष कारण भी थे।

---

१. ऋग्० ८। ३३ १७॥

२. ऋग्० ७। १। ११। १२। १९॥

३. ऋग्० ७। १। २४॥

४. ऋग्० ३। १६। ५-६॥

५. ऋग्० १। ९१। २०॥

एक तो सम्मिलित कुटुम्ब में मा बाप को पुत्रों से बड़ा सहारा हो जाता था। दूसरे, मरने के बाद आत्मा की शान्ति के लिये पुत्र श्राद्ध करता था। अगर कोई श्राद्ध करने वाला न हो तो बड़ी विपत्ति का सामना था। तीसरे, पुत्र से वंश बना रहता था। पैतृक सत्ता के युग में सब ही जातियों में वंश के मिटने की सम्भावना बड़ी भयंकर समस्या मानी जाती थी और संतानहीनता सब से बड़ी दुर्घटना गिनी जाती थी। चौथे, शायद आर्यों को अपनी संख्या बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता थी। अनार्यों से या आपस में ही संग्राम के लिये, नई जीती हुई ज़मीन को आबाद करने के लिये, और यों भी समाज में अनार्यों से गिनती मे अधिक होकर उन्हें दबाने के लिये, बड़ी जनसंख्या की ज़रूरत थी। जब एक बार संतान का आदर्श बन गया तब वह स्वयं सन्तान लालसा का एक कारण हो गया।

गोद

जिन को किसी तरह लड़के न होते थे वह कभी २ दूसरों के लड़के गोद ले लिया करते थे। गोद लिये लड़के बड़े लाड़ प्यार से पाले जाते थे; चिरवंचित मातृस्नेह और पितृस्नेह उन्हीं पर स्थिर हो जाता था पर जैसा कि एक वैदिक मंत्र से प्रगट है, गोद के लड़के असली लड़कों के बराबर नहीं होते थे[1]।

दास

आर्य कुटुम्ब का वर्णन दासों के कुछ उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता। पुराने हिन्दुस्तान में दासता की प्रथा उतनी प्रचलित नहीं थी और न उस तरह समाजसंगठन

---

१. ऋग्० ७। ४। ७-८॥

की आधार थी जैसे कि पुराने ग्रीस या रोम में। तो भी यहां, विशेष कर अमीरों के यहां, बहुत से दास और दासियां थीं। एक ऋषि उषा से पुत्रों के साथ २ दासों के लिये भी प्रार्थना करता है[१]। दासों को कड़ी मिहनत करनी पड़ती थी[२]। वह एक प्रकार की सम्पत्ति समझे जाते थे और दान में दिये जा सकते थे। एक ऋषि कहता है- कि हे अग्नि! अभ्यावर्तिनि चायमान ने मुझे बीस बैल इत्यादि के साथ २ बहुत सी लड़कियां भी दीं[३]। अन्यत्र कहा है कि राजा त्रसदस्यु ने पचास बधुएं अर्थात् दासियां दान में दी[४]।

आतिथ्य

इतिहास के और बहुतेरे समुदायों की तरह प्राचीन आर्य सभ्यता पर दासत्व से जो कलंक लगता है उसको धोने की चेष्टा करना व्यर्थ है पर यह न समझना चाहिये कि वह लोग दया के भावों से बिल्कुल शून्य थे। उदाहरणार्थ, उस समाज में आतिथ्य एक बड़ा गुण समझा जाता था। ऋग्वेद में अग्निदेव को अतिथि के नाम से पुकारा है[५]। राजा दिवोदास अतिथियों का ऐसा स्वागत करता था कि उसे अतिथिग्व की उपाधि दी गई थी[६]। साधारण जन भी आतिथ्य में कम न थे। घर का सब से अच्छा कमरा अतिथि को

---

१. ऋग्० १। ९२। ८॥

२. ऋग्० १। ८६। ७॥

३. ऋग्० ६। २७। ८॥

४. ऋग्० ८। १९। ३६॥

५. ऋग्० ७। ३। ५॥

६. ऋग्० १। ५१। ६॥ १। ११२। १४॥ ४। २६। ३॥ ६। ४७। २२॥

रहने के लिये दिया जाता था[१]। इसके अलावा आर्यों का कर्तव्य माना जाता था कि सब के साथ सज्जनता का व्यवहार करें। एक ऋषि प्रार्थना करता है कि हे वरुण ! अगर हमने भाई, मित्र, साथी, पड़ोसी या अजनबी का कुछ बिगाड़ा हो तो हमारा पाप दूर करो[२]।

शिक्षा

लगभग प्रत्येक समाज बच्चों और युवकों को अपने आदर्शों और रीतिरिवाज में दीक्षित करने का अर्थात् अपनी सभ्यता को जारी रखने और बढ़ाने का प्रबन्ध कर लेता है। ऋग्वेद में लिखने की प्रथा का उल्लेख कहीं नहीं है। ऋषि तथा और लोग भी मंत्र याद रखते थे और मौखिक शिक्षा के द्वारा अपनी संतान को सिखा देते थे। जान पड़ता है कि इसके अलावा एक तरह की पाठशालाएं भी थीं जहां गुरु विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। एक मंत्र में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की तुलना बरसात में बोलने वाले मेंढकों से की है[३]। और बहुत से वैदिक वाक्यों की तरह यह उपमा भी आगामी हिन्दू साहित्य में बार २ मिलती है।

नैतिक आदर्श

ऋग्वेद में समाज के नैतिक आदर्श की बड़ी ऊंची कल्पना की गई है। उस आदर्श के अनुसार सब लोगों को चाहिये कि हेलमेल से रहें और ऋत अर्थात् सत्य अथवा यों कहिये धर्म को अपने जीवन का अवलम्बन समझें।

---

१. ऋग्० १। ७३। १॥

२. ऋग्० ५। ८५। ७॥

३. ऋग्० ७। १०३। ५॥ इसी मंडल में ७। ८७। ४ भी देखिये।

आदमी क्या, देवता भी धर्म का पालन करते हैं। स्वयं देवताओं ने अपने लिये कड़े नियम बना रक्खे हैं[१]। इसके अलावा देवता कभी इन्द्र के नियमों का उल्लंघन नहीं करते[२]। विश्व में जो कुछ है उसका सब का आधार ऋत है। देवता मित्रवरुण अनृत को जीत कर ऋत की पालना करते हैं[३]। देवता वरुण के नियम सदा सत्य हैं[४]। वरुण तो अनृत से स्वभावतः घृणा करता है और ऋत को बढ़ाता है[५]। इसी मंत्र में ऋषि कहता है कि देवता ऋत में पैदा होते हैं, ऋत को पालते हैं और बढ़ाते हैं, अनृत से बड़ी घृणा करते हैं; वही देवता राजाओं की और साधारण मनुष्यों की रक्षा करें[६]। ऋत को बढ़ाने के अभिप्राय से मित्र वरुण आदमियों पर उसी तरह नज़र रखते हैं जैसे गड़रिये अपने भेड़ों पर[७]। सूरज भी चरवाहे की तरह जीवों के कर्मों का निरीक्षण करता है और मित्र वरुण को बतलाता है[८]। चरित्र निरीक्षण के अभिप्राय से देवताओं ने निरीक्षक भी तैनात कर

---

१. ऋग्० १ । ३६ । ५ ॥
२. ऋग्० ७ । ४७ । ६ ॥
३. ऋग्० १ । १५२ । १ ॥
४. ऋग्० ५ । ६३ । १ ॥
५. ऋग्० ७ । ६६ । १३ ॥
६. ऋग्० ७ । ६६ । १० ॥
७. ऋग्० ४ । २५ । ४३ ॥ इत्यादि ॥
८. ऋग्० ४ । ३० । १-३ ॥ ६ । ६७ । ५ ॥ ८ । ४१ । ७ ॥
इनके अलावा ऋग्० ८ । २५ । ७-८ ॥ १० । ६३ । ४, ८ ॥ इत्यादि भी देखिये ।

रक्खे हैं[१]। अनेक मंत्रों में झूंठ की बड़ी निन्दा की है[२] और झूंठा अपराध लगाने वाले को शाप दिया है[३]। बहुतेरे मन्त्रों में ऋषियों ने देवताओं से प्रार्थना की है कि हमें अच्छे मार्ग पर चलाओ।

धार्मिक विश्वास

आदर्श और समाज के वर्णन में प्रसंगवश ऋग्वेद के धार्मिक विश्वासों का बहुत सा हाल आ गया है। पर विषय को पूरा करने के लिये कुछ और बताना भी आवश्यक है। ऋग्वेद में ३३ देवता माने गये हैं पर वह सब एक श्रेणी के नहीं हैं, कोई अधिक महत्व और प्रभाव रखते हैं, कोई कम।

देवता

सब से बड़े देवता तीन मालूम होते हैं—इन्द्र जिसके लिये कोई २५० मंत्र हैं, अग्नि जिसके लिये कोई २०० मन्त्र हैं, और सोम जिसके लिये १०० से अधिक मंत्र हैं। द्यौः और पृथिवी ६ मंत्रों में सब के माता पिता कहे गये हैं। मेह के देवता पर्जन्य के लिये और परलोक के देवता यम के लिये तीन २ मंत्र हैं। सूर्य स्वयं एक बड़ा देवता है और उसके रूपान्तर भी अनेक हैं। उसके एक अंश सवितृ की प्रार्थना में वह सुप्रसिद्ध सावित्री या गायत्री मंत्र है जो हिन्दुओं में आज तक पढ़ा जाता है[४]। पूषन् भी सूर्य का एक अंश है, वह सब को बढ़ाता है। विष्णु के बारे में

---

१. ऋग्० ५। ४४। ३॥ ५। ६३। १॥

२. उदाहरणार्थ, ऋग्० १। १४७। ५॥ १०। ९। ८॥

३. ऋग्० ७। १०४। ८-९॥

४. ऋग्० ३। ६२। १०॥

कहा है कि वह तीन छलांग भरता है जिससे अनुमान होता है कि वह भी सूर्य का रूपान्तर है। ऋग्वेद में वह बहुत छोटे दर्जे का देवता है पर भविष्य में जब पुराणों ने उसे परमेश्वर बना दिया तब उसकी छलांगों के आधार पर बलि वामन की कथा बनी। ऋग्वेद में द्यौः की पुत्री और प्रभात की देवी उषा के सौन्दर्य की प्रशंसा हृदयग्राही कविता में की गई है। संसार के प्रकृतिकाव्य और प्रीति-काव्य का यह पहिला नमूना है और बड़े ही मार्के का है। आश्विन् भी द्यौः के लड़के हैं, वह सदा जवान और सुन्दर रहते हैं। अब तक जितने देवता गिनाए हैं उनमें से इन्द्र, अग्नि और पृथिवी को छोड़कर बाक़ी सब आकाश के हैं। वहीं ऊपर वह रहते हैं या विचरण करते हैं। उन-के अलावा अनेक देवता हवा के भी हैं। इनमें इन्द्र प्रधान है। ऋग्वेद में बार २ कहा है कि इन्द्र वृत्र से लड़ाई कर के उसे परास्त करता है। अनेक धार्मिक कथाओं की तरह यह भी प्रकृति के आधार पर है। वृत्र के परास्त करने का तत्व इतना ही है कि इन्द्र बादलों को बार २ भेद कर पानी बरसाता है। रुद्र या शिव का नाम केवल तीन चार मंत्रों में आया है। वह जीवन को बढ़ाता है पर अभी उस-का महत्व बहुत कम है। रुद्र के पुत्र मरुत् बड़े भयंकर और मतवाले थे। वायु या वात भी रुद्र की तरह जीवन को बढ़ाने वाला देवता है। पृथिवी के देवताओं में स्वयं पृथिवी ही देवता है; अग्नि प्रधानतः घर का देवता है। सोम सोमरस का देवता है पर आगे चल कर सोम का अर्थ चन्द्रमा हो गया। नवें मण्डल के सब मंत्र और बाक़ी मंडलों के भी थोड़े से मंत्र सोम की प्रशंसा में कहे

गये हैं। देवताओं के अलावा सिन्धु, सरस्वती इत्यादि नदियों की और वनस्पति, पर्वत इत्यादि की प्रशंसा भी कभी २ देवताओं की तरह की गई है[1]।

ऋग्वेद में यह माना है कि धर्मात्मा देवलोक को जाते हैं और पापी नरक में पड़ते हैं[2]। पर

देवताओं से सम्बन्ध

जैसा कि कह चुके हैं आवागमन का सिद्धान्त ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों में नहीं है। अभी तप का भी कोई ज़िक्र नहीं है। देवताओं के लिये प्रार्थना, पूजा और यज्ञ का विधान था; पर जीवन का भाव ऐसा आनन्दमय था कि अभी किसी को तप करना न सूझा था। देवताओं की ओर भाव अभी उतना डर दहशत का नहीं है जितना कि प्रेम और मित्रता का है। उदाहरणार्थ, एक ऋषि अग्नि को प्यारा मित्र और पिता कहता है। दूसरा ऋषि कहता है कि पञ्चजनों के हित के लिये अग्नि प्रत्येक घर में निवास करता है, वह जवान है, बुद्धिमान है, घर का मालिक है; हमारा बहुत निकट सम्बन्धी है[4]। अन्यत्र कहा है कि अग्नि बड़ा कृपाशील मित्र है, पिता है, भाई है, पुत्र है, सब का पालने वाला है[5]। और मंत्रों में अग्नि को गृहपति कहा है[6]।

---

१. देवताओं के लिए ऋग्वेद का कोई भी मंडल और कोई भी मंत्र देखिये।

२. ऋग्० ४।१२।५॥ ४।५।५॥ ७।१०४।३॥ इत्यादि

३. ऋग्० १।३१।१६॥

४. ऋग्० ७।१५।१-२।७॥

५. ऋग्० १।९४।१५॥ २।१।९॥ ६।१।५॥

६. ऋग्० ५।१।५॥ ५।६।८॥ ८।४९।१९॥

एक ऋषि कहता है कि अब हम मंत्र गा चुके; हमारे प्रत्येक घर में अग्नि दूत की तरह निवास करे[१]। और देवताओं के बारे में भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये गये हैं। एक ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! पिता की तरह तुम हमारी बात सुनो[२]। कोई २ ऋषि देवताओं को अपना प्रेमी मानते हैं[३]। एक ऋषि सोम को बड़ा प्रेमी मानता है[४]। एक मंत्र में यह भाव है कि जो देवताओं से प्रेम करता है उससे देवता भी प्रेम करते हैं[५]। अन्यत्र आदित्यों को या सब ही देवताओं को सम्बोधन करके कहा है कि तुम सचमुच हमारे सम्बन्धी हो, हमारे ऊपर कृपा करो[६]।

विनोद

प्रेम और प्रसन्नता के भाव में आर्य लोग आनन्द से जीवन बिताते थे, परलोक की बहुत चिन्ता न थी, तप का कोई विचार न था, खान पान की कोई रोक टोक न थी। मांस भोजन की प्रथा सब लोगों में प्रचलित थी। सुरा और सोम ख़ूब पिये जाते थे। जर्मनों की तरह हिन्दू आर्य भी जुआ बहुत खेलते थे[७]। नाच और गाने का शौक़ बहुत था। खुले मैदान में स्त्री और पुरुष बड़े चाव से नाचा करते

१, ऋग्० ५। ६। ८॥

२, ऋग्० १। १०४। ९ ॥

३, ऋग्० ६। २५। १॥ ८। ४७। २॥

४, ऋग्० ८। ६८। ७॥

५, ऋग्० ४। २३। ५—६॥

६, ऋग्० ८। ४७। २॥ २। २९। ४॥ इनके अलावा देखिये ऋग्० ३। ५३। ५॥ ४। २५। २॥ ८। ४५। १८॥ इत्यादि॥

७, ऋग्० २। १२। ४॥ १०। ३४। १८॥

थे। गान विद्या की बहुत उन्नति हो चुकी थी। सितार, बांसुरी, ढोल वग़ैरह प्रचलित थे[1]। और भी अनेक विनोद थे। उदाहरणार्थ, रथो की दौड़ अक्सर होती थी और बड़े आनन्द का कारण होती थी[2]। सब लोगों को और ख़ास कर स्त्रियों को नदियों और तालाबों में नहाने का बहुत शौक़ था[3]। ऋग्वेद के समय में जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था वैसा हिंदुस्तान में फिर कभी नही देखा गया। इस मामले में आर्यों ने आगे चल कर दूसरा मार्ग अङ्गीकार किया, पर वर्ण और संगठन के मामले में वह ऋग्वेद की लकीरों पर ही चलते रहे। राजनैतिक संगठन में भी वह बहुत कुछ उसी मार्ग पर रहे जिसको पहिले वैदिक आर्यों ने निकाला था।

राजप्रबन्ध

राजप्रबन्ध का पूरा हाल लिखने के लिये ऋग्वेद में काफ़ी सामग्री नही है। पर इधर उधर के उल्लेखों को इकट्ठा कर के थोड़ा सा वृत्तान्त लिखा जा सकता है। ऋग्वेद में बहुधा राजा का ज़िक्र आया है। मालूम होता है कि राजा अक्सर मौरूसी होता था अर्थात् एक ही वंश से राजा चुना जाता था[4]। राजत्व की प्रथा कैसे उत्पन्न हुई—इस

राजा

पर ऋग्वेद कुछ नही कहता है पर ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो पुरानी कथाएं हैं जो इतिहास पर बहुत प्रकाश

---

१. ऋग्० १।९२।४॥ ६।२९।३॥ ७।५८९॥ ८।२०।२२॥ ९।११८॥ ५।२२।१२॥

२. ऋग्० ८।६९।४॥ १।६०।५॥ ९।३२।५॥

३. ऋग्० ५।८०।५॥ ९।६९।४॥

४. ऋग्० १।११४।१॥

डालती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि एक बार देवों में और असुरों में लड़ाई हुई। . . . असुरों ने देवों को हरा दिया . . . देवों ने कहा कि हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने के कारण हारे हैं। हमको राजा बनाना चाहिये ('राजानम् करवामहे')। इस प्रस्ताव पर सब राज़ी हो गये[1]। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि एक बार देवों और असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने बड़े लड़के इन्द्र को छिपा दिया कि कहीं बलवान असुर उसे मार न डालें। इसी तरह कयधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। देव प्रजापति के पास जा कर बोले कि "राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है"। यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की[2]। इन दोनों कल्पनाओं से अनुमान होता है कि आर्यों में परम्परा से यह विश्वास था कि युद्ध की आवश्यकताओं से राजा की सृष्टि हुई थी। आजकल के वैज्ञानिक अनुसन्धान से भी यही नतीजा निकला है कि युद्ध में अधिकार को एकत्र करने की, एक नेता रखने की आवश्यकता से ही संसार में शासन या राजत्व का प्रारंभ हुआ था। जान पड़ता है कि आपस में और अनार्यों से लड़ाई होने के कारण राजा की उत्पत्ति हुई थी और लगातार युद्ध के कारण प्रथा दृढ़ हो गई थी। दूसरे आपस के झगड़ों का फैसला करने के लिये भी राजा की आवश्यकता थी। तीसरे,

राजत्व की उत्पत्ति

१, ऐतरेय ब्राह्मण १।१४॥

२, तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।९॥

समाज के उन कामों के प्रबन्ध के लिये भी राजा चाहिये था जिनमें बहुत से आदमियों के योग की आवश्यकता थी। ऋग्वेद में मित्र वरुण और अग्नि देवताओं ने अपने राजत्व के विषय में जो बातें कही हैं उनसे अनुमान होता है कि इस लोक के राजा बड़े शानदार होते थे, शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखते थे और लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे[1]।

राजा का रहन सहन और कर्तव्य

पुरुओं का राजा त्रसदस्यु कहता है कि "... देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। ... मैं राजा वरुण हूँ। देवता मुझे वह शक्तियां देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है ... मैं इन्द्र हूं, मैं वरुण हूं[2]"। ... इससे भी प्रगट है कि राजाओं का पद बहुत ऊँचा था और वह अपने को देवताओं के बराबर समझते थे। जो लोग राजा की आज्ञा नहीं मानते थे उनके साथ बल प्रयोग होता था[3]। पर ज़्यादातर लोग आपही राजा का आदेश मान लेते थे। एक राजा का उल्लेख है जो सुख और शान्ति से अपने महल में रहता था और जिससे जनता भक्ति करती थी[4]। राजा का कर्तव्य था कि प्रजा पर कृपा रक्खे। उदाहरणार्थ, राजा लोगों

१, ऋग्० ३।४३॥५।६९।१॥ ७।६४।२॥८।५६ ।१॥ ६७।१॥ इत्यादि॥ ऋग्० २।२७।१०॥ २ ।२८।१॥५।६२।३॥५।८५। ३॥६।७०।१॥७।८६।१ ॥१।७। ८७॥ भी देखिये।

२, ऋग्० ४।४२॥

३, ऋग्० ७।६।५॥ ९।७।५॥

४, ऋग० ४।५०।८॥

को उपहार देते थे[१]। जहां अग्नि को ग्रामों का रक्षक कहा है यह ध्वनि निकलती है कि ग्रामों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य था[२]। एक ऋषि कहता है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है[३]। अन्यत्र कहा है कि सोम पवमान राजा की तरह सेनाओं के ऊपर बैठता है[४] जिससे प्रगट है कि सेना का नेतृत्व राजा का धर्म था। इन्द्र एक के बाद दूसरी लड़ाई लड़ता है और एक के बाद दूसरे पुर (मिट्टी के क़िले) को तोड़ता है[५]। अग्नि भी पुर और ख़ज़ाने जीतता है।[६] ऐसा ही राजा का कर्त्तव्य था। राजा बड़ी शान से रहते थे यह अनुमान ऋग्वेद के उन मंत्रों से होता है जहाँ राजा मित्र और वरुण के हज़ार खम्भे वाले मज़बूत ऊंचे महल की कल्पना की है[७]। यह भी कहा है कि राजाओं की ओर देखना कठिन है, वह सुवर्ण से मालूम होते हैं[८]। अनुमान होता है कि वह सुनहरे और बहुत चमकीले कपड़े पहिनते थे। जैसा कि आवश्यक था, शासन कार्य में राजा को बहुत से कर्मचारियों से सहायता मिलती थी।

---

१. ऋग्० १।६७॥१॥

२. ऋग्० १।१४४।१॥

३. ऋग्० ४।५०।८-९॥

४ ऋग्० ९।७।४॥

५. ऋग्० १।५३।७॥७।१८॥ इत्यादि।

६. ऋग्० ३।१५।४॥४।२७।१॥ इत्यादि।

७. ऋग्० २।४१।५॥७।८८।५॥

८. ऋग्० १।१८५।८॥८।६।३८॥

कह चुके हैं कि पुरोहित राजा के साथ रहता था और बड़ा प्रभाव रखता था। । ऋग्वेद में अग्नि को बड़ा पुरोहित और युद्ध में सहायक माना है[१]। अन्यत्र मित्र, वरुण, अग्नि और आदित्यों के दूतों और हरकारों का ज़िक्र है जो सच्चे, बुद्धिमान और कुशल थे और जो चारों ओर देखभाल करते थे, समाचार लाते थे और रक्षा का प्रबन्ध करते थे[२]। इस कल्पना के आधार वह राज कर्मचारी मालूम होते हैं जिनसे राजा इस तरह के काम लेते थे। कई जगह सेनानी का उल्लेख है[३] जो सेना का नायक था और जिसकी नियुक्ति राजा करता था।

पुरोहित

हरकारे

सेनानी

वैदिक साहित्य में ग्रामणी का उल्लेख भी बहुत आया है। ग्राम शब्द का मौलिक अर्थ था समूह जो संस्कृत साहित्य में भी अक्सर मिलता है। शायद बहुत पहिले जब आर्य अपने पशुओं को लेकर इधर उधर घूमा करते थे और किसी एक स्थान पर बहुत दिन न रहते थे तब हर एक घूमने वाले गिरोह को ग्राम कहते थे। जब खेती की प्रथा बढ़ने पर यह ग्राम एक विशेष स्थान पर बस गया तब यह बस्ती भी ग्राम कहलाने लगी। बस्ती के इस अर्थ में ग्राम या गांव का प्रयोग

ग्राम

---

१. ऋग्० १।४४।१०॥ ३।२।८॥

२. ऋग्० ७।६१।३॥ १।२५।३॥ ६।६७।५॥ ७।६३।३॥ ४।४।३॥ ८।४७।११॥

३. ऋग्० ७।२०।५॥ ९।९६।१॥

अब तक होता है। ग्राम का मुखिया या नेता ग्रामणी कह-लाता था। वह मौरूसी अधिकारी था, या ग्राम के निवासियों के द्वारा चुना जाता था या राजा से नियुक्त होता था—यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता था। शायद तीनों रीतियाँ थोड़ी २ प्रचलित थीं। कुछ भी हो, ग्रामणी का पद बहुत ऊंचा था। वह राज्य के मुख्य अधिकारियों में गिना जाता था। ऋग्वेद में कहीं २ व्रजपति शब्द भी आया है पर उसका अर्थ ग्रामणी ही जान पड़ता है।

ग्रामणी

व्रजपति

ऋग्वेद के समय में राजा या उसके अधिकारी निरंकुश नहीं थे। उनको धर्म के अनुसार प्रबन्ध करना पड़ता था। इसके अलावा जनता के भी बड़े राजनैतिक अधिकार थे। वैदिक साहित्य में सभा और समिति का उल्लेख बहुत जगह आया है। इनके असली रूप के बारे में विद्वानों में अभी तक बहुत मतभेद है। लड्विग् की राय है कि समिति मे सब लोग रहते थे पर सभा में केवल बड़े आदमी अर्थात् मघवन और ब्राह्मण ही बैठते थे। सिमर की राय है कि सभा तो गांव के लोगों की थी और समिति सारी जनता की। हिलीब्रांट, मैक्डानेल और कीथ की राय है कि दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है, समिति का अर्थ जनता से है, सभा का बैठने की जगह से। पर अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियां कहा है [१], जिससे जान पड़ता है कि यह दोनों संस्थाएं एक दूसरे से मिलती जुलती थीं पर थीं अलग अलग।

सभा या समिति

१. अथर्ववेद ७। १२। १॥

ऋग्वेद में एक तीसरा शब्द विदथ भी अनेक बार आया है जिसका अर्थ कहीं तो धार्मिक, कही साधारण, कहीं सामरिक जत्था है, कहीं मकान, कही यज्ञ और कहीं बुद्धि इत्यादि है। विदथ शब्द के प्रयोगों से तो संस्थाओं के विषय में कोई ख़ास बात नहीं मालूम होती पर सभा और समिति से अच्छी तरह साबित होता है कि यहां लोग मिलकर सब ज़रूरी मामलों पर विचार करते थे, नियम बनाते थे, नीति स्थापन करते थे और पेचीदा मुक़द्दमों का फ़ैसला करते थे। सब लोग यहां बहस कर सकते थे और राज कार्य में अपनी बुद्धि के अनुसार भाग ले सकते थे। यहां राजा भी आता था और सभापति का आसन ग्रहण करता था। सम्भव है कि एक राजा के मरने पर दूसरे का चुनाव सभा या समिति में होता हो पर सब उल्लेखों को मिलाने से यह अधिक सम्भव मालूम होता है कि राजा तो साधारणतया मौरूसी होता था पर जनता के सामने नियम के अनुसार उसकी स्वीकृति होती थी। ऋग्वेद की समिति पुराने ग्रीक, रोमन और जर्मनों की सभाओं से मिलती जुलती है।

कर्तव्य

ऋग्वेद के समय में राज्य की ओर से कौन २ से कर लिये जाते थे? इसका ब्यौरा बहुत कम मिलता है। मालूम होता है कि कर बहुत कम थे। शायद राजा के पास बहुत सी ज़मीन थी जिसकी आमदनी से शासन का बहुत सा ख़र्च चलता था। शायद अपनी आमदनी में से कुछ हिस्सा लोग राजा को देते थे। एक स्थान पर कहा है कि जैसे राजा अमीरों को खाता है वैसे ही अग्नि

कर

जंगलों को खाता है[1]। इससे अनुमान होता है कि अमीर आदमियों से ज़्यादा कर लिया जाता था।

न्याय के विषय में भी ऋग्वेद से बहुत कम पता लगता है। शायद बहुत से झगड़ों का फ़ैसला कुटुम्ब के मुखिया ही कर देते थे; ऋग्वेद में जो शतदाय वैरदेय शब्द आये हैं[2] उनसे मालूम होता है कि न्याय के नियमों में भिन्न भिन्न वर्गों के जीवन का मूल्य निश्चित था। आगे चल कर धर्मसूत्रों में ब्यौरेवार कहा है कि फ़लाने को मारने से इतनी गाय देनी पड़ेगी और फ़लाने के लिये इतनी। इससे धारणा होती है कि ऋग्वेद के समय में भी कुछ ऐसा ही क्रम प्रचलित था।

न्याय

पर कुछ अपराधों के लिये और तरह का दण्ड भी दिया जाता था। ऋग्वेद में देवता और आदमियों के जेलख़ाने का उल्लेख है[3], जिस से अनुमान होता है कि कुछ अपराधों के लिये इस समय भी जेल का दण्ड दिया जाता था। दो मंत्रों में कथा है कि गाँव वालों के सौ भेड़ मार डालने के अपराध में ऋज्राश्व को उसके पिता ने अन्धा कर दिया[4]। इस कथन से कौटुम्बिक दण्ड प्रथा का समर्थन होता है और यह भी मालूम होता है कि कभी २ शारीरिक दण्ड दिया जाता था। दीर्घतमस् की कथा से अनुमान होता है पर पूरा प्रमाण

दण्ड

---

१ ऋग्० १। ६५। ४॥

२. ऋग्० २। ३२४॥ इत्यादि

३ ऋग्० ४। १२। ५॥

४ ऋग्० १। ११६। १६॥ १। ११७। १७॥

नहीं मिलता कि अपराध साबित करने के लिये पानी और आग की परीक्षाओं का प्रयोग भी किया जाता था [1]। कई जगह मध्यमशी शब्द आया है जिससे जान पड़ता है कि बहुत से झगड़ों का निपटारा पंच नियत करके ही हो जाता था। कभी २ चोर अन्न, वस्त्र द्रव्य या गाय चुरा ले जाते थे। पता लगने पर उनकी दुर्दशा की जाती थी [2]।

राजन्य

ऋग्वेद में राजन्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—एक तो राजा और दूसरे ज़मीन्दार। जान पड़ता है कि राजा के चारों ओर बहुत से ज़मीन्दार थे जो राजा की प्रभुता मानते थे पर जो कुल में अपने को राजा से कम नहीं समझते थे और जो राज्य के कुछ अधिकारों का उपभोग करते थे।

सम्राट्

कई जगह सम्राज् शब्द भी आया है जिससे मालूम होता है कि कई साधारण राजा किसी एक राजा की प्रधानता मान लेते थे और तब यह राजा सम्राट् कहलाता था [3]।

---

१. ऋग्० १। १५८। ४॥ इत्यादि

२. ऋग्० १। ६५। १॥ १। ४२। २, ३॥ ८। २९। ६॥ ४। ३८। ५॥

३. मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स २। पृ० ४३३॥

तीसरा अध्याय।

उत्तर वैदिक समय।

साहित्य

ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों के बाद दसवें मंडल की रचना हुई जो भाषा, शैली और भाव में उनसे भिन्न है। इसी समय के लगभग कुछ मंत्रों को चुन कर दूसरा वेद, सामवेद, बनाया गया जिससे केवल एक ही ऐतिहासिक नतीजा निकलता है—अर्थात् यह कि धार्मिकता बढ़ रही थी। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में कुछ गद्य रचनाएं मिला कर तीसरा वेद यजुर्वेद बना जिसे यज्ञों के समय अध्वर्यु पढ़ते थे। इसके दो संस्करण हैं—कृष्ण और शुक्ल। पहिले की तीन पूरी संहिताएं हैं—तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी और एक चौथी अधूरी कपिष्ठल संहिता भी है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता है। शायद इसी समय के लगभग अ-थर्ववेद की रचना हुई जो आगे चल कर चौथा वेद माना गया। अर्वाचीन विद्वान् अब तक यह समझा करते थे कि अथर्ववेद के जादू टोना, जन्त्र मन्त्र अनार्य हैं जो धीरे २ आर्यों ने अपना लिये। पर वास्तव में अथर्ववेद भी उतना ही आर्य है जितना कि ऋग्वेद। भेद यह है कि ऋग्वेद में आर्यजीवन का एक अंग है, अथर्ववेद में दूसरा। अथर्ववेद के कुछ अंश शायद ऋग्वेद के बराबर पुराने हैं पर कुछ

वेद

अंश अवश्य ही बाद के हैं । इसके २० भाग हैं जिनमें ७३० मंत्र हैं । इसी समय के लगभग या ज़रा पीछे वैदिक सिद्धान्तों को विस्तार से समझने के लिये और वैदिक यज्ञों की रीतियों के काण्ड को फैलाने के लिये गद्य में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना प्रारंभ हुई । शतपथ इत्यादि कुछ ब्राह्मण

ब्राह्मण

तो पीछे लिखे गये थे पर आख़िरी तीन वेदों के समय के आस पास सामवेद का पञ्चविंश ब्राह्मण, और ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के पहिले पांच भाग और कौषीतकि या शाखायन ब्राह्मण बने । इस सारे साहित्य का समय अन्दाज़ से १००० ई० पू० से लेकर ७०० ई० पू० तक होगा । पर यह केवल अनुमान है । सम्भव है कि यह काल १५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक या ऐसा ही कुछ हो । पर जहां निश्चय न हो वहां इतिहास में नीची तारीख़ के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित होता है ।

इन संहिताओं और ब्राह्मणों के समय में आर्य सारे

आर्यों का विस्तार

उत्तर हिन्दुस्तान में फैल गये थे, मध्य हिन्दुस्तान की ओर भी चले गये थे और कुछ आर्य दक्षिण की ओर निकल गये थे । ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्रजाति का भी ज़िक्र है[1] पर आंध्र लोग आर्य नहीं थे । पुण्ड्र, मूतिब, पुलिंद और शबर भी

अनार्य

अनार्य थे । उनसे भी दक्षिण में अनार्य नैषध थे ।

इस समय के प्रधान आर्य समूहों में थे—शिवि, मत्स्य, वैत-

1. ऐतरेय ब्राह्मण ८ । २ ॥

हृय्य, विदर्भ। कुरु समूह से सम्बन्ध रखता हुआ श्रिञ्जय समूह था; हिमालय के पार शायद कश्मीर में कुरुओं के पास उत्तर मद्र थे। मध्यदेश में कुरुओं और पञ्चालों के अलावा वश और उशीनर भी थे। उनके दक्षिण में सत्वन्त थे।

आर्य समूह

कोशल वर्तमान अवध में थे; विदेह उत्तर बिहार में; और अङ्ग पूरबी बिहार में थे। काशी बनारस के आस पास थे। जमुना के किनारे पारावत रहते थे और उनसे बहुत उत्तर में केकय और बल्हीक, कीकट शायद मगध में थे। मगध में ब्राह्मणों की प्रभुता कभी बहुत न जमने पाई इसी से ब्राह्मण साहित्य में मगध को बुरा देश माना है और इसी से मगध में ब्राह्मणों के विरोधी बौद्ध और जैन धर्मों को उत्पन्न होने और फैलने में सुविधा हुई।

मगध

कोई भी समाज जिसमें मानसिक जीवन है एक ही अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता। विचार में क्रान्तिकारी शक्ति है, जहां विचार होगा वहां परिवर्तन अवश्य होगा। इसके अलावा वैदिक काल के जीवन के बदलने के और भी कारण थे। आर्य लोग चारों ओर फैल रहे थे; दो अथवा यों कहिये अनेक सभ्यताओं का संघर्षण हो रहा था जिस से हर तरह का परिवर्तन अवश्यम्भावी था; नई ज़मीन के जीतने से आर्थिक जीवन बदल रहा था; कृषि, उद्योग, व्यापार का स्वाभाविक प्रसार जारी था; आर्थिक और राजनैतिक उथल पथल से सामाजिक संगठन भी स्वभावतः बदल रहा था। हिन्दुस्तान के जल, वायु और विशेष परि-

आर्थिक जीवन

स्थितियों से भी आर्यों के विचार और संस्था अछूत न रह सकती थी। इन कारणों से उत्तर वैदिक काल में हर तरफ़ कुछ न कुछ परिवर्तन नज़र आता है।

आर्थिक जीवन

ऋग्वेद् के समय से अब खेती की अधिक उन्नति हो रही थी और आबपाशी ज़्यादा अच्छी होती थी। पूरब की ओर बढ़ने के कारण आर्यों में चावल का प्रयोग होने लगा था और बढ़ रहा था। जौ और तिल का प्रचार भी बढ़ रहा था। मांस खाना और सोम या सुरा पीना पहिले की तरह ज़ारी थे पर शायद कुछ लोग अब इन पर आपत्ति करने लगे थे। अथर्ववेद के एक मंत्र में इनको पाप बताया है। पहिले की अपेक्षा उद्योग धंधे बढ़ गये थे। यजुर्वेद के पुरुषमेध सूक्तों में किसान, चरवाहे, गड़रिये, मछुए, रथवाले, नाई, धोबी, जुलाहे, लकड़िहारे, कुम्हार, लुहार, रंगरेज़, द्वारपाल, दूत, रस्सी, टोकरी, रथ वग़ैरह बनाने वालों का उल्लेख है। उद्योग के साथ २ व्यापार भी बढ़ रहा था। बड़े २ व्यापारी श्रेष्ठिन् कहलाते थे जो शब्द, व्यापारी संघ के मुखिया के अर्थ में, आगामी साहित्य में भी बहुत मिलता है और जिसका अपभ्रंश सेठ अब तक प्रचलित है। व्यापार की बढ़ती से सिक्कों का चलन भी हो गया था। निष्क शब्द जिसका अर्थ पहिले ज़ेवर था अब सिक्के का द्योतक हो गया है। कृष्णाल शब्द के प्रयोगों से भी सिक्के की वृद्धि का समर्थन होता है। पहिनावे में

खान पान

उद्योग धंधा

ऊन रेशम और केशरी रंग के कपड़ों का इस्तेमाल बढ़ गया था। सवारी के लिये घोड़ों का इस्तेमाल बढ़ गया था और हाथी भी बहुतायत से पाले जाते थे। वैद्यक की बहुत उन्नति हो गई थी; इस समय के साहित्य में बहुत से नये इलाजों का उल्लेख है[1]। पर यजुर्वेद में वैद्यों की वह प्रतिष्ठा नही है जो पहिले थी। यह शायद जात पांत के बढ़ते हुये भेदों के कारण हुआ था[2]।

विद्या

उधर विद्या में भी आर्य लोग आगे बढ़ रहे थे। लिखने की कला प्रारंभ हो गई थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि लिपि हिन्दुस्तान में ई० पू० ८०० के लगभग मेसोपोटामिया से आई। इस में कोई संदेह नही कि व्यापार के कारण हिन्दुस्तान और पच्छिम एशिया में बहुत सम्पर्क था; इधर से उधर विचार और कलाएं आती जाती होंगी। यह सम्पर्क एशिया के इन सब देशों की प्रगति का एक कारण था। पर अभी तक इसका कोई सबूत नहीं मिला है कि हिन्दुस्तान ने मेसोपोटामिया से लिपि की नक़ल की। हिन्दुस्तान की लिपियों के पुराने अक्षर तो शरीर के अङ्गों के आकार से और वैदिक क्रियाकांड की रचनाओं से ही निकल आते

लिपि

---

१. ऋग्० १० । ९७ । ६ ॥ अथर्व० ४ । ९ । ३ ॥ ६ । २५ । ४ ॥ २ । १० । ६ ॥ ६ । २५ । १ ॥ ६ । १२७ । १ ॥ ५ । २२ । १० ॥

२. इस काल की सारी सभ्यता के लिये देखिये, कीथ, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, १ पृ० १३५ इत्यादि और उसके निर्दिष्ट उल्लेख।

हैं और यही उनके स्वाभाविक स्रोत मालूम होते हैं [१]। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रारंभ से ही भारतीय लिपि इतनी वैज्ञानिक रही है जितनी संसार की और कोई लिपि नहीं है।

ज्योतिष्

ज्योतिष् में भी इधर बहुत उन्नति हुई। सूरज और चन्द्रमा की गति की गणनाओं के अनुसार बरस का हिसाब ठीक रखने के लिये मलमास तो ऋग्वेद के समय में ही शुरू हो गया था [२]। पर नक्षत्रों की विद्या की वास्तविक उन्नति इसी काल में हुई। धार्मिक विचारों और तत्वज्ञान की प्रगति का उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ केवल यह बताना आवश्यक है कि साधारण मानसिक हलचल और लेखन परिपाटी की सुविधाओं से चारों ओर विद्या की उन्नति हुई और प्रसार हुआ।

जीवन का भाव

जीवन का भाव इस काल में बहुत कुछ ऋग्वेद का साही था पर थोड़ा सा परिवर्तन हो रहा था। एक ओर तो बहुत सा उल्लास दिखाई पड़ता है। अभी आवागमन का सिद्धान्त नही निकला था, अहिंसा की चर्चा बहुत कम

---

१ गौरीशंकर हीराचद ओझा, प्राचीन लिपिमाला इत्यादि। इसके अलावा भारतीय लिपि के लिये देखिये बुह्लर, इंडिश पैलियोग्रीफ़ी, अंग्रेज़ी अनुवाद, इंडियन एंटिकेरी, १९०४ परिशिष्ट, बुह्लर, आरिजिन आफ दि इंडियन ब्राह्मी एल्फ़ाबेट, इंडियन स्टडीज़ नं० ३, भांडारकर, जर्नल आफ़ दि डिपार्टमेंट आफ़ लेटर्स, कलकत्ता यूनीवर्सिटी, जिल्द १२, तारापुरवाला, प्रोसीडिंग्स आफ़ दि फ़ोर्थ ओरियंटल कान्फरेंस, जिल्द २।

२, ऋग्वेद १। १६४॥

थी। अथर्ववेद की प्रार्थनाएं बहुधा आयु, संतान, धन और प्रभुता के लिये ही हैं। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर प्रार्थना है कि "अग्नि और सूर्य इस मनुष्य को लम्बी आयु दें; बृहस्पति इसे शान शौकत दे; हे जातवेदस्! इसको लम्बी आयु दो; हे त्वष्टर्! इसको संतान दो; हे सवितर्! इसको बहुत सा द्रव्य दो; ... हे इन्द्र! अपने बल से यह मैदान जीते और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाये [1]।" एक दूसरा प्रार्थी कहता है कि "हे काम! मेरे प्रतिद्वन्द्वियों का नाश करो ... हे अग्नि! उनके मकान भस्म कर दो ... काम, इन्द्र, वरुण और विष्णु के बल से, सवितर की प्रेरणा से और अग्नि की पुरोहिती से मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराता हूँ ... हे काम! प्रतिद्वन्द्वियों को मार डालो; अंधे अंधेरे में उन्हें गिरा दो। वह बेहोश हो जाँय, बेजान हो जाँय, एक दिन भी और ज़िन्दा न रहें ... [2]। एक जगह शरीर के अङ्गों के रूप और उपयोगिता की बड़ी प्रशंसा की है [3]। यजुर्वेद की लगभग सारी स्तुति और क्रिया इसी संसार के सुख के वास्ते हैं। इस काल में भी पहिले के से आनन्द विनोद थे। जुए के तो क़ायदे बन गये थे जिनको तोड़ने से प्रायश्चित्त करना पड़ता था [4]।

---

१. अथर्व० २। २९। १३॥ अथर्व० ८। १ भी देखिये।

२. अथर्व० ८। २। ४, ६, १०, १२॥ अथर्व० ८। ५। १७ भी देखिये। बल, शक्ति, रक्षा तथा देखने और सुनने की शक्ति की तरह २ की प्रार्थनाओं के लिये देखिये अथर्व० २। १७। १-७॥ १९। ७-८,१०, १२, १४-१६, २६, ३१-३२, ५८, ६७, ६९-७०॥

३. अथर्व० १०। २॥

४. अथर्व० ६। ११८॥

जुए का ऐसा नशा था कि कभी २ जुआरी अपना सत्यानाश कर बैठते थे और माँ बाप, भाई, स्त्री आदि के अपमान के पात्र होते थे [1]।

परिवर्तन

पर जीवन के उल्लास के विषय में इस काल में थोड़ा सा परिवर्तन भी नज़र आता है। अब परलोक की ओर दृष्टि अधिक जाती है। विश्वास था कि मरने के बाद सब बाप दादे एक ही मार्ग से एक ही यमलोक में निवास करने के लिये गये हैं। ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक मंत्र में मरनेवाले से कहा है कि तुम वहीं जाओ जहां हमारे पूर्वज गये हैं उसी मार्ग से जाना जिससे वह गये थे, उसी सुखमय स्वर्ग को जाओ, अपने पूर्वजों से भेंट करो [2]। अथर्ववेद में कहा है कि स्वर्ग में हम अपने सम्बन्धियों से मिलें; फिर उस लोक से न गिरें; वहां अपने माँ बाप और लड़कों से मिलें; मरने पर अग्नि से पवित्र होकर लोग वहाँ जाते हैं; अच्छे काम करनेवाले आदमी देवताओं के पास जाते हैं और यम के साथ रहते हैं; सोम पीनेवाले गंधर्वों के साथ आनन्द करते हैं [3]। स्वर्ग में घी, शहद, दूध, दही और सुरा की भरमार है [4]। स्वर्ग से उल्टा है नरक जो नीचे है,

परलोक

स्वर्ग

१, ऋग्० १० । ३४ ॥

२, ऋग्० १० । १४ । ७-८ ॥ अथर्व० १८ । २ । ४ ॥ भी देखिये।

३ अथर्व० ६ । १२० । २-३॥ मरने के बाद स्त्री और पुत्रों से मिलने की आकांक्षा के लिये अथर्व० १२ । ३ । १७ ॥ भी देखिये।

४, अथर्व० ४ । ३४ । २-६ ॥

जहां टोना करनेवाली जाती हैं और दूसरे पापी भी जाते हैं। पापी लोग वहाँ लोहू में बैठे हुये बाल चबाते हैं[1]। संसार और स्वर्ग और नरक की अधिक चिन्ता करने से स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन सब का तात्पर्य क्या है? यह विश्व क्या है और कहाँ से आया? एक ऋषि पूछता है कि कौन जानता है, कौन बता सकता है कि यह सारा विश्व कहां से पैदा हुआ? देवता तो विश्व की उत्पत्ति के बाद पैदा हुये; यह विश्व कैसे अस्तित्व में आया? इससे गंभीर समस्या और कोई नहीं हो सकती। इस पर मनन करते २ विश्व के आदिकारण की कल्पना हुई। तत्वज्ञान के जो विचार उत्पन्न हुये उनका वर्णन हम आगे करेंगे। यहां केवल एक विचार का उल्लेख करना आवश्यक है।

विश्व की समस्या

विश्वचक्र में संसार क्षणभंगुर मालूम होता है; अतएव इस में स्थायी सुख नहीं हो सकता; दुख तो बहुत सा है; इस सारे जंजाल को छोड़कर शान्ति पाने की चेष्टा करनी चाहिये। यह भावनाएँ कुछ लोगों के मन में पैदा हुईं। शान्ति पाने के प्रयोजन से उन्होंने संसार के नश्वर सुखों को लात मार कर तप करना प्रारंभ किया। इस प्रकार तप की परिपाटी चली जो हिन्दुओं में आज तक प्रचलित रही है और जो समय २ पर हिन्दू सभ्यता के साथ और देशों में भी फैली। ऋग्वेद के नौ मँडलों में कहीं तप का नाम नहीं है पर दसवें मंडल के काल में इसका उल्लेख बार २ मिलता

शान्ति

---

१. अथर्व० ५। १९। ३॥ २। १४। ३॥

२. ऋग्वेद १०। १२९। ६-७॥

है। एक जगह सात ऋषियों का ज़िक्र है जो तपस्या करने बैठे हैं[१]। अन्यत्र कहा है कि गेरुए वस्त्र पहिन कर मुनि हवा में उड़ते हैं[२]। अब तप की महिमा बढ़ती ही जाती थी। तपस्या में ऐसा स्वार्थत्याग है, वासनाओं का ऐसा दमन है, चिन्ता का ऐसा अभाव है और उससे कुछ ऐसे मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं, तपस्वी लोग साधारण जनों से आत्मबल में इतने ऊंचे मालूम होते हैं कि तप का माहात्म्य बढ़ता ही जाता है। ऋग्वेद का दसवां मंडल और अथर्ववेद दोनों ही कहते हैं कि ऋत तप से उत्पन्न हुआ है, सत्य तप से उत्पन्न हुआ है[३]। परलोक में जीव की क्या दशा होगी ?—यह बहुत कुछ तप पर निर्भर है[४]। तप से मुनियों को अलौकिक शक्तियां हो जाती हैं[५]। विद्यार्थी तप करते हैं; मनुष्य क्या, स्वयं देवता तप करते हैं[६]। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि ऋभुओं ने सोम पीने का अधिकार तप के द्वारा प्राप्त किया था[७]। तप और यज्ञ के द्वारा देवताओं ने स्वर्ग जीता था[८]। और तो और, स्वयं प्रजा-

तप

---

१. ऋग्वेद १० । १०९ । ३ ॥

२. ऋग्० १० । १३६ । १-४ ॥

३. ऋग्वेद १० । १९१ । १ ॥ अथर्व० १७ । ७ ॥

४. ऋग्वेद १० । १५४ । २ ॥ तप की महिमा के लिये अथर्व० १७ । १ ॥ भी देखिये ॥

५ अथर्व० ७ । ७४ । १ ॥

६ अथर्व० ११ । ५ । ६, १९ ॥

७. ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३० ॥

८ ऐतरेय ब्राह्मण २ । १३ ॥

पति ने सृष्टि पैदा करने के लिये तप किया था[1]। अथर्व-वेद में कहा है कि तप, यज्ञ, ऋत और ब्रह्म आदि के आधार पर ही यह विश्व स्थिर है[2]।

परिवर्तन के कारण

तप की यह गगनभेदी प्रशंसा इस बात का चिन्ह है कि आर्यों के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन हो रहा था। जो लोग पहिले इस जीवन के सुखों को सब कुछ मानते थे वह अब उनसे ज़रा उदासीन क्यों हो रहे थे? वह तप की चिन्ता क्यों कर रहे थे? ऐतिहासिक सामग्री की कमी के कारण यह प्रश्न भी और बहुतेरे प्रश्नों की तरह, उलझा ही रह जाता है। पर दो एक अनुमान किये जा सकते हैं। अब शायद हिन्दुस्तान की आबहवा और कृषि इत्यादि आर्यों के मनपर वह प्रभाव डाल रहे थे जिसका वर्णन इस पुस्तक के प्रारंभ में किया है। गरमी में और प्रकृति की पराधीनता में आशावाद कम हो रहा था, उल्लास घट रहा था, परलोक की ओर दृष्टि अधिक जा रही थी और तपस्या सूझने लगी थी। शायद अनार्यों के सहवास से और उनकी सभ्यता के प्रभाव से भी चित्त की प्रसन्नता कुछ कम हो रही थी। बहुत से लोगों का जीवन वास्तव में दुखमय था और वह परलोक के कल्पित सुख से संसार की कमी पूरी कर रहे थे। पर भविष्य के अलौकिक सुख का मार्ग बहुत आसान न था, त्याग और तप से ही वहां तक पहुँच हो सकती थी। ऐसी विचार परम्परा संसार के अनेक

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण २।३३॥

२. अथर्व० १२।१।१॥

युगों में बहुत से वर्गों में देखी गई है। प्राचीन भारत में भी शायद इसी तरह का मानसिक परिवर्तन हो रहा था। जो कोई परलोक की अधिक चिन्ता करेगा उसकी नज़रों में यह संसार तुच्छ मालूम होने लगेगा। प्राचीन हिन्दुओं में तर्क की मात्रा बहुत थी; प्रत्येक विचार को वह तर्क के अन्त तक पहुँचा देते थे और उसपर बहुत कुछ व्यवहार भी करते थे। अस्तु, परलोक की चिन्ता ने उनको आसानी से तपस्या में पटक दिया।

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन जो धीरे २ हो रहा था आर्यों के सारे साहित्य और सामाजिक संगठन पर असर डाल रहा था। इससे पुरोहितों अर्थात् ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था और संगठन के नये सिद्धान्त और व्यवहार निकालने का द्वार उनके लिये खुल रहा था। कह चुके हैं कि ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों के समय में वर्णव्यवस्था बन चुकी थी। वर्णव्यवस्था कोई अनोखी चीज़ नहीं है, अच्छी हो या बुरी हो, वह सब देशों और सब युगों में पाई जाती है। पर उत्तर वैदिक काल में जो चातुर्वर्ण्य बना अर्थात् जात पांत की जो व्यवस्था दृष्टिगोचर हुई वह एक विचित्र संस्था है। और किसी देश में वह नहीं पाई जाती। प्राचीन ईरानी, मीड़, मिस्री, कोल्चियन, आइवीरियन और एट्रूरियन जातियों में और दूरवर्ती अमरीका के पेरू और मेक्सिको देशों के पुराने निवासियों में हिन्दुओं का सा सामाजिक संगठन अवश्य था पर वर्णव्यवस्था के सब लक्षण उन में भी नहीं मिलते। उत्तर वैदिक काल के बाद आगामी युगों में उस में कुछ परिवर्तन अवश्य हुये,

वर्णव्यवस्था

थोड़ी बहुत तो वह इस समय तक बदलती रही है, पर उसके मूल सिद्धान्त और मुख्य लक्षण गत तीन हज़ार बरस से एक से ही रहे हैं। हिन्दू राजनीति, सेना, आर्थिक अवस्था, साहित्य इत्यादि सब पर इसका ऐसा गहरा असर पड़ा है कि इसकी विशेष विवेचना की आवश्यकता है। हमें यह पता लगाना है कि इसका विकास कैसे हुआ और किन कारणों से हुआ?

आर्य और अनार्य

सिन्ध और जमुना के बीच के प्रदेश में 'आर्यों' और अनार्यों का संग्राम ऋग्वेद के नौ मंडलों के समय में ही लगभग समाप्त हो गया होगा। पर पूरब की ओर आगे बढ़ने पर फिर संग्राम प्रारंभ हुआ। दसवें मंडल में भी युद्ध की झंकार पहिले की सी गूंज रही है। एक ऋषि कहता है कि, हम चारों ओर दस्युओं से घिरे हुये हैं। वह यज्ञ नहीं करते, किसी बात में विश्वास नहीं करते, उनके व्रत और हैं, वह मनुष्य नहीं हैं, हे शत्रुनाशक! उन्हें मार डालो। दास जाति को नाश कर दो[१]। अन्यत्र स्वयं इन्द्र कहता है कि "मैंने दस्युओं को आर्य नाम से वंचित कर दिया है ... मैंने दासों के दो टुकड़े कर दिये हैं, इसी के लिये वह पैदा हुये थे"[२]। इसका अभिप्राय यह है कि अनार्य कभी आर्य नहीं हो सकते थे। तथापि पराधीनता में वह आर्यों के साथ रहने लगे। अब वह सब शूद्र कहलाने लगे जो शायद किसी बड़ी अनार्य जाति का नाम था। शूद्रों ने

---

१. ऋग्वेद १० । १२ । ८ ॥

२. ऋग्० १० । ४९ । ३, ६-७ ॥

आर्य सभ्यता को बहुत कुछ अङ्गीकार कर लिया पर रंग और पराजय के कारण वह आर्यों के सामाजिक जीवन से अलग ही रहे। तथापि कुछ सम्मिश्रण अवश्यंभावी था। साथ रहने वालों में यह किसी न किसी तरह हो ही जाता है। इसके अलावा यह भी जान पड़ता है कि कुछ शूद्र बहुत धनी थे [१]। जिसके पास धन है वह जाति में नीचा होने पर भी कुछ न कुछ आदर पाता ही है। जैसे २ समय बीता शूद्र भी समाज के अंग—यद्यपि नीचे दर्जे के अंग—माने गये। ऋग्वेद के दसवें मंडल में पुरुषसूक्त में शूद्रों की उत्पत्ति पुरुष के अंग से मानी है [२]। वाजसनेयि संहिता में आर्यों के साथ शूद्रों के लिये भी प्रार्थना की है और अमीर शूद्रों का भी उल्लेख किया है [३]। तैत्तिरीय संहिता और काठक संहिता से भी प्रगट होता है कि शूद्रों की गणना भी समाज के अङ्गों में होती थी [४]। अथर्ववेद में एक वनस्पति के प्रभाव के बारे में कवि कहता है कि "अब मैं हर एक को देख सकता हूं—आर्य को और शूद्र को भी" [५]। एक प्रार्थना है कि "मुझे · · · ब्राह्मण और क्षत्रिय, आर्य और शूद्र · · · दोनों का प्यारा बनाओ" [६]।

शूद्र

---

१. मैत्रायणी संहिता ४। २। ७। १०॥ पञ्चविंश ब्राह्मण ६। ७। ११॥

२. ऋग्० १०। ९०। १२॥ पुरुष सूक्त के लिये आगे भी देखिये।

३. वाजसनेयि संहिता २४। ३०। ३१॥ देखिये, कीथ; केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, १ पृ० १२८-२९॥

४. तैत्तिरीय संहिता ७। ४। १९। ३, ४ काठक संहिता, अश्वमेध, ४। १७॥

५. अथर्ववेद ४। २०। ४॥

६. अथर्व० १९, ३२। ८॥

अन्यत्र प्रार्थना है कि "मुझे देवताओं का प्यारा बनाओ, राजाओं का प्यारा बनाओ . . . शूद्र और आर्य दोनों का प्यारा बनाओ [१]।" अनार्यों की सामाजिक स्वीकृति हो गई, इससे सम्मिश्रण अवश्य ही बढ़ गया। पर यह न समझना चाहिये कि इस सम्मिश्रण को आर्यजाति के अगुआ अच्छा समझते थे। अपने रुधिर, चरित्र, मस्तिष्क और सभ्यता की पवित्रता के विचार से वह सम्मिश्रण को बुरा ही समझते रहे। वरन् सम्मिश्रण की बढ़ती हुई सुगमता को देख कर उन्होंने उसके विरुद्ध नियम और भी कड़े कर दिये। वर्णव्यवस्था की नीव और मज़बूत होने लगी। आगामी सूत्रों में तो इस कड़े नियम पर बहुत ज़ोर दिया है कि कोई आर्य कन्या किसी हालत में किसी शूद्र से ब्याह नहीं कर सकती [२]। शायद संहिताओं के समय में भी ऐसी ही व्यवस्था होगी। आर्य पुरुषों के लिये शूद्र कन्या ब्याहने की एकदम मनाही नहीं है पर न तो उत्तर वैदिककाल में और न आगे ही ऐसे सम्बन्ध अच्छे समझे जाते थे। आर्यों और अनार्यों के बीच में न तो ब्याह ही लोकमत को ग्राह्य था और न अनुचित सम्बन्ध ही। पञ्चविंश ब्राह्मण में वत्स पर यह दोष लगाया है कि वह शूद्र स्त्री का लड़का है [३]। ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में कवष ऐलूस को दासी का पुत्र होने का ताना दिया है [४]। इस प्रकार जहां तक ब्याह का सम्बन्ध था, आर्य और शूद्रों

सम्मिश्रण

१, अथर्व० १९। ६२। १॥

२, आगे पांचवां अध्याय देखिये।

३, पञ्चविंश ब्राह्मण १४। ६। ६॥

४, ऐतरेय ब्राह्मण २। १९। १॥ कौषीतकि ब्राह्मण १२। ३॥

की अलग जातियां बन गई । यों तो निषिद्ध सम्बन्ध कभी कभी होते ही थे पर उनसे पैदा होने वाली संतान थोड़ी बहुत नीच मानी जाती थी । अगर ऐसी संतान बढ़ते २ संख्या में ज़्यादा हो गई तो उसकी एक नई जाति बन जाती थी । आगामी धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में वर्णसंकर के अनुसार ही उपजातियों की उत्पत्ति बताई है । उनके कथनों में बहुत सी असम्भव और निरर्थक बातें हैं जैसा कि आगे दिखाया जायगा पर उनमें ऐतिहासिक सत्य का इतना अंश अवश्य मालूम होता है कि सम्मिश्रित समुदाय कभी २ अलग अपनी एक छोटी सी जाति बना लेते थे ।

पार्थक्य के कारण

यहां स्वभावतः एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह सारा पार्थक्य क्यों हुआ ? आर्यों ने अनार्यों को बिल्कुल अपने में मिला क्यों नहीं लिया ? और देशों में भी भिन्न २ जातियों के सम्पर्क हुये, जय पराजय हुई पर अन्त में सब का रुधिर मिल कर एक हो गया, समाज के टुकड़े २ नहीं हुये । इंग्लैंड, फ्रान्स, इटली, ग्रीस, इत्यादि बहुत से देशों में संघर्षण के बाद पूरा सम्मिश्रण हुआ । हिन्दू समाज का इतिहास ही निराले मार्ग पर क्यों चला ? एक कारण तो यह था कि यहां पर सम्पर्क वाली जातियों में

रंग

जितना रंग का भेद था उतना और देशों की जातियों में न था । इंग्लैंड, फ्रान्स इत्यादि देशों में आनेवाली जातियां आदिम निवासियों के ही रंग की थीं । वर्तमान समय में जहां भिन्न २ रंग की जातियों का सम्पर्क हुआ है वहां या तो अधूरा सम्मिश्रण हुआ है जैसे मध्य अमरीका और दक्षिण अमरीका में या अनुचित सम्बन्धों से सम्मिश्रण

हुआ है और उसको रोकने की पूरी कोशिश की गई है जैसे दक्षिण अफ़्रीका में या अफ़्रीका के और हिस्सों में और अमरीकन संयुक्तराज्य की दक्खिनी रियासतों में। स्वयं हिन्दू आर्यों ने रंग अर्थात् वर्ण के इस महत्व को समझ लिया था और नये सामाजिक संगठन को वर्ण व्यवस्था का नाम दिया था। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि आर्यों की संख्या अनार्यों से कम थी और इस लिये उन्हें डर था कि सम्मिश्रण में हमारी सभ्यता लोप न हो जाय। संसार में बहुत से लोगों का यह विश्वास रहा है और आज कल भी कुछ लोगों का विश्वास है कि ऊंची श्रेणी की सभ्यता का अस्तित्व ऊंचे मस्तिष्क और चरित्र पर ही निर्भर है, ऊंचा मस्तिष्क और चरित्र कर्म से नहीं किन्तु जन्म से मिलता है, नीची सभ्यता वालों का खून आया नहीं कि सब कुछ गिर जायगा, अतएव ऊंची सभ्यता वालों को आपस में ही ब्याह करना चहिये। यहां पर हमें इस विश्वास की सत्यता या असत्यता से कोई प्रयोजन नहीं है पर इतिहास के लिये इस विश्वास का अस्तित्व अत्यंत महत्वपूर्ण था।

संख्या की कमी

जन्म में विश्वास

हिन्दू आर्य गुणों को कुछ ऐसा जन्मसिद्ध मानते थे कि ब्याह की सीमाएं बाँधने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा। पर इससे उनकी एक निर्बलता का भी अनुमान होता है। संख्या की कमी के कारण या और किसी कारण आर्यों में यह आत्मविश्वास नहीं था कि सम्मिश्रण होने पर भी हमारी सभ्यता की जय होगी। हिन्दू सभ्यता में दूसरों पर प्रभाव डालने की आश्चर्यजनक शक्ति थी; हिन्दुस्तान में

उसने धीरे २ सब आदिम निवासियों को बस में कर लिया और बाहर चारों ओर के देशों पर अपनी छाप लगा दी, भूमध्य सागर से लेकर जापान तक, और साइबीरिया से लेकर जावा सुमात्रा तक, कोई देश नही है जिस पर हिन्दू धर्म या साहित्य या कला का प्रभाव न पड़ा हो। पर

एक निर्बलता

दूसरे समुदायों को बिल्कुल हज़म कर जाने की, अपना रुधिर मिला कर उनको अपना सा ही बना लेने की, और इस तरह भिन्न २ तत्वों को मिला कर सामाजिक एकता पैदा करने की शक्ति हिन्दू सभ्यता में ज़रा कम थी। भविष्य में जो कोई समुदाय हिन्दू सभ्यता के दायरे में आया उसकी

तर्कशीलता

एक नई उपजाति बन गई। जिस सामाजिक पार्थक्य की विवेचना हम कर रहे हैं उसका एक और मानसिक कारण भी था। प्राचीन हिन्दू बड़े तर्कशील थे, तर्क करते २ प्रत्येक सिद्धान्त को हद तक पहुँचा देते थे। हिन्दू धर्म में, तत्वज्ञान में, जैसा तीक्ष्ण तर्क है वैसा संसार में कही नही मिलता। जैसा कि हम आगे दिखायेंगे, सांख्य या वेदान्त दर्शन में या जैनमत के कर्मसिद्धान्त में तर्क की ऐसी पराकाष्ठा है कि असाधारण मस्तिष्क को भी उन तत्वज्ञानियों के साथ चलने में कठिनाई होती है। इस तर्कशीलता का प्रभाव स्वभावतः सामाजिक विचारों पर भी दृष्टिगोचर है। सामाजिक जीवन के जो सिद्धान्त निकले उनको पुराने हिन्दुओं ने धीरे २ हद तक पहुँचा दिया। वर्णव्यवस्था यहां भी और देशों की तरह पैदा हुई थी। यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ण का भी आधार किसी न किसी दर्जे का

सामाजिक पार्थक्य है। पर जहां और देश वर्गव्यवस्था से ही सन्तुष्ट हो गये यहां हिन्दुओं ने सामाजिक पार्थक्य के सिद्धान्त की हद करके वर्ग-व्यवस्था को वर्णव्यवस्था में परिणत कर दिया।

अनार्यों में भेद

इस प्रकार आर्यों की ओर से कई कारण थे जिन्हों ने उनको अनार्यों से पृथक् रक्खा पर क्या अनार्यों की ओर से भी ऐसे कोई कारण नहीं थे ? सम्भव है कि उनमें भी कुछ समुदाय रहे हों जो आर्यों से या दूसरे अनार्यों से मिल कर अपने रुधिर को अपवित्र न करना चाहते हों। सम्भव है कि किसी तरह उनका वर्गपार्थक्य भी और दृढ़ हो रहा हो। भौगोलिक कारणों से तो वह अवश्य ही भिन्न २ जातियों में विभक्त रहे होंगे। वह सारे हिन्दुस्तान में फैले हुये थे, एक प्रदेश के अनार्य दूरवर्ती प्रदेशों के अनार्यों से अवश्य ही पृथक् रहे होंगे। इस तरह अनार्यों में पहिले से ही बहुत भेद थे; अर्थात् बहुत सी जातियां थी। आर्थिक कारणों से अन्य भेद अवश्य ही उत्पन्न हुये होंगे। शूद्र लोग स्वभावतः बहुत से उद्योग करते थे—पशुपालन, खेती, तरह तरह की दस्तकारी इत्यादि, प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक व्यवसाय के अनुयायियों के लिये पृथक् २ वर्ग बनाना स्वाभाविक था। हिन्दू समाज के सम्बन्ध में सदा यह याद रखना चाहिये कि चातुर्वर्ण्य कोरा सिद्धान्त ही था; वास्तव में प्रारंभ से ही बहुत से वर्ग थे और जब वर्णव्यवस्था शुरू हुई तब एक साथ ही चार नहीं किन्तु बहुत अधिक जातियां बनीं।

द्विज

हिन्दू समाज में शूद्रों और ऊंची जातियों का बड़ा भारी भेद कभी २ सुधारकों के प्रभाव से और परिवर्तनशील आर्थिक अवस्था से कम ज़रूर हो गया और दूसरे नये वर्गों के

आने से उसमें कुछ उलट फेर भी हुआ पर वह कभी मिटा नही। उत्तर वैदिक काल में और उसके बाद के युग में वह भेद सब से गहरा भेद था। मुख्यतः समाज दो भागों में विभक्त था—एक तो शूद्र और दूसरे अन्य लोग जो अब कुछ धार्मिक संस्कारों के बल पर अपने को द्विज कहने लगे। पर स्वयं इन द्विजों में भेद बढ़ने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग तो ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों में ही मौजूद थे। उत्तर वैदिक काल में यह वर्ग भी वर्ण हो गये और प्रत्येक वर्ण के भीतर उपजातियां बनने लगीं। यहां रंग का भेद नहीं था और इस लिये पार्थक्य उतना कड़ा नहीं हुआ पर इस परिवर्तन के भी मुख्य कारण वही थे जिनकी मीमांसा ऊपर कर चुके हैं। जन्मसिद्ध गुणों में विश्वास, वर्गीय अभिमान, तर्कशीलता, भौगोलिक विस्तार, उद्योग से भेद—इन कारणों से द्विज लोग भी नाम के लिये तीन वर्णों में और वास्तव में बहुत सी जातियों में विभक्त होने लगे।

ब्राह्मण

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों का पद और प्रभाव बहुत बढ़ गया था। जिस किसी देश या युग में धार्मिकता अधिक होती है उस में पुरोहितों का दौर दौरा होता है। जैसे जैसे आर्यों की दृष्टि परलोक की ओर अधिक जाने लगी और यज्ञविधान बढ़ने लगा त्यों त्यों ब्राह्मणों का महत्व बढ़ा और उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। ब्राह्मणों को विद्या का बल था। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि विद्या बड़ा पुण्य है, जिसके पास विद्या है वह इस लोक और परलोक दोनों में

सुख पाता है[१]। 'सारे इतिहास में मस्तिष्क का बल एक प्रधान सामाजिक शक्ति रहा है। पढ़ने लिखने, उपदेश और यज्ञ में लगे रहने से ब्राह्मण समाज के सिरताज हो गये थे। पञ्चविंश ब्राह्मण के एक वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण स्वयं ही ऐसी पवित्र वस्तु है कि उसके विषय में बहुत पूछ ताछ न करनी चाहिये[२]। निस्संदेह मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में लिखा है कि जन्म नहीं किन्तु विद्या ही ऋषिपने की सच्ची कसौटी है[३]। पर व्यवहार में ब्राह्मण ही सबसे अधिक विद्या प्राप्त करते थे। इस समय के लगभग बहुत से ब्राह्मण दूसरों को शिक्षा देने के लिये देश भर में घूमा करते थे, वाद विवाद किया करते थे और राजाओं से द्रव्य तथा सम्मान पाया करते थे[४]। प्राचीन संसार की सब जातियों में क़ानून भी धर्म का एक भाग था। आजकल क़ानून जानने वालों का जो प्रभाव है वह उन दिनों बहुत कर के पुरोहितों की बपौती था। विद्या और धर्म के बड़प्पन ने ब्राह्मणों को समाज में इतना ऊंचा स्थान दिया कि वह दूसरों को नीचा समझने लगे; उनके वर्ग में पार्थक्य की मात्रा बढ़ने लगी। अभी हिन्दू समाज में खाने पीने के मामले में कोई रोक टोक नहीं शुरू हुई थी पर अब ब्राह्मण दूसरों को अपनी बेटी देना

१, ऐतरेय ब्राह्मण ३। २३॥

२, पञ्चविंश ब्राह्मण ६। ५। ८॥

३, मैत्रायणी संहिता ४। ८। १॥ तैत्तिरीय संहिता ६। ६। १। ४॥ काठक संहिता ३०। १॥

४, मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स, २ पृ० ८५-८७॥

पसन्द नहीं करते थे। धर्मसूत्रों से प्रगट है कि ब्राह्मण अन्य वर्णों की कन्याओं से ब्याह कर सकते थे। उदाहरणार्थ, ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजा शर्यात की बेटी सुकन्या से ब्याह किया था। इस तरह के थोड़े बहुत सम्बन्ध प्राचीन भारत के इतिहास में बराबर होते रहे पर इनकी संख्या धीरे २ घटती गई। धर्मसूत्रों में विधान है कि ब्राह्मण पहिले एक सजातीय कन्या से ब्याह करने के बाद क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य, उसके बाद शूद्र कन्या से ब्याह कर सकता है। अगर संहिताओं के समय में भी ऐसा नियम था तो अमीर ब्राह्मण ही इस से लाभ उठा सकते थे। ग़रीब आदमी कभी एक से अधिक ब्याह नहीं कर सकता। जैसा कह चुके हैं, स्त्री पुरुषों की संख्या की प्राकृतिक समता भी बहुविवाह के चलन को रोकती है। जो अमीर ब्राह्मण बहुविवाह करते होंगे वह भी ज़्यादातर अपने ही वर्ण की कन्याएं खोजते होंगे; दूसरे वर्णों से ब्याह करने वाले ब्राह्मणों की संख्या बहुत नहीं हो सकती थी। यह भी सम्भव न था कि एक ब्याह करने वाले ब्राह्मण ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या का पाणिग्रहण करें; अगर ऐसा अक्सर होता तो बहुत सी ब्राह्मण कन्याएं कुआंरी रह जातीं क्योंकि वह तो और वर्णों में ब्याह नहीं कर सकती थी। इन सब प्रवृत्तियों ने जन्मसिद्धान्त और तर्कशीलता आदि और कारणों से मिल कर यह परिणाम उत्पन्न किया कि कभी २ ब्राह्मण और वर्ण की कन्याओं से तो ब्याह कर लेते थे पर बाक़ी सब ब्याह सम्बन्ध धीरे २ बन्द हो गया। इधर स्वयं ब्राह्मणवर्ण में भौगोलिक कारणों से बहुत से भाग हो गये, प्रत्येक विभाग स्वभावतः ब्याह सम्बन्ध बहुधा आपस में ही

करता था, धीरे २ यह व्यवहार भी एक नियम सा हो गया, ब्राह्मणों की अनेक जातियां हो गईं। आज भी ब्राह्मणों की बहुत सी उपजातियां भिन्न भिन्न प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

क्षत्रिय

प्राचीन भारत में विद्या और धर्म की इतनी प्रतिष्ठा थी कि ब्राह्मणों का पद सब से ऊंचा रहा। पदवी में दूसरा नम्बर क्षत्रियों का था। क्षत्रियवर्ग उन्हीं कारणों से क्षत्रियवर्ण हो गया जिन का उल्लेख ब्राह्मणों के विषय में कर चुके हैं। क्षत्रियों के पास सैन्यबल था, राजनैतिक प्रभुता थी, विद्याभ्यसन भी था, उनका पद ब्राह्मणों से कुछ ही कम था। हिन्दू साहित्य में बार २ यह कथन आता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर संसार का भार उठाते हैं। राजनैतिक प्रभुता के कारण क्षत्रियों को अपने पद का और भी अधिक गर्व था। उन्होंने भी अनुलोम व्याह की परिपाटी स्वीकार की अर्थात् अपनी कन्या नीचे वर्णवालों को न देते थे; क्षत्रिय सर्दारों और राजाओं में बहुविवाह की प्रथा औरों से अधिक थी; इसलिये वह नीचे वर्णों से लड़कियां भी ज़्यादा लेते थे पर यहाँ भी अपने ही वर्ण में ब्याह करने की टेव धीरे २ बढ़ती गई। भौगोलिक कारणों ने क्षत्रियों में भी उपजातियां बना दीं। शायद एक ही प्रदेश के क्षत्रियों में भी भेद थे। वैदिक साहित्य में कभी २ क्षत्रिय या राजन्य शब्द का ऐसा प्रयोग किया है कि मानो राजवंशों के लोग ही इस नाम से पुकारे जाते हों[1]। सम्भव है कि इन ऊंचे वंशों का एक वर्ग रहा हो और पहिले वही क्षत्रिय नाम से पुकारा जाता हो।

१, मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स १, पृ० २०३॥

आगे चलकर क्षत्रिय शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है पर तब भी शायद भिन्न २ वर्ग रहे हों।

वैश्य

बाक़ी आर्य जो विश् वर्ग के थे अब विश्य या साधारणतः वैश्य कहलाने लगे[1] । इनका अलग वर्ण बन गया और भौगोलिक कारणों से अनेक उपजातियां भी बन गईं। उपजातियों की प्रवृत्ति यहां औरों से भी ज़्यादा थी क्योंकि वैश्य लोग बहुत से व्यवसाय करते थे। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय ब्राह्मण में रथकारों की एक अलग जाति बन गई है[2]।

व्यवस्था के बाहर

चातुर्वर्ण्य की इस कल्पना के क्षेत्र में सब आर्य और अधिकांश अनार्य एवं सम्मिश्रित वर्ग आ गये। पर कुछ अनार्य जातियां इतनी नीची थीं या कम से कम इतनी नीची मानी जाती थीं कि वह इस कल्पना के बाहर ही रह गईं। शायद कुछ ऐसे अनार्य समुदाय थे जो दूसरे अनार्यों की पराधीनता में रहते थे और जो आर्यविजय के बाद पराजितों के पराधीन अर्थात् बहुत ही नीचे मालूम होते थे। कुछ भी हो, चण्डाल, पौल्कस आदि वर्णव्यवस्था के बाहर थे। ग़ुलाम व्यवस्था के भीतर थे या बाहर यह नहीं कहा जा सकता। अब भी वह मालिक की सम्पत्ति समझे जाते थे और जिसे चाहे दान में दिये जा सकते थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल

---

१. विश्य शब्द वाजसनेयि संहिता १८। ४८॥ और अथर्ववेद ६। १३। १ इत्यादि में आया है। वैश्य शब्द सब से पहिले पुरुषसूक्त अर्थात् ऋग्वेद १०। ९० में आया है।

२. कीथ, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, १ पृ० १२६-२९॥

में उल्लेख है कि यदु और तुर्व ने बहुत से पशुओं के साथ दो दास · · · दिये[1]।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वयं वैदिक साहित्य में वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वर से मानी है। ऋग्वेद में कहा है कि सृष्टि के बिल्कुल प्रारंभ में पुरुष प्रगट हुआ। उसके सौ सिर थे, सौ आखें थीं, और सौ पैर थे। चारों ओर उसने पृथ्वी को ढक लिया और उसके बाहर भी दस अंगुल फैल गया। जो कुछ रहा है और जो कुछ होने को है वह सब पुरुष ही है · · · उसके चौथाई में सब प्राणी हैं, तीन चौथाई मे स्वर्ग का अमर जीवन है। सारी प्रकृति पुरुष से ही पैदा हुई है। · · · जब पुरुष के भाग किये तब कितने भाग हो गये? उसके मुँह को और बाहों को क्या कहते हैं? उसकी जांघों और पैरों को क्या कहते हैं? ब्राह्मण उसका मुँह था, उसकी दोनों बाहों से राजन्य बना था। उसकी जांघें वैश्य बन गई और उसके पैरों से शूद्र पैदा हुआ[2]। यह कल्पना आगे के सारे साहित्य में पाई जाती है। इस प्रकार ईश्वरीय बन जाने से व्यवस्था और भी अधिक मान्य हो गई।

पुरुषसूक्त

संहिताओं और ब्राह्मणों में जातियों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में जो विचार हैं वह क्षत्रियों को प्रधान और वैश्यों को और ख़ास कर शूद्रों को बहुत परतन्त्र मानते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में, जान पड़ता है क्षत्रिय की दृष्टि से, ब्राह्मण

जातियों के परस्पर सम्बन्ध

१. ऋग्वेद १०। ६२। १०॥

२. देखिये ऋग्० १०। ९०। १-३, ११-१२॥ वाजसनेयि संहिता ३१। ११। अथर्ववेद १९। ६। ६। तैतिरीय आरण्यक ३। १२। ५॥

को कहा है—आदायी अर्थात् दान लेने वाला, आपायी अर्थात् सोम पीनेवाला, आवसायी अर्थात् भोजन ढूंढने वाला, पर उसे यथाकामप्राप्य भी कहा है जिससे मालूम होता है कि राजा जब चाहे उसे हटा सकता था। वैश्य को कहा है अन्यस्यबलिकृत् अर्थात् दूसरों को कर देनेवाला, अन्यस्याद्य अर्थात् दूसरे से भोग किया जानेवाला और यथाकामज्येय अर्थात् जैसे चाहे वैसे रक्खा जानेवाला। शूद्र को कहा है अन्यस्यप्रेष्य अर्थात् दूसरे का नौकर, कामोत्थाप्य अर्थात् जब चाहे निकाल दिया जानेवाला, यथाकामवध्य अर्थात् जब चाहे मार दिया जाने वाला[1]। नहीं कहा जा सकता कि यह कल्पना कहां तक व्यवहार के आधार पर थी। काठकसंहिता और मैत्रायणी संहिता में कोई शूद्र अग्निहोत्र के लिये गाय को दुहने का अधिकारी नहीं है[2]।

स्त्रियों के पद का ह्रास

जैसे २ जाति के बन्धन कड़े होते गये वैसे २ स्त्रियों का पद गिरता गया। अगर जवान स्त्री पुरुष स्वतंत्रता से मिले तो आपस में प्रेम और व्याह किसी तरह रुक नहीं सकते। प्रेम अवसर पाते ही जात पांत को उल्लंघन कर जाता है। अगर प्रेम और व्याह की सीमा बांध दी जाय तो उसी परिमाण से स्त्रियों की स्वतंत्रता भी बांधनी पड़ेगी। इस तरह वर्णव्यवस्था के कारण और ख़ास कर

कारण

अनार्यों की उपस्थिति के कारण स्त्रियों का पुरुषों से स्वतंत्रता पूर्वक मिलना कम होने लगा। अभी पर्दा नहीं शुरू

१. ऐतरेय ब्राह्मण ७। २९॥

२. काठक संहिता ३१। २॥ मैत्रायणी संहिता ४। १। ३॥

हुआ है पर स्त्रियाँ पुरुषों की गोष्ठियों से कुछ अलग रहने लगी हैं। इस पार्थक्य से उनका ज्ञान और अनुभव परिमित होने लगा और इस लिये उनका आदर कुछ कम होने लगा। व्याह की स्वतंत्रता, जो ऋग्वेद में उनको थी, घटने लगी; माता पिता उनके व्याह का प्रबन्ध करने लगे। अनुलोम प्रथा से भी स्त्रियों की पदवी को हानि पहुँची। जो वैश्य कन्या क्षत्रिय या ब्राह्मण घर में जाती थी या जो शूद्र कन्या ऊँचे वर्ण के कुटुम्ब में जाती थी उसका आदर उतना नहीं हो सकता था जितना कि कुलीन कन्याओं का। इस प्रकार बहुत सी स्त्रियों का पद नीचा हो जाने से स्त्रीमात्र के पद पर बुरा प्रभाव पड़ा। एक और कारण भी था जिसने इस पतन को भयङ्कर बना दिया। कह चुके हैं कि ऋग्वेद की अपेक्षा अब जीवन का आनन्द कम हो गया था और तपस्या की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। जब संसार-त्याग एक आदर्श होने लगा तो स्त्री, जो इस त्याग में सब से बड़ी बाधा है, अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी। कामप्रवृत्ति मनुष्य प्रकृति की सबसे बलवान प्रवृत्ति है; इसका जीतना सबसे कठिन है, पर जब तक यह न जीती जाय तब तक त्याग असम्भव है। इसलिये कामप्रवृत्ति की निन्दा शुरू हुई और साथ ही साथ इस प्रवृत्ति की ध्येय स्त्री की भी निन्दा होने लगी। इतिहास में अन्य समाजों में, उदाहरणार्थ, मध्यकालीन यूरूप में भी यही दृष्टिगोचर है। उत्तर वैदिक काल में मैत्रायणी संहिता स्त्रियों को जुआ और शराब की तरह ख़राब मानती है[१]। एक दूसरे स्थान पर

---

१. मैत्रायणी संहिता ३। ६। ३॥

यही संहिता स्त्री को अनृत समझती है और उसे निर्ऋति या आपत्ति से जोड़ती है[१]। तैत्तिरीय संहिता में एक वाक्य है कि स्त्री एक बुरे शूद्र से भी नीची है[२]। ऐतरेय ब्राह्मण का एक पद पुत्र को स्वर्गतुल्य सुख और कन्या को कृपणम् अर्थात् विपत्ति मानता है[३]। ऐतेरय ब्राह्मण यह भी आशा करता है कि स्त्री अपने पति को कभी उत्तर न दे अर्थात् केवल आज्ञा पालन करती रहे[४]।

स्त्रियों का सन्मान

स्त्रियों की निन्दा और परतन्त्रता की प्रवृत्ति संहिताओं और ब्राह्मणों में आरंभ हो गई है पर यह न समझना चाहिये कि उनका पद एक दम गिर गया। इस तरह के परिवर्तनों में सदियां लग जाती हैं और एक तरह की प्रवृत्तियां दूसरी तरह की प्रवृत्तियों से कुछ कटती रहती हैं। स्वयं संहिताओं और ब्राह्मणों में बहुत से कथन हैं जिनसे स्त्रियों का पद आदर सन्मान का मालूम होता है। बहुत सी स्त्रियाँ थी जो तत्त्वज्ञान की बहस में पुरुषों की बराबरी करती थी। ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण मे विदुषी स्त्रियों का ज़िक्र आया है[५]। जैसा कि आगे बताया जायगा उपनिषदों में भी बहुत सी विदुषी स्त्रियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् में

---

१. मैत्रायणी संहिता १। १०। ११॥

२. तैत्तिरीय संहिता ६। ५। ८। २

३. ऐतरेय ब्राम्हण ७। १५॥

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३। २४। ७॥

५. ऐतरेय ब्राह्मण ५। २९॥ कौषीतकि ब्राह्मण २। ९॥

स्त्री शिक्षकों का उल्लेख है [1]। याज्ञवल्क्य की एक स्त्री को ब्रह्म-विद्या का शौक़ था [2]। ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो लड़ाई झगड़े के बीच अपने पतियों की सहायक होती थीं। ऋग्वेद में जब ऋषि मुद्गल ने हथियार लेकर गाय चुरानेवाले डाकुओं का पीछा किया तब उसकी स्त्री भी उसकी मदद कर रही थी [3]। बहुत से वाक्यों से यह भी प्रगट होता है कि प्रेम और ब्याह की स्वतंत्रता, यद्यपि कम हो रही थी, तो भी आगामी समय की अपेक्षा बहुत थी। ऋग्वेद के दसवें मंडल में भी युवक और युवतियों के मिलने और प्रेम करने की बात है [4]। एक मंत्र में कहा है कि अमीर लड़कियों से शादी करना लोग बहुत पसन्द करते हैं। अगर कोई अमीर लड़की अच्छी और सुन्दर भी हो तो बहुत से आदमी उसके मित्र बन जाते हैं [5]। पर ऋग्वेद से मालूम होता है कि कुरूप, यहाँ तक कि अन्धी लड़कियों को भी अपने और गुणों के सहारे ब्याह करने का अवसर रहता था [6]। अथर्ववेद से साफ़ ज़ाहिर है कि युवक और युवतियां अपने प्रेमप्रयासों में जन्त्र मन्त्र और जादू का सहारा भी ढूंढते थे। अथर्ववेद में प्रेमी कहता है "......तुम मेरे वश में आ जाओ,......मैं

विद्याव्यसन

ब्याह की स्वतंत्रता

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ३। ३। १॥३। ७। १॥

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ३। ४। १॥४। ५। १॥

३. ऋग्वेद १०। १०२॥

४ ऋग्० १०। ३०। ६॥

५ ऋग्० १०। २७। १२॥

६. ऋग्० १०। ३३। ११॥

शहद से भी ज्यादा मीठा हूँ ....शहद की शाखा की तरह तुम मुझ से ज़रूर प्रेम करोगी......घेरनेवाला गन्ना लेकर मैं तुम्हारे पास आता हूं जिसमें कि हमारे बीच कोई ग्लानि न रहे, जिसमें कि तुम मुझसे प्रेम करो और मुझ से दूर न जाओ[१]"। अन्यत्र प्रेमी कहता है "जैसे हवा ज़मीन पर घास को हिला देती है वैसे ही मैं तुम्हारे मन को हिला दूं जिसमें कि तुम मुझ से प्रेम करो और दूर न जाओ; हे अश्विन् ! तुम दोनों लाकर उसे अपने प्रेमी से मिला दो . ....यहां यह स्त्री पति की आकांक्षा करती हुई आई है, और मैं पत्नी की आकांक्षा करता आया हूं[२]......। एक मंत्र में प्रेमी अपनी प्रेयसी के हृदय को तीर की तरह भेदना चाहता है[३]। एक जगह में प्रेमी कहता है जैसे बेल पेड़ से बिल्कुल लिपट जाती है वैसे ही तुम मुझसे लिपट जाओ।[४]। अन्यत्र वह कहता है "मैं तुम्हें अपनी भुजा से चिपटाता हूं; मेरे हृदय से चिपट जाओ[५]......"। फिर अथर्ववेद में प्रीति पैदा करनेवाली एक वनस्पति को लेकर प्रेमी कहता है—"उस स्त्री को और मुझे मिला दो; उसके और मेरे हृदय को एक कर दो[६]"। इसी तरह एक युवती कहती है "..... .हे देवताओ ! प्रेम भेजो; वह पुरुष मुझ पर मरे......वह मुझे प्यार करे, प्यारा, वह मुझसे प्रेम करे, वह मेरे लिये पागल हो जाय, हे मरुत्, वह मेरे लिये

---

१. अथर्ववेद १।३४।२, ४, ५॥

२. अथर्व० २।३०।१५॥

३. अथर्व० ३।२५

४. अथर्व० ६।८।१॥

५. अथर्व०।९।२॥ ६।१०२ भी देखिये।

६. अथर्व० ६।१३१।३॥

पागल हो जाय । हे अग्नि ! वह मुझ पर पागल हो मुझ पर मरे [१] "। अन्यत्र एक युवती अपना विश्वास प्रगट करती है कि प्रेमी चाहे जितनी दूर चला जाय पर ज़रूर लौट आयेगा और उससे ब्याह करेगा [२] । इन अंशों से प्रकट है कि अभी बालविवाह का नाम निशान भी न था और आयु पाने पर बहुत से स्त्री पुरुष अपनी इच्छा से ब्याह करते थे । ऋग्वेद इत्यादि में ब्याह के बाद ही जो कर्म होता है वह भी छोटी उम्र के लड़के लड़कियों में सम्भव नहीं है [३] कुटुम्ब में भी बहुत सी स्त्रियां बड़ा आदर और प्रभुत्व रखती थी और अपने पतियों तक को डांट देती थी । ऋग्वेद में एक जुआरी अफ़सोस करता है कि मेरी स्त्री मुझ को दूर रखती है और उसकी मां मुझसे घृणा करती है [४] ।

बहु विवाह

कुटुम्ब का जीवन इस समय आम तौर से शान्त और मधुर मालूम होता है पर जो बड़े आदमी एक से ज़्यादा ब्याह कर लेते थे वह कभी २ आप बड़ी परेशानी उठाते थे और पत्नियों का जीवन मिट्टी कर देते थे। कितने तक ब्याह एक आदमी कर सकता था—यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता । वैदिक साहित्य में बहुत जगह राजा के चार स्त्रियां हैं । मैत्रायणी संहिता में मनु के दस पत्नी हैं [५] । सौतों के देवासुर संग्रामों का उल्लेख साहित्य में कई जगह

---

१. अथर्व० ६ । १३९ । ३ ॥ ६ । ८२ और ६ । ८९ भी देखिये ।

२. अथर्व० ६ । १३० । १-२, ४ ॥

३. ऋग्० १० । ८५ । २९

४. ऋग्० १० । ३४ । ३ ॥

५. मैत्रायणी संहिता १ । ५ । ८ ॥

आया है। एक वनस्पति के द्वारा एक पत्नी अपने पति को बिलकुल अपने वश में करना चाहती है और सौत को मिटाना चाहती है। "सौत को उड़ा दो, मेरे पति को सिर्फ मेरा ही बना दो।.. . मैं उस सौत का नाम भी नहीं लेती........ सौत को दूर से दूर भगा दो........"[१]

सौतों के झगड़े।

अन्यत्र एक पत्नी देवताओं को बलि देती है और सौतों से पीछा छुड़ाना चाहती है; सौतों का नाश करना चाहती है; उन की सारी शान मिटाना चाहती है जिसमें कि अकेली वह प्रभुता कर सके[२]। अथर्ववेद में एक पत्नी सौत को शाप देती है कि "तेरे कभी संतान न हो; तू बांझ हो जाय"[३]।

विधवा ब्याह

एक पुरुष के एक ही समय अनेक पत्नियां हो सकती थीं पर हिन्दू साहित्य में एक स्त्री के एक ही समय अनेक पति होने का एक मात्र उल्लेख महाभारत मे द्रौपदी का है। द्रौपदी की समस्या हल करना बड़ा कठिन है पर कुछ अर्वाचीन रचनाओं के बाद इस पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि अनेकपतिप्रथा का नाम निशान वैदिक साहित्य में कही नही है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि एक पुरुष अनेक पत्नियां रख सकता है पर एक स्त्री एक ही समय अनेक पति नही रख सकती[४]। पर "एक ही समय" इन

---

१ ऋग्वेद १०। १४५। १-६॥ अथर्व० ३। १८। १ ५ भी देखिये।

२. ऋग्० १०। १५९। ४-६॥

३. अथर्व० ७। ३५। ३॥

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३। २३॥

शब्दों से यह भी प्रगट होता है कि भिन्न २ समयों पर एक ही स्त्री के कई पति हो सकते थे—अर्थात् विधवाओं का व्याह होता था। इसके प्रमाण वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलते हैं। कह चुके हैं कि ऋग्वेद और अथर्ववेद के जिन मंत्रों में पीछे सती का विधान देखा गया वह वास्तव में विधवा व्याह का समर्थन करते हैं[१]।

अथर्ववेद में तथा अन्यत्र दिधिषू शब्द के प्रयोगों से जान पड़ता है कि विधवा अपने देवर से व्याह करती थी[२]। और मंत्रों से भी विधवा व्याह के प्रचार का पता लगता है[३]। परपूर्वा शब्दसे भी मालूम होता है कि स्त्री दूसरा पति कर सकती थी। पौनर्भव शब्द स्त्री के दूसरे पति से पुत्र का द्योतक है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक मंत्र में उर्वशी की कथा है जिसने कुछ शर्त लगा कर पुरूरवस से व्याह किया था। शर्तों के टूटने पर उसने अपने पति का त्याग कर दिया। पुरूरवस ने बहुत प्रर्थना की। पर उर्वशी ने एक न मानी। इससे कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है, कि शायद किसी समय किसी समुदाय में शर्तों पर व्याह होता हो[४]।

स्त्रीधन का अभाव

वैदिक साहित्य में स्त्रीधन का उल्लेख नहीं है जो आगे के धर्मशास्त्रों में बहुत पाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि अभी स्त्रियां इतनी अबला नही हुई थीं कि

---

१. अथर्ववेद १८। ३। १-२॥ ऋग्वेद १०। १८। ८॥

२. मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स, १ पृ० ३५९-६०।

३. अथर्ववेद ९। ५। २७-२८॥

४. ऋग्वेद १०। ९५। १-२, १३॥

धर्म विधायकों को उनको अधिकारों की विशेष चिन्ता हो। कुछ भी हो, ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी लड़कियों को पिता की जायदाद का कोई हिस्सा नही मिलता और उनकी पालना का भार भाइयों पर पड़ता है। अथर्ववेद में और शापों के साथ २ बहिन के शाप का भी ज़िक्र आया है जिससे मालूम होता है कि लड़कियां परवरिश न करने वाले भाइयों से बहुत नाराज़ होती थी [1]।

ब्याह

ब्याह में गोत्रों के निषेध अभी उतने नहीं हुये हैं जितने कि आगे हुये। शतपथ ब्राह्मण जो इस समय के ज़रा ही पीछे रचा गया था तीसरी या चौथी पीढ़ी में ब्याह की इजाज़त देता है। [2] इसके आधार पर टीकाकार हरिस्वामी कहता है कि काण्व तीसरी पीढ़ी में और सौराष्ट्र चौथी पीढ़ी में ब्याह की इजाज़त देते हैं; दाक्षिणात्य मामा की लड़की से या फूआ के लड़के से भी ब्याह ठीक बताते हैं। मौसी की लड़की या चाचा के लड़के से ब्याह तो शायद कोई ठीक नही बताता। गोत्र के भीतर ब्याह करना अभी शायद सब वर्गों में पूरे तौर से मना न हुआ था। [3] ब्याह की रीतियां वैसी ही थी जैसी कि पहिले लिख चुके हैं। कभी कभी दहेज़ दिया जाता था और इसके विपरीत कभी २ दामाद ससुर को द्रव्य देता था। सदा की तरह इस काल में भी ब्याह एक बहुत बड़ी चीज़ थी। इसमें स्वयं देवता

---

१. अथर्ववेद २।७।२।२।१०।१॥

२. शतपथ ब्राम्हण १।८।३।६॥

३. मैकडानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स १ पृ० ४७५।

आकर भाग लेते थे [१]। अनुमान है कि व्याह से स्त्री का पद बढ़ जाता था। अथर्ववेद में एक जगह अर्यमन् से कहा है कि व्याह के पहिले यह कन्या दूसरी स्त्रियों की समाजों में जाती थी; अब व्याह के बाद दूसरी स्त्रियां इस की समाज में आयेंगी [२]।

कुटुम्ब

उत्तर वैदिक काल में कुटुम्ब का जीवन ऋग्वेद के लगभग समान ही था। सम्मिलित परिवार वैसा ही था जैसा ऋग्वेद के समय में था अथवा जैसा आगामी युगों में रहा। इस मामले में यूरुप और हिन्दुस्तान का सामाजिक विकास एक दूसरे से उलटा हुआ। यूरुप में सम्मिलित परिवार टूट गया अर्थात् व्याह होते ही पुत्र अपने मां बाप से अलग रहने लगा और भाई भी अलग २ रहने लगे। हिन्दुस्तान में शायद् कौटुम्बिक स्नेह विशेष प्रबल था और व्यक्तित्व का भाव कुछ निर्बल था। सम्मिलित परिवार से शायद खेती बारी में भी मदद मिलती थी। पर सम्मिलित परिवार में सदा मन मुटाव का डर रहता है। घर की कलह से दुखी हो कर कोई २ स्त्रियां ससुराल छोड़ कर मायके भाग जाती थीं [३]। शायद इसी लिये अथर्ववेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिये बड़ी भावुकता से प्रार्थनाएं की हैं [४]। सदा की तरह कुटुम्ब में पुरखे का बड़ा सन्मान होता

---

१. अथर्ववेद १४ । १ । ४८-५२ ॥ १४ । २ ॥

२. अथर्व० ६ । ६० । १-३ ॥

३. अथर्ववेद १० । १ । ३ ॥

४. अथर्ववेद ३ । ३० । १, ३, ५, ७ ॥ ७ । ३६ ॥ ७ । ३७ आदि ।

था [१]। माता का भी बहुत आदर था [२]। पति और पत्नी जन्म भर के लिये धर्म और लोक के साथी माने जाते थे। कई मंत्रों में पति पत्नी के प्रेम का चित्ताकर्षक चित्र खींचा है [३]। पत्नी घर की देखरेख करती थी और सुव्यवस्थित परिवारों में सास ससुर देवर ननद सब उसका प्रभाव मानते थे। भोजन, वस्त्र, सम्पत्ति और संतान के सुख में परिवार मग्न रहता था। घर सत्य और धर्म का पवित्र स्थान माना जाता था [४]।

आतिथ्य

हिन्दू सभ्यता के और युगों की तरह इस समय भी आतिथ्य बड़ी धर्म माना जाता था। अथर्ववेद में आतिथ्य को यज्ञ के बराबर माना है और आतिथ्य की भिन्न भिन्न क्रियाओं की तुलना यज्ञ की भिन्न २ रीतियों से की है [५]।

नीति

सामाजिक शान्ति, व्यवस्था, और सहयोग का आदर्श स्पष्टतः वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में इसके लिये बहुत सी प्रार्थनाएं हैं [६]। सारे वैदिक साहित्य में ऋत अर्थात् सत्य या धर्म पर बहुत ज़ोर दिया है। देवताओं से या मनुष्यों

१, ऋग्० १० । १७९ । २ ॥ इत्यादि।
२, ऋग्० १० । ८६ । १० ॥
३, ऋग्० १० । १४९ । ४ ॥ इत्यादि ।
४, ऋग्० १० । ८५ । २३-२४, २६-२७, ४२-४७ जहाँ दूलह दुलहिन की बात चीत है ।
५, अथर्ववेद ९ । ६ । ३, ४, ६, ७, ९, १८, १९, ३१, ३८, ५४ ॥
६ अथर्व० १२ । ५२ ॥ इत्यादि ॥

से जो प्रतिज्ञाएं की हो उनको अवश्य पूरा करना चाहिये; नहीं तो प्रायश्चित्त करना पड़ेगा[1]। ऋण चुकाना भी बहुत आवश्यक है; न चुकाना बड़ा पाप है जिस के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये[2]।

राजनीति

उत्तर वैदिक काल में राजनैतिक परिस्थिति भी पहिले की अपेक्षा कुछ बदल गई थी। अब भी संग्राम बहुत हो रहे थे; अथर्ववेद में लड़ाई का जोश बहुत है। पर जैसे २ आर्य लोग पूरब और दक्खिन की ओर फैले और बड़े बड़े मैदान उनके अधिकार में आये वैसे २ राज्यों के क्षेत्र भी बढ़ते गये। उत्तरी हिन्दुस्तान में नदियां आसानी से पार की

योजक शक्ति

जा सकती हैं। अन्य कोई प्राकृतिक रुकावट भी नहीं है। इस लिये यहां बड़े राज्यों की स्थापना की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। पर रेल तार इत्यादि के युग के पहिले कहीं भी बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करना आसान नहीं था। इस लिये प्रदेशों

विभाजक शक्ति

को बहुत सी स्वाधीनता देना भी आवश्यक था। इस तरह हिन्दू राजनीति में दो विरोधी शक्तियों का संघर्षण बराबर होता रहा—एक तो योजक शक्ति थी जो विशाल राज्य की प्रेरणा करती थी, दूसरी विभाजक शक्ति थी जो प्रादेशिक

संघर्षण

स्वाधीनता की प्रेरणा करती थी। इस संघर्षण से एक अनोखे राजनैतिक संगठन की उत्पत्ति हुई जिसमें राज्य तो बड़े २ थे

१. अथर्व० ६। ११९ ॥
२. अथर्व० ६। ११७ ॥

पर राज्य के भीतर बहुत से छोटे २ राज्य थे और कभी २ तो इनके भीतर और भी छोटे राज्य थे। यह एक तरह का संघशासन था। बड़े राज्य को साम्राज्य इत्यादि शब्दों से संबोधन करते थे और उसके स्वामी को सम्राट्, अधिराज इत्यादि उपाधियां मिलती थीं। वाजसनेयिसंहिता में सम्राज् शब्द आया है[१]। बहुत से ग्रन्थों में अधिराज शब्द आया है[२]। पञ्चविंशब्राह्मण में आधिपत्य शब्द का प्रयोग किया है[३]। एक राज शब्द जो ऋग्वेद में रूपक की तरह आया है[४] अथर्ववेद में राजनैतिक अर्थ में प्रयोग किया गया है[५]।

संघ शासन

शुक्ल यजुर्वेद में राजाओं की प्रधानता के लिये देवताओं से बहुत सी प्रार्थनाएं हैं[६]। पर काठकसंहिता और मैत्रायणीसंहिता में स्वाराज्य का भी उल्लेख है[७]। कोई २ राज्य बहुत छोटे थे। कहीं २ केवल एक गांव जीतने के लिये बड़ी २ प्रार्थनाएं हैं[८]। बड़े बड़े संघशासनमूलक

---

१. वाजसनेयि संहिता ५ । ३२ ॥ १३ । ३५ ॥ २० । ५ ॥ आदि।

२. देखिये ऋग्वेद १० । २८ । ९ ॥ अथर्ववेद ६ । ९८ । १ ॥ ९ १० । २४ ॥ तैत्तिरीय संहिता ११ । ४ । १४ । २ ॥ मैत्रायणी संहिता ४ । १२ । ३ ॥ काठक संहिता ८ । १७ ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १ । २ । ९ ॥

३. पञ्चविंश ब्राह्मण १५ । ३ । ३५ ॥

४ ऋग्वेद ८ । १७ । ३ ॥

५. अथर्ववेद ३ । १ ॥

६. शुक्ल यजुर्वेद ९ । ३९ ॥

७. काठक संहिता १४ । ५ ॥ मैत्रायणी संहिता १ । ११ । ५ ॥

८. कृष्ण यजुर्वेद २ । ३ । १० ॥ ३ । ४ । ८ ॥

साम्राज्यों में छोटे २ शासक बहुत होते थे; यह राजा या राजन्य कहलाते थे और वास्तव में राजनैतिक अधिकार रखने वाले ज़मीन्दार थे। इस समय के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि सैकड़ों क्या हज़ारों छोटे २ राजा उत्तरी हिन्दुस्तान में मौजूद थे[१]। सम्राट् और आधीन राजाओं के सम्बन्धों का ब्योरे वार पता नहीं लगता। शायद समर नीति में और परराज्य नीति में अर्थात् घरेलू मामलों को छोड़ कर बाहरी मामलों में सम्राट् की आज्ञा सब को पालन करनी पड़ती थी। पर शायद कभी २ सम्राट् और राजाओं के बीच में विद्वेष भी हो जाता था। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में राजनैतिक उपद्रवों का उल्लेख है; यह शायद ऐसे ही विद्वेषों के कारण होते थे[२]।

राजा

सम्राट् या राजा बहुधा मौरूसी होते थे पर नये राजा के आरोहण के लिये जनता की स्वीकृति आवश्यक थी[३]। स्वीकृति के बाद अभिषेक होता था जिसके लिये दूर दूर से

---

१. देखिये ऋग्वेद १० । ९ । १६ ॥ १० । ४२ । १० ॥ १० । ९७ । ६ ॥ अथर्ववेद ५ । १८ । १० ॥ २ । ६ । ४ ॥ १९ । ६२ । १ ॥ वाजसनेयि संहिता १८ । ४८ ॥ २६ । २ ॥ तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । १ ॥ २ । ७ । १८ ॥

२. अथर्ववेद १ । ९ ॥ ३ । ६ ॥ तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । १ ॥ २ । ७ । १८ । २ ॥

३. देखिये अथर्ववेद ३ । ४ । १-२, ७ ॥ ३ । ५ । ६ ॥

तरह तरह के जल मंगाये जाते थे। अभिषेक के ज़रा पहिले राजा चमकीले कपड़े पहिन कर शेर के चमड़े पर चढ़ कर दिशाओं की ओर जाता था जो प्रभुता का एक चिह्न था।

अभिषेक

इसी तरह की और रस्में भी होती थी [१]। इसके बाद शक्ति, प्रभुता और प्रधानता की प्रार्थना के मन्त्र पढ़ते पढ़ते पुरोहित जलों से अभिषेचन करते थे [२]। अभिषेक के समय बहुधा राजसूय यज्ञ होता था जिसकी रस्में बढ़ते २ इतनी हो गई थी कि पूरे साल भर चलती थी [३] और आगामी युग में इस से भी अधिक देर तक होती रहती थी। राजसूय के समय राजा को मित्र, वरुण आदि देवताओं के नाम से संबोधन करते थे [४]। वैदिक मन्त्रों में कहा है कि राजा को पृथिवी, पर्वत आकाश और विश्व की तरह एवं वरुण, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि की तरह दृढ़ रहना चाहिये [५]।

राजसूय

निस्संदेह राजा को बहुत अधिकार थे और बहुत शक्ति थी पर वह निरंकुश नहीं था, मनमानी नही कर सकता था। समाज के धर्म और आदर्शों के अनुसार ही वह शासन कर सकता था। इसके अलावा जनता की समिति थी जिसे शासन में बहुत अधिकार था और जो सब महत्त्वपूर्ण विषयों के

समिति

---

१. अथर्व० ४ । ८ । ३-४ ॥

२. अथर्व० ४ । ८ । ५-६ ॥ वाजसनेयि संहिता ९ । ४० ॥ २५ । १७-१८ ॥

३. अथर्व० ४ । ८ । १ ॥ ९ । ७ । ७ ॥ ऐतरेय ब्राह्मण ५ । १ । १ । १२ ॥

४. तैत्तिरीय संहिता १ । ८ । १६ ॥

५. ऋग्वेद १० । १७३ ॥ अथर्ववेद ६ । ८७-८८ ॥

निर्णय में भाग लेती थी। राजा के लिये आवश्यक था कि समिति को अपने अनुकूल रक्खे। अथर्ववेद में राजा प्रार्थना करता है कि प्रजापति की पुत्रियां सभा और समिति मेरे ऊपर कृपा करें [1]। एक मन्त्र में राजा के लिये बहुत से अनुग्रहों की प्रार्थना की है; एक अनुग्रह यह भी है कि समिति अनुकूल रहे [2]। अन्य वैदिक वाक्यों से भी समिति पर प्रभाव जमाने की आवश्यकता प्रगट होती है [3]। अथर्ववेद में इस तरह की प्रार्थनाओं के अलावा बहुत से जादू टोनों का भी उल्लेख है जो समिति को वश में करने के लिये प्रयोग किये जाते थे [4]। प्रत्येक जन सभा में मतभेद के कारण कभी २ बहुत वैमनस्य हो जाता है और गडबड़ होती है। शायद वैदिक समिति भी इस साधारण दोष से मुक्त न थी। ऋग्वेद में समिति की शान्ति, सहयोग और एकता के लिये बड़ी ओजस्वी प्रार्थना की है [5]। अथर्ववेद में एक बार समिति को नरिष्टा कहा है [6]। समिति तरह २ के मामलों पर विचार करती थी। समर, संधि, आयव्यय और साधारण अभ्युदय—यह सब समिति के सामने आते थे [7]। इसके अलावा वह न्याय का भी कुछ काम करती थी। अनुमान है कि ज़मीन, जूआ, ऋण, दायभाग, चोरी, चोट, और

---

१ अथर्व० ७ । २ । १ ॥

२, अथर्व० ६ । ८८ ॥

३. ऋग्वेद १० । १६६ । ४ ॥ अथर्व० ७ । १२ । २-३ ॥

४. अथर्व० २ । २७ ॥ ६ । ६९ ॥ ४ । ३११ ॥ इत्यादि ।

५. ऋग्वेद १० । १९३ । २-४ ॥

६ अथर्व० ७ । १२ । २ ॥

७. अथर्व० ६ । ७५ । १०३ ॥ ७ । ५२ ॥ ३ । २९ ॥ ६ । १०७ ॥

हत्या के मामलों का फ़ैसला समिति के द्वारा होता था[१]। पर बड़े राज्यों की स्थापना से समिति को अवश्य ही एक बड़ी कठिनाई पड़ी होगी। प्राचीन समय में न तो यूरुप में और न एशिया में राजनैतिक प्रतिनिधित्व की चाल थी। जनता को जो अधिकार थे वह जनता के इकट्ठे होने पर ही व्यवहार में आ सकते थे। छोटे राज्यों में समिति का अधिवेशन सुगम था पर बड़े राज्यों में जनसंख्या के कारण और दूरी के कारण असम्भव था। अतएव जैसे २ बड़े राज्य अर्थात् साम्राज्य बनते गये वैसे २ समिति की प्रथा टूटती गई।

अधिकारी

साधारण शासन में राजा को स्वभावतः बहुत से लोगों के सहयोग की आवश्यकता थी। जान पड़ता है कि राजा के कुछ सम्बन्धी भी शासन में योग देते थे और राज्य के वीर या रत्नियों में गिने जाते थे। इनके अलावा अनेक कर्मचारी थे जिनमें से विशेष महत्त्व वालों की गणना भी वीर या रत्नियों में होती थी[२]। पञ्चविंश ब्राह्मण में आठ वीर गिनाये हैं—(१) राजा का भाई (२) राजा का पुत्र (३) राजा का पुरोहित (४) राजा की महिषी (५) सूत (६) ग्रामणी (७) क्षत्र अर्थात् रक्षा करने वाला और (८) संग्रहीतृ अर्थात् कर जमा करनेवाला या कोषाध्यक्ष[३]। अन्यत्र वीरों में

---

१. कृष्ण यजुर्वेद २।२।१॥ २।६।१॥ अथर्ववेद ६। ११७-१९॥ वाजसनेयि संहिता ३०।५॥

२. अथर्ववेद ३।५।७॥

३. पञ्चविंश ब्राह्मण १९।१।४॥

राजन्य, सेनानी, भागदुघ (कर वसूल करने वाला) और अक्षावाप (जूए का अध्यक्ष) की भी गिनती की है,[१]। इनके साथ २ मैत्रायणी संहिता में तक्ष (बढ़ई) रथकार और गोविकर्त (शिकारी या पशुओं को मारने वाला) भी गिनाए गये हैं[२]। गावों में ग्रामणी राज का काम करते थे। वैदिक ग्रन्थों में दूतों या प्रहितों का उल्लेख है जो राज्य की ओर से जासूस या पुलिस का काम करते थे[३]।

न्याय

न्याय के मामले में, सभा के अलावा राजा भी कुछ मुकद्मों का फैसला करता था[४]। शुक्ल यजुर्वेद में न्याय को बहुत आवश्यक माना है[५]। काठक संहिता में एक राजन्य भी अध्यक्ष की हैसियत से दण्ड का काम कर रहा है[६]। तैत्तिरीय संहिता में और अन्यत्र भी ग्राम्यवादिन् गांव का न्यायाधीश मालूम होता है[७]; वाजसनेयि संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध या अश्वमेध के सम्बन्ध में प्रश्निन्, अभिप्रश्निन्, और प्रश्नविवाक का ज़िक्र है[८] जो

---

१. तैत्तिरीय संहिता १। ८। ९१ ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ७। ३। १ ॥

२, मैत्रायणी संहिता २ । ६ । ५ ॥ ४ । ३ । ८ ॥

३. अथर्ववेद ४ । १६ । ४ ॥ ऋग्वेद १० । १० । १-६ ॥ तैत्तिरीय संहिता ४ । ७ । १ ॥

४ अथर्व० ४ । ८ । २ ॥

५ शुक्ल यजुर्वेद १० । २७ ॥

६ काठक संहिता २७ । ४ ॥

७. मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स १ पृ० २४८ ॥

८ वाजसनेयि संहिता ३० । १० ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ४ । ६ । १ ॥

मुद्दई, मुद्दालय और पंच मालूम होते हैं। कई ग्रन्थों में मध्यमशी शब्द आया है[१]। उसका अर्थ भी पंच मालूम होता है। जान पड़ता है कि बहुत से झगड़े पञ्चायत से फ़ैसल हो जाते थे। दण्ड के विषय में पञ्चविंश ब्राह्मण से मालूम होता है कि राजद्रोह बहुत भीषण अपराध माना जाता था। उसके लिये पुरोहित तक को प्राणदण्ड दिया जाता था[२]।

पञ्चायत

दण्ड

जूए में हार कर ऋणी होजाने पर आदमी ग़ुलाम बनाया जा सकता था[३]। राज्य का ख़र्च चलाने के लिये राजा प्रजा से, ख़ास कर अमीर आदमियों से, और बहुत कर के ज़मीन पर, कर लेता था[४]।

कर

---

१ ऋग्० १० । ९७ । १२ ॥ अथर्व० ४ । ९ । ४ ॥ वाजसनेयि संहिता १२ । ८६ ॥

२. मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इन्डेक्स २ पृ० ८४ ॥

३ ऋग्वेद १० - । ३४ ॥

४. ऋग० १० । १७३ । ६ ॥ अथर्व० ४ । २२ ।

चौथा अध्याय।

वैदिक काल का अन्तिम युग।

साहित्य

वैदिक काल का तीसरा भाग अर्थात् अन्तिम युग ई० पू० ८—७ वीं सदी में या उसके भी पहिले माना जा सकता है। संहिताओं का समय अनिश्चित होने से आगामी वैदिक साहित्य का समय भी अनिश्चित है। हम ई० पू० ८—७ सदी को ऐतिहासिक समालोचना के इस सिद्धान्त के अनुसार स्वीकार करते हैं कि सन्देह में नीची तारीख़ को मान कर निष्कर्ष निकालने चाहिये। वैदिक काल के अन्तिम युग में भी बहुत सा साहित्य रचा गया। हिन्दुओं की वर्गव्यवस्था या वर्णव्यवस्था ने ब्राह्मण समुदाय को धर्म और विद्या-व्यसन के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया। वह प्राचीन समय में ही नहीं किन्तु भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भी अर्थात् १३ वीं ईस्वी सदी की मुसलमानी विजय के बाद भी बराबर ग्रन्थ रचते रहे। क्षत्रियों में भी विद्याध्ययन की प्रवृत्ति जारी रही और वह भी धार्मिक विचारों में और धार्मिक एवं साधारण साहित्य की रचना में भाग लेते रहे। इनके अलावा कभी कभी और लोग भी लिखने पढ़ने में यश प्राप्त करते थे। अस्तु, हिन्दुस्तान मे हज़ारों ही ग्रन्थ लिखे गये। बहुत से नष्ट हो गये पर जो बचे हैं वह पुस्तकालय के पुस्तकालय हैं। वैदिक काल के अन्तिम युग में ऐतरेय ब्राह्मण का उत्तर भाग रचा गया। इसी समय विशाल

शतपथ ब्राह्मण बना जिस में बहुत से यज्ञों के सूक्ष्म वृत्तान्त है और जिससे यज्ञों की परिपाटी का और प्रचार का पता लगता है। पर दूसरे ग्रन्थों से यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू मस्तिष्क को कोरे यज्ञविधान से संतोष नहीं था; वह विश्व के रहस्य को, जीवन के अन्तिम रहस्य को, उद्घाटन करने का भी ऐसा घोर प्रयत्न कर रहा था जैसा आज तक संसार में कही नही हुआ है। आरण्यकों में और उपनिषदों में इस प्रतिभाशाली विचारपरम्परा का संग्रह अथवा यों कहिये संक्षेप है। कुछ उपनिषद् तो आगामी युगों के हैं पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक इत्यादि वैदिक काल में ही बन चुके थे। इस युग में या इसके आस पास कुछ और रचानाएं भी हुईं जिनसे समाज या राजनीति की कुछ बातें मालूम होती हैं। बृहद्देवता जो शौनक का रचा हुआ समझा जाता है ई० पू० पांचवी सदी के लगभग बना था; इसमें वैदिक देवताओं का हाल है। ई० पू० छठी या पांचवी सदी के लगभग निरुक्त रचा गया जिसमें वैदिक शब्दों की समीक्षा है।

इस काल मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तत्वज्ञान की चर्चा है। ई० पू० सातवी—छठी सदी के लगभग देश में तत्वज्ञान की प्रबल लहरें उठीं जिन में पुरानी विचार परम्पराओं का समावेश हो गया और जिनसे आगामी सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई। हिन्दुस्तान के प्राकृतिक दृश्यों के कारण, जीवन की सुगमता और सादगी के कारण, और मानसिक चरित्र के कारण तत्वज्ञान का ऐसा दौर दौरा हुआ जैसा कि आज तक किसी देश ने नही दिखाया। हज़ारों आदमियों ने

तत्वज्ञान।

अपना सारा जीवन इसी में लगा दिया; लाखों ने इस पर बहुत मनन किया और करोड़ों ने इसकी ओर कुछ न कुछ ध्यान दिया। तत्त्वज्ञान के दो मुख्य प्रयोजन थे; एक तो स्वाभाविक ज्ञानपिपासा को शान्त करना, यह बताना कि संसार, आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, इत्यादि क्या हैं? दूसरे, मनुष्य को लोक और परलोक का ठीक ठीक रास्ता बताना, दुःख दूर कर परम सुख दिलाना, आत्मा की उन्नति करना, मोक्ष का द्वार खोलना। इन दो प्रयोजनों के कारण हिन्दू-तत्वज्ञान मुख्यतः आध्यात्मिक है, सामाजिक नहीं, पर इस में कट्टरता नही है, विचार की पूरी स्वतंत्रता है, तर्क की प्रधानता है, नये सिद्धान्त प्रगट होते हैं, नये पुराने विचारों के संयोग से तरह तरह की पद्धतियां निकलतो हैं। तत्त्वज्ञान की ऐसी प्रधानता थी कि उसने धर्म पर अधिकार जमा लिया और उसका आवश्यक अङ्ग हो गया। हिन्दुस्तान में धर्म और तत्त्वज्ञान एक दूसरे से ऐसे गुथे हुये हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। इस लिये तत्त्वज्ञान की बहुत सी पद्धतियों का आदि स्रोत ईश्वर या और कोई आप्त माना गया है और लगभग सभी पद्धतियां देवता या ऋषियों के नामों से संयुक्त हैं।

ईश्वर

कह चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में धार्मिक भाव बहुत प्रबल नहीं था और न तत्त्वज्ञान की ही बहुत चर्चा थी। तो भी कहीं कहीं ऋषियों को चिन्ता होती है कि विश्व क्या है? इसका प्राण क्या है? कौन जानता है[1]? देवता

[1] ऋग्वेद १।४।१६४॥

बहुत थे पर सब से पहिले कौन पैदा हुआ था ? इस तरह एक परमेश्वर का सिद्धान्त उत्पन्न होता है । वैदिक साहित्य में बहुधा एक एक देवता की स्तुति इस तरह की है कि मानो वही परमेश्वर है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं, इस समय ऋत का सिद्धान्त भी निकला । ईश्वर और

ऋत

ऋत—इन दो विचारों के आधार पर बहुत सा आगामी तत्त्वज्ञान स्थिर है । पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों के काल में वेद स्वतः प्रमाण माने गये और उनके वाक्यों को तत्त्वज्ञानियों ने अपने अपने अर्थ में प्रयोग करना शुरू किया । यज्ञ और कर्म की प्रधानता के इस युग में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों का एक चक्र माना गया—देवता, ऋषि, पितृ, मनुष्य जन्तु, सब की ओर कर्तव्य हैं जिन का पालन सदा करना चाहिये। कर्तव्य के एक बहुत बड़े भाग का समावेश यज्ञ में था । ब्राह्मण

यज्ञ

ग्रन्थ बार बार कहते हैं कि जो अच्छी तरह यज्ञ करता है वह स्वर्ग में देवताओं के साथ मिल कर अमर हो जाता है ।

तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा उपनिषदों के समय में हुई । इस समय जो सिद्धान्त निकले उनको ही लेकर जैन, बौद्ध आदि धर्मों की स्थापना हुई, और बाकी हिन्दुओं में भी बहुत से सम्प्रदाय चले । याद रखना चाहिये कि उपनिषदों

उपनिषद्

में कोई एक विचार शृंखला या सिद्धान्त नहीं है; बहुत से विचार हैं जो कहीं कहीं तो आपस में मिलते जुलते हैं और कहीं कहीं प्रतिकूल हैं । यहां मानवी मस्तिष्क सत्य की तह पर पहुँचने की कोशिश कर रहा है और चारों ओर तर्क और कल्पना के घोड़े दौड़ा रहा है । उपनिषदों

की गहरी छानबीन से नतीजा निकलता है कि मानवी जीवन का मूल तत्त्व है आत्मा जिसका नाश नही होता, जो मरता नही है, न बूढ़ा होता है।

आत्मा

आत्मा सब जड़ पदार्थों से भिन्न है और न उनके किसी तरह के मेल जोल से कभी पैदा हो सकता है। जगत् में सैकड़ों आत्मा प्रतीत होते हैं—यह सब एक ही ब्रह्म के रूपान्तर हैं; एक ही ब्रह्म के भाग हैं। चिदानन्द ब्रह्म विराट् है जिस में सब कुछ शामिल है। ब्रह्म अनादि है, अनन्त है, अकारण है, समय और स्थान से परे है। इस ब्रह्म का पता पुस्तकों से नहीं लगता, ज्ञान से नहीं लगता; आत्मा के प्रकाश से इसका पता लगता है। ब्रह्म को जानना जीवन का परम ध्येय है, ब्रह्म में मिल जाना ही मोक्ष है। ब्रह्म स्वयं सिद्ध है, किसी ने उसे नहीं बनाया है, वह आप ही बना हुआ है। सारा संसार, सारा जीवन ब्रह्म से निकला है; ब्रह्म का विकास

ब्रह्म

ही सृष्टि है, ब्रह्म का प्रगट होना ही विश्व का निर्माण है। ब्रह्म विश्व में है पर विश्व का नहीं है; उससे परे है। ब्रह्म के कारण ही आत्मा में शक्ति है; इस शक्ति को बढ़ा कर ब्रह्म के पास पहुँचना नीति और सदाचार है। मनुष्य को साधारण भौतिक कामनाओं में जीवन नष्ट न करना चाहिये; साधारण स्वार्थ, इन्द्रिय सुख में लीन न हो जाना चाहिये; यह सब नश्वर है, क्षणभंगुर है; अनादि अनन्त, सनातन ब्रह्म का चिन्तन करो, ध्यान करो, उसे जानो। जो ब्रह्म को जानता है अथवा यों कहिये कि आत्मा को ठीक ठीक पहचानता है वह सब स्वार्थ छोड़

देता है; सन्यासी हो जाता है। आत्मा को जानने वाला सब शोक को पार कर जाता है; ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। पर अन्यत्र उपनिषदों में कहा है कि वेद पढ़ने से, या विद्या से, या ज्ञान से सिद्धि नही हो सकती; सदाचार भी होना चाहिये, धर्म का पालन करना चाहिये, हृदय को पवित्र करना चाहिये, ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। अन्यत्र कहा है कि ज्ञान और आचार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। जब तक आचार ठीक नहीं है, हृदय में शान्ति नही है, चित्त में स्थिरता नहीं है तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, आध्यात्मिक सत्य की पकड़ नहीं हो सकती। उपनिषदों के अन्य भागों में इसको भी काफ़ी नहीं माना है; कोरे सदाचार से उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती;

मोक्ष

केवल यज्ञ, दान, इत्यादि से मुक्ति नही हो सकती; परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये, अपने को परमेश्वर से मिला देना चाहिये, परमेश्वर को आत्म समर्पण कर देना चाहिये। अहङ्कार जीव को हर तरह से नीचे गिराता है; अहङ्कार छोड़ कर ब्रह्म की ओर बढ़ना चाहिये। बहुत जगह उपनिषदों में कहा है कि जीव आत्मा और ब्रह्म वास्तव में एक है। मोक्ष पाने पर आत्मा का अन्त नही होता। जैसे नदियां समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही आत्माएं ब्रह्म में मिल जाती हैं।

पुनर्जन्म

यदि आत्मा चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म है तो संसार में दुख और पाप क्यों हैं? इस जटिल प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। ऐतरेय, शतपथ

ब्राह्मण इत्यादि में कर्म का थोड़ा सा उल्लेख अवश्य है[1]। पर इसका पूरा ब्यौरा सबसे पहिले उपनिषदों में ही मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति सब की आत्मा कर्म के कठोर नियम के अधीन हैं। प्रत्येक अभिलाषा, आकांक्षा या क्रिया का प्रभाव—अच्छा या बुरा—आत्मा पर पड़ता है, यह प्रभाव एक जीवन तक परिमित नहीं है; मरने के बाद फिर कर्मानुसार जन्म होता है और कर्म का फल भोगना पड़ता है; इस दूसरे जीवन के कर्मों का फल तीसरे जीवन में होता है और इस तरह चक्र चलता रहता है। किसी भी जन्म के पहिले अनगिनित जन्म हो चुके हैं। यह कर्मसंसार चक्र ब्रह्म में लीन होने तक चलता रहता है। इस लिये जीव को चाहिये कि अच्छे कर्म करे और सब से बड़ी बात तो यह है कि ब्रह्म प्राप्त करने की चेष्टा करे।

योग

उपनिषदों में सब से पहिले योग का ज़िक्र आया है। योग की क्रियाओं से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, मन स्थिर होता है, हृदय पवित्र होता है, आत्मा भौतिक जीवन के ऊपर उठ जाता है, ब्रह्म को समझने में सुगमता होती है। कौषीतकि उपनिषद् कहता है कि प्रतर्दन ने संयमन का एक नया मार्ग चलाया था जो अन्तर अग्निहोत्र अर्थात् आभ्यन्तरिक यज्ञ है। अभिप्राय यह है कि राग द्वेष, भावना, वृत्ति को पूरी तरह दमन करना चाहिये। प्राणवायु को रोकने से भी

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण ८। १५॥ शतपथ ब्राह्मण ९।२।७।३३॥ ६।२।२।२७॥

चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। ओम्, तद्वनम्, तज्जलान् आदि शब्दों पर चित्त को एकाग्र करना चाहिये। सब कुछ छोड़ कर एक पदार्थ पर मन को एकान्त करने से चित्त में स्थिरता आती है। इस तरह योग का अभ्यास करते २ पूर्ण एकाग्रता, पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। मुण्डक उपनिषद् में एक जगह न्याय का उल्लेख किया है पर न्याय की पूरी पद्धति अभी नहीं बनी थी।

ब्रह्म विद्या

उपनिषदों में सत्य की टटोल हो रही है, विश्व का रहस्य जानने का उद्योग हो रहा है और परमसुख का मार्ग ढूंढ़ा जा रहा है। तरह २ के विचार पैदा हो रहे हैं, चारों ओर स्वतंत्रता पूर्वक बहस हो रही है, बिना किसी डर के नये २ सिद्धान्त निकाले जा रहे हैं। इस लिये उपनिषदों में बहुत मत भेद है पर अन्त में कुछ बातों पर सब एक हो गये हैं। ब्रह्म ही सत्य है; विद्या और योग से वह जाना जाता है। विद्या से मुक्ति होती है[१]। ब्रह्म-विद्या सब पापों का नाश कर देती है[२]। विश्वव्यापी परमात्मा से पैदा होकर यह जीवात्मा शरीर धारण करता है, अपने कर्म के अनुसार अपना संसार बनाता है और एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता रहता है। इस आवागमन में बहुत से दुख होते हैं। इनसे छुटकारा तभी मिल सकता है जब आत्मा फिर ब्रह्म में लीन हो जाय। यही मुक्ति है; विद्या और योग इसका उपाय हैं। आवागमन

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ६।८॥

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८।१२।१॥ कौषीतकि उपनिषद् ३।१॥

और मोक्ष का सिद्धान्त जो इस समय निकले वह आगे बौद्धों और जैनों ने भी माने और आज तक सब हिन्दुओं में प्रचलित हैं। ब्रह्म, विद्या और योग के सिद्धान्त भी किसी न किसी रूप में लगभग सब हिन्दू सम्प्रदायों ने माने हैं।

कर्म सिद्धान्त का प्रभाव

कर्म और संसार का सिद्धान्त जीवन पर कई, और कभी २ विपरीत, प्रभाव डालता है। यह कर्म को प्रधान मानता है और अच्छे कर्म करने का आदेश करता है। जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा ही फल पायेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये उत्तरदायी है। उपनिषदों का सिद्धान्त विद्या पर भी पूरा ज़ोर देता है और सब को ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा करता है। पर आवागमन के सामने इस जीवन की महिमा कम हो जाती है; एक बड़ी लम्बी यात्रा में यह केवल एक सराय है या केवल एक क़दम है। इस संसार की सारी सुख सम्पत्ति क्षणभंगुर है, असार है। वृहदारण्यक उपनिषद् [1] भूख, प्यास, पुत्र की कामना, सम्पत्ति की कामना--इन सब को बुरा समझता है और एक मात्र ब्रह्म को ही सब कुछ मानता है। सीधे सादे आदमी इन सिद्धान्तों से बहक सकते थे और संसार का जीवन अस्तव्यस्त हो सकता था। शायद इसी लिए ऐतरेय आरण्यक और छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकि उपनिषद् आदि में कहा है कि यह विद्या गुह्य है, हर किसी को बताने की नहीं है, पक्के शिष्यों और पूरे अधिकारियों को

---

१. वृहदारण्यक उपनिषद् ३ । ५ । १ ॥ ४ । ४ । २२ ॥

ही बतानी चाहिये[1]। पर जब किसी न किसी तरह यह नये सिद्धान्त चारों ओर फैल गये तब जीवन के लिए उनके अनुसार मार्ग निश्चित करना आवश्यक हो गया। इस लोक के और परलोक के अभ्युदय को मिलाने से अर्थात् मनुष्य के लौकिक और आध्यात्मिक हितों को मिलाने की चेष्टा से आश्रमों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।

आश्रम

कह चुके हैं कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल के समय में ही कुछ मुनि पैदा हो गये थे जो तप किया करते थे। उपनिषदों के समय में मुनियों की संख्या बढ़ गई थी। यह भी कह चुके हैं कि विद्या पढ़ने की परिपाटी ऋग्वेद के समय में शुरू होगई थी। जैसे २ साहित्य और विद्या की उन्नति होती गई वैसे २ पठन पाठन की रीति भी बढ़ती गई। तैत्तिरीय संहिता कहती है कि ब्रह्मचारी होकर पढ़ना ब्राह्मण का कर्तव्य है[2]। ऐतरेय ब्राह्मण में नाभानेदिष्ट ब्रह्मचारी होकर अपने गुरु के घर में रहता है[3]। छान्दोग्य उपनिषद् में बालपन १६ बरस तक माना है पर ब्रह्मचर्य का समय इससे ज़्यादा होता था[4]। इस तरह ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रचार से जीवन की दो अवस्थाएं स्पष्ट हो गईं। तीसरी अवस्था गृहस्थ

---

१. ऐतरेय आरण्यक ३। २। ३। ९॥ बृहदारण्यक उपनिषद् ६। ३। १२॥ २। १। २॥ छान्दोग्य उपनिषद् ३। ११। ५॥ ८। ११। ३॥ कौषीतकि उपनिषद् १। ७। ४। १९॥

२. तैत्तिरीय संहिता ६। ३। १०। ५।

३. ऐतरेय ब्राह्मण १२। ९॥

४. छान्दोग्य उपनिषद् ५। १। ११। ५। २४। ५॥

जीवन की थी जो तप इत्यादि की प्रशंसा होते हुये भी हमेशा ज़रूरी थी। उपनिषदों में मुनि और गृहस्थ का भेद बताया है[१]। इसके बाद परमार्थ अवस्था के दो भाग कर दिये गये। उपनिषदों में ही श्रमण और तापसों का भेद कर दिया है; अन्यत्र मुनियों और प्रव्राजिनों का अलग २ उल्लेख किया है और आत्मा के ज्ञान को यज्ञ और तप से जुदा बताया है[२]। इस तरह चार अवस्थाएं अर्थात् चार आश्रम हुए जिनका सिद्धान्त पहिले पहल उपनिषदों में ही पाया जाता है। मालूम होता है कि बहुत दिन तक तीसरा और चौथा आश्रम एक ही माना जाता था[३]। छान्दोग्य उपनिषद् से ध्वनि निकलती है कि आदमी चाहे तो ब्रह्मचर्य के बाद जीवनभर गृहस्थ बना रहे[४]। पर इसी उपनिषद् में दूसरी जगह तप को तीसरा आश्रम माना है[५]। इस तरह उपनिषदों में सिद्धान्त कुछ अनिश्चित है पर अन्त में नतीजा यही निकलता है कि द्विज का जीवन चार भागों में बटना चाहिये।

आरुणेय उपनिषद्, आश्रम उपनिषद् और सन्यास उप-

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ५। १०। १॥ ६। २। १६॥

बृहदारण्यक उपनिषद् ६। २। १५॥ इत्यादि।

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ४। ३। २२॥ ४। ४। २२॥ ३। ८। १०॥

३. बृहद० उपनिषद् ३। ५। १॥

४ छान्दोग्य उपनिषद् ८। १५॥

५. छान्दोग्य उपनिषद् २। २३। १॥

निषद् में चार आश्रम बहुत साफ़ तौर से बयान किये हैं[१]। इस प्रकार इस काल में आश्रमों का सिद्धान्त निकला जो फिर सदा हिन्दू शास्त्रों मे माना गया पर यह समझना भूल होगी कि आश्रमों के नियम का पालन सब लोग करते थे। जैसा कि आगे बताया जायगा, जातकों से ज़ाहिर है कि आश्रम धर्म सिद्धान्त में सब को मान्य था पर व्यवहार मे सब को ग्राह्य न था।

शिक्षा

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक विद्याध्ययन करते थे। इस काल में शिक्षा की चर्चा बहुत बढ़ गई है। कह चुके हैं कि ऋग्वेद में वेद के पाठकों का ज़िक्र आया है[२]। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के पठन पाठन की बड़ी महिमा गाई है[३]। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि वेदों के पढ़ने और पढ़ाने से सुख, स्वाधीनता, धन, बुद्धि, यश इत्यादि सब कुछ होता है[४]। बहुत से गुरुओं का उल्लेख है जो एक दूसरे के बाद यज्ञों की विद्या को चलाते रहे थे[५]। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों से मालूम होता है कि बहुत से ब्राह्मण अपने पुत्रों को घर पर ही पढ़ाते थे[६]। पर बहुत से लड़के गुरुओं के यहां जाकर विद्या प्राप्त करते थे। वृहदारण्यक

---

१. आरुणेय उपनिषद् १। २। ५॥ आश्रम उप० ३-४॥ सन्यास उप० २। ७॥

२. ऋग्वेद ७। १०३॥

३. अथर्ववेद ९। ५॥

४. शतपथ ब्राह्मण ११। ५। ७। १॥

५ शतपथ ब्राह्मण १०। ६। ५। ९॥

६. छान्दोग्य उपनिषद् ५। ३। १॥ वृहदारण्यक उपनिषद् ६। २। १॥

उपनिषद् में परिषदों का उल्लेख है जो विद्यापीठ थे और जिनमें बहुत से छात्र इकट्ठे होते थे[१]। कभी २ गुरु बिना किसी रस्म के पढ़ाना शुरू कर देते थे[२]। पर शतपथ ब्राह्मण से सिद्ध है कि साधारणतः विद्याध्ययन के पहिले बहुत सी रस्में होती थीं। ब्रह्मचारी गुरु के बहुत से प्रश्नों का उत्तर देता था और गुरु उसे प्रजापति, द्यौः, पृथिवी इत्यादि देवताओं के सुपुर्द करता था[३]। श्वेतकेतु आरुणेय १२ बरस की उम्र पर गुरू के यहाँ जाता है और चौबीस बरस की उम्र तक वेद पढ़ता है[४]। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार की बात चीत से मालूम होता है कि इस समय और भी बहुत से विषयों का पठन पाठन आरंभ हो गया था, जैसे इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य (श्राद्ध इत्यादि) राशी, दैव, निधि (समय का ज्ञान) वाकोवाक्य (तर्क), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्दस्, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या[५]। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान का ज़िक्र है[६]। अन्य ग्रन्थों मे भी इतिहास का उल्लेख है[७]। जान पड़ता

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ६ । २ ॥

२. छान्दोग्य उपनिषद् ५ । ११ । ७ ॥

३. शतपथ ब्राह्मण ११ । ५ । ४ ॥

४. छान्दोग्य उपनिषद् ६ । १ । २ । ३ ॥ ६ । ७ । २ ॥

५. छान्दोग्य उपनिषद् ७ । १ । १ । २ ॥

६. बृहदारण्यक उपनिषद् २ । ४ । १० ॥

७. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १२ । ८ । २ ॥ शतपथ ब्राह्मण ११ । ५ । ६ । ४-८ ॥
१३ । ४ । ३ । ३ ॥ १४ । ५ । ४ । १० ॥

है कि इस समय बहुत से धार्मिक और लौकिक विषयों की पढ़ाई होती थी और बहुत से ग्रन्थ रचे गये थे पर आगे चल कर वह बड़े ग्रन्थों में मिल कर लोप हो गये। वैदिक अध्ययन की सहायता के लिये धीरे २ छः वेदाङ्गों ने स्पष्ट रूप ग्रहण किया—शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष्। पढ़नेवालों की संख्या बहुत थी। बहुत से कुटुम्ब थे जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु का कुटुम्ब जहां हर एक लड़का पढ़ता था [1]।

शतपथ ब्राह्मण से भी मालूम होता है कि बहुतेरे लड़कों को पढ़ने का शौक़ था [2]। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल जिस के पिता का पता न था आप ही पढ़ने जाता है [3]। ब्राह्मणों और उपनिषदों में इन्द्र, भरद्वाज इत्यादि बहुत बरसों तक यहाँ तक कि जन्म जन्मान्तर तक पढ़ते हैं [4]। कभी २ विद्यार्थी बहुत दूर दूर से चलकर नामी गुरुओं के पास पढ़ने आते थे [5]। कुछ शिक्षक भी इधर उधर घूमा करते थे [6]। बृहद्देवता कहता है कि पढ़ने पढ़ाने से आदमी देवताओं के बराबर हो जाता है [7]।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ६ । १ । १ ॥

२. शतपथ ब्राह्मण ११ । ५ । १ । ९ ॥

३ छान्दोग्य उपनिषद् ४ । ४ । १ ॥

४. छान्दोग्य उपनिषद् ८ । २ । ३ ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् २ । २३ । २ ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १० । ११ । ३ ॥

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ३ । ३ । १ ॥ ३ । ७ । १ ॥ तैत्तिरीय उपनिषद् १ । ४।३॥

६ कौषीतकि उपनिषद् ४ । १ ॥

७ बृहद्देवता १ । २१ ॥

गुरु के साथ जीवन

हिन्दू शिक्षा में ज्ञान से भी ज़्यादा ज़ोर चरित्र पर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य और संयम सब से अधिक आवश्यक थे। ब्रह्मचारी गुरु के साथ रहते थे और इसलिये अन्तेवासी भी कहलाते थे। वह गुरु की सेवा करते थे, आज्ञा पालन करते थे, उसके घर द्वार की रक्षा करते थे, और उसके लिये तथा अपने लिये ईंधन, भोजन इत्यादि मांगकर लाते थे। कभी कभी विद्यार्थी गुरु के साथ इधर उधर जाया करते थे[1]। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि सच बोलना, अपना कर्तव्य पालन करना, वेद पढ़ते रहना . . . गृहस्थ बनना[2]। पर छान्दोग्य उपनिषद् से मालूम होता है कि कोई २ नवयुवक गृहस्थ आश्रम से इन्कार कर देते थे और सीधे बन को चले जाते थे[3]।

तप

ब्रह्मविद्या के साथ तप की महिमा भी बढ़ती गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि देवताओं ने तप के द्वारा देवत्व पाया था[4]। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण अपने पुत्र भृगु से कहता है "तप से ब्रह्म को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्म है[5]।" मैत्रायणी उपनिषद् कहता है कि तप के बिना ज्ञान नहीं होता

---

१ शतपथ० ११।३।३॥ ३।२।६।१५॥ ११।५।७।१॥ बृ० उप० ३।१।२॥ ६।३।७॥ छा० उप० ४।३।५॥ ४।४।५॥ ४।१०।१॥ ८।१५।१॥ ३।११।५॥

२. तैत्तिरीय उपनिषद् १।११॥

३ छान्दोग्य उपनिषद् २।२३।१॥

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।१३।१॥

५. तैत्तिरीय उपनिषद् ३।५॥

और कर्म का भी फल नहीं होता [1]। उपनिषदों में ही सबसे पहिले श्रमणों का ज़िक्र आता है [2]। अनेक स्थानों पर संसारी जीवन को दोषपूर्ण माना है [3]। पर इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि "बिना नहाये, दाढ़ी बढ़ाये, बकरी का चमड़ा पहनकर रहने से क्या लाभ है ? तप करने में क्या रक्खा है ? हे ब्राह्मण ! पुत्र की कामना करो [4]।"

वर्णव्यवस्था

अन्तिम वैदिक काल में वर्णव्यवस्था पहिले की अपेक्षा कुछ और कड़ी हो गई है पर उतनी कड़ी नहीं हुई है जितनी कि आगामी युगों में। भेदभाव बढ़ रहे हैं पर कभी २ उनका अनादर भी होता है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुषमेध यज्ञ में भिन्न २ वर्णों के लोग भिन्न भिन्न देवताओं को दीक्षित किये हैं। यों भी उनके लिये अलग अलग सम्बोधन बनाये हैं और उनके लिये भिन्न भिन्न प्रकार के मृतस्मारकों का विधान किया है [5]। शतपथ ब्राह्मण में एक जगह तो सोम यज्ञ में शूद्र को स्थान दिया है [6] पर अन्यत्र कहा है कि दीक्षित पुरुष को शूद्र से बात भी न करनी चाहिये [7]।

कड़ाई

अनेक बार यह भी कहा है कि संसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का है और

---

१. मैत्रायणी उपनिषद् ४ । ३ ॥

२. तैत्तिरीय आरण्यक २ । ७ ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ । ३ । २२ ॥

३. उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् ३ । ५ ॥

४. ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १३ ॥

५. शतपथ ब्राह्मण ३ । १ । १ १० ॥ १३ । ८ । ३ । ११ ॥ वैदिक इन्डेक्स २ पृ० २५३ ।

६. शतपथ ब्राह्मण ५ । ५ । ४ । ९ ॥

७. शतपथ ब्राह्मण ३ । १ । १ । १० ॥

शूद्रों को बिल्कुल भुला दिया है [१] । शतपथ ब्राह्मण कहता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मिल कर जनता पर शासन करना चाहिये [२] । श्रोत्रिय और राजा मिल कर धर्म की रक्षा करते हैं [३] । पर इस समय से लेकर हिन्दू स्वतंत्रता के अन्त तक ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरोहित या ब्राह्मण को राजा से भी बढ़ा देने की प्रवृत्ति है । उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण स्वयं कहता है कि राजा की शक्ति पुरोहित की शक्ति से निकली है [४] । ऐतरेय ब्राह्मण पुरोहित को राजगोप अर्थात् राजा की रक्षा करनेवाला कहता है [५] । इसी समय के लगभग ब्राह्मणों का यह दावा शुरू हुआ कि हम से कर न लिया जाय । शतपथ ब्राह्मण इस का समर्थन करता है [६] पर यह निश्चय नहीं है कि व्यवहार में ब्राह्मणों के साथ इस तरह की कृपा अभी होती थी या नहीं । पहिले पहिल इसी समय में खान पान की थोड़ी बहुत रोक टोक प्रारंभ होती है । ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि जो क्षत्रिय दूसरे वर्ण वालों के साथ खाये वह उनके ही दर्जे का हो जाता है [७] ।

ढील

पर इसके विपरीत वर्णव्यवस्था की ढील के भी बहुत से उल्लेख इस समय में मिलते हैं । शतपथ ब्राह्मण स्वयं यह मानता है कि राजा जनक क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये

१, शतपथ ब्राह्मण २ । १ । ४ । १२ ॥ ४ । २ । २ । १४ ॥
२. शतपथ ब्राह्मण ११ । २ । ७ । ६ ॥
३, शतपथ ब्राह्मण ५ । ४ । ४ । ५ ॥
४, शतपथ ब्राह्मण १२ । ७ । ३ । १२ ॥
५ ऐतरेय ब्राह्मण ७ । २६ । ८ । २४-२७ ॥
६, शतपथ ब्राह्मण १३ । ६ । २ । १८ ॥ १३ । ७ । १ । ३ ॥
७. ऐतरेय ब्राह्मण ७ । २९ ॥

थे [१]। साधारणतः राजा क्षत्रिय अवश्य होते थे [२] पर शायद कभी कभी, वर्णव्यवस्था के प्रतिकूल, अन्य वर्णों के भी होते थे। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में राजा मरुत्त आविक्षित को आयोगव कहा है [३]। आगामी लेखक मनु, कौटल्य और विष्णु के अनुसार, आयोगव एक मिश्रित जाति थी अर्थात् क्षत्रिय नहीं थी [४]। अन्तर्जातीय ब्याह के भी कई उदाहरण मिलते हैं, यद्यपि यह सब अनुलोम ब्याह के हैं। बृहद्देवता में क्षत्रिय रथवीति की कन्या ब्राह्मण श्यावाश्व से ब्याह करती है [५]; राजा स्वनय अपनी लड़की का ब्याह अंगिरा कुल के एक युवक से करता है [६]; दीर्घतमस् की मा उषिज् एक दासी है [७]। इस प्रकार के अनुलोम सम्बन्ध तो साधारण से माने गये हैं [८]। समाज के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से इस बात पर भी ज़ोर देना ज़रूरी है कि कम से कम क्षत्रियों में विद्या और तत्त्वज्ञान की चर्चा बहुत थी। क्षत्रियों ने बड़े २ सिद्धान्त निकाले। बिना किसी संकोच के ब्राह्मण लोग क्षत्रिय विद्वानों को गुरु मानते थे और उनसे शिक्षा पाते थे। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण गार्ग्य बालाकि का गुरु क्षत्रिय

---

१. शतपथ ब्राह्मण ९। ६। २। १० ॥

२. उदाहरणार्थ देखिये शतपथ ब्राह्मण १। ५। २। ३, ५ ॥ १२। ८। ३। १९ ॥

३. शतपथ ब्राह्मण १३। ५। ४। ६ ॥

४ मनुसंहिता ९। १२ ॥ कौटल्य, अर्थशास्त्र (सं० शामशास्त्री) पृ० १६५ ॥ विष्णु, १६। ४ ॥

५ बृहद्देवता ५। ५० ॥

६. बृहद्देवता ३। १४२-४६ ॥

७. बृहद्देवता ४। २४-२५ ॥

८. बृहद्देवता ५। ७३ ॥ शतपथ ब्राह्मण ४। १। ५। ७ ॥ भी देखिये।

राजा अजातशत्रु था [१]; केकय राज अश्वपति प्राचीनशाल को तथा दूसरे ब्राह्मणों को शिक्षा देता था [२]। ऐसे और भी दृष्टान्त उपनिषदों में हैं [३]। छान्दोग्य उपनिषद् में ता यहां तक दावा किया है कि ब्रह्मविद्या केवल क्षत्रियों की ही विद्या है [४]। अन्यत्र यह मनोरंजक कथन है कि क्षत्रियों की राजनैतिक प्रधानता का कारण यही ब्रह्मविद्या है [५]।

वर्णव्यवस्था की कड़ाई और ढील के दृष्टान्तों से प्रगट होता है कि यह भी परिवर्तन का युग था और परस्पर विरोधी शक्तिया का संघर्षण हो रहा था। पर सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि पहिले की अपेक्षा कुछ अधिक कड़ाई हो रही थी।

आश्रमों की स्थापना और वर्ण की कड़ाई के सिवाय और कोई विशेष परिवर्तन समाज में नहीं हुआ। शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि पत्नी पति के साथ यज्ञ करती थी [६]। बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि पत्नी से ही पुरुष की पूर्णता होती है [७]। उपनिषदों और बृहद्देवता में

साधारण सामाजिक अवस्था

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।१॥ कौषीतकि उपनिषद् ४।१॥
२. शतपथ ब्राह्मण १०।६।१।२॥ छान्दोग्य उपनिषद् ५।११।४॥
३. छान्दोग्य उपनिषद् ५।११॥
४. छान्दोग्य उपनिषद् ५।३॥
५. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।२।८॥ छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।७॥
६. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०॥
७. बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१७॥

ऋषि भी बहुधा ब्याह करते हैं। विधवाओंका भी ब्याह होता था, बहुधा देवरों के साथ [१]। शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि राजा बहुधा चार ब्याह करता था [२]। निरुक्त से प्रगट है कि सौतों में बहुत झगड़े फ़साद होते थे और पति के नाक में दम हो जाता था [३]। पुत्र की कामना प्रबल थी। बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि पुत्र वह है जो पवित्र करता है [४]। जिसके पुत्र न हो वह अपनी कन्या को नियुक्त कर सकता था अर्थात् ब्याह के बाद उसके पुत्र को श्राद्ध इत्यादि के लिये अपना मान सकता था। पर इससे लड़की के पति के श्राद्ध में बाधा पड़ सकती थी। इसलिये निरुक्त कहता है कि भ्रातृहीन कन्या से ब्याह नहीं करना चाहिये [५]। बहुत सी स्त्रियां, जैसे गार्गी और मैत्रेयी, ऊँची शिक्षा पाती थीं और पुरुषों से ब्रह्मविद्या पर बराबर की बहस करती थीं [६]। निरुक्त में स्त्रियों के दायभाग के अधिकार का पहिला उल्लेख मिलता है [७]। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण कहता है कि पति और पत्नी को अलग भोजन करना चाहिये; पत्नी को पति के बाद खाना चाहिये। स्त्रियों की बुद्धि दुर्बल होती है और वह विद्वानों की अपेक्षा नाचने गानेवाले आदमियों को

---

१. निरुक्त ३। १५॥

२. शतपथ ब्राह्मण ६। ५। ३। १॥

३. निरुक्त ४। ५॥

४ बृहदारण्यक उपनिषद् १। ५। १७॥

५. निरुक्त ४। ५॥

६. उदाहरणार्थ देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् ३। ६। ८॥

७ निरुक्त ३। ४॥

पसन्द करती हैं [१]। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण से प्रगट है स्त्रियों के सच्चरित्र पर समाज बहुत ज़ोर देता था [२]। सामान्य नैतिक गुणो में संयम, उदारता, आतिथ्य, नम्रता, और सच्चाई बहुत बड़े माने जाते थे [३]।

राजनैतिक अवस्था

राजनैतिक अवस्था में भी थोड़ा ही परिवर्तन हुआ है। इस काल में राज्यों का क्षेत्र बढ़ गया है और ज़मीन्दारी संघ प्रथा और भी दृढ़ हो गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमस्थ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य शब्द आये हैं, जो तरह तरह के अधिकारों के और संघ पद्धति के भिन्न भिन्न दर्जों के द्योतक हैं [४]।

आधिपत्य

यहां समुद्र तक फैले हुये राज्य की भी बात कही है जिससे मालूम होता है कि बड़े राजा अपना अधिपत्य दूर दूर फैला रहे थे [५]। आधिपत्य के सूचक थे चार महायज्ञ—राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध और ऐन्द्रमहाभिषेक जो बहुत से

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३। २। ४। ६॥ ४। ४। २। १३॥ १०। १०। ५। २-९॥

२ शतपथ ब्राह्मण।२। ५। २। २०॥

३. शतपथ० ५। १। १। १॥ ९। ५। १। १३॥ ११। १। ८। १॥ १। १। १। ५॥ २। २। २। १९॥ ८। ३। २। १॥ निरुक्त ३। ११॥ बृ० उपनिषद् ५। २। ३॥ ३। १७। ४॥ ४। ३॥ २२॥ छा० उप० ५। १०। ९॥ ८। ४॥ कठोपनिषद् १। २। २४॥ १। ३। ७॥ ऐतरेय आरण्यक १। १। १॥ तैत्तिरीय उप० १। ११। २॥ कौषीतकि उप० ३। १॥ ईश उप० १-२॥

४. ऐतरेय ब्राह्मण ७। ३। ४॥ ८। १२। ४॥

५. ऐतरेय ब्राह्मण ८। १४॥

ब्राह्मणों के द्वारा बहुत दिन में किये जाते थे और जिनमें बहुत सी रस्में होती थीं और शक्ति, प्रभुता, धर्म इत्यादि के लिये बहुत से मंत्र पढ़े जाते थे[१]। पुनरभिषेक और सर्वमेध भी बड़ी रस्में थी जो भारी विजय के बाद की जाती थी[२]।

यज्ञ

ऐतरेय ब्राह्मण में अभिषेक के समय राजा शपथ खाता है कि अगर मैं आप लोगों पर अत्याचार करूं तो मेरा सारा पुण्य, मेरा लोक और परलोक मेरी संतान सब कुछ खो जाय[३]। और जगह भी कहा है कि सब शासन धर्म के अनुसार होना चाहिये, धर्म ही सच्चा शासक है[४]। न्याय करना अब राजा का एक प्रधान कर्त्तव्य था[५]। छान्दोग्य उपनिषद् हत्या, चोरी, व्यभिचार और मद्यपान को सब से बड़े अपराध मानता है। अग्नि और तराज़ू इत्यादि की परीक्षाएं अपराध का निर्णय करने के लिये होने लगी थीं[६]।

शपथ

न्याय

---

१. देखिये शतपथ० ९। ३। ४। ८॥ १३। ५। ४॥ ५। १। १। ३, १३-१४॥ १२। ८। ३। ४॥ ५। २। २। २, १४-१५॥ ५। १। १। १२॥ ५। ४। ३। ४॥ ५। २। २४॥ ५। १। ५। १४॥ ५। ३, ५, ३॥ ५। ४। ३। १५-२०॥ ५। ४। ४। ९-१३॥

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८। ५-११ ५॥ शतपथ ब्राह्मण १३। ७। १॥

३. ऐतरेय ब्राह्मण ८। १५॥

४. शतपथ ब्राह्मण ५। ४। ४। ५॥ बृहदारण्यक उपनिषद् १। ४। ११-१५॥ छान्दोग्य उपनिषद् २। २३। १-२॥

५. शतपथ ब्राह्मण ५। ३। ३। ९॥

६. छान्दोग्य उपनिषद् ६। १६॥ शतपथ ब्राह्मण ११। २। ७। ३३॥

राजा पहिले की तरह जनता से कर लेता था[१]। समिति

समिति

अब भी थी[२]। पर राज्य के बढ़ने से लोगों का इकट्ठा होना कठिन हो गया था और, समिति का प्रभाव घटता जाता था।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ७ । २९ ॥ शतपथ ब्राह्मण १ । ८ । २ । १७ ॥ ४ । २ । ३ । १७ ॥ ५ । ३ । ३ । १२ ॥ १० । ६ । २ । २ ॥ १३ । २९ । ६ । ८ ॥ इत्यादि ॥

२. शतपथ ब्राह्मण १२ । ७ । २ । १३ ॥ १३ । १ । १ । ४७ ॥ छान्दोग्य उपनिषद् ५ । ३ । १ ॥

पांचवां अध्याय।

सूत्रकाल।

ऐतिहासिक परिवर्तन

इतिहास में युगों का विभाग अध्ययन की सुगमता के लिये किया जाता है। वास्तव में बड़े परिवर्तन किसी एक बरस में नही होते; वह बहुत बरसों में, कभी कभी सदियों में होते हैं और किसी एक बरस का जीवन आगामी या पूर्ववर्ती बरस से बहुत भिन्न नही हो सकता। ऐतिहासिक परम्परा के इस सिद्धान्त को प्राचीन भारत के सम्बन्ध में याद रखने की विशेष आवश्यकता है क्योंकि यहां परिवर्तन धीरे २ हुये और बहुत सी पुरानी बातें सदा ही बनी रहीं। उदाहरणार्थ वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का प्रभाव कभी मिटा ही नहीं। तथापि हम उस समय युग परिवर्तन मान सकते हैं जब सभ्यता के कुछ महत्त्वपूर्ण अङ्गों पर नये प्रभाव पड़ने लगे और जब समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य या कला म कुछ नये लक्षणों का प्रादुर्भाव हुआ। इस कसौटी के अनुसार वैदिक काल का अन्त ई० पू० सातवीं सदी में या उसके भी पहिले मानना पड़ेगा।

साहित्य

अब तक जिस धार्मिक साहित्य की रचना हो चुकी थी वह श्रुति कहलाया है। आगामी समय के धार्मिक ग्रन्थ, बहुत प्रभाव शाली होने पर भी, श्रुति के बराबर नहीं माने गये। साहित्य की शैली भी इस समय बहुत बदल गई। उपनिषद् अवश्य बनते रहे पर कोई नया वेद या ब्राह्मण नहीं

रचा गया । कई अन्य शैलियों की प्रधानता हुई जो पहिले मौजूद तो थीं पर उतना महत्त्व न रखती थी । अब एक तो बहुत से वीर काव्यों की रचना हुई जो अन्त में रामायण और महाभारत के रूप में प्रगट हुये । दूसरी ओर बहुत सी कथाएं लिखी गईं जो कुछ संस्करणों के बाद बौद्ध जातक इत्यादि के रूप में आईं । तीसरी ओर स्मरण की सुगमता के लिये पुराने सिद्धान्त बहुत सी नई बातों के साथ अत्यन्त संक्षेप से पूर्वापर सम्बन्धी सूत्रों में प्रगट किये गये । अगर इन तमाम ग्रन्थों के रचना का काल ठीक ठीक पता लग सकता तो हिन्दुस्तान का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास क्रमपूर्वक ब्योरेवार लिखा जाता । पर अभाग्यवश किसी भी रचना का ठीक २ समय निश्चित नहीं है । इसलिये वैज्ञानिक ऐतिहासिक समालोचना के सिद्धान्तों के अनुसार इन सबका प्रयोग एक साथ नहीं किया जासकता । एक २ करके इन रचनाओं से ऐतिहासिक सामग्री निकालनी चाहिये । समय के विषय में सामान्य रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विचारों का या संस्थाओं का प्रचार ई० पू० ७—६ सदी से तीन चार सदियों तक था । इस विशाल साहित्य की समीक्षा से सिद्ध होता है कि समाज में बहुत से परिवर्तन हो रहे थे और कुल मिला कर वह इतने महत्त्व पूर्ण थे कि ई० पू० ७—६ सदी से एक नये युग का प्रारंभ अच्छी तरह मान सकते हैं ।

सूत्र

पठन पाठन की सुगमता से सूत्र शैली का प्रचार सारे देश में हो गया और लगभग सब ही विषयों के लिये उनका प्रयोग हुआ । बहुत से सूत्रग्रन्थ तो लोप हो गये

हैं पर जो बचे हैं वह भी मात्रा में कम नहीं हैं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से कल्पसूत्र महत्त्वपूर्ण हैं। यह ई० पू० लगभग छठवीं सदी से ई० पू० लगभग दूसरी तक रचे गये थे। प्रत्येक कल्पसूत्र किसी न किसी संहिता या ब्राह्मण को मुख्य करके मानता है और इस प्रकार श्रुति पर अपनी निर्भरता प्रगट करता है। ज्ञान पड़ता है कि इस समय प्रधान ऋषियों या गुरुओं के अलग २ चरण चल गये थे और प्रत्येक मुख्य चरण या शाला में सिद्धान्त और कर्मकाण्ड अलग २ लिखे गये। पिछले सूत्रों में भी ज़्यादातर पुरानी ही बात हैं। मोटी तरह, वह जीवन जिसकी झलक सूत्रों में है ई० पू० ६००-३०० का माना जा सकता है।

श्रौतसूत्र

कल्प सूत्रों के तीन भाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्म सूत्र। श्रौतसूत्र अनेक हैं जैसे शांखायन, आश्वलायन, लाट्यायन, कात्यायन, आपस्तम्ब, बौद्धायन इत्यादि के। इन सब में केवल यज्ञों का विधान है। यहां ऐतरेय, शतपथ इत्यादि ब्राह्मणों के यज्ञों को सुलझाया है। अनगिनित छोटी २ बातें व्यवस्था पूर्वक लिखी हैं। इनसे सिद्ध होता है कि अब धर्म में, सामाजिक जीवन में, यहां तक कि राजनैतिक जीवन में भी यज्ञों की मात्रा बढ़ रही थी, तरह तरह की रस्में चल रही थीं और चारों ओर ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था।

गृह्यसूत्र

इतिहास की दृष्टि में श्रौतसूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्र अधिक महत्त्व के हैं। पराशर, पारस्कर, गोभिल, हिरण्यकेशिन्, शांखायन, बौद्धायन, आपस्तम्ब इत्यादि नामों के गृह्य-

सूत्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का वर्णन है और विशेष कर गृहस्थ जीवन के नियम सैकड़ों की तादाद में दिये हैं। याद रखना चाहिये कि सूत्रग्रन्थों में सिद्धान्त लिखा है, व्यवहार नहीं, पर सिद्धान्तों में व्यवहार की जो झलक आई है उससे प्रगट होता है कि ब्राह्मणों के नियम घर के जीवन को जकड़ रहे थे, रस्में बहुत होती होती थी और दान भी बहुत दिया जाता था। सिद्धान्त मे तो वर्णाश्रम धर्म के नियम अब अटल माने जाते थे और व्यवहार में भी कुछ कड़े होते जाते थे। गौतम, बौद्धायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से भी यही नतीजा निकलता है। गृह्यसूत्रों में विशेष कर गांव के जीवन का ही उल्लेख है, शहर का बहुत कम है। इनमें तथा धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में स्नान और शौच के जो नियम दिये हैं उनमें से कुछ तो स्वास्थ्य के आधार पर हैं और कुछ यो ही पवित्रता के आधार पर हैं। गृह्यसूत्रों में जन्म से मृत्यु पर्यन्त घरेलू जीवन की सब रस्में लिखी हैं और सब नियम दिये हैं। भिन्न २ वर्णों के लिये नामकरण, उपनयन, शिक्षा, गुरुचर्या, व्याह इत्यादि की रस्में अलग २ हैं।

धर्मसूत्र

श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों की तरह बहुत से धर्मसूत्र भी बने पर उनमें से कुछ तो लोप हो गये हैं और कुछ बहुत पीछे के हैं। उदाहरणार्थ, मानवधर्मसूत्र लोप हो गया है यद्यपि उसके बहुत से अंश मानवधर्मशास्त्र अर्थात् मनुस्मृति में होंगे। शंख लिखित धर्मसूत्र [1] का पता अभी

१. देखिये, कुमारिलभट्ट, तन्त्रवार्तिक, पृ० १७९॥

तक नहीं लगा है, यद्यपि उसके कुछ अंश इधर उधर उद्धृत मिलते है। वैखानस धर्मसूत्र एवं विष्णु और हिरण्यकेशिन् के धर्मसूत्र लगभग तीसरी ईस्वी सदी के हैं और आलोच्य सूत्रकाल के लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते। बाक़ी रहे चार धर्मसूत्र; वह गौतम, बौद्धायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें सब से पुराना और महत्त्वपूर्ण है गौतम धर्मसूत्र जो उत्तर में रचा गया था। उसके पीछे बौद्धायन धर्मसूत्र आता है जो दक्खिन में रचा गया था। इसी लिये उसमें समुद्र और सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख है। इसका पूर्व भाग उत्तर भाग से पुराना है। कालक्रम के अनुसार तीसरा धर्मसूत्र है आपस्तम्ब का जो आंध्र प्रान्त में रचा गया था। अन्तिम धर्मसूत्र जो वसिष्ठ का है उत्तर का बना हुआ मालूम होता है। देश, काल और चरण के भेदो के कारण इन धर्मसूत्रों में छोटी २ बातों में कुछ भिन्नता है पर सिद्धान्त एक ही हैं। धर्मसूत्रों की तुलना से सिद्ध होता है कि अब सारे देश में एक ही सभ्यता का राज्य था; एक ही तरह के धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्त और व्यवहार प्रचलित थे; एक ही तरह का राजनैतिक संगठन था।

वर्णव्यवस्था

गौतम ब्राह्मणों को आपत्ति में क्षत्रिय या वैश्य का काम करने की इजाज़त देता है और कहता है कि कुछ और लोगों ने शूद्र के काम की भी इजाज़त दी थी[1]। इसी तरह क्षत्रिय और वैश्य भी नीचे वर्ण का काम कर सकते हैं[2]।

---

१. गौतम, धर्मसूत्र, ७। १–२४ ॥

२. गौतम ७। २६ ॥

गौतम यह भी कहता है कि ब्राह्मण अपने लिए दूसरों से खेती, तिजारत या महाजनी करा सकता है[१]। शायद व्यवहार में ऐसा ही होता था। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में गौतम के कुछ और नियम शूद्रों के लिये बहुत कठोर हैं। दो उदाहरण लीजिये। शूद्रों को ऊंचे वर्ण के जूठे भोजन, कपड़े, छोते, चटाई और जूते इस्तेमाल करने चाहियें[२]। अगर शूद्र कभी वेद सुनले तो कान में लाख भर देनी चाहिये, अगर उच्चारण करे तो ज़बान काट लेनी चाहिये और अगर याद रक्खे तो शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिये[३]। पर सन्देह है कि पुरोहितों के बनाये यह नियम कभी व्यवहार में आते थे या नही? दूसरी ओर गौतम का विधान है कि श्रोत्रिय राजदण्ड से बिल्कुल मुक्त रहने चाहिये[४]। अन्यत्र उसने ब्राह्मणों को राजा की प्रभुता से भी स्वतंत्र कर दिया है[५]। पर यह सब निरा सिद्धान्त है। व्यवहार में सब ब्राह्मण धर्म, यज्ञ, या पठनपाठन में लगे हुये नहीं थे। बौद्धायन से मालूम होता है कि कुछ ब्राह्मण किसान, गड़रिया, कारीगर, नौकर और नट का काम अवश्य करते थे[६]। यह विश्वास करना कठिन है कि यह सब कर से मुक्त थे अथवा राज्याधिकार के बाहर थे। धर्मसूत्रों के ऐसे उल्लेखों से एक

---

१. गौतम १० । ५–६ ॥

२. गौतम १० । ५८ ॥

३. गौतम १२ । ४–६ ॥

४. गौतम ८ । ७–१३ ॥

५. गौतम ११ । १–७ ॥

६. बौद्धायन, धर्मसूत्र, २ । ८, ४ । १६–२० ॥

और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। सिद्धान्त में वर्ण-व्यवस्था चारों ओर कड़ी हो रही थी।

व्यवसाय

व्यवहार में ब्याह के मामले में भी कड़ी हो रही थी पर उद्योग धन्धे के मामले में उसे जीवन संग्राम के सामने हार माननी पड़ी। पेट भरने के लिये ब्राह्मण, या क्षत्रिय या वैश्य जो व्यवसाय पाते थे करने लगते थे। जब वर्णों की संख्या बढ़ गई तब और भी ज़्यादा ढील हो गई। सूत्रकाल से लेकर आज तक व्यवसाय के मामले में वर्णव्यवस्था के नियम पूरे तौर से कभी व्यवहार में नही आये।

कह चुके हैं कि सूत्रों में अनुलोम ब्याह की व्यवस्था है अर्थात् प्रत्येक वर्ण के पुरुष को अपने

ब्याह

वर्ण की कन्या ब्याहने के बाद अपने से नीचे वर्णों से क्रमानुसार एक २ कन्या ब्याहने की इजाज़त है। चारों धर्मसूत्रों में ऐसे नियम लिखे हैं और बहुतेरे आगामी धर्मशास्त्रों और पुराणों में भी दुहराये हैं। साहित्य में अनुलोम ब्याह के बहुत से उदाहरण भी मिलते हैं पर जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं, ऐसे ब्याह बहुत ज़्यादा नही हो सकते थे।

सूत्रों में तथा और सब हिन्दूग्रन्थों में लिखा है कि राजा को अपने आप ही राज कार्य चलाना

राजप्रबन्ध

चाहिये। वर्णाश्रमधर्म का पालन कराना चाहिये। पर गौतम मानता है कि देश, जाति और कुटुम्ब के नियम जो धर्म के विरुद्ध न हों राजा को स्थिर रखने चाहिये और किसान, व्यापारी महाजन, कारीगर इत्यादि के अपने लिये बनाये हुये नियम

भी क़ानून के बराबर मानने चाहियें । पुराने हिन्दुस्तान में गावों को, कुटुम्बों को, और कामकाजियों के गणों और श्रेणियों को बहुत स्वतंन्त्रता थी । न्याय के लिये सूत्र-कारों ने दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून के बहुत से नियम दिये हैं और साक्षियों के बारे में भी बहुत से नियम हैं ।

न्याय

पर कहा नहीं जा सकता कि यह कहां तक प्रयोग किये जाते थे । इतना अवश्य मालूम होता है कि अब न्याय में वर्ण का कुछ ख़याल किया जाता था यानी एक ही अपराध के लिये नीचे वर्णवालों को ऊपर वालों से ज़्यादा सज़ा दी जाती थी और शूद्रों पर ख़ासकर बहुत सख़्ती होती थी । गौतम के अलावा न्याय के सम्बन्ध में आपस्तम्ब से भी यही नतीजा निकलता है [२] । बौद्धायन पुराना सिद्धान्त देता है कि क्षत्रिय की हत्या के लिये एक हज़ार गाय और एक बैल देना चाहिये; शूद्र को या मोर, कौआ, उल्लू, कुत्ता, इत्यादि जीवों को मारने पर दस गाय और एक बैल [३] । पर बौद्धायन में राज्य की ओर से अदालतें भी हैं; वेद, स्मृति और शिष्टों के चरित्र क़ानून माने गये हैं और संदेह दूर करने के लिये एक २ वेद के एक २ पंडित, एक मीमांसक, और अन्य ब्राह्मण विद्वान इस तरह दस के परिषद् का विधान किया गया है [४] । न्याय में प्रदेशों की रीतियों का

---

१. गौतम ११ । २१–२२ ॥

२. आपस्तम्ब २ । १० । २७ ॥

३. बौद्धायन १ । १० । १९ । १–६ ॥

४. बौद्धायन १ । १ । १–१२ ॥

अनुसरण करना चाहिये[१]। वसिष्ठ इस बात पर बहुत ज़ोर देता है कि मुक़द्दमे में आस पास के आदमियों से बातें दर्याफ़्त करनी चाहिये[२]। आपस्तम्ब कहता है कि जो आदमी अपनी ज़मीन पर खेती न करे वह राज को हर्जाना देवे[३]। यह भी कहा है कि खेत ख़राब करने वाले पशुओं को खेतिहर बन्द कर सकता है[४]। वसिष्ठ की राय में राजा को उस गांव को दण्ड देना चाहिये जो कर्तव्यहीन ब्राह्मणों को भिक्षा देता है[५]। आपस्तम्ब गांव और नगर के अधिकारियों का उल्लेख करता है जिस से मालूम होता है कि प्रादेशिक शासन की व्यवस्था अच्छी तरह हो गई थी[६]।

कर

गौतम के अनुसार, ज़मीन की पैदावार का $\frac{1}{6}$, $\frac{1}{8}$, या $\frac{1}{10}$ हिस्सा कर के रूप मे लेना चाहिये; पशु और सुवर्ण का $\frac{1}{50}$; फल, फूल, शहद, मांस इत्यादि का $\frac{1}{60}$ [७]। व्यापारियों को अपने व्यापार की एक चीज़ हर महीने कम दाम पर राजा को देनी चाहिये। कारीगरों को एक दिन राजा के लिये काम करना चाहिये। इसके अलावा लावारिस माल भी राजा का होता

---

१. बौद्धायन १। १। २। १-९॥
२. वसिष्ठ १६। १३-१५॥
३. आपस्तम्ब २। ११। २८। १॥
४. आपस्तम्ब २। ११। २८। ५॥
५. वसिष्ठ ३। ४॥
६. आपस्तम्ब २। १०। २६। ६-८॥
७. गौतम १२। १-२॥

था [१]। गौतम तथा और सब हिन्दू लेखकों की राय में कर उस रक्षा का दाम है जो राजा प्रजा की करता है [२]। राजा का यह भी कर्तव्य है कि ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, श्रोत्रिय और अपाहिजों का पालन करे [३]। बौद्धायन में भूमिकर पैदावार का $\frac{१}{६}$ भाग है और समुद्र से आये हुये माल पर चुंगी $\frac{१}{१०}$ है [४]। आपस्तम्ब की राय है कि ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, मुनि, स्त्री, नाबालिग़, अन्धे, बहरे, बीमार और दूसरों के पैर धोनेवाले शूद्रों से कर न लेना चाहिये [५]। वह यह भी कहता है कि लावारिस जायदाद राजा के पास जानी चाहिये [६]। वसिष्ठ कहता है कि कारीगरों से माहवारी कर लेना चाहिये; नदी, पहाड़, जंगल और सूखी घास के प्रयोग पर कर न लेना चाहिये; लावारिस जायदाद गुरु या शिष्य के न होने पर राजा के पास आनी चाहिये, राजा को नपुंसक और पागलों की पालना करनी चाहिये और उनके मरने के बाद उनका धन लेना चाहिये [७]।

आपस्तम्ब कुछ वेदविरुद्ध रीतियों को भी आचार के आधार पर प्रामाणिक मानता है [८] पर बौद्धायन की सम्मति

---

१ गौतम १० । २४–२७, ३१, ३५, ४३ ॥

२. गौतम १० । २८ ॥

३. गौतम १० । ७–१२ ॥

४. बौद्धायन १ । १० । १८, १, १४–१५ ॥

५. आपस्तम्ब २ । १० । २६ । १०–१७ ॥

६. आपस्तम्ब २ । ६ । १४ । ५ ॥

७. वसिष्ठ १९ । २७–२८ ॥ १७ । ८१–८३ ॥

८ आपस्तम्ब १ । ९ । २५ । ३ ॥

इसके प्रतिकूल है [१] । कुमारिलभट्ट ने सब धर्मसूत्रों और शास्त्रों को बराबर प्रामाणिक माना है, पुराणों को भी माना है पर सदाचार पर बहुत ज़ोर दिया है। साधारण जीवन के सम्बन्ध में सूत्रों से पता लगता है कि इस समय नाटक मण्डलियां और नाचने गानेवालों को मण्डलियाँ बहुत थी [२]।

---

१. बौद्धायन १ । १ । १९–२४ ॥

२ बौद्धायन १ । ५ । १०—२४ ॥ वशिष्ठ ३ । ३ ॥

छठवाँ अध्याय।

इतिहास काव्यों का समय।

सूत्रों के समय के आस पास हिन्दुस्तान के दो बड़े इतिहास काव्य—रामायण और महाभारत—रचे गये।

महाभारत

लौकिक वीर काव्य की झलक ऋग्वेद में भी पाई जाती है। इसकी धारा भी शायद पुरोहिती साहित्य की धारा के साथ २ ही चलती रही थी। महाभारत की मुख्य कथा का बीज तो ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। शाम्खव्यसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] में भारत एवं महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख है। पर कथा ने वर्तमान रूप ई० पू० ४००—२०० में ग्रहण किया। ई० पू० २००—ई० १००-२०० में और बहुत से कथानक जोड़े गये और धर्म के उपदेश मिलाये गये जिनके आधार पर महाभारत पंचम वेद और धर्मशास्त्र, तथा मोक्षशास्त्र और अर्थशास्त्र भी कहलाया[2]। एक लाख श्लोकों के वर्तमान ग्रन्थ के कुछ भाग ई० स० २०० से भी पीछे हैं पर ४०० ई० तक संसार का यह सबसे बड़ा ग्रन्थ पूरा हो गया[3] और महर्षि वेदव्यास के नाम से प्रचलित हुआ।

समय

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३। ३। १॥

२. महाभारत, आदिपर्व ६२॥

३. हापकिन्स, ग्रेट एपिक आफ़ इन्डिया. पृ० ३९७-४०२। चि० त्रि० वैद्य, एपिक इन्डिया।

महाभारत का नया संस्करण एक २ अंश में पूना से सम्पादित होकर प्रकाशित हो रहा है। उसके पूरा हो जाने पर शायद महाभारत के खंडों का समय निर्धारित करने में कुछ सुगमता हो।

काव्य के ओज, प्रसाद और चमत्कार के लिये महाभारत की समानता संस्कृत साहित्य में केवल रामायण से ही हो सकती है। मध्यदेश के उस समय के जीवन के लिये भी इसका मूल्य बहुत है। अनेक समयों पर अनेक कवियों के द्वारा रचे जाने से महाभारत में विचार या व्यवहार की एकता नहीं है पर यह भेद ऐतिहासिक उपयोगिता को बढ़ाता ही है। महाभारत में बहुत से उपाख्यान, संवाद, गीता इत्यादि शामिल हैं जिनकी रचना सम्भवतः मूल कथा के आस पास हुई थी पर जो पीछे से मिलाये गये हैं। महाभारत हिन्दूधर्म, नीति, समाजसिद्धान्त और कथाओं का विश्वकोष सा है। उसके रचयिता अथवा यों कहिये सम्पादक का यह दावा निर्मूल नहीं है कि जो कुछ है महाभारत से निकला है, जो महाभारत में नही है वह कही भी नहीं है।

विषय

महाभारत की मुख्य कथा तो सब को विदित है। कौन नही जानता कि पांडु के पांच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने अपने चचेरे भाई कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों से, बहुत अनबन, निर्वासन, और संधि प्रस्तावों की निष्फलता के बाद, कुरुक्षेत्र में महायुद्ध किया था और बड़ी काट मार के बाद विजय प्राप्त की थी? महाभारत में यह कथा कुरुवंश की उत्पत्ति से लेकर युद्ध में मारे हुये वीरों की अन्त्येष्टि क्रिया तक और विजेताओं के स्वर्गारोहण तक अठारह पर्वों में बयान की है। कथा का क्षेत्र मुख्यतः मध्यदेश का पच्छिमी भाग हैं, केन्द्र हस्तिनापुर

कथा

है; पर कौरव या पांडवों की ओर से युद्ध करने वाले राजाओं के वर्णन में सारे देश का ब्यौरा आ गया है। महाभारत की कथा में कहां तक ऐतिहासिक घटनाएं हैं और कहां तक कवियों की कल्पनाएं हैं—यह बताना असम्भव है। शायद मूल कथा की मोटी २ घटनाओं में ऐतिहासिक सत्य है पर बाक़ी सब छोटी २ बातें और कथानक मुख्यतः कवियों की करामात हैं। पर वर्णन चाहे ऐतिहासिक हों और चाहे कल्पित हों उनसे सभ्यता की बहुत सी बातों का पता लगता है। हिन्दू राजनीति का ब्योरेवार वृत्तान्त सब से पहिले महाभारत में मिलता है। सामाजिक संस्थाएं व्यवहार में कैसी थी—यह भी महाभारत और रामायण से अच्छी तरह मालूम होता है। इसके अलावा उस समय के तत्वज्ञान पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

ऐतिहासिक मूल्य

महाभारत में समाज का संगठन सिद्धान्त वर्णव्यवस्था के अनुसार के आधार पर है [1] पर व्यवहार में इस व्यवस्था का उल्लंघन बहुत हुआ करता था। वनपर्व में युधिष्ठिर कहते हैं कि जातियों का सम्मिश्रण इतना ज़्यादा होगया है कि जन्म नहीं, किन्तु चरित्र ही प्रधान है। आदिपर्व से भी मालूम होता है कि कोई [2] राजा शूद्र कन्याओं

वर्णव्यवस्था

१, देखिये ख़ास कर शान्ति पर्व ५६। २८–२९ ॥ ६०, ७–१६ । २०–३६ ॥ ६२ । ४ ॥ ६३ । १-५ ॥ ६५ । ८-१० ॥ ७२ । ४-८ ॥ १८८ । १-१४ ॥ २९७ । ३-४ ॥

२. वनपर्व १८० ॥

से ब्याह करते थे [१]। सभापर्व में पच्छिमी तट पर शूद्र राजा राज करते हैं [२]। शान्तिपर्व में ब्राह्मणों का पद 'सबसे ऊंचा रक्खा है [३]। पर कथा में प्रभुता क्षत्रियों की ही मालूम होती है और अक्सर ब्राह्मणों की अवहेलना होती है। शान्तिपर्व में क्षत्रियों को ब्राह्मणों के साथ मेल से काम करने का उपदेश दिया है [४] पर आदिपर्व में, उद्योग-पर्व में तथा अन्यत्र भी बड़े २ मामलों में क्षत्रिय ब्राह्मणों की कुछ भी पर्वाह नहीं करते [५]। महाभारत में शूद्रों का स्थान व्यवहार में धर्मशास्त्रों के स्थान से अच्छा है। सभा-पर्व में राजा के अभिषेक में शूद्र भी बुलाये जाते हैं [६]। शान्तिपर्व में भी शूद्रों को तीन ऊंचे सरकारी पद दिये हैं [७]। अन्तर्जातीय ब्याह के उदाहरण भी बहुत से हैं। जब परशुराम ने क्षत्रिय पुरुषों की हत्या कर डाली तब क्षत्रिय स्त्रियों ने ब्राह्मणों से ब्याह किया [८]। एक ब्राह्मण ने निषाद

---

१. आदिपर्व ११४ ॥

२. सभापर्व ५१ ॥

३. देखिये ख़ास कर शान्ति० ३३ । २-९ ॥ ३४ । १-४, ६-८, २२-२७ ॥ ३५ । १ ॥ ७५ । १०-१२ ॥ ७६ । ३-१३ ॥ ७२ । १०-१७ ॥ ७३ । २९-३२ ॥ ७७ । २-७ ॥ ८९ । ३-६ ॥ तुलना कीजिये, वनपर्व १३३ ॥

४. शान्तिपर्व ५६ । २४-२५ ॥ ७३ । ८-१३ ॥ ७४ । १३-१५, १७ ॥ ७७ । १०-१७ ॥ ८३ । २९ ॥

५. आदिपर्व १०२ ॥ उद्योग पर्व १ ॥

६. सभापर्व २३ । ४१-४२ ॥

७. शान्तिपर्व ७५ । ६-१० ॥

८. आदिपर्व ६४, १०४ ॥

स्त्री से ब्याह किया था जिसे वह बहुत प्यार करता था [१]। एक आर्य ने अपनी कन्या की सगाई एक अनार्य राक्षस से की और जब उसने ब्याह भृगु से कर दिया तब राक्षस ने अग्निदेवता की शरण ली [२]। शंतनु एक कन्या से प्रेम करके बिना जाति पात पूछे ही ब्याह करता है [३] और एक मछुए की लड़की को यह शर्त मानकर ब्याहता है कि उसके पुत्र को गद्दी मिले [४]। महाप्रस्थानिकपर्व में युधिष्ठिर वैश्य स्त्री से उत्पन्न एक चचेरे भाई को राज्य सौंपता है [५]। अन्यत्र भीम राक्षसी से ब्याह करता है [६]। वनपर्व में भी राजा परीक्षित एक कन्या को देखते ही मुग्ध होकर बिना जाति-पात पूछे ब्याह करता है [७]। द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन को ब्राह्मण समझते हुये भी क्षत्रिय राजा द्रुपद अपनी कन्या ब्याहने को तय्यार हैं [८]।

आनुशासिकपर्व में इस बात पर मतभेद है कि ब्राह्मण को शूद्र कन्या से ब्याह करना चाहिये या नहीं [९]। एक स्थान पर ऐसे ब्याह की कड़ी निन्दा की है। पर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में ब्राह्मण

---

१. आदिपर्व २९ ॥
२. आदिपर्व ५-७ ॥
३. आदिपर्व ९७ ॥
४. आदिपर्व १०० ॥
५. महाप्रस्थानिकपर्व १।६ ॥
६. आदिपर्व १५४ ॥ वनपर्व १२ ॥
७. वनपर्व १९२ ॥
८. आदिपर्व १९१ ॥
९. आनुशासिक पर्व ४७ ॥

की सम्पत्ति बाटने के ब्योरेवार नियम दिये हैं। यह भी कहा है कि इन स्त्रियों में ब्राह्मण स्त्री मुख्य है। चारों वर्णों के परस्पर ब्याह सम्बन्ध से और जातियों की उत्पत्ति बताई है [१]। इन सब कथनों से सिद्ध होता है कि अन्तर्जातीय ब्याह अवश्य होते थे। व्यवसाय के मामले में तो वर्ण-व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन बहुत होता था। भीष्म कहते हैं कि वह ब्राह्मण चंडाल के बराबर हैं जो अदालत में लोगों को बुलाने का काम करते हैं, जो वैश्यों और शूद्रों के यज्ञ कराते हैं, जो समुद्रयात्रा करते हैं, जो रुपया लेकर पूजा कराते हैं; वह ब्राह्मण क्षत्रियों के बराबर हैं जो मंत्री, दूत, वाहक इत्यादि का काम करते हैं; वह वैश्यों के बराबर हैं जो हाथी, घोड़े, या रथ हाँकते हैं या सेना में पैदल सिपाही हैं [२]। साफ़ ज़ाहिर है कि बहुत से ब्राह्मण यह काम करते थे। स्वयं भीष्म ने ब्राह्मणों को आपत्ति पड़ने पर क्षत्रिय या वैश्य के काम करने की आज्ञा दी है और यह भी माना है कि कठिनता के समय में वैश्य या शूद्र राजा भी हो सकता है [३]। यह भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि आपत्ति के समय वर्ण के नियम ढीले हो सकते हैं [४]। आनुशासिक पर्व से भी प्रगट है कि बहुत से ब्राह्मण वैद्य, महाजन, गायक, नर्तक, पहलवान, इत्यादि होते थे, जीव जन्तु बेचते थे, रुपया लेकर हर

---

१. आनुशासिक पर्व ४८ ॥

२. राजधर्मानुशासन पर्व ७६ ॥

३. राजधर्मानुशासन पर्व ७८ । ४-७ ॥

४ राजधर्मानुशासन पर्व १३० ॥

किसी के यहाँ पूजा पाठ कराते थे, या विद्या पढ़ाते थे या शूद्र स्त्रियों से ब्याह करते थे [१]। इसी पर्व में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म बताते हैं कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण कैसे हो गये [२]—यद्यपि अन्यत्र कहा है कि ब्राह्मण तो जन्म से ही हो सकता है [३]। शान्तिपर्व में चारों वर्णों की उत्पत्ति ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की तरह पुरुष से बताई है, शूद्र को यज्ञ का निषेध किया है पर शूद्र को साधारण धर्म पालने की इजाज़त दी है [४]। पराशर कहते हैं कि धर्मपरायण शूद्र ब्रह्म के बराबर है, विष्णु है, सारे विश्व में सबसे श्रेष्ठ है। वनपर्व में कहा है कि कलियुग में ब्राह्मण शूद्रों के काम करेंगे, क्षत्रिय यज्ञ करेंगे, शूद्र धनोपार्जन करेंगे, म्लेच्छ राजा पृथ्वी का शासन करेंगे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने २ काम छोड़ देंगे, शूद्र ब्राह्मणों का निरादर करेंगे, ब्राह्मण शूद्रों का आदर करेंगे [५]। ऐसे कथनों से भी यही ज़ाहिर होता है कि वर्ण व्यवस्था के नियम व्यवहार में हमेशा नहीं माने जाते थे। आनुशासिकपर्व में एक जगह तो साफ़ २ मान लिया है कि गुण और कर्म के अनुसार जन्म का वर्ण बदल जाता है, ब्राह्मण शूद्र के स्थान तक गिर सकता है और शूद्र ब्राह्मण की पदवी

---

१. आनुशासिक पर्व २२ ॥

२ आनुशासिक पर्व ३–४ ॥

३. आदि पर्व १५७ ॥ आनुशासिक पर्व २७-२९ ॥

४ शान्ति पर्व २९७ ॥

५ वनपर्व १५८ ॥

तक पहुँच सकता है[१]। एक श्लोक में कहा है कि न जन्म से कुछ होता है, न यज्ञ से, न ज्ञान से, चरित्र ही असली चीज़ है[२]। जिस शूद्र का चरित्र अच्छा है वह ब्राह्मण ही है[३]। शान्तिपर्व में भी कहा है कि वर्ण गुण और कर्म के अनुसार होता है। जो सब कुछ खाये, सब कुछ करे, वेद न पढ़े और जिसका आचरण अपवित्र हो वही शूद्र है। जिसमे यह दोष न हो वह शूद्र नहीं है; जिसमें यह दोष हो, वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है[४]। इसके विपरीत शान्तिपर्व मे यह भी अवश्य कहा है कि शूद्र को सदा सेवा ही करनी चाहिये, और कुछ नहीं[५]। महाभारत में कई जगह, जैसे वनपर्व में, यह भी माना है कि राक्षस भी धर्मात्मा हो सकते हैं; पहिले तो धर्म के सबसे अच्छे ज्ञाता राक्षस ही थे[६]। आनुशासिकपर्व में एक ऋषि के ब्राह्मण कहने से ही एक क्षत्रिय राजा वैतहव्य ब्राह्मण हो गया[७]। वनपर्व में मांस बेचनेवाला एक चिड़ीमार एक ब्राह्मण तपस्वी का गुरु है[८]।

जान पड़ता है कि वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय

---

१ आनुशासिक पर्व १४३ ॥

२. आनुशासिक पर्व १४३ । ५० ॥

३ आनुशासिक पर्व १४३ । ५१ ॥

४ शान्ति पर्व १८९ ॥

५. शान्ति पर्व २९४-९५ ॥

६. वनपर्व १५७ ॥

७. आनुशासिक पर्व ३० ॥

८. वनपर्व २०७-१६ ॥

में सब पंडितों को पुरुषसूक्त से संतोष नहीं था। वह स्वयं मनोरंजक धारणायें निकाल रहे थे।

शान्तिपर्व एक स्थान पर कहता है कि जब ब्रह्मा ने देव, दानव, गंधर्व, दैत्य, असुर, पिशाच, राक्षस, नाग इत्यादि के साथ २ मनुष्य बनाये तब चारों वर्ण अलग २ रंग के थे—अर्थात् सफ़ेद, लाल, पीले और काले। भरद्वाज ने

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति

पूछा कि यदि रंग के आधार पर ही भेद था तो अवश्य ही यह जातियां आपस में मिल गई होंगी। आदमियों के शरीर तो एक से ही हैं? फिर अब भेद कैसे हो सकता है? भृगु ने उत्तर दिया कि वास्तव में कोई भेद नहीं है। पहिले सारे संसार में केवल ब्राह्मण ही थे; कर्मों के कारण उनके भिन्न २ वर्ण होगये। चारों वर्णों को धर्म और यज्ञ का अधिकार है[1]। दूसरी ओर अनुशासनपर्व में कहा है कि ब्राह्मण को शूद्र से कभी भोजन न लेना चाहिये। शूद्र का भोजन दुनिया भर की गन्दगी के बराबर है। सब लोगों को अपने २ नियत कर्म का पालन करना चाहिये[2]। इस पर्व में निषिद्ध भोजन खाने के लिये बहुत से प्रायश्चित्त बताए हैं[3]। वर्ण के विषय में भगवद्गीता में भी दो मत हैं। सर्ग १८ में एक ओर तो कृष्ण ने चारों वर्णों के धर्म गिनाकर कहा है कि हर आदमी को अपना ही धर्म पालन करना चाहिये, अपने धर्म में मरना अच्छा है, दूसरे का धर्म

---

१ शान्तिपर्व १८८ ॥

२. अनुशासनपर्व १३* ॥

३. अनुशासनपर्व १३६ ॥

भयावह है [१]। दूसरी ओर कृष्ण कहते हैं कि गुण कर्म के विभाग से मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।

आश्रम

हिन्दू सिद्धान्त में वर्णव्यवस्था के साथ आश्रमव्यवस्था को मिला कर पूरे वर्णाश्रम धर्म की कल्पना की गई है। आश्रम के व्यवहारिक रूप पर महाभारत कुछ प्रकाश डालती है। महाभारत में ऋषि बहुत हैं पर वह संसार से अलग नहीं हैं। यह पढ़ाते हैं, शिष्यों से बहुत से काम लेते हैं, इनके स्त्री पुत्र हैं, गाय बैल हैं। कभी २ दूसरों के बच्चों को बड़े लाड़ प्यार से पालते हैं और उनके ब्याह में आनन्द मनाते हैं। कोई २ ऋषि जायदाद के हिस्साबाट पर गृहस्थों की तरह झगड़े करते थे और कोई २ इधर उधर की स्त्रियों पर मुग्ध होकर ब्याह या अनुचित सम्बन्ध कर बैठते थे। कोई २ नियोग के लिये भी राज़ी हो जाते थे। कोई २ ऋषि बड़े क्रोधी होते थे। बहुत से ऋषि चारों ओर घूमा करते थे और राजा प्रजा सब को अच्छे उपदेश दिया करते थे। महाभारत में बहुतेरे परिव्राजकों का उल्लेख है जो जंगलों के अलावा गांवों और नगरों में भी घूमते थे और उपदेश देते थे [२]। महाभारत में बहुत जगह संन्यास की प्रशंसा की है पर शान्तिपर्व में माना है कि धर्म, अर्थ और काम गृहस्थ आश्रम में ही है, यही

---

१. भगवद्गीता सर्ग १८॥

२. आदिपर्व ३, ८-९, २९, २९-४३, ७०-७७, १०४। वनपर्व २०६॥ आश्रमों के लिये देखिये शान्तिपर्व २६३, २४५, २५१, २५९, २६१॥

सब आश्रमों की जड़ है, आधार है; इसके बिना न तो ब्रह्म-चर्य, न वानप्रस्थ और न सन्यास ही सम्भव है। यह भी कहा है कि गृहस्थ आश्रम में आदमी तरह २ के खान-पान वस्त्र, ज़ेवर, माला-फूल, सुगंध, गायन, नाच इत्यादि का खूब आनन्द ले सकता है[१]। आगे चल कर शान्तिपर्व में आश्रमों के साधारण नियम दिये हैं[२]। प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्याख्या की है[३]। आनुशासिकपर्व में वानप्रस्थ जीवन का अच्छा चित्र खींचा है[४] पर सब लोग वान-प्रस्थ को आवश्यक नहीं मानते थे। महाप्रस्थानिकपर्व में पाण्डवों के त्याग को जनता ने पसन्द नहीं किया[५]। वन-पर्व में भीम युधिष्ठिर को समझाते हैं कि वन में रहकर तपस्या करना क्षत्रिय का कर्तव्य नहीं है[६]। अन्यत्र भी भीम, अर्जुन और व्यास ने युधिष्ठिर को ऐसा ही उपदेश दिया है[७]। शान्तिपर्व में कहा है कि सम्भव है कि आदमी बन में भी गृहस्थ ही रह जाय और यह भी सम्भव है कि संसार में रहते हुये सन्यासी के बराबर हो जाय[८]।

वर्णाश्रम की तरह स्त्रियों के सामाजिक पद के सम्बन्ध में भी महाभारत में कई भिन्न २ सम्मतियां हैं और व्यवहार में भी

---

१. शान्तिपर्व १९१, २३४, २६९ ॥
२. शान्तिपर्व ३२७ ॥
३. शान्तिपर्व २३७ ॥ ३४१ ॥
४. आनुशासिकपर्व १० ॥
५. महाप्रस्थानिकपर्व १ ॥
६. वनपर्व ३३ ॥ ३५ ॥ ५२ ॥
७. शान्तिपर्व ९-२४ ॥
८. शान्तिपर्व ३१० ॥

भेद दृष्टिगोचर हैं। जान पड़ता है कि भिन्न २ समयों और वर्गों में भिन्न २ रिवाज और आदर्श थे। एक ओर आनुशासिकपर्व के कुछ अध्यायों में जो शायद पीछे से मिलाये हुये हैं स्त्रियों को बहुत कड़े, गंवारू और अश्लील शब्दों में गालियां दी हैं। कहा है कि स्त्री सब से ज़्यादा पापी है, माया है, आग है, सांप है, ज़हर है, झूंठी, मक्कार, विचारहीन, चंचल, दुश्चरित्र और कृतघ्न है[१]। सुकतु की कहावत है कि स्त्रियाँ कभी स्वतंत्रता के योग्य नहीं हैं[२]। ऐसी भावनाएं निवृत्ति मार्ग के बढ़ने पर प्रगट हुई थी। पर महाभारत में बहुत जगह स्त्रियों की प्रशंसा है और पदवी भी बहुत ऊंची है। स्त्रियां पुरुषों को कम और वीरता का उपदेश देती हैं; पतियों को यश और शूरता के मार्ग पर चलाती हैं; निकर्मण्यता या दुराचार पर उन्हें ख़ूब फटकारती हैं[३]। देवयानी अपने दोषी पति ययाति को छोड़ देती है और अपने पिता के घर चली जाती है[४]। जब राजा नल जूए के नशे में डूब गया तब रानी दमयन्ती ने राजकार्य सम्हाला, मंत्रियों की समितियां की और बाल बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध किया[५]। पर शायद कुछ कुलीन घरों की स्त्रियां बाहर बहुत न आती जाती थीं। स्त्रीपर्व में विलाप किया है कि स्त्रियां जिन्हें

स्त्रियों का पद

---

१ आनुशासिकपर्व १२, १९-२१, ३८-३९, ५० ॥

२. आनुशासिकपर्व ४५ ॥

३. वनपर्व ११, २७, ३७, ७६ ॥

४. आदिपर्व ८३ ॥

५. वनपर्व ५९-६१ ॥

देवताओं ने भी न देखा था अब साधारण लोगों की नज़र के सामने निकल रही हैं [१]। पर इसके विपरीत वृष्णि और अंधकों के मेले में स्त्रियां भी स्वतंत्रता से घूमती हैं [२]। यहीं से अर्जुन सुभद्रा को उड़ा ले जाता है। आश्रमवास-पर्व में धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से पूछते हैं कि तुम्हारे घर में स्त्रियों का उचित आदर होता है न [३]? शान्तिपर्व में कहा है कि स्त्री ही घर है; जिस घर में स्त्री नहीं है वह घर नहीं है, चाहे बेटी बेटे, पोते पतोहू कितने ही क्यों न हों। धर्म, अर्थ और काम में, देस में और परदेस में, सुखमें, दुख में, हर बात में स्त्री ही साथी है [४]। आदिपर्व में शकुन्तला, दुष्यन्त से कहती है कि स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जड़ है, सबसे बड़ी मित्र है, आनन्द में मित्र है, उत्सव में पिता के बराबर है, बीमारी में माँ के बराबर है, मरने के बाद भी पति पत्नी मिलते हैं; इसी लिये तो व्याह किया जाता है। क्रोध में भी पुरुष को कभी अपनी स्त्री को नाराज़ न करना चाहिये [५]। इसी तरह आनुशा-सिकपर्व में कहा है कि दस आचार्यों से बड़ा उपाध्याय है; दस उपाध्यायों से बड़ा पिता है, दस पिताओं से बड़ी, सारे संसार से बड़ी, माता है। माता से बड़ा कोई नहीं है। बड़ी बहिन को और बड़े भाई की स्त्री को भी माँ के बराबर मानना चाहिये। सदा बड़ों की आज्ञा माननी

---

१. स्त्रीपर्व १०, १८ ॥

२. आदिपर्व २२१ ॥

३. आश्रमवासपर्व २६ ॥

४. शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व, १४४ ॥

५ आदिपर्व ७४ ॥

चाहिये [1] । अनुशासनपर्व में कुछ श्लोक हैं जो मनु-संहिता में भी पाये जाते हैं और जिनका अभिप्राय है कि जहां नारियां पूजी जाती हैं वहां देवता रमते हैं, जहां उनका निरादर होता है वहाँ सब कर्म निष्फल हो जाते हैं, जहां वह शोक में रहती है वह वंश नाश हो जाता है। पुरुषों के धर्म, अर्थ, काम का आधार स्त्री है। स्त्रियों का आदर, सन्मान और पूजा से सब काम सफल हो जाते हैं। पर फिर यह भी कहा है कि स्त्रियां स्वतंत्रता की अधिकारी नहीं हैं, पिता, पति और पुत्र को उनकी रक्षा करनी चाहिये [2]। शान्तिपर्व भी कहता है कि स्त्री को पति की आज्ञा माननी चाहिये और उसे प्रसन्न रखना चाहिये [3]।

ब्याह

स्त्रियों के पद के अनुकूल ही ब्याह की प्रथा महाभारत में दृष्टिगोचर है। ब्याह ज़्यादातर बड़ी उम्र पर होता है। माता पिता की इजाज़त अक्सर ली जाती है पर कभी २ युवक युवती अपने भाग्य का निपटारा आप ही कर डालते हैं। दुष्यन्त शकुन्तला से कहता है कि आदमी आपही अपना मित्र है, तुम अपना ब्याह आपही कर सकती हो। दोनों पूरी स्वतंत्रता से ब्याह की बातें करते हैं। शकुन्तला सब ऊंच नीच सोचती है, राजा से शर्त कराती है और अन्त में गांधर्व ब्याह कर लेती है [4]।

---

१ आनुशासिकपर्व १०५ ॥

२. अनुशासनपर्व ४६ ॥

३. शान्तिपर्व ४६ ॥

४. आदिपर्व ७३ ॥

क्षत्रिय कन्याएं बहुधा स्वयंवर करती थीं [१] अर्थात् एकत्रित क्षत्रियों के समुदाय में से अपना पति आप ही स्वतंत्रता पूर्वक चुन लेती थीं पर कभी कभी जैसे द्रौपदी के स्वयंवर में पिता ऐसी शर्त लगा देता था कि लड़की को कोई स्वतंत्रता न रह जाती थी। एक ओर आदिपर्व मे कहा है कि पति के मरने पर स्त्री का जीना मरने के बराबर है [२]। माद्री अपने पति पाण्डु के साथ मर जाती है [३]। दूसरी ओर यह भी मालूम होता है कि पति के मरने या खो जाने पर स्त्री का दूसरा व्याह हो सकता था। दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर की घोषणा से नल के सिवाय किसी को आश्चर्य नही हुआ और न किसी ने बुरा कहा [४]।

नियोग

महाभारत के समय में किसी न किसी प्रान्त में नियोग भी प्रचलित था जो पति के मरने पर या निकम्मे होने पर किया जाता था। आदिपर्व में सत्यवती अपनी पतोहू का नियोग भीष्म से कराती है और स्वतंत्रता पूर्वक इस विषय पर बात चीत करती है [५]। आदिपर्व में पाण्डु अपनी पत्नी को स्त्रियों की पुरानी उच्छृंखलता का इतिहास सुना कर कहता है कि जो स्त्री पति की आज्ञा पालन करके नियोग नही करती वह पापी है। वह नियोग के बहुत से उदाहरण देता है। देवताओं से नियोग करके कुन्ती ने

---

१. आदिपर्व १०२ ॥ वनपर्व ५३-५७, १८६-२१ ॥
२. आदिपर्व १२१ ॥
३. आदिपर्व १२५ ॥
४. वनपर्व ७०-७६ ॥
५. आदिपर्व १०६ ॥

पाँच पुत्र पाये [1] । पाण्डु की आज्ञा और कुन्ती की सहायता से माद्री ने भी नियोग किया [2] । कभी २ बिना आज्ञा के भी नियोग हो जाता था । ऐसे सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले पुत्र को प्रसृतज कहते थे [3] ।

कुटुम्ब

कुटुम्ब के जीवन में पहिले की अपेक्षा कोई विशेष परिवर्तन नहीं मालूम होता । पुत्र की लालसा सदा की तरह प्रबल है । लोगों की धारणा है कि घर में पुत्र का होना लोक और परलोक दोनो के लिये आवश्यक है । आदिपर्व में पुत्रवती शकुन्तला अपने क्षणिक तिरस्कार से विह्वल और उद्विग्न हो कर दुष्यन्त से कहती है कि पुत्र पित्रों को नरक से बचाता है, पुत्र के द्वारा मनुष्य तीन लोक जीतता है, पौत्र के द्वारा अमर हो जाता है और प्रपौत्र से पुरखे तर जाते हैं । पुत्र से वंश बना रहता है, पुत्र से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । सौ कुओं की अपेक्षा एक तालाब बनवाने में ज़्यादा पुण्य है; तालाब से ज़्यादा पुण्य यज्ञ में है; यज्ञ से ज़्यादा पुत्र में [4] । महाभारत के आरंभ के ही दृश्य में यायाचर ऋषि बिरण रस्सी से उलटे लटके रहे हैं और एक गहरे ग़ार में गिरने ही वाले हैं। अकस्मात् उधर से निकलते हुये जरत्कारु को पूछने पर मालूम हुआ कि यह तो उसी के पूर्वज हैं और उसके तपस्या में लगे रहने के कारण ब्याह के द्वारा संतति न पैदा करने से उनकी

---

१. आदिपर्व १२२ ॥

२. आदिपर्व १२४ ॥

३. आनुशासिकपर्व ४९ ॥

४. आदिपर्व ६४ ॥

यह दशा हुई है। वह बोले कि हे वत्स ! पुत्र पैदा करके हमारा वंश चलाओ; इससे हमारे तुम्हारे दोनों के लिये पुण्य होगा। पिता होने से जो पुण्य होता है वह न धर्म के नियमों से होता है और न तपस्या से होता है[१]। कौटुम्बिक जीवन पर इतना ज़ोर देना शायद वानप्रस्थ और सन्यास के प्रचार के कारण भी आवश्यक था।

साधारण सामाजिक जीवन

साधारण सामाजिक जीवन में अब भी आतिथ्य की वही महिमा थी जो वैदिक काल में थी। एक स्थान पर कहा है कि अतिथि इन्द्र के बराबर है। अतिथि को खिलाने से ऐसा पुण्य होता है कि कभी क्षीण नहीं होता। गृहस्थ के लिये अतिथि से बढ़कर कोई देवता नहीं है। अतिथि का आशीर्वाद सौ यज्ञों के पुण्य से भी बढ़कर है। ख़ास कर ब्राह्मणों का आदर सत्कार करना सब से बड़ा पुण्य है। महाभारत में बहुत जगह श्राद्ध की महिमा भी गाई है[२]। इस समय मांस खाने का रिवाज बहुत था। राजा रन्तिदेव के यहां रोज़ दो हज़ार जानवर मारे जाते थे और मांस जनता को बाँट दिया जाता था[३]। अन्यत्र संयम पर बहुत ज़ोर दिया है। आत्मसंयम सब से बड़ा धर्म है[४]। भीष्म ने एक ब्राह्मण की बात कही है कि जब मैंने

---

१. देखिये आदिपर्व ८, १४, ४५॥ इस पर्व का ८२-८३ भी देखिये।

२. शान्तिपर्व मोक्ष धर्म० २००, २६८॥ वनपर्व २॥ आनुशासिकपर्व २, ७-८, ३२-३७, ५२, ५७-७४, ८७, १०४, १२३, १२७॥ शान्तिपर्व ६१॥

३. आदिपर्व २३, २५॥ वनपर्व २०८॥

४. शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व १६०॥ २२०॥

निर्धनता और प्रभुता को तराज़ू में तौला तब निर्धनता को भारी पाया [१] । पर अन्यत्र अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं कि निर्धनता पाप है, धन से ही पुण्य होता है, सुख होता है, स्वर्ग होता है, सब कुछ होता है [२] । यह भी कहा है कि संसार में जो कुछ है वह सब प्रबलों का भक्ष्य है [३] । अनुशासनपर्व में धन की देवी श्री कहती है कि मैं संतोषी के पास कभी नहीं रहती [४] । महाभारत मे आनन्द-विहार की परिपाटी के भी बहुत से उल्लेख हैं । उदाहरणार्थ हरिवंश में कृष्ण, बलदेव, अर्जुन हज़ारों स्त्री पुरुषों को लेकर बन को जाते हैं, माँस मदिरा से, नाच गाने से, हँसी दिल्लगी से, आनन्द प्रमोद करते हैं [५] । महाभारत के समय में भी ग़ुलामी की प्रथा थोड़ी प्रचलित थी [६] । सभा-पर्व में जूए में जीतने पर कौरव द्रौपदी को ग़ुलाम समझते हैं और निर्दयता पूर्वक उसका अपमान करते हैं [७] । वनपर्व में राजकुमारी दमयंती के पास सैकड़ों दासियाँ हैं [८] ।

---

१. शान्तिपर्व, मोक्षधर्म १७६ ॥

२. शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन ८ ॥

३. शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन १० ॥

४. अनुशासनपर्व ११ ॥

५. हरिवंश १४६-४७ ॥

६. आदिपर्व २३ ॥ २५ ॥

७. सभापर्व ६७ ॥

८. वनपर्व ५३ ॥

राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में महाभारत में पूर्व-काल की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया है। यहाँ सब से पहिले भारत या भारतवर्ष शब्द आया है जिससे प्रकट है कि अब देश की एकयता का भाव पैदा हो रहा था। संहिताओं और ब्राह्मणों का साम्राज्य आदर्श अब और भी बढ़ गया है और चारो तरफ़ नज़र आता है। सभापर्व कहता है कि राजा तो घर २ में हैं पर सम्राट् शब्द कठिनता से मिलता है। जब कोई राजा साम, दाम, दण्ड या भेद से बहुत से राजाओं से अपनी प्रभुता स्वीकार करा लेता था, जब वह दिग्विजय कर लेता था, तब वह सम्राट्, अधिराज या ऐसी ही कोई पदवी धारण करता था, अपना अभिषेक धूम-धाम से कराता था और अश्वमेध इत्यादि यज्ञ करता था [१]। राजा लोग बहुधा भीतरी मामलों में स्वतंत्र बने रहते थे पर कभी २ उनमें और अधिराज में बहुत अनबन हो जाती थी [२]। प्रत्येक राजा या अधिराज के चारों ओर कुलीन क्षत्रिय सर्दार थे जो लड़ाई में मरने मारने को सदा तय्यार रहते थे [३]। महाभारत में राजा के

राजनीति

राजा

सम्राट्

सर्दार

---

१. देखिये सभापर्व १४ ॥ ४५ ॥ ४३ ॥ १५ ॥ आदिपर्व १३८ ॥ १३९ ॥ ११२ ॥ शान्तिपर्व ४ ॥ अश्वमेधपर्व १३७ ॥

२. शान्तिपर्व ७० । ३०-३१ ॥ सभापर्व २ ॥ अश्वमेधपर्व ५ । १२ ॥ आश्रमवासिपर्व ६ । १६ ॥

३. कर्णपर्व १०४ ॥ वनपर्व ३०३ ॥ आश्रमवासिपर्व ३ ॥ अश्वमेधपर्व १ ॥

चरित्र और कर्तव्य का आदर्श एवं उस का पद, देवता के तुल्य है [१]। राजा का पद बहुधा मौरूसी था पर नये राजा के लिये प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी और कभी २ जनता कुरूप या दुश्चरित्र राजा को त्यागकर स्वयं ही नया राजा स्थापित कर देती थी [२]। अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर भी प्रजा आन्दोलन करती थी और राजनीति पर बड़ा प्रभाव डालती थी [३]। राजा निरंकुश नहीं था पर उसका पद बहुत ऊंचा था।

राजत्व

धर्म और अर्थ में प्रजा का नेता राजा ही था। राजा देवता है, इन्द्र, शुक्र और बृहस्पति है, सब को रास्ता दिखाने वाला है, सब का पूजनीय है—ऐसे वाक्य वनपर्व में और अन्यत्र भी बहुतायत से मिलते हैं [४]। शान्तिपर्व कहता है कि यथा राजा तथा प्रजा [५]।

महाभारत के समय तक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली का विकास हो गया था। प्रत्येक राजा के अनेक मंत्री होते थे। राजमंत्रियों में सात प्रधान थे जो सेना, न्याय, धर्म इत्यादि का प्रबन्ध करते थे। सभापर्व में १८ अधिकारियों का

मन्त्री

---

१. देखिये शान्तिपर्व ६७। २१-२२, ३०-३६ ॥ ६९। ३-४ ॥ ८०। २-११३ ॥ १२०। ४०-४३ ॥ ५९। ८७-८९ ॥ ६७। १७-३२ ॥ ७२। २५ ॥ ६८। ३९-४७ ॥ ६५। २९ ॥ ६८। ३९-४१, ४८-५० ॥ ३८। ११० ॥ वनपर्व १८३ ॥ सभापर्व ५ ॥

२. उद्योगपर्व १४९ ॥ वनपर्व २९४ ॥ आदिपर्व ११५ ॥ ९४ ॥ ४४ ॥ ८५ ॥ शान्तिपर्व ५९ ॥ अश्वमेधपर्व ५ ॥

३. आदिपर्व १४१। आश्रमवासिपर्व ९। महाप्रस्थानिकपर्व १ ॥

४. वनपर्व १८५ ॥ ऊपर दिये हुये उल्लेख भी दिये।

५ शान्तिपर्व मोक्षधर्म० २६७ ॥

उल्लेख है जिनमें युवराज और महल, जेल, जंगल और सरहद के अफ़सर भी शामिल हैं [१]। शान्तिपर्व में खान, नमक, शुल्क और नदी के तथा सेना के भिन्न २ अंग हाथी, सवार, पैदल और रथों के अफ़सरों का भी ज़िक्र है [२]। शान्तिपर्व मे यह भी कहा है कि मुख्य स्थानों पर राजा को ४ ब्राह्मण, ३ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और १ सूत नियत करना चाहिये [३]। राजकार्य के लिये राजा के असमर्थ होने पर मन्त्री रानी से सलाह करके या आप ही प्रबन्ध करते थे [४]। राजधानी में एक बड़ा दर्बार भी हुआ करता था जिसमें ज़मींदार, पुरोहित, अफ़सर, कवि, दूत और दूसरे बड़े आदमी आया करते थे।

अधिकारी

गांव का प्रबन्ध ग्रामाधिपति गांववालों की सलाह से करता था। सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है कि गांव में पांच अधिकारी रखने चाहिये [५]। शान्तिपर्व के अनुसार दस, सौ और हज़ार गांवों के समूहों पर, एक के ऊपर एक, अफ़सर होना चाहिये जो अपने से बड़े अफ़सर के आदेश के अनुसार शासन करे। प्रत्येक नगर का प्रबन्ध एक सर्वार्थचिन्तक के हाथ में होना चाहिये।

आदेशिक शासन

---

१. सभापर्व ५॥

२. शान्तिपर्व ६९॥

३. शान्तिपर्व १०६। ११॥

४. वनपर्व ६०॥ आदिपर्व १०२॥

५. सभापर्व ५॥

रक्षा के लिये सरहद्दों पर और नगरों में सेना रहनी चाहिये[1]। छोटे २ राजा, ज़मीन्दार, सरकारी अफ़सर और दूसरे राजाओं के दूतों पर नज़र रखने के लिये, प्रजा के भाव और विचार जानने के लिये और राजद्रोह तथा दूसरे अपराधों का पता लगाने के लिये बहुत से जासूस रक्खे जाते थे[2]। इसके अलावा राज्य की नौकरी में बहुत से कारीगर भी होते थे जो राज के कारख़ानों में काम करते थे[3]।

कर

महाभारत के समय में भी ज़मीन की पैदावार का ⅙ हिस्सा कर रूप में लिया जाता था; व्यापार के माल पर और कारीगरों की मेहनत पर मूल्य के हिसाब से कर लगता था; न्यायालय के जुर्माने से भी ख़ासी आमदनी होती थी; कभी २ लोगों से प्रीतिदान भी लिये जाते थे; विपत्ति के समय अमीरों की दौलत जब्त कर ली जाती थी। शान्तिपर्व की सम्मति के अनुसार ब्राह्मणों से कर न लेना चाहिये[4]। करों के एवज़ में राजा को खेती के लिये नई ज़मीन साफ़ करनी चाहिये, तालाब बनाकर

---

१. शान्तिपर्व ६९। ६ इत्यादि ॥ १३७। ३-११

२. शान्तिपर्व ६९, ८-१२, ५२ ॥ ८९। १४-१६ ॥ ८६ । २०-२१ ॥ ९१। ५० ॥

३. सभा पर्व ५ ॥

४. शान्तिपर्व ६९। १०-११, १३-१६, २०-२३ ॥ ८७। १४-१५, १८-२१, २३, ३५-४० ॥ ८३, २-२१२ ॥ ८९। २४ ॥ ९५ । ४ ॥ ११९। १७ ॥ १२०। ४३-४४ ॥ १३०। ९, ३५ ॥ १३३ । ३ ॥ १३४ । ३-४ ॥ १३६। १-२ ॥ ८६। ३-११ ॥ सभापर्व ४६ ॥ ५१ ॥ ५१ ॥ अश्वमेधपर्व। ३ ॥ १२ ॥

राजकर्तव्य

खेती को मेह से निराश्रित करना चाहिये, ज़रूरत पड़ने पर किसानों को तक़ावी देनी चाहिये, सड़क और प्याऊ बनानी चाहिये, डाकुओं की जड़ उखाड़नी चाहिये, राजसूय इत्यादि अवसरों पर खूब दान करना चाहिये, प्रजा को धर्म, नीति और विद्या के मार्ग पर चलाना चाहिये और संसार को सब के लिये सुखमय बनाना चाहिये[१]।

जन समिति का लोप

कह चुके हैं कि महाभारत में प्रजा राजनैतिक जीवन में बहुत प्रभाव रखती थी पर राज्यों की सीमा बढ़ जाने से और शायद जनसंख्या के बढ़ जाने से भी अधिकांश प्रदेशों में प्राचीन वैदिक समिति का लोप हो गया। वैदिक काल के अन्तिम युग में ही उसका ह्रास हो रहा था। इतिहास काव्य के समय में परिस्थिति उसके और भी प्रतिकूल थी। धीरे २ केवल उसका नाम बाक़ी रह गया।

परराष्ट्रनीति

साम्राज्य बनाना शासक का एक मुख्य कर्त्तव्य है जिसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद, सच झूंठ, बल और दम्भ, सब का प्रयोग किया जा सकता है। शान्तिपर्व आपद्धर्म में भीष्मपितामह ने कहा है कि शत्रु की सेना और प्रजा में फूट फैलानी चाहिये, शत्रु को लोभ और विश्वास दिलाकर नाश करना चाहिये[२]।

---

१. शान्ति० ५। १७, २१ ॥ ६५। २ ॥ ५९। ११४-१५ ॥ ६९। ५३ ॥ ७५। ५, १९ ॥ ८८। १४ ॥ सभापर्व ५ ॥ १२ ॥

२ शान्तिपर्व १०३ ॥ १०५ ॥ १३१ ॥ १३८-१४३ ॥ सभापर्व ३२ ॥ वनपर्व २९-३४ ॥ आदिपर्व १४२॥ इन सिद्धान्तों की तुलना इटैलियन मेकियावेला के प्रिंस से की जा सकती है।

रणनीति

परन्तु रणभूमि में क्षत्रिय को कभी उस शत्रु पर वार न करना चाहिये जो आत्मसमर्पण कर रहा है या घायल हो गया है या क़ैद हो गया है या जिसका हथियार गिर गया है या जो थक गया है, सो रहा है या भूखा प्यासा है। राजदूतों को कभी किसी तरह की क्षति न पहुँचानी चाहिये। क़ैदी कुमारियां, अगर शादी करने को राज़ी न हों, तो वापिस भेज देनी चाहिये। राजा को चाहिये कि लड़ाई में वीरता दिखानेवाले सिपाहियों को दुगुना वेतन दे, अच्छा भोजन वस्त्र दे और उनकी तरक़्क़ी करे[1]।

गण

इस समय अधिकांश प्रदेशों का शासन राजतन्त्र के सिद्धान्त पर अवलम्बित था अर्थात् एक राजा अपने अधिकारियों के सहयोग से सब मामलों की देख रेख करता था। पर कहीं २ भिन्न सिद्धान्त के अनुसार शासन होता था। महाभारत में कुछ प्रजातंत्र हैं जिनको गण कहते थे और जो अपने शासक आपही चुनते थे। भीष्मपितामह ने कहा है कि गण के लोगों को आपस में मेल रखना चाहिये, बड़े आदमियों को तुरन्त ही फूट का अन्त करदेना चाहिये, शासकों पर भरोसा करना चाहिये, ख़ज़ाना

---

१. शान्ति० ६९। ३४-४०, ५५॥ ८५। २६-२८॥ ८६। ५-१५॥ ९४। १-२॥ ९५। २-५, ७-१४॥ ९६। १-७, ११, १६-१७, २२-२३॥ ९७। ८, ११-१२॥ ९८। १५-२५, ३५-४८॥ ९९। १-१७॥ १००। ६-२४, ३०॥ १०१। ३२४-२५॥ भीष्मपर्व १। २४-२७॥ वनपर्व १८॥

भरा पूरा रखना चाहिये और सब से बड़ी बात यह है कि एकता रखनी चाहिये [1]।

श्रेणी

महाभारत में कुछ श्रेणियों का उल्लेख है जिन को सिपाही, सौदागर या कारीगर अपनी रक्षा के लिये बनाते थे और जिनके द्वारा बहुत सा प्रबन्ध होता था [2]। अपने व्यवसाय में, आभ्यंतरिक मामलों में, आर्थिक संगठन में और सामाजिक जीवन में यह श्रेणियां प्रायः स्वतंत्र होती थी। इस तरह की संस्थाओं से आत्मशासन का भाव जीता जागता रहता था। श्रेणी बनाने की प्रथा तो पूर्वकाल में ही प्रारम्भ होगई थी पर उद्योग और व्यापार के बढ़ने से महाभारत के समय में वह अधिक प्रबल हो गई। तब से अनेक शताब्दियों तक इस प्रकार का आर्थिक आत्मशासन हिन्दुस्तान में प्रचलित रहा और बढ़ता भी गया। वास्तव में व्यवसाय श्रेणी की प्रथा एक स्वाभाविक प्रथा है और वह अनेक देशों और युगो मे प्रचलित रही है। आज कल तो संसार में उसी का दौर दौरा है। सारे जीवन से आर्थिक समस्या का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि मनुष्य अपने व्यवसाय के प्रबन्ध को बिल्कुल दूसरों पर नही छोड़ना चाहता। दूसरे, प्रत्येक व्यवसाय के छोटे २ मामलों को वही लोग अच्छी तरह समझते हैं जो उसमें लगे हुये हैं। उनका निपटारा भी वही अच्छी तरह कर सकते हैं। तीसरे, संगठन के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के व्यवसायी अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। प्राचीन भार-

१. शान्तिपर्व १०७। १०-३२॥

२. वनपर्व २४८। १६॥ शान्तिपर्व ५४। २०॥

तीय श्रेणियों से यह प्रयोजन अच्छी तरह सिद्ध हो जाते थे। श्रेणी प्रथा का एक और परिणाम हुआ। यहां व्यवसाय के अनुसार बहुत सी उपजातियां बन गई थीं और आज तक बनती रही हैं। श्रेणी प्रथा के प्रचार के बाद व्यवसायिक आत्मशासन एक प्रकार से उपजाति का आत्मशासन भी होगया। इन छोटे २ क्षेत्रों में आर्थिक स्वराज सामाजिक स्वराज से मिल कर एक होगया और जातियों की वह पञ्चायतें प्रगट हुईं जो देश भर में आज भी मौजूद हैं। यहां परिमित क्षेत्र में जनसत्ता का सिद्धान्त प्रचलित था।

रामायण

रामायण

महाभारत से जिन आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का पता लगता है वह बहुत करके दूसरे विशाल इतिहासकाव्य रामायण में भी मिलती हैं। जो अन्तर हैं उनका कारण यह मालूम होता है कि महाभारत की रचना तो मध्यदेश के पच्छिमी भाग में हुई और रामायण की पूर्वी भाग में अर्थात् कोशल में, अथवा यों कहिये वर्तमान अवध के आस पास। इसका केन्द्र है अयोध्या जो प्राचीन काल में हिन्दू सभ्यता के मुख्य स्थानों में था और आज कल भी तीर्थ माना जाता है। रामायण आदि कवि वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध है पर महाभारत की तरह इसकी रचना भी धीरे २ अनेक कवियों के द्वारा अनेक समयों पर हुई थी। मुख्यतः रचनाकाल ई० पू० ५००-२०० जान पड़ता है। अन्त में एक महाकवि ने सब रचनाओं को सम्पादन करके एक सुसंगठित इतिहासकाव्य का रूप दे दिया।

रामचन्द्र की कथा इतनी प्रसिद्ध है कि यहां उसके संक्षेप क्या उल्लेख की भी आवश्यकता नहीं है। पर एक बात कह देना आवश्यक है। वाल्मीकि के आधार पर अनेक संस्कृत कवियों ने और भाषा कवियों ने पुराण, कथा, नाटक इत्यादि लिखे हैं पर अपनी २ रुचि के अनुसार और अपने २ समय के आदर्शों के अनुसार उन्होंने परिवर्त्तन कर दिये हैं। संस्कृत के अध्यात्मरामायण में और हिन्दी के तुलसीदासकृत रामचरितमानस में जो कथा है वह वाल्मीकि के वर्णन से अनेक अंशों में भिन्न है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रामचरितमानस के आदर्श १७ वीं ई० सदी के हिन्दू समाज के आदर्श हैं और २,००० बरस पूर्व की रामायण के आदर्शों से कुछ भिन्न हैं।

वाल्मीकि रामायण के वर्तमान संस्करणों में लगभग २४,००० श्लोक है और सात कांड हैं। पर सातवां कांड—उत्तरकाण्ड—बहुत पीछे बना था और पुराने समय के लिये कम मूल्य का है। रामायण की कथा में जिस लंका का ज़िक्र आया है वह दक्षिण का टापू नहीं मालूम होता; रावण की लंका, जैकोबी के मतानुसार, आसाम में थी और कीबे इत्यादि कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार वर्तमान मध्यप्रदेश में। सम्भवतः वह कहीं छत्तीसगढ़ के पास रही होगी। रामचन्द्र के समुद्र तक पहुँचने और पुल बांधने की कल्पना कुछ पीछे हुई। रामायण में ब्राह्मणों का प्रभाव महाभारत से भी ज़्यादा है[१]। राजनीति में वही ज़मीन्दारी-संघ-शासन प्रथा हैं जो महाभारत में नज़र आती है[२]। चरित्र, ज्ञान, कर्त्तव्य, और प्रजापालन

---

१ बाल-कांड ७ ॥ १५ ॥ २० ॥ ५४ ॥

२, बाल-कांड ५ ॥ ७ ॥ १३॥ अयोध्या-कांड ८२ ॥ किष्किन्धा-कांड १८ ॥

में राजा का आदर्श बहुत ऊंचा है[१]। राज के बड़े बड़े मामलों में प्रजा की सम्मति ली जाती थी पर हमेशा मानी न जाती थी[२]। राज के काम के लिये आठ बड़े मंत्री थे जिनका पद बहुधा मौरूसी हो जाता था और जो राजा के मरने या असमर्थ होने पर सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेते थे[३]। अन्यत्र अयोध्याकांड में १८ तीर्थ या अफ़सर और अमात्यों की मुख्य, मध्य और जघन्य श्रेणियों का उल्लेख है[४]। राजधानी दो योजन लम्बी थी, सड़कें सीधी, चौड़ी और सुन्दर थीं, जिन पर छिड़काव होता था और जिनके किनारे फूलों के पौधे लगे थे। हवेलियां रत्नों से चमकती थीं और अकाश से बातें करती थीं। शहर के चारों ओर दुर्ग और खाइयाँ थीं। अयोध्या का चित्र बड़ी शान्ति, सुख और वैभव का है। यहां भी व्यवसायियों की श्रेणियां नज़र आती हैं। अयोध्याकांड में सीता राम से पूछती हैं कि श्रेणियों के मुखिया कहाँ हैं जो तुम्हारी सेवा में आने वाले थे[५]? राजा लोग कला, गान इत्यादि की सहायता करते थे[६]। राजा का कर्तव्य था कि किसानों

राजनीति

अधिकारी

राजधानी

---

१. अयोध्याकांड २॥ राज्य की आवश्यकता के लिये देखिये अयोध्या० १०३॥

२. अयोध्याकांड १७॥ ८२॥

३. बाल० ७॥ अयोध्या० ७९॥ ८२॥ १०४॥ युद्ध० १३०॥

४. अयोध्या० १००॥

५. अयोध्या० ५॥ ६॥ २६॥

६. अयोध्या० ६५॥

और ग्वालों पर कृपा करें, सबको अपने २ धर्म में लगायें, गुरु, वृद्ध, मुनि, अतिथि इत्यादि का सन्मान करे[१]। जहां राजा नहीं हैं वहाँ न धर्म है, न सुख है, न कुटुम्ब है, और न ब्याह है। राजा ही सत्य है, राजा ही नीति है . . राजा ही मां है, राजा ही बाप है, राजा ही सब का भला करता है[२]।

सामाजिक जीवन

ब्राह्मणों का पद रामायण में महाभारत से ऊंचा मालूम होता है। बालकांड में कहा है कि क्षत्रियों की शक्ति बहुत नहीं है, ब्राह्मणों की शक्ति उनसे ज़्यादा है, अलौकिक है[३]। राजा दशरथ ने च्यवन को धोखे से हाथी समझकर मार डाला। फिर उसे ब्राह्मण समझकर बहुत विलाप करने लगे। मरनेवाले ने सान्त्वना दी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूं मैं तो शूद्र स्त्री से वैश्य का पुत्र हूं[४]। तब राजा का शोक कुछ कम हो गया। च्यवन के अन्तिम कथन से यह भी मालूम होता है कि अन्तर्जातीय ब्याह इस समय भी होता था। रामायण में बहुत से तपस्वी हैं पर यह राजदर्बारों में जाते हैं और उपदेश देते हैं[५]। कोई २ तपस्वी बड़ी रंगीन तबीयत के थे। अरण्यकांड में एक तपस्वी पांच अप्सराओं पर मुग्ध होकर गाना सुनता हुआ उनके साथ कल्लोल करता है[६]।

---

१. अयोध्या० १०० ॥

२. अयोध्या० ६७ ॥

३. बालकांड ५४ ॥

४. बालकांड ६३ ॥

५ बालकांड ३५ ॥ ५२ ॥ अरण्यकांड १ ॥ ६ ॥ इत्यादि।

६. अरण्यकांड ११ ॥

विश्वामित्र दस बरस मेनका के साथ रहते हैं[१]। साधारणतः सारी रामायण में ऋषियों के परिवार हैं। उत्तरकांड कुछ पीछे का है पर उससे पता लगता है कि कोई २ स्त्रियां भी कड़ी तपस्या करती थीं[२]। राजकुमारियां बहुधा स्वयंवर करती थीं पर पिता की शर्त कभी २ ऐसी होती थी कि उनको वरने की कोई स्वतंत्रता न रह जाती थी[३]। साधारण पुरुषों को कभी २ कन्याओं के लिये योग्य वर न मिलने से कन्या मुसीबत की जड़ मालूम होती थी[४]। स्त्रियां बाहर आती जाती थीं। सूर्पणखा राम और लक्ष्मण से स्वतंत्रता पूर्वक बात चीत और दिल्लगी करती हैं[५]। स्त्री का धर्म था कि पति की सेवा करे। अयोध्याकांड में दशरथ कैकेयि से कहते हैं कि कौशल्या मां, बहिन, पत्नी, मित्र और दासी की तरह मेरी सेवा करती रही है[६]। राम की सेवा करने के लिये सीता वन को जाती है। पर बहुविवाह के कारण राज घरानों में बड़े क्लेश होते थे। अयोध्याकांड में कैकेयि को वर्गलाते हुये मंथरा कहती है कि अगर राम को गद्दी हुई तो तुम कौशल्या की दासी हो जाओगी, भरत राम के दास हो जायंगे और तुम्हारी पतोहू दुख पायेंगी; राज पाकर राम भरत को दूर परदेस में या दूसरी दुनिया में हो भेज देंगे[७]।

---

१. बालकांड ६३ ॥

२. उत्तरकांड १७ ॥

३. बालकांड ३१ ॥ ६७ ॥

४. उत्तरकांड १२ ॥

५. अरण्यकांड १७-१८ ॥

६. अयोध्याकांड १२ ॥

७. अयोध्याकांड ८ ॥

कैकेयि ने राम को १४ बरस का बनवास दिला दिया। कौशल्या राम से दुखड़ा रोती है कि पति ने निरादर करके मेरा अपमान किया, पति के स्नेह का सुख मैंने न जाना; सौतें अब मेरी अवहेलना करेंगी, मैं कैकेयि की दासियों के बराबर हो गई, वरन् उनसे भी नीची हो गई। इन सौतों के साथ तो मै न रह सकूंगी। अगर तुम पिता की आज्ञा मानकर बन जाते ही हो तो मुझे भी अपने साथ ले चलो[1]। दशरथ के मरने पर कौशल्या कैकेयि को कोसती है और भरत भी उसे फटकारते हैं[3]। क्रोधित होकर लक्ष्मण पिता को बुड्ढा स्त्रैण कहता है और उन्हें मार डालने का प्रस्ताव करता है[4]। आगे संदेह के कारण लक्ष्मण भरत को, कैकेयि और उसके मित्रो को मारने का विचार करता है[5]। पर इस सारी खटपट में राम की बराबर यही सलाह है कि पुत्र को पिता का और पत्नी को पति का आदेश प्रसन्नता से सिर पर रखना चाहिये, और बहू को सास ससुर की सेवा करनी चाहिये[6]। सीता कहती है कि स्त्री का सहारा न तो मां बाप से है, न पुत्र मित्र स है, न अपने से है; पति ही एक मात्र सहारा है, इस लोक में और परलोक में— . . मां बाप ने मुझे यही सिखाया था कि हर अवस्था में पति

---

१. अयोध्याकांड २० ॥ २४ ॥

२. अयोध्याकांड ६६ ॥

३. अयोध्याकांड ७३-७७ ॥

४. अयोध्याकांड २१ ॥

५. अयोध्याकांड ९५ ॥

६. अयोध्याकांड २४ ॥ २६ ॥ २८ ॥ ९७ ॥

के साथ रहता [१]। ब्याह पर दशरथ की कन्या शान्ता को रानियाँ उपदेश देती हैं कि पति, ससुर और बड़ों का आदर करना। पति ही स्त्री का देवता है [२]। रामायण में व्यक्तिगत चरित्र का आदर्श बहुत ऊंचा है। प्रारम्भ में ही नारद और वाल्मीकि की बात चीत में और फिर अयोध्याकांड में राम को मृदुता, शान्ति, दया, शौर्य, संयम, कृतज्ञता इत्यादि सब गुणों का भण्डार कहा है [३]।

कुटुम्ब में पुत्र की लालसा सदा की तरह प्रबल है दशरथ पुत्र के लिये बड़े यज्ञ करते हैं [४]। महाभारत की तरह रामायण में भी आतिथ्य का आदर्श बडा ऊंचा है। अरण्य-कांड में ब्राह्मणभेष में रावण के आने पर सीता सोचती है कि यह मेरा अतिथि होकर आया है, अगर इससे न बोलूंगी तो शाप देगा [५]।

धर्म

रामायण और महाभारत के धार्मिक सिद्धान्त साधारणतः वैदिक धर्म के हैं पर कुछ नये देवी देवताओं की पूजा पर ज़ोर दिया गया है। भीष्मपर्व में कृष्ण अर्जुन को आदेश करते हैं कि लड़ाई के पहिले दुर्गा की पूजा करो। दुर्गापूजा उस शक्तिपूजा का पहिला रूप है जो आगे चल कर बहुत प्रचलित हुई और शाक्त पन्थों का मुख्य सिद्धान्त हुई। शिव की पूजा भी महाभारत में है

---

१. अयोध्याकांड २७॥

२. बालकाड १८॥

३. अयोध्याकांड १॥

४. बालकांड ८-१७॥

५. अरण्यकांड ४७॥

और उसके आधार पर पाशुपतपन्थ का विधान है। कुछ भागों में कृष्ण को विष्णु या परमेश्वर का अवतार माना है और अवतारों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अव-तारों के साथ २ ही भक्तिमार्ग का ज़ोर बढ़ा और विशेष कर कृष्ण की भक्ति मोक्ष का साधन मानी गई। वार वार कहा है कि संसार में सुख और दुख दोनो सब जगह मिले हुये नजर आते हैं पर दोनों ही अनित्य हैं। धर्म से स्थायी सुख मिलता है—मोक्ष प्राप्त होती है। कर्म का बन्धन जीव को बांधे हुये हैं; इससे मुक्त होते ही सदा के लिये आनन्द मिलता है।

भगवद्गीता

भगवद्गीता

नये धार्मिक भाव का श्रेष्ठ रूप भगवद्गीता में है जो महाभारत में शामिल है और जिसकी रचना उपनिषदों के बाद हुई थी। कहा-वत है कि उपनिषद् गाय हैं और गोपाल-नन्दन दुहनेवाला है। गीता मे उपनिषदों के कुछ सिद्धान्त भावुक जनता के अनुकूल बनाकर भक्ति से मिलाये गये हैं। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव सेनाओं के जमा होने पर कृष्ण अर्जुन के रथ को आगे ले जाते हैं। सम्बन्धियों को चारों ओर खड़े देखकर अर्जुन को दया और करुणा होती है, युद्धका साहस टूट जाता है और गाण्डीव धनुप हाथ से गिर पडता है। कर्तव्य पर फिर दृढ़ कराने के लिये कृष्ण अर्जुन को संसार, आत्मा, परमात्मा का यथार्थ उपदेश करते हैं और मोह एवं भीरुता छुड़ाते हैं। इस महान् उपदेश में तत्त्वज्ञान की कई लहरें हैं जैसे ज्ञान, योग और भक्ति; ब्रह्म और अवतार और

आचार के भी सिद्धान्त हैं। गीता पर बहुत से भाष्य रचे गये हैं जिनमें शंकराचार्य का सब से प्रसिद्ध है। टीका टिप्पणियां अब तक हो रही हैं। इनमें गीता के वाक्यों के अनेक अर्थ किये हैं और कहीं २ बहुत खींच तान की है। यहां पर केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से गीता के मुख्य सिद्धान्त संक्षेप से बताये जांयगे।

आत्मा अमर और नित्य है।

> कटती न जलती भीगती शोषण न होती है कभी।
> वह नित्य, स्थिर, है सर्वव्यापी, अचल और अनन्त भी॥
> अज, निर्विकार अचिन्त्य अरु अव्यक्त जिसको है कहा।
> क्या उचित तुम को शोच करना है! उसी हित यों अहा॥

पर यह आत्मा कर्मबन्धन में बधा हुआ है और इधर उधर भटकता है। कर्मबन्धन से मुक्ति कर्म छोड़ने में नहीं है किन्तु कामना छोड़ने में है, फल की अभिलाषा, आकांक्षा, छोड़ने में है।

> फल लाभ चिन्ता चाह छोड़ो, छोड़ दो दुर्बुद्धि को।
> योगस्थ हो कर कर्म कर, हो प्राप्त जिसस बुद्धि को॥
> करते चलो तुम कर्म, फल की चाह चिन्ता छोड़ दो।
> मद मोह माया वासना के, जाल को तुम तोड़ दो॥

इससे यह अभिप्राय निकलता है कि कर्म करना आत्मा का स्वभाव है; कर्म से न कोई बच सकता है और न किसी को बचना चाहिये; पर कामना छोड़ देनी चाहिये, फल की वाँछना न करनी चाहिये; समबुद्धि, समभाव होना चाहिये। कर्म से भागना बेकार है, अस्वाभाविक है, निन्दनीय है पर मनुष्य को स्थितप्रज्ञ होना चाहिये। स्थितप्रज्ञ के लिये शुभ और अशुभ, दुख और सुख, हर्ष और

विषाद सब बराबर है। यही सच्चा कर्मयोग है। कर्मयोगी हानि और लाभ के परे है। स्वयं परमेश्वर कर्म करता है पर फल में आसक्ति नहीं रखता। कृष्ण भगवान कहते हैं कि अगर मैं कर्म छोड़ दूँ तो सारा संसार आलसी हो जाये। निष्काम कर्म स्वयं महान् यज्ञ है जिसके फल से आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है। तथापि गीता ने ज्ञान का महात्म्य माना है क्योंकि ज्ञानी परमेश्वर को समझता है और सच्चे मार्ग को देखता है। श्रीकृष्ण कहते हैं:—

ज्ञानी मुझे अरु मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ सर्वदा।
यद्यपि सभी हैं भक्त पर है आत्मवत् ज्ञानी सदा॥
वह योगयुक्त सदैव मेरे ध्यान में रहता लगा।
वह जानता है बस मुझे ही उत्तमोत्तम गति, सगा॥

ज्ञान का प्रधान विषय है अध्यात्म। जानना चाहिये कि ब्रह्म नित्य है अक्षर है, प्रत्येक वस्तु का आधार है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह समझ लो कि मुझसे अर्थात् परमेश्वर से सारा जगत् पैदा हुआ है।

. . . .

सुन लो कहीं मुझ से परे कुछ भी धनंजय! है नहीं।
मणिमाल सम मुझ में ग्रथित हैं सब, अलग कोई नहीं॥
रस रूप हूँ कौन्तेय! जल में, हूँ प्रभा शशि सूर्य में।
ॐकार वेदों में, तथा हूँ शब्द मैं ही शून्य में॥
मैं पुरुष में पुरुषार्थ, पृथ्वी में सुपावन गन्ध हूँ।
हूँ तेज मैं ही अग्नि में, हो जीव जीवों में रहूँ॥
हे पार्थ! तापस तप तथा सब प्राणियों का बीज हूँ।
मैं पण्डितों की बुद्धि, मैं तेजस्वियों का वीर्य हूँ॥

. . . .

परमेश्वर स्वयं अव्यक्त है पर संसार उसी से व्यक्त है;

उसमें सब हैं पर वह उनमें नहीं है, कल्पान्त में सब उसमें लीन हो जाते हैं और फिर कल्प के आरंभ में उससे जन्म पाते हैं। लेकिन परमेश्वर जीवों के सुख दुख से उदासीन नहीं है। जब २ धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब युग २ में वह दुष्टों को दमन करने के लिये और साधुओ की रक्षा करने के लिये अवतार लेता है। मनुष्य को चाहिये कि परमेश्वर को सब कुछ अर्पण कर दे, परमेश्वर की भक्ति करे। इस स्थान पर गीता भक्तिमार्ग में प्रवेश करती है। यों तो निर्गुण ब्रह्म का भी चिन्तन किया जा सकता है पर सगुण ब्रह्म की भक्ति अधिक सरल और श्रेयस्कर है। श्रीकृष्ण कहते हैं:—

हे पार्थ ! सब आशा भरोसा त्यागि मुझ पर रख सदा।
निज कर्म कर अर्पण मुझे भजते मुझे जो सर्वदा ॥
करते सदा जो ध्यान मेरा प्रिय मुझे ही जानते।
सब नेह नाता तोड़, जो सर्वस्व मुझ को मानते ॥
हे पार्थ ! उनका चित्त मन रमता मुझी में सर्वदा।
भव सिन्धु से उद्धार उनका शीघ्र मै करता सदा ॥
मन को लगा मुझ में मुझे सर्वस्व अपना मानलो।
देहान्त पीछे वास मुझ में तुम करोगे जानलो ॥[1]

. . . .

जो परमेश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है वह संसार का सब माया मोह छोड देता है। वह परमेश्वर का ध्यान करता है—योग करता है। यहां गीता ने योग को भी कर्म,

---

1 गीता के यह पद्यानुवाद प० जगदीश नारायण तिवारी के अनुवाद से उद्धृत किये हैं।

ज्ञान और भक्ति से जोड़ दिया है। इस तरह धार्मिक विचार की कई धाराओं के सङ्गम से एक ऐसी विशाल तरंग बनी है जो अब तक मनुष्य जीवन को हरा भरा करती है और सांसारिक क्लेशो से दुखी आत्मा को शान्ति देती है।

सातवाँ अध्याय

दर्शन और धर्म।

भारतीय दर्शन

इतिहास में अनेक जातियों ने संसार और सभ्यता के एक न एक अङ्ग की पूर्ति विशेष रूप से की है। उदाहरणार्थ प्राचीन ग्रीस ने संसार को सौन्दर्य का भाव प्रदान किया अर्थात् अपनी सभ्यता में कला साहित्य और जीवन के सौन्दर्य का ऐसा चमत्कार दिखाया कि संसार मुग्ध होकर अनुकरण करने लगा। प्राचीन रोम ने इसी तरह व्यवस्था और क़ानून के भावों के द्वारा संसार की प्रगति को बढ़ाया। प्राचीन भारतवर्ष ने सभ्यता की सब से बड़ी सेवा तत्त्वज्ञान अर्थात् दर्शन के द्वारा की यों तो भारत में सभ्यता के और भी बहुत से अङ्गों का विकास हुआ, साहित्य, व्याकरण, कला, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इत्यादि में इतनी उन्नति हुई कि आज भी आश्चर्य होता है। पर वह क्षेत्र जिसमें भारतीय बुद्धि ने सबसे बड़े चमत्कार दिखाये, जिसमें उनकी बराबरी आज तक कोई नहीं कर सका है, जिसमें उन्होंने संसार पर अपनी छाप लगा दी है—वह क्षेत्र तत्त्वज्ञान का है। यहाँ हिन्दुओं की पैनी अन्तर्दृष्टि और तर्क ने जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि, स्वयं विचार और तर्क इत्यादि २ के स्वभाव को जानने का प्रयत्न किया है।

इस गम्भीर से गम्भीर समीक्षा में उन्होंने अनुपम स्वतंत्रता

और निर्भयता दिखाई है। अपना तर्क जिधर ले जाय उधर जाने को वह तय्यार थे। न किसी प्रचलित धार्मिक सिद्धान्त की परवाह थी, न लोकमत का डर था, न आन्तरिक भीरुता थी।

तर्क

सत्य का पता लगाना ही उनका एक मात्र उद्देश्य था। इस अवस्था मे दार्शनिक मतभेद अवश्यम्भावी था। दर्शन में जिन बातों की चर्चा होती है वह सब प्रत्यक्ष न हैं और न हो सकती हैं। अगर वह प्रत्यक्ष होती तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की परीक्षा एकदम हो जाती, सब को सत्य असत्य का पता ऐसी स्पष्टता से लग जाता कि मत भेद के लिये बहुत कम अवकाश रहता। रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र इत्यादि में ऐसा ही होता है। पर दर्शन में आत्मा या परमात्मा, कर्म या मोक्ष, सृष्टि या प्रलय, इन्द्रिय-गोचर नहीं हैं।

मतभेद

उनके विषय में तर्क करते २ भिन्न २ पुरुष भिन्न २ परिणामों पर स्वभावतः पहुँचते हैं। इस तरह अनेक विचार शृंखलाएं अर्थात् अनेक व्यवस्थित दर्शन उत्पन्न होते हैं। हिन्दुस्तान में इतनी सहनशीलता थी कि लोग सब दर्शनों के प्रयत्न और खोज का आदर करते थे और, मत भेद होने पर भी सब को उच्च स्थान देते थे। प्राचीन दर्शनों के बारे में एक और बात याद रखनी चाहिये।

विशेषीकरण का अभाव

उन दिनों विद्या का वैसा विशेषीकरण नहीं था जैसा आज कल है अर्थात् प्रत्येक विषय का अध्ययन अलग २ विशेषज्ञों के द्वारा सदा नहीं होता था। आज कल मानसशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, भौतिकशास्त्र सब अलग २ हैं और अलग २ ही पढ़े

जाते हैं। प्राचीन समय में यह सब एक दूसरे से जुड़े हुये थे और एक ही व्यवस्था के भाग थे। अतएव पुराने दर्शनों में बहुत सी बातें मिलती हैं जो वर्तमान पद्धति के अनुसार तत्त्वज्ञान में नहीं शामिल की जातीं। वर्तमान विशेषीकरण से इतना लाभ तो अवश्य हुआ है कि प्रत्येक शास्त्र का विकास स्वतंत्रता से और तेज़ी से होता है पर इसके कारण ज्ञान की एकता का, विद्या के सामंजस्य का, भाव गौण हो जाता है। प्राचीन भारत में विश्वज्ञान की एक सुसंगठित पद्धति का भाव बहुत प्रबल था और विद्या की सब शाखायें एक ही तन से सम्बद्ध थीं।

भारतीय दर्शन का प्रभाव

भारतवर्ष में दर्शन की इतनी चर्चा रही कि दर्शन धर्म का भाग होकर सारी जनता के मानसिक और अध्यात्मिक जीवन का अङ्ग होगया। दर्शनों के कुछ मोटे २ सिद्धान्त विद्वानों की कुटियों से निकलकर जनता के प्रत्येक वर्ग में फैल गये। आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष इत्यादि पर सब लोग विचार करते थे या कम से कम कुछ विश्वास रखते थे। साहित्य में भी इन दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार २ आया है। भारतीय दर्शन का प्रभाव देश तक ही परिमित न था। बौद्ध धर्म के साथ वह लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत, और मंगोलिया तक पहुँचा। शायद मामूली आमद रफ़्त से वह पच्छिम में ग्रीस तक पहुँचा। मध्यकाल में उसने इस्लाम पर प्रभाव डाला और सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति में सहायता की। सूफ़ी धर्म सारे इस्लामिक संसार में एक बड़ी शक्ति रही है और साहित्य पर उसकी छाप अब तक लगी हुई है। १८वीं ईस्वी सदी से भारतीय दर्शन का

अध्ययन यूरुप में प्रारंभ हुआ और शौपनहायर, डौयसन आदि अनेक दार्शनिकों पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। अभी उसका इतिहास समाप्त नहीं हुआ है। सम्भव है कि भविष्य में भी वह नई दार्शनिक हलचलों का कारण हो।

पुराने दर्शनों के सिद्धान्त, शैली और गौरव को अच्छी तरह समझने के लिये मूलग्रन्थो का पढ़ना ज़रूरी है। यहां उनके मूल सिद्धान्त संक्षेप से केवल इस लिये लिखे जांयगे कि उनके बाद पुराने क्लिष्ट ग्रन्थों के परिशीलन में पाठकों को सहायता मिले।

छ दर्शन

तत्वज्ञान की जो धाराएं देश में बह रही थीं वह चार्वाक, जैन और बौद्ध और भक्ति या भागवत-सिद्धान्तों के अलावा ६ दर्शनों के रूप में प्रकट हुईं—न्याय, वैशेषिक, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तरमीमांसा या वेदान्त और सांख्य। इनके सूत्रों की या स्वयं इनके सिद्धान्तों की उत्पत्ति और उत्तरोत्तर विकास का समय ठीक २ निश्चय नहीं है पर मौर्य साम्राज्य के पहिले ई० पू० चौथी सदी के पहिले इनकी मुख्य २ बातें निश्चित हो चुकी थीं। आगे कुछ और विकास हुआ, जैसे शंकराचार्य और रामानुज के द्वारा, पर मोटे २ सिद्धान्त ई० सन् के कई सौ बरस पहिले तै हो गये थे। छहो दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं पर वेद के वाक्यों के अर्थ अपने २ ढंग पर लगाते हैं और वास्तव में स्वतंत्रता से खोज और तर्क करते हैं।

सांख्य

सांख्य के बहुतेरे सिद्धान्त उपनिषदों में और इधर उधर महाभारत में भी मिलते हैं। इसके प्रवर्तक अथवा यों कहिये व्यवस्थापक कपिल जो ब्रह्मा, विष्णु या अग्नि के अवतार

माने जाते हैं ई० पू० ७-६ सदी में हुये होंगे पर इसका पहिला प्राप्य ग्रन्थ, ईश्वर कृष्ण कृत सांख्य कारिका तीसरी ई० सदी की रचना है। ८ वीं ई० सदी के लगभग गौडपाद ने कारिका पर प्रधान टीका लिखी जिस पर फिर नारायण ने सांख्य-चन्द्रिका लिखी। नवीं ई० सदी के लगभग वाचस्पति ने सांख्यतत्त्वकौमुदी लिखी। अन्य हिन्दू दार्शनिकों की तरह सांख्यदार्शनिक भी बड़े निर्भय और स्वतंत्र विचारक हैं, अपनी विचार पद्धति या परम्परा के परिणामों से नहीं झिझकते पर औरों की तरह उन पर भी दूसरे दर्शनों का प्रभाव पड़ा है।

सांख्य दर्शन अनीश्वर वादी है अर्थात् संसार का कर्त्ता हर्त्ता किसी को नहीं मानता। सारा जगत् और जगत् की सारी वस्तुएं प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा और उनके संयोग, प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई हैं। पुरुष एक नहीं है

पुरुष

जैसा कि वेदान्ती मानते हैं किन्तु बहुत से हैं। सब को अलग २ सुख दुख होता है जिससे प्रगट है कि अनुभव करने वाले अलग २ हैं। पुरुष जिसे आत्मा पुमान्, पुंगुणजन्तुजीवः, नर, कवि, ब्रह्म, अक्षर, प्राण, यः कः, और सत् भी कह सकते हैं अनादि है, अनन्त है, देखने, जानने और अनुभव करने वाला है, निर्गुण है। पदार्थों को पुरुष नहीं उत्पन्न करता, प्रकृति उत्पन्न करती है। पुरुष के सिवाय जो कुछ है

प्रकृति

प्रकृति है। प्रकृति के आठ प्रकार हैं—अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार (वैकारिक, तैजस और भूतादि), और शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस और गंध के तन्मात्र। अव्यक्त जिसे प्रधान ब्रह्म, पुर, ध्रुव, प्रधानक, अक्षर, क्षेत्र, तमस् और प्रसूत

भी कह सकते हैं, अनादि और अनन्त है। यह मानो प्रकृति का अविकसित तत्त्व है; इसमें न रूप है, न गंध है, न रस है, न यह देखा जा सकता है, न और किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सक्रना है। प्रकृति का दूसरा प्रकार है बुद्धि या अध्यवसाय। यहां बुद्धि शब्द का प्रयोग कुछ असाधारण अर्थ में किया गया है। बुद्धि एक महत् है और प्रकृति पर प्रभाव डालती है। बुद्धि के आठ रूप हैं—चार सात्त्विक और चार तामसिक।

बुद्धि

सात्त्विक रूप हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके उलटे चार तामसिक रूप हैं। बुद्धि को मनस्, मति, महत्, ब्रह्म, ख्याति, प्रज्ञा, श्रुति, धृति, प्रज्ञानसंतति स्मृति और धी भी कहा है पर शायद सांख्यदर्शन में पहिले बुद्धि एक तरह के महत् या ब्रह्म के अर्थ में ही मानी जाती थी। अहंकार या अभिमान

अहकार

वह है जिससे "मैं सुनता हूं" "मैं देखता हूं" "मै भोग करता हूं" इत्यादि धारणा उत्पन्न होती हैं। सांख्य सिद्धान्त में अहंकार प्रकृति से उत्पन्न होता है और बुद्धि के मेल से होता है। इससे अहम् का भाव निकलता है। अहंकार को तैजस, भूतादि, सानुमान और निरनुमान भी कहते हैं। अहकार से पाचों तन्मात्र निकलते हैं जिन्हें अविशेष, महाभूत, प्रकृति अभोग्य अणु, अशान्त, अघोर, और अमूढ़ भी कहते हैं।

पर पुरुष और इन आठ प्रकृतियों को मिलाने से भी जगत् के व्यापार स्पष्ट नहीं होते।

विकार

पुरुष और प्रकृति के निकटतर सम्बन्धों के द्वार और मार्ग बताने की ज़रूरत है और प्रकृति के भी सरल ग्राह्य रूप बताने की ज़रूरत है।

इस लिये सोलह विकारों की कल्पना की है अर्थात् पांच बुद्धि इन्द्रिय, पांच कर्म इन्द्रिय, मन और पांच महाभूत। पांच बुद्धि इन्द्रिय हैं—कान, आंख, जीभ, नाक और त्वचा जो अपने २ उपयुक्त पदार्थों का ग्रहण करती है। पांच कर्म इन्द्रिय हैं—आवाज़, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और मल त्यागने का स्थान। मन अनुभव करता है। पाँच महाभूत हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। भूतों को भूतविशेष विकार, विग्रह, शान्त, घोर, मूढ़, आकृति, और तनु भी कह सकते हैं। पुरुष, आठ प्रकृति, और सोलह विकार मिलाकर पचीस तत्त्व कहलाते हैं।

तत्त्व

गुण

अहंकार के कारण पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है पर वास्तव में पुरुष कर्त्ता नहीं है। यदि पुरुष स्वयं ही कर्त्ता होता तो सदा अच्छे ही कर्म करता। बात यह है कि कर्म तीन गुणों के कारण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। यह केवल साधारण अर्थ में गुण नहीं हैं किन्तु प्रकृति के भाग हैं; आभ्यन्तरिक भाग हैं। अगर तीनों गुणों में सामञ्जस्य हो तो सबसे अच्छा है लेकिन अगर किसी ओर से विषमता है अर्थात् किसी एक की कोई प्रधानता है तो प्रकृति में संचलन होता है। इस तरह जगत् का आरंभ होता है और इसके विपरीत क्रम से अन्त होता है। इस क्रम को संकर, प्रतिसंकर होते हैं। संकर का क्रम इस तरह है—जब अव्यक्त का सम्पर्क पुरुष से होता है तब बुद्धि प्रगट होती है; बुद्धि से अहंकार प्रगट होता है जो तीन तरह का है, वैकारिक अर्थात् सत्त्व से प्रभावित, तैजस अर्थात् रज से प्रभावित जो बुद्धि इन्द्रियों

को पैदा करता है और तामस जो भूतादि पैदा करता है।

संकर

भूतादि से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और तन्मात्र से भौतिक तत्त्व। इस प्रकार संकर का विकास चलता है। इससे उल्टा क्रम प्रतिसंकर का है जिसका अन्त प्रलय है। भौतिक

प्रतिसंकर

तत्त्व तन्मात्र में भी परिणत हो जाते हैं; तन्मात्र, अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में। अव्यक्त का नाश नहीं हो सकता। उसका विकास और किसी चीज़ से नहीं हुआ है। प्रतिसंकर पूरा होने पर पुरुष और अव्यक्त रह जाते हैं। पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति से सम्बन्ध करता है; विवेक होने पर सम्बन्ध टूट जाता है। सांख्य का यह प्रकृतिपुरुषविवेक वेदान्त के आत्मविवेक से

अविवेक

मिलता जुलता है। पर पुरुष का यह अविवेक कैसे पैदा होता है कि वह अपने को—अर्थात् आत्मा को—इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेता है? पुरुष आप काम नहीं कर सकता तो त्रैगुण्य कहां से आ जाता है, बुद्धि कहां से पैदा हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य में नहीं मिलता। कैसे भी पैदा हुआ हो, यह अविवेक सब दुख की जड़ है। इसी से जन्म मरण होता रहता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में सांख्य यह भी मानता है कि स्थूल शरीर के अलावा एक लिङ्गशरीर या प्रातिवाहिक शरीर है जो बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच तन्मात्र और पाँच आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का बना है, जो दिखाई नहीं पड़ता पर उसीके कारण एक पुरुष का दूसरे पुरुष से भेद किया जाता है, वह कर्म के अनुसार

बनता है, मरने पर पुरुष के साथ दूसरे जन्म में जाता है और फल भोगता है। यह सांख्य दर्शन बार २ ज़ोर देता है कि इस अविवेक से ही पुरुष संसार के जंजाल में फँस गया है, परिमित हो गया है, दुख उठा रहा है। विवेक होने ही यह दुख दूर हो जाता है, कृत्रिम सीमाएं मिट जाती हैं, पुरुष को कैवल्य मिल जाता है। कैवल्य में कोई दुख नहीं है, कोई परतन्त्रता नहीं है, कोई सीमा नहीं है। यही मोक्ष है।

कर्म

कैवल्य

सांख्य में तीन प्रमाण माने हैं, प्रत्यक्ष, आप्तवचन और अनुमान। सांख्य के इन सब सिद्धान्तों पर आगामी लेखकों में बहुत सा मत भेद नज़र आता है। इनके अलावा सांख्य ग्रन्थों में अभिबुद्धि (व्यवसाय, अभिमान, इच्छा, कर्त्तव्यता, क्रिया), कर्मयोनि (धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा, विविदिषा), वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान), कर्मात्मा (वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान, निरनुमान), अविद्या (तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र), तुष्टि, अतुष्टि, सिद्धि, प्रसिद्धि, मूलिकार्थ, षष्टितन्त्र, अनुग्रहसर्ग, भूतसर्ग, दक्षिणा, इत्यादि २ की भी विस्तृत व्याख्या की है।

प्रमाण

उत्तर मीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में हैं पर ब्योरेवार वर्णन सब से पहिले बादरायण ने ई० पू० चौथी तीसरी सदी के लगभग वेदान्तसूत्र में किया। सब से बड़ा भाष्य शंकराचार्य का है जो ९ वीं ई० सदी में

वेदान्त

हुये थे और जिन्होंने बौद्ध और जैन धर्मों का खण्डन किया। वेदान्त के सिद्धान्त पुराण और साधारण साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं और उनपर ग्रन्थ आज तक बनते रहे हैं। वेदान्त का प्रधान सिद्धान्त है कि

ब्रह्म

वस्तुतः जगत् में केवल एक चीज़ है और वह है ब्रह्म। ब्रह्म अद्वितीय है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। तो फिर जगत् में बहुत सी चीज़ें कैसे दिखाई पड़ती हैं? वास्तव में एक ही चीज़ है पर अविद्या के कारण भ्रम हो जाता है कि बहुत सी चीज़ें हैं। अविद्या क्या है? अविद्या

अविद्या

व्यक्तिगत अज्ञान है; मानवी स्वभाव में ऐसी मिली हुई है कि बड़ी कठिनता से दूर होती है। विद्या से ही अविद्या दूर हो सकती है। पर अविद्या कोई अलग चीज़ नहीं है कोरी माया है, मिथ्या है। यदि अविद्या या माया को पृथक् पदार्थ माना जाय तो ब्रह्म की अद्वितीयता नष्ट हो जायगी और जगत् में एक के बजाय दो चीज़ें हो जायंगी। दूसरे अगर अविद्या अलग स्वतन्त्र चीज़ मानी जाय तो इसका नाश भी न हो सकेगा। अस्तु, यह अविद्या भी मिथ्या है, अस्थायी है। प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म से अलग नहीं है। जो कुछ हम देखते हैं या और किसी तरह अनुभव करते हैं वह भी ब्रह्म का अंश है पर वह हमें अविद्या के कारण ठीक २ अनुभव नहीं होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान को देखकर पानी समझे या पानी में परछाईं देख कर समझे कि चन्द्रमा, तारे बादल पानी के भीतर हैं और पानी के भीतर घूमते हैं, उसी तरह हम साधारण

वस्तुओं को ब्रह्म न मान कर मकान, पेड़, शरीर, या जानवर इत्यादि मानते हैं। ज्यों ही हमें ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यों कहिये कि ज्यों ही हमारा शुद्ध ब्रह्म रूप प्रगट होगा त्यों ही हमें सब कुछ ब्रह्म रूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुँचते ही हमारे दुख दर्द की माया भी मिट जायगी, सुख ही सुख हो जायगा, हम ब्रह्म में मिल जायँगे अर्थात् अपने असली स्वरूप को पा जायँगे। आत्मा ब्रह्म है—तुम ही ब्रह्म हो—तत्त्वमसि। संक्षेप में, तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, आत्मा ब्रह्म है जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म है; ब्रह्म को छोड़कर कोई चीज़ नहीं है कुछ भी पाने, जानने या भोगने लायक़ नहीं है। तत्त्वमसि में तत् ब्रह्म है त्वम् आत्मा है; वास्तव में दोनों एक है। वेदान्ती मानते हैं कि यह सिद्धान्त वेदों में हैं, वेद प्रमाण हैं, वेद ब्रह्म हैं, वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड; ज्ञानकाण्ड विशेषकर उपनिषद् हैं; उपनिषदों में अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश है। पर वेद का प्रमाण मानते हुये भी शंकराचार्य ने कहा है कि जिसने विद्या प्राप्त कर ली उसने मोक्ष प्राप्त कर ली, वह ब्रह्म हो गया, उसे वेद की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे बाढ़ से लबालब भरे देश में छोटे तालाब का कोई महत्त्व नहीं है वैसे ही विद्या प्राप्त किये हुये आदमी के लिये वेद का कोई महत्त्व नहीं है।

तत्त्वमसि

विशुद्ध वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्म है पर व्यवहार दृष्टि से वेदान्ती जगत् का अस्तित्व मानने को तय्यार हैं। शंकर ने बौद्ध शून्यवाद या विद्यामात्र का खंडन करते

व्यवहार

हुये साफ़ २ स्वीकार किया है कि व्यवहार के लिये चीज़ों का अस्तित्व और उनकी भिन्नता माननी पड़ेगी। इसी तरह यद्यपि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ही है व्यवहार में उसे सगुण मान सकते हैं। इस तरह ब्रह्म में शक्ति मानी गई है और शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। ब्रह्म से जीवात्मा प्रगट होता है। वह अविद्या के कारण कर्म करता है, कर्म के अनुसार जीवन मरण, सुख दुख होता है, अविद्या दूर होते ही फिर शुद्ध रूप में आकर ब्रह्म में मिल जाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक

सूक्ष्म शरीर

स्थूल शरीर के अलावा एक सूक्ष्म शरीर भी रखता है। जब स्थूल शरीर पञ्च-तत्त्व में मिल जाता है तब भी यह सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहता है। यह मुख्यप्राण, मन और इन्द्रियों का बना होता है, जड़ होने पर भी अदृश्य रहता है और पुनर्जन्म में आत्मा के साथ जाकर कर्म फल भोगने मे सहाय होता है। स्थूल शरीर मे मुख्य प्राण के

स्थूल शरीर

अलावा प्राण, उपान, व्यान समान और उदान प्राण भी हैं। पर यह सब व्यव-हार दृष्टि से है, यह सब माया का रूप है, अविद्या का परिणाम है—अविद्या या माया जो स्वयं मिथ्या है—मिथ्यात्व जो स्वयं कुछ नहीं है। एक ब्रह्म है, अद्वितीय है: बस, और कुछ नहीं है।

वेदान्त इतना ऊँचा तत्त्वज्ञान है कि साधारण आत्माओं की पहुँच के परे है। अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म का समझना कठिन है, उसकी भक्ति करना और भी कठिन है अथवा यों कहिये कि विशुद्ध वेदान्त में भक्ति के लिये स्थान नहीं है, भक्ति की आवश्यकता ही नहीं है, ज्ञान—विद्या—ही एक

मात्र उपयोगी साधन । पर कोरा ज्ञानवाद मानवी प्रकृति को संतोष नहीं देता; मनुष्य का हृदय भक्ति के लिये आतुर है। अतएव कुछ तत्त्वज्ञानियों ने वेदान्त के क्षेत्र में एक नया पन्थ निकाला जो मुख्य वेदान्त सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुये भी ब्रह्म को सगुण मानता है और भक्ति के लिये अवकाश निकालता है । अनुमान है कि वेदान्त में यह परिवर्तन भागवत धर्म या महायान बौद्ध धर्म या साधारण ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से हुआ । वेदान्त की इस शाखा को जमाने वाले बहुत से तत्त्वज्ञानी थे जैसे बौद्धायन, टंक, द्रमिड़ या द्रविड़, गुहदेव, कपर्दिन, भरुचि । इनके समय का पता ठीक २ नहीं लगता पर बारहवीं ईस्वी सदी में रामानुज ने इन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। बौद्धायन और द्रमिड़ शंकर के पहिले के मालूम होते हैं । स्वयं रामानुज ने नये वेदान्तमत को पक्का किया और उसका प्रचार किया । रामानुज के सम्प्रदाय में आज भी बहुत से अनुयायी हैं । शंकर अद्वैतवादी है, रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी है । बादरायण और शंकर की तरह रामानुज भी मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है, सर्वव्यापी है पर वह ब्रह्म को प्रेम या करुणामय भी मानते है । ब्रह्म में चित् भी है, अचित् भी है, दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं । आत्माएं ब्रह्म के भाग हैं, अतएव अनश्वर हैं, सदा रहेंगे । ब्रह्म अन्तर्यामी है, अर्थात् सब आत्माओं के भीतर का हाल जानता है । पर मोक्ष होने पर भी, ब्रह्म में मिल जाने पर भी, आत्माओं का अस्तित्व रहता है; ब्रह्म के भीतर होते हुए भी उनका पृथकत्व रहता है।

सगुण ब्रह्म

विशिष्टाद्वैत

यह सच है कि कल्प के अन्त में ब्रह्म अपनी कारणावस्था को धारण कर लेता है और आत्मा तथा अन्य सब पदार्थ संकुचित हो जाते हैं, अव्यक्त हो जाते हैं। पर दूसरे कल्प के प्रारंभ में आत्माओं को अपने पुराने पाप पुण्य के अनुसार फिर शरीर धारण करना पड़ता है। यह क्रम मोक्ष तक चलता रहता है। जगत् ब्रह्म से निकला है पर बिल्कुल मिथ्या नहीं है। इस विचारश्रृङ्खला में ब्रह्म सगुण हो जाता है; उसमे विशेषताएं आजाती हैं; अद्वैत की जगह विशिष्टाद्वैत आता है; यह ईश्वर प्रेम से भरा है; उसकी भक्ति करनी चाहिये। प्रसन्न होकर वह भक्तों को सब सुख देगा।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा का विषय—यज्ञ, कर्मकाण्ड—वेदों के बराबर पुराना है पर इसकी नियमानुसार व्यवस्था जैमिनि ने ई० पू० चौथी तीसरी सदी में मीमांसासूत्र में की थी। इस सूत्र पर प्रधान टीका कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक और टुप्टीका में ७ ई० सदी में की। कुमारिल के आधार पर मण्डनमिश्र ने विधिविवेक और मीमांसानुक्रमण ग्रन्थ रचे। इनके अलावा अन्य टीकाएं अब तक होती रही हैं। कुमारिल ने शबर के पुराने भाष्य का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है पर उसके शिष्य प्रभाकर ने अपनी बृहती टीका में शबर को ही ज़्यादा माना है।

कर्मकाण्ड

वेद के दो भाग हैं—पूर्वभाग अर्थात् कर्मकाण्ड और उत्तरभाग अर्थात् ज्ञानकाण्ड। दूसरे भाग की मीमांसा उत्तर मीमांसा या वेदान्त है। पहिले भाग की मीमांसा पूर्वमीमांसा कहलाती है। विषय का प्रारंभ करते

हुये जैमिनि कहते हैं—अथातो धर्मजिज्ञासा अर्थात् अब धर्म जानने की अभिलाषा। अभिप्राय है कि पूर्वमीमांसा धर्म की विवेचना करती है। यह धर्म मंत्रों और ब्राह्मणों का है। मंत्रों का माहात्म्य अपूर्व है। ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद हैं। विधियां कई तरह की हैं—उत्पत्तिविधि जिनसे सामान्य विधान होता है, विनियोगविधि जिनमें यज्ञ की पद्धति बताई है, प्रयोगविधि जिनमें यज्ञों का क्रम है और अधिकारविधि जो यह बताती है कि कौन किस यज्ञ के करने का अधिकारी है। इनके साथ २ बहुत से निषेध भी हैं। इस सम्बन्ध में जैमिनि ने नामधेय अर्थात् यज्ञ के अग्निहोत्र, उद्भिद् इत्यादि नामों पर भी बहुत ज़ोर दिया है। ब्राह्मणों के अर्थवादों में अर्थ समझाए हैं।

यज्ञों का विधान बहुत से मंत्रों में, ब्राह्मणों में और स्मृतियों में है; कहीं २ बहुत से क्रम और नियम बताये हैं। कहीं थोड़े से ही बताये हैं, कहीं कुछ भी नहीं बताये हैं, बहुधा कुछ पारस्परिक विरोध दृष्टिगोचर है; बहुत स्थानों पर संशय होता है कि यहां क्या करना चाहिये? किस समय और किस तरह करना चाहिये? इन गुत्थियों को सुलझाना पूर्वमीमांसा का काम है। मीमांसकों ने पांच तरह के प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अर्थात् एक वस्तुविषय में दूसरी वस्तु के आधार या भाव से ज्ञान प्राप्त करना और शब्द।

प्रमाण

कुमारिल भट्ट ने एक छठा प्रमाण अभाव भी माना है जो वास्तव में अनुमान का ही एक भेद है। पांच या छः प्रमाण मानते हुये भी मीमांसक प्रायः एक ही प्रमाण शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द

अर्थात् ईश्वरवाक्य या ऋषिवाक्य के आधार पर ही वह यज्ञ विधान की गुत्थियां सुलझाने की चेष्टा करते हैं। अतएव उन्होने बहुत से नियम बनाये हैं कि श्रुति का अर्थ कैसे लगाना चाहिये, यदि श्रुति और स्मृति में विरोध मालूम हो तो स्मृति का अर्थ कैसे लगाना चाहिये, यदि दो स्मृतियों में विरोध हो तो श्रुति के अनुसार कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यदि उस विषय पर श्रुति में कुछ नहीं है तो क्या करना चाहिये ? यदि स्मृति में कोई विधान है पर श्रुति में उस विषय पर कुछ नहीं है तो कहां यह मानना चाहिये कि इस विषय की श्रुति का लोप हो गया है ? इस सब की मीमांसा माधव ने न्यायमालाविस्तर मे बड़े विस्तार से की है। अर्थ लगाने के जो नियम यज्ञ-विधान के बारे में बनाये गये हैं उनका प्रयोग और विषयों में भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, क़ानून जो शब्द के आधार पर स्थिर है इन्हीं नियमों के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। पूर्वमीमांसा का यह विशेष महत्त्व है। उससे धर्म, आचार, यज्ञ, क़ानून इत्यादि स्थिर करने में सहायता मिलती है। वास्तव में पूर्वमीमांसा तत्त्वज्ञान की पद्धति नहीं है, यज्ञ और नियम विधान की पद्धति है लेकिन परम्परा से इसकी गणना षड्दर्शन में होती रही है। पूर्व-मीमांसा का विषय ऐसा है कि मीमांसकों मे मतभेद अवश्यंभावी था। मीमांसकों में प्रभाकर का मत बहुत प्रबल रहा है।

योग के प्रथम रूप वेदों में मिलते हैं; उपनिषदों में बार २ उसका ज़िक्र आया है, बौद्ध और जैन धर्मों ने भी योग को स्वीकार किया है. बुद्ध और महावीर ने योग

योग

किया था, गीता में कृष्ण ने योग का उपदेश दिया है और पद्धति का निर्देश किया है। पर योग की पूरी २ व्यवस्था ई० सन् से एक दो सदी पहिले पतञ्जलि ने योगसूत्र में की जिस पर व्यास ने चौथी ई० सदी में बड़ी टीका रची जिस पर फिर नवीं सदी में वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी टीका बनाई। योग पर छोटे मोटे ग्रन्थ बहुत बने हैं और अब तक बन रहे हैं। भगवद्गीता में योग की परिभाषा समत्व शब्द से की है। योग का वास्तविक अर्थ यही है कि आत्मा को समत्व प्राप्त हो। बहुत से लेखकों ने योग को संयोग अर्थात् परमात्मा में आत्मा का समा जाना

समत्व

माना है पर न तो गीता से और न पतञ्जलि के सूत्रों से इस मत का समर्थन होता है। योगसूत्र के भाष्य में भोजदेव ने तो यहां तक कहा है कि योग वियोग है, पुरुष और प्रकृति में विवेक या वियोग है। इसी तरह बौद्ध और जैन जो परमात्मा को नहीं मानते योग को मानते हैं और कहीं २ तो उस पर बहुत ज़ोर देते हैं। सांख्य से योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। योगसूत्र या योगसूत्रानुशासन को

सांख्य से सम्बन्ध

सांख्यप्रवचन भी कहते हैं। विज्ञानभिक्षु जिसने कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका की है योगवार्त्तिक और योगसारसंग्रह का भी रचयिता है और दोनों तत्त्वज्ञानों के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। योग ने सांख्य की बहुत सी बातें ले ली हैं पर कुछ नई बातें जोड़ दी हैं, एक तो परमेश्वर, दूसरे परमेश्वर की भक्ति, तीसरे चित्त की एकाग्रता। योगशास्त्रों ने

संयम की विस्तृत पद्धति बना दी है। इसीसे योग को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।

दूसरे सूत्र में पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। यदि मन एकाग्र करके आत्मा या परमात्मा के ध्यान में लगा दिया जाय, इन्द्रियों की चंचलता रोक दी जाय और सब व्यापार बन्द करके एक मात्र ध्यान किया जाय तो आत्मा को समत्व और शान्ति मिलती है, सब दुख मिट जाते हैं और आध्यात्मिक आह्लाद प्रगट होता है। मन की चञ्चलता बीमारी, सुस्ती, संशय, लापरवाही, मिथ्यात्व इत्यादि से उत्पन्न होती है। इन्हीसे दुख भी उत्पन्न होता है। इन सब को दूर करने के लिये मन को तत्त्व पर स्थिर करना चाहिये। इसकी ब्योरेवार व्यवस्था पतञ्जलि के योगसूत्र में है। सूत्र के चार पाद हैं—समाधि साधन, विभूति और कैवल्य। समाधिपाद में योग का उद्देश्य और रूप बताया है और दिखाया है कि समाधि कैसी होती है। इस समाधि के साधन क्या हैं—यह दूसरे पाद में बताया है। समाधि से बहुत सी अलौकिक शक्तियां प्राप्त होती हैं—इन विभूतियों का वर्णन तीसरे पाद में है। इन भागों में योग के बहुत से अभ्यास—क्रियाएं—भी बताये हैं। योग की पराकाष्ठा होने पर आत्मा को कैवल्य प्राप्त होता है—अर्थात् जगत् के जंजाल से हटकर आत्मा आप में ही लीन हो जाता है। यह न समझना चाहिये कि योग मत में कैवल्य होने पर आत्मा परमेश्वर में मिल जाता है। ऐसा कथन पतञ्जलि में कहीं नहीं है और न विज्ञानभिक्षु का योगसारसंग्रह ही इस धारणा का सम-

चित्तवृत्तिनिरोध

कैवल्य

र्थन करता है। यह अवश्य माना है कि यदि साधनों से पूरी सिद्धि न हो तो परमेश्वर की कृपा कैवल्य और मोक्ष तक पहुँचने में सहायता करती है। कैवल्य का यह विषय चौथे पाद में है। योग में अभ्यास बहुत से हैं जिनसे स्थिति में अर्थात् वृत्तियों के निरोध में और चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। अभ्यास या प्रयत्न बार २ करना चाहिये। वृत्तियों का निरोध होने पर वैराग्य भी हो जाता है जिसमें न दृष्ट और न आनुश्राविक पदार्थों की कोई अभिलाषा रह जाती है। समाधि के उपायों में भिन्न २ प्रकार के प्राणायाम का बहुत ऊंचा स्थान है। इस सम्बन्ध में हठ या क्रियायोग का भी विस्तृत वर्णन किया है जिससे आत्मा को शान्ति और प्रकाश की प्राप्ति होती है। योगाङ्गों में योग के आठ साधन हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि। आसन बहुत से हैं जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन और स्वस्तिकासन। योगसाधन से विभूतियाँ प्राप्त करके मनुष्य सब कुछ देख सकता है, सब कुछ जान सकता है, भूख प्यास जीत सकता है, दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है, आकाश को चढ़ सकता है, सब तत्वों को विजय कर सकता है और जैसे चाहे उनका प्रयोग कर सकता है इत्यादि २। पर पतञ्जलि तथा अन्य लेखकों ने ज़ोर दिया है कि योग का सच्चा उद्देश्य कैवल्य या मोक्ष है।

अभ्यास

आसन

विभूति

न्याय जिसे तर्क विद्या या वादविद्या भी कहते हैं ई० पू० तीसरी सदी के लगभग गौतम या अक्षपाद के न्याय-सूत्रों

में और उस के बाद ५ वीं ई० सदी के लगभग वात्स्यायन की महाटीका न्यायभाष्य में, तत्पश्चात् ५ वीं सदी में दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय न्यायप्रवेश इत्यादि में, ६ ठी सदी में उद्योतकर के न्यायवार्तिक में और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में, ६ वीं सदी में धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका में और उसके बाद बहुत से ग्रन्थों और टीकाओं में वाद विवाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। गौतम का पहिला प्रतिज्ञासूत्र है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान—इन सोलह के ठीक २ ज्ञान से मुक्ति होती है। तीसरा सूत्र कहता है कि प्रमाण चार तरह का है—प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। जब पदार्थ से इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो छः प्रकार का है (१) संयोग—पदार्थ का साधारण ज्ञान (२) संयुक्त समवाय—पदार्थ के गुण का ज्ञान (३) संयुक्त समवेत समवाय—पदार्थ के गुण की जाति इत्यादि का ज्ञान (४) समवाय—इन्द्रिय और पदार्थ का नित्य सम्बन्ध—जैसे आकाश के नित्य गुण शब्द का कान के भीतर के आकाश से सम्बन्ध (५) समवेत समवाय—जैसे ऊपर के दृष्टान्त में शब्द की जाति का बोध (६) संयुक्त विशेषण—जैसे अभाव का ज्ञान। अनुमान के पांच अंग हैं (१) प्रतिज्ञा—सिद्ध की जाने वाली बात का कथन (२) हेतु—कारण का कथन (३) उदाहरण (४) उपनय—हेतु की स्पष्ट सूचना (५)

न्याय

प्रमाण

प्रत्यक्ष

अनुमान

निगमन—सिद्धि का कथन। जैसे (१) पहाड़ पर आग है (२) क्योंकि वहाँ धूआँ दिखाई देता है (३) जहाँ धूआँ वहाँ आग जैसे चौके में (४) पहाड़ पर धूआँ है (५) इस लिये पहाड़ पर आग है। हेतु दो तरह के होते हैं, एक

हेतु

तो वह जो साधर्म्य या सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि करते हैं जैसे ऊपर के सिद्धान्त में; दूसरे वह जो वैधर्म्य के द्वारा सिद्धि करते हैं जैसे जड़ पदार्थों की निर्जीविता से शरीर में आत्मा की सिद्धि। आगे चल कर इन दो प्रकारों के स्थान पर तीन प्रकार माने गये—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी। जो हेतु कहीं है, कहीं नहीं है, वह अन्वयव्यतिरेकी है, जैसे चौके में धुआँ। जो हेतु सर्वत्र हो वह केवलान्वयी है। जो कहीं भी न हो वह केवलव्यतिरेकी जैसे आग कहीं भी पानी नहीं है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास पांच हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत जिनसे किसी चीज़ का प्रमाण ठीक तरह नहीं हो सकता। सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेतु वह है जो साध्य और असाध्य दोनों के साथ है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि शब्द का स्पर्श नहीं हो सकता। इस हेतु को देने वाला यह भूलता है कि बुद्धि इत्यादि चीज़ें स्पर्श न रखती हुई भी अनित्य हैं। विरुद्धहेतु बिल्कुल उलटा है जैसे घड़ा टूट नहीं सकता क्योंकि वह टूट गया है। प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष हेतु वह है जिससे किसी ओर स्पष्ट प्रमाण नहीं होता। साध्यसम या असिद्ध वह है जो स्वयं सिद्धि की आवश्यकता रखता है। कालातीत या कालात्ययापदिष्ट

हेतु वह है जो समय से बाधित है। प्रमाण का तीसरा साधन उपमान है जिसमें समानता या सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है जैसे घर के घड़े से मिलने जुलने वाली चीज़ देखकर बोध होता है कि यह भी घड़ा है। उपमान को वैशेषिक दार्शनिकों ने और कुछ अन्य लेखकों ने प्रमाण की पदवी नहीं दी है।

उपमान

शब्द प्रमाण है आप्त अर्थात् धर्म इत्यादि जानने वालों और उत्कृष्ट चरित्र रखने वालों का उपदेश। यह दो तरह का है एक तो दृष्टार्थ जो इन्द्रियों से जानने योग्य बातें बताता है और जो मनुष्यों का भी हो सकता है। दूसरा अदृष्टार्थ जो इन्द्रियों से न जानने योग्य बातें जैसे स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि बताता है और जो ईश्वर का उपदेश है। वेद ईश्वर का रचा हुआ है और सर्वत्र प्रमाण है। इस तरह वाक्य दो तरह के होते हैं—वैदिक और लौकिक। पुराने नैयायिकों ने स्मृतियों को लौकिक वाक्य माना है पर आगे के कुछ लेखकों ने इनकी गणना भी वेदवाक्य में की है। वेदवाक्य तीन तरह के हैं—एक तो विधि जिसमें किसी बात के करने या न करने का विधान हो; दूसरे अर्थवाद जिसमें (१) विधेय की प्रशंसा हो या (२) निषेध की निन्दा हो या (३) कर्म की भिन्न रीति का निर्देश हो या (४) पुराकल्प अर्थात् पुराने लोगों के आचार से विधेय का समर्थन हो। तीसरा वेदवाक्य अनुवाद है जो विधेय की व्याख्या, फल इत्यादि बता के, आवश्यक बातों का निर्देश कर के, करता है। इस स्थान पर न्यायदर्शन में पद और वाक्य की विस्तार से विवेचना की है। जैसे पद से व्यक्ति, आकार और जाति का ज्ञान होता है, शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। इत्यादि इत्यादि।

शब्द

वेदवाक्य

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मिलती है। यह बारह हैं (१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) पुनर्जन्म (१०) फल (११) दुख (१२) मोक्ष। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है पर इसका अनुमान इस तरह होता है कि इच्छा, द्वेष और प्रयत्न या व्यापार करने वाला, ज्ञान करने वाला, सुख और दुख का अनुभव करने वाला अवश्य कोई है। आत्मा अनगिनित हैं। संसार को रचने वाला आत्मा है ईश्वर। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में ही संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न यह गुण हैं पर ईश्वर में यह नित्य हैं, औरों में अनित्य। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्वव्यापी है; औरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद इत्यादि दोष भी हैं।

प्रमेय

आत्मा

शरीर चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है; पृथ्वी के परमाणुओं से बना है। धर्म अधर्म या पाप पुण्य के अनुसार आत्मा तरह २ के शरीर धारण करता है। इन्द्रिय पांच हैं—नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा जो उत्तरोत्तर पृथिवी, आकाश, तेज, जल और वायु से बनी हैं और अपने उत्तरोत्तर गुण, गंध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं; जिसको चौथा प्रमेय माना है। आगे के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव को अर्थ में गिना है। पृथिवी

शरीर

इन्द्रिय

अर्थ

का प्रधान गुण है गन्ध पर इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य। इसी तरह जल, तेज वायु और आकाश में अपने २ प्रधान गुणों के अलावा और गुण भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और अन्यत्र अनित्य। पांचवा प्रमेय बुद्धि है जो ज्ञान है, और वस्तुओं का ज्ञान कराती है। यह अनित्य है पर नैयायिकों ने ईश्वर के ज्ञान को नित्य माना है। छठे प्रमेय मन को बहुतेरे नैयायिकों ने इन्द्रिय माना है।

बुद्धि

स्मरण, अनुमान, संशय, प्रतिभा, शाब्दज्ञान, स्वप्नज्ञान और सुखदुखज्ञान यह मन से ही होते हैं. मन प्रत्येक शरीर में एक ही है अणु के बराबर है, एक क्षण में एक ही पदार्थ का बोध करता है।

मन

सातवां प्रमेय है प्रवृत्ति जो इन्द्रिय, मन या शरीर का व्यापार है, जो ज्ञान या क्रिया उत्पन्न करती है, और जो आगामी नैयायिकों के मत से दस तरह की है। शरीर की तीन प्रवृत्ति (१) पराई रक्षा (२) सेवा और (३) दान; वाणी की चार प्रवृत्ति, (४) सच बोलना (५) प्रिय बोलना (६) हित बोलना और (७) वेद पढ़ना; मन की तीन प्रवृत्ति (८) दया (६) लोभ रोकना और (१०) श्रद्धा—यह दस पुण्य प्रवृत्ति हैं। इनसे उल्टी दस पाप प्रवृत्ति हैं। प्रवृत्तियो से ही धर्म, अधर्म होता है।

प्रवृत्ति

दोष

आठवें प्रमेय दोष में राग, द्वेष और मोह सम्मिलित है। राग पांच तरह का है—काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ। द्वेष भी पांच

तरह का है, क्रोध, ईर्ष्या अर्थात् दूसरे के लाभ पर डाह, असूया अर्थात् दूसरे के गुणों पर डाह, द्रोह और अमर्ष अर्थात् जलन। मोह चार तरह का है,—मिथ्या ज्ञान, संशय, मान और प्रमाद। नवां प्रमेय पुनर्जन्म या प्रेत्य-भाव है। दसवां प्रमेय फल अर्थात् कर्मफल और ग्यारहवां दुःख है। बारहवां प्रमेय मोक्ष या अपवर्ग है। रागद्वेष, व्यापार, प्रवृत्ति, कर्म आदि छुट जाने से, मन को आत्मा

मोक्ष

में लगाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से, जन्म मरण का सिलसिला टूट जाता है और मोक्ष हो जाती है।

संशय

तीसरा पदार्थ संशय है जो वस्तुओं या सिद्धान्तों के विषय में होता है। चौथा पदार्थ है प्रयोजन जो मन, वचन या काय के व्यापार या प्रवृत्ति के सम्बन्ध में होता है। पांचवां पदार्थ है दृष्टान्त जो समानता या विषमता का होता है

अन्य पदार्थ

और जो विचार या तर्क की बात है। छठा पदार्थ सिद्धान्त प्रमाणसिद्ध बात है जो चार तरह का हो सकता है (१) सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो सब शास्त्रों में माना गया है (२) प्रतितंत्रसिद्धान्त जो कुछ शास्त्रों में माना गया है और कुछ में नहीं (३) अधिकरणसिद्धान्त जो माने हुए सिद्धान्तों से निकलता है (४) अभ्युपगमसिद्धान्त जो प्रसङ्गवश माना जाता है या, आगामी लेखकों के अनुसार, जो सूत्र में न होते हुये भी शास्त्रकारों द्वारा माना गया है। सातवां पदार्थ अवयव वाक्य का अंश है; आठवां है तर्क; नवां है निर्णय अर्थात् तर्क के द्वारा निश्चय किया हुआ सिद्धान्त।

बाक़ी पदार्थ तर्क, शास्त्रार्थ या विचार के अङ्ग या प्रसङ्ग या बाधा हैं[1] ॥

प्राचीन भारत में और अब भी संस्कृत पाठशालाओं में न्यायदर्शन के साथ ही वैशेषिकदर्शन का अध्ययन होता है। वैशेषिक सिद्धान्त के चिन्ह बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ई० पू० ६—५ सदी में मिलते हैं पर इसकी व्यवस्था दो तीन सदी पीछे काश्यप, औलूक्य, कणाद, कणभुज् या कणभक्ष ने वैशेषिक सूत्र के १० अध्यायों में की है। चौथी ई० सदी के लगभग प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह में और १०—११ ई० सदी में उसके टीकाकार व्योमशेखर ने व्योमवती में, श्रीधर ने न्यायकन्दली में, उदयन ने किरणावली में और श्रीवत्स ने लीलावती में वैशेषिक का कथन किया है। कणाद ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा से अपना सूत्र आरम्भ किया है। धर्म वह है जिससे पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष होती है। पदार्थ ६ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय, जिनमें संसार की सब चीज़ें शामिल हैं। द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। पृथिवी, जल, तेज, और वायु के लक्षण या गुण वैशेषिक में न्याय की तरह बताये हैं। "पृथिवी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० ४८-४९) में इस प्रकार वर्णित है। जीवों के कर्म

वैशेषिक

धर्म

पदार्थ

---

१. न्याय पर हिन्दी में देखिये माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह का अनुवाद और गंगानाथ झा कृत न्यायप्रकाश।

फल के भोग करने का समय जब आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार, जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में

परमाणु

चलन उत्पन्न होता है। इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक, त्रसरेणु इत्यादि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जल में पृथिवी परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथिवी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तैजस् परमाणुओं के परस्पर संयोग से तैजस् द्व्यणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इसी तरह चारो महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही संक्षेप मे वैशेषिको का 'परमाणुवाद' है[1]।" यहाँ इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि किसी भी चीज़ के टुकड़े करते जाइये; जब बहुत ही छोटे अदृश्य अणु पर पहुँचिये तब उसके भी टुकड़ों की कल्पना कीजिये, इसी तरह करते जाइये, जहाँ अन्त हो वहां आप परमाणु पर पहुँच गये। परमाणुओं के तरह २ के संयोगों से सब चीज़ें पैदा हुई हैं। पांचवे द्रव्य आकाश का प्रधान गुण है शब्द और दूसरे गुण हैं संख्या, परिमाण,

आकाश इत्यादि

पृथकत्व और संयोग। शब्द एक है, आकाश भी एक है, परम महत् है, सब जगह व्यापक है, नित्य है। छठा द्रव्य काल भी परम महत् है, सब जगह व्यापक है, अमूर्त है, अनुमानगम्य है।

---

1 गंगानाथ झा, वैशेषिक दर्शन पृ० १३॥

सातवां द्रव्य दिक् भी सर्वव्यापी, परम महत्, नित्य, और अनुमानगम्य है। आठवां द्रव्य आत्मा अनुमानगम्य है अमूर्त है, ज्ञान का अधिकरण है। जैसा कि कणादरहस्य में शंकरमिश्र ने

आत्मा

कहा है, जीवात्मा अल्पज्ञ है, क्षेत्रज्ञ है अर्थात् केवल शरीर में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को जानता है। परमात्मा सर्वज्ञ है; अनुमान और वेद से सिद्ध होता है कि परमात्मा ने संसार की रचना की है। जीवात्मा के गुण हैं बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग। नवां द्रव्य अन्तःकरण अर्थात् भीतरी इन्द्रिय है जिस का इन्द्रियों से संयोग होना ज्ञान के लिये आवश्यक है।

गुण

दूसरा पदार्थ गुण वह चीज़ है जो द्रव्य में है, जिसका अपना कोई गुण नहीं है, जो संयोग या विभाग का कारण नहीं है, जिसमें किसी तरह की क्रिया नहीं है। गुण १७ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। इनके अलावा प्रशस्तपादभाष्य में ६ और गुण बतलाये हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। अदृष्ट में धर्म और अधर्म दोनों शामिल हैं। इस तरह कुल मिलाकर २४ गुण हुये। इनमें से कुछ गुण मूर्त हैं, अर्थात् मूर्त द्रव्य—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और मन—में पाये जाते हैं; कुछ अमूर्त हैं अर्थात् आत्मा और आकाश में ही पाये जाते हैं; कुछ मूर्त, अमूर्त दोनों हैं अर्थात् मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों में पाये जाते हैं। संयोग, विभाग, पृथकत्व सदा अनेक द्रव्यों में ही हो सकते हैं, केवल एक में

२८

नहीं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार—यह विशेष या वैशेषिक गुण हैं अर्थात् यह एक चीज़ का दूसरी चीज़ से भेद करते हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म संस्कार का ज्ञान अनुमान से होता है, इन्द्रियों से नहीं। कुछ गुणों का ज्ञान केवल एक इन्द्रिय से होता है, कुछ का अनेक इन्द्रियों से हो सकता है। वैशेषिक ग्रन्थों में प्रत्येक गुण की व्याख्या विस्तार से की है जिससे इस दर्शन में अनेक भौतिक शास्त्रों और मानसशास्त्र के अंश आगये हैं। अदृष्ट अर्थात् धर्म अधर्म की व्याख्या करते समय बहुत सा आध्यात्मिक ज्ञान भी कहा है।

कर्म

तीसरा पदार्थ कर्म क्षणिक है, गुणहीन है, और पाँच तरह का है—(१) उत्क्षेपण—ऊपर जाना (२) अवक्षेपण—नीचे जाना (३) आकुञ्चन—सकुचना (४) प्रसारण—फैलना (५) गमन—चलना। प्रत्येक प्रकार का कर्म तीन तरह का हो सकता है—सत्प्रत्यय जो ज्ञान पूर्वक किया जाय; असत्प्रत्यय जो अज्ञान से किया जाय और अप्रत्यय जो चेतनहीन वस्तुओं का कर्म हो। कर्म मूर्त चीज़ों में ही होता है; अमूर्त आकाश, काल, दिक् और आत्मा में नहीं। चौथा

सामान्य

पदार्थ सामान्य जाति है जो अनेकत्व में एकत्व का बोध कराती है जैसे अनेक मनुष्यों का एक सामान्य हुआ मनुष्यत्व। जाति द्रव्य, गुण और कर्म में ही हो सकती है और दो तरह की होती है, पर और अपर अर्थात् बड़ी और छोटी जैसे मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व। सबसे बड़ी जाति है

सत्ता जिसमें सब कुछ शामिल है। पाँचवा पदार्थ विशेष सामान्य से उलटा है अर्थात् एक जाति की चीज़ों को, विशेषताएं बता कर, एक दूसरे से अलग करता है। विशेष की व्याख्या प्रशस्तपाद ने की है। छठा पदार्थ समवाय है नित्यसम्बन्ध। यह द्रव्य में ही रहता है और कभी नष्ट नहीं होता[१]।

विशेष

समवाय

जिन दर्शनों के कुछ मोटे २ सिद्धान्तों का थोड़ा सा ज़िक्र यहां किया गया है वह मिलकर षड्दर्शन कहलाते हैं और दो ढाई हज़ार बरस से प्रसिद्ध हैं। इनके अलावा कुछ और दर्शन भी बने जिनमें से कुछ तो लोप हो गये हैं और कुछ साहित्य में पाये जाते हैं। जैन और बौद्ध ग्रन्थों से सिद्ध है कि ई० पू० छठवीं और पाँचवीं सदी में देश में एक बड़ी धार्मिक और दार्शनिक हल-चल थी। पुरुषों के अलावा स्त्रियों ने भी इसमें बहुत भाग लिया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी इसके प्रभाव से न बचा। बहुत से नये २ पन्थ निकले और उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को भिन्न २ रीति से अपने अनुकूल बनाया।

षड्दर्शन

जड़वाद

उपनिषदों के बाद आत्मा, पुनर्जन्म, संसार और कर्म के सिद्धान्त हिन्दुस्तान में लगभग सब ने मान लिये पर दो चार पन्थ ऐसे भी रहे जिन्होंने आत्मा और पुनर्जन्म का निराकरण

जड़वाद

---

१ वैशेषिक के लिये देखिये हिन्दी में गंगानाथ झा, वैशेषिक दर्शन ॥

किया और जडवाद की घोषणा की। बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ई० पू० ६—५ सदी में कुछ लोग कहते थे कि मनुष्य चार तत्त्वों से बना है, मरने पर पृथिवी तत्त्व पृथिवी में मिल जाता है जलतत्त्व जल में मिल जाता है, अग्नि-तत्त्व अग्नि में मिल जाता है; वायुतत्त्व वायु में मिल जाता है। शरीर का अन्त होते ही मनुष्य का सब कुछ समाप्त हो जाता है; शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है; पुनर्जन्म का प्रश्न पैदा ही नहीं होता। इन लोकायतिक या चार्वाकों की कोई रचना अभी तक नहीं मिली है पर जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अलावा आगे चल कर सर्वदर्शनसंग्रह और सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह में इनके विचार संक्षेप से दिये हैं। यह कहते थे कि ईश्वर या आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कुछ पदार्थों के मिलने से नशा पैदा हो जाता है वैसे ही चार तत्त्वों के मिलने से जीवन-चेतन-पैदा हो जाता है। विचार की शक्ति जड़ से ही पैदा होती है, शरीर ही आत्मा है और अहम् की धारणा करता है। इस बात पर जड़-वादियों में चार भिन्न २ मत थे—एक के अनुसार स्थूल शरीर आत्मा है, दूसरे के अनुसार इन्द्रियां आत्मा हैं, तीसरे के अनुसार श्वास आत्मा है, चौथे के अनुसार मस्तिष्क आत्मा है। पर यह सब मानते थे कि आत्मा जड़ पदार्थ से भिन्न कोई चीज़ नहीं है। यह संसार ही सब कुछ है, स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि कोरी निर्मूल कल्पना है, पाप पुण्य का विचार भी निरा ढोंग है। जब तक जीना है, सुख से जीओ, ऋण लेकर घी पीओ; शराब पीओ; बेहोश होकर

शरीर

चेतन

ज़मीन पर गिर पड़ो तो उठकर फिर पीओ; पुनर्जन्म नहीं है। परलोक की आशा में इस लोक का सुख छोड़ना। मूर्खता है। वेदों की रचना धूर्त, भाण्ड और निशाचरों ने की है। ब्राह्मण कहते हैं कि ज्योतिष्टोम में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जाता है; तो यज्ञ करने वाला अपने पिता का बलिदान क्यों नहीं कर देता ? सर्वदर्शनसंग्रह और सर्वसिद्धान्तसार संग्रह के अनुसार लोकायतिकों ने पाप और पुण्य, अच्छाई और बुराई का भेद मिटा दिया और कोरे स्वार्थ और भोग-विलास का उपदेश दिया; पर शायद यह अत्युक्ति है। कुछ भी हो, भारतीय सिद्धान्त के इतिहास में लोकायतिक दर्शन बड़े महत्त्व का है। यह हर बात का साक्षात् प्रमाण चाहता था; उपमा और अनुमान, श्रुति या उपनिषद् पर भरोसा न करता था; कड़े से कड़े तर्क का पक्षपाती था; और निर्भयता की मूर्ति था।

आनन्द वाद

ई० पू० ६-५ वीं सदी में अजित ने भी आत्मा के अस्तित्व से इन्कार किया और जड़-वाद के आधार पर अपना पंथ चलाया। इसी समय संजय ने एक और पंथ चलाया जो आत्मा पुनर्जन्म आदि के विषय में कोई निश्चित राय नहीं रखता था।

अजित

संजय

नये धर्म

कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर दो बड़े धर्मों की स्थापना हुई—जैन और बौद्ध। कुछ अर्वाचीन विद्वानों की धारणा है कि इनके प्रचारकों ने अपने मुख्य सिद्धान्त सांख्य

जैन और बौद्ध धर्म

दर्शन से लिये थे, पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे इन धर्मों के सिद्धान्तों में और सांख्य सिद्धान्त में कुछ बड़े अन्तर हैं। निस्संदेह, देश के सभी दर्शनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा था। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि जैनों और बौद्धों ने सांख्य का अनुकरण किया। सच यह मालूम होता है कि जैसे कुछ विचार—धाराएं व्यवस्थित होकर छः दर्शनों के रूप में प्रगट हुईं वैसे ही कुछ और विचारधाराओं ने जैन और बौद्ध मतों का रूप धारण किया। दर्शनों की अपेक्षा धर्मों में स्वभावत. कुछ और लक्षण भी थे। उनमें जीवन का मार्ग अधिक स्पष्टता से दिखाया गया था; नैतिक और सामाजिक आदर्शों का विधान था; व्यक्ति के लिये पूजा, पाठ, ध्यान इत्यादि की पूरी व्यवस्था थी; दुख दूर करने की और परमसुख पाने की आवश्यकता और राह जनता को बड़ी भावुकता से समझाई थी। शुद्ध दर्शन तक पूरी पहुँच थोड़े से आदमियों की ही होती है; धर्म का यह प्रयत्न होता है कि सब लोगों की पहुँच जीवन के आदर्शों तक हो जाय। जैन और बौद्ध धर्मों की स्थापना कोई आश्चर्य की बात न थी; जहाँ विचार की स्वतंत्रता है वहाँ नये पन्थ निकलते ही रहते हैं। ई० पू० छठवीं पांचवीं सदी में बहुत से पन्थ निकले पर इन दो धर्मों के सामने अधिकांश नये पंथ थोड़े दिन में ही मिट गये। जैन और बौद्ध धर्म की विजय हुई

प्रचार के कारण

क्योंकि वह सब से अधिक व्यवस्थित थे, मानसिक परिस्थिति के अधिक अनुकूल थे, इनको कुछ बड़े प्रतिभाशाली प्रचारक मिल गये और कुछ राजाओं का भी आश्रय मिला।

धार्मिक असंतोष

नये धर्मों के प्रचार का एक कारण यह था कि उस समय के ब्राह्मण धर्म से सब को संतोष नहीं था। एक तो वह पुराना धर्म क्रियाकांड पर बहुत ज़ोर देता था, यज्ञ कराते २ कभी थकता ही न था और तपस्या भी बहुत कराता था। बाहिरी बातों पर बहुत ज़ोर था पर आत्मा की आभ्यन्तरिक तृष्णा बुझाने का कोई प्रयत्न नहीं था। दूसरे, ब्राह्मण धर्म ने अपने को नई दार्शनिक और मानसिक परिस्थिति के अनुकूल नहीं बनाया था। बहुत से लोगों के विचार पढ़ने सुनने से बदल गये थे पर पुराना धर्म पुरानी लकीर ही पीट रहा था। वही देवता, वही मंत्र, वही यज्ञ, वही भावनाएं जारी थीं। यह अवश्यम्भावी था कि जल्दी या देर में नई लहरें इन सब को पीछे फेंक दें और पुरानी ज़मीन पर अधिकार जमा लें। तीसरे, ब्राह्मणधर्म और अनुयायी के बीच में ब्राह्मण पुरोहित ने अपना आसन और प्रभुत्व जमा लिया था। जो भक्ति और श्रद्धा धर्म के लिये थी वह उसने अपनी ओर खींच ली थी। थोड़े दिन तक यह क्रम चलता रहा पर यह भी अवश्यंभावी था कि किसी दिन सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होकर पुरोहिती को ध्वंस कर दे। चौथे, जात पात के बन्धन इतने कड़े हो गये थे कि कुछ लोग उनको ढीला करना चाहते थे। यह सुधारक ब्राह्मण धर्म से असंतुष्ट थे। सब जानते हैं कि नये धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे और पहिले अनुयायी सभी वर्गों से आये थे। पांचवे, ब्राह्मण धर्म जीवन को रस्म की रस्सियों से ऐसा बांध रहा था कि डर था कि कहीं जीवन का तत्त्व ही आंख से ओझल न हो जाय और रहा सहा

आनन्द भी मिट्टी में न मिल जाय । संसार के इतिहास में अनेक बार जीवन के तत्त्व ने रस्मों के धर्म से विद्रोह किया है । शायद ई० पू० छठवीं सदी में यहां भी ऐसी ही स्थिति थी । इस एकत्रित असंतोष के कारण नये धर्मों का बहुत प्रचार हो गया । पर इतिहासकारों की यह धारणा निर्मूल है कि इनके सामने ब्राह्मण धर्म लुप्तप्राय हो गया । न तो साहित्य से, न शिलालेखों से और न विदेशी यात्रियों के वर्णन से इस मत का समर्थन होता है । ब्राह्मण-धर्म कई सदियों तक मुख्य धर्म नहीं रहा पर वह मिटा नहीं; जनता के बहुत से भागों में उसका चलन बना रहा । इस स्थिरता के दो कारण थे । एक तो बहुत से लोग स्वभावतः पुरानी बातों के अनुयायी होते हैं, बाप दादों के मार्ग में प्रसन्न रहते हैं, नये मार्गों पर चलते हुये डरते हैं । दूसरे, विपत्ति से सचेत होकर ब्राह्मण धर्म नई परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन करने लगा । एशिया और युरोप के इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है कि स्थापित धर्म ने पहिले तो बदलने से इन्कार कर दिया पर जब प्रतिद्वन्दी धर्म चल पड़े तो उसकी आंखे खुल गईं और वह अपने को समय के अनुकूल बनाने लगा । अनुकूलन ही सर्वत्र जीवन और सफलता का मूल मंत्र है । अनुकूलन के कारण पुराने गिरते हुये धर्म फिर उठ गये हैं और बहुत सा खोया हुआ प्रभाव फिर पा सके हैं । हिन्दुस्तान में भी यही हुआ । नये धर्मों का प्रचार बढ़ने पर ब्राह्मण धर्म बदलने लगा और इस लिये क़ायम रहा । अस्तु, ई० पू० पांचवीं सदी से लगभग डेढ़ हज़ार बरस तक हिन्दुस्तान में मुख्यतः तीन धर्म प्रचलित रहे—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ।

ब्राह्मण धर्म की स्थिति

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विचारस्वातंत्र्य के कारण यह एक दूसरे पर बराबर प्रभाव डालते रहे और इन में भी बहुत सी शाखाएं हो गईं। प्रारंभ में जैन और बौद्धधर्मों का उपदेश लोक भाषाओं के द्वारा अर्थात् मागधी, अर्द्धमागधी के द्वारा दिया गया था जिस में साधारण जनता उसे अच्छी तरह समझ सके पर आगे चलकर इन धर्मों के लेखकों ने संस्कृत का भी प्रयोग किया। संस्कृत के साथ ब्राह्मण धर्म का बहुत सा प्रभाव भी आ गया। संस्कृत के अलावा एक और नई साहित्यिक भाषा पाली की सृष्टि हुई जो लोक भाषाओं से कुछ अधिक मिलती जुलती थी और जिसमें जैनों और बौद्धों ने सैकड़ों ग्रन्थ रचे।

पारस्परिक प्रभाव

जैन धर्म

जैन सिद्धान्त शायद बौद्ध सिद्धान्त से पुराना है। जैनों का विश्वास है कि जैन धर्म अनादि है, अनन्त है पर प्रत्येक प्रलय या पतन के बाद उपसर्पिणी और अवसर्पिणी कहलाने वाले महान् कल्पों में २४ तीर्थंकर फिर से इसका उपदेश देते हैं। २४ तीर्थंकरों के नाम हैं ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ. चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वसुपद्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तनाथ, कुंथनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान या महावीर[1]। पहिले तीर्थकर की उम्र, जैनमत के अनुसार, करोड़ों वर्ष की थी और शरीर मीलों लम्बा था पर कालदोष से धीरे २ मनुष्यों की उम्र में और क़द में कमी होती

जैनधर्म

[1] जैन ग्रन्थों में कुछ नामों के कई भिन्न २ रूप मिलते हैं।

गई। सम्भव है कि २४ में से कुछ तीर्थंकर ऐतिहासिक पुरुष हों। इतिहास से सिद्ध है कि २४ वें तीर्थंकर महावीर बुद्ध के समय में थे और अवस्था में उनसे कुछ बड़े थे। २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ई० पू० ८ वीं सदी में हुये थे और ऐतिहासिक पुरुष मालूम होते हैं। सम्भव है कि इनके भी पहिले नेमिनाथ या अरिष्टनेमि ने जैनधर्म चलाया हो पर इनका कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता। कई तीर्थंकरों के हाथों में बदलते हुये जैनधर्म ने अपना मुख्य रूप महावीर के समय में धारण किया। ई० पू० चौथी सदी में पाटलिपुत्र में एक बड़ा जैन परिषद् हुआ जिसमें सिद्धान्त की व्यवस्था की गई। दिगम्बरों के अनुसार पहिली ई० सदी में सिद्धान्त लिखा गया। ५ वीं ई० सदी में वलभी के परिषद् ने देवर्द्धिगणिन् की अध्यक्षता में जैन-सिद्धान्त को अन्तिम रूप दे दिया।

जैनसिद्धान्त

जैनसिद्धान्त किसी को इस संसार का कर्ता हर्ता नहीं मानता। संसार अनादि है, अनन्त है। प्रत्येक आत्मा भी अनादि और अनन्त है। जीव या आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र अर्थात् सर्वज्ञता, और परम सुख। पर कर्म के अनादि बन्ध से अधिकांश आत्माओं के इन स्वाभाविक गुणों पर थोडा या बहुत आवरण पड़ गया है।

जीव

जिन जीवों के गुण बिल्कुल विकृत हो गये हैं वह अशुद्ध जीव हैं, जिनके गुण कुछ विकृत हैं और कुछ ठीक हैं वह मिश्र जीव हैं। जिन आत्माओं के स्वाभाविक गुणों से आवरण बिल्कुल हट गया है वह शुद्ध जीव है—यह मोक्ष पा गये हैं और बहुत ऊंची सिद्धशिला पर केवलज्ञान और पूर्ण सुख से सदा रहेंगे। आप्त में यथार्थ भक्ति से, अर्थात् सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है; सम्यग्ज्ञान से सम्यक्चरित्र होता है और तब

मोक्ष हो जाती है। सात तत्त्व हैं जिनका यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। पहिला तत्त्व है जीव जिसका उल्लेख अभी कर चुके हैं। दूसरा है अजीव जिसके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल वह द्रव्य है जिसमें स्पर्श, रस, गंध और, वर्ण हों। इसके दो भेद हैं—अणु जिसका विभाग नहीं हो सकता और स्कंध अर्थात् अणुओं का समूह। जैन शास्त्रों में पुद्गल के ६ और भेद भी किये हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म। यहां स्थूलस्थूल बड़े पदार्थ काठ पत्थर इत्यादि हैं और सूक्ष्मसूक्ष्म अणु या परमाणु हैं।

पुद्गल

धर्म

दूसरा द्रव्य है धर्म जो अमूर्तीक है, सर्वव्यापी है और जीव और पुद्गल की गति में अर्थात् चलने में सहायता करता है। इसी तरह तीसरा द्रव्य अधर्म अमूर्तीक और सर्वव्यापी है और जीव और पुद्गल की स्थिति में अर्थात् ठहरने में सहायता करता है। जैन दर्शन में धर्म और अधर्म को केवल क्रिया या फल नहीं माना है किन्तु द्रव्य भी माना है।

अधर्म

आकाश

चौथा द्रव्य आकाश सब पदार्थों को अवकाश देता है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश जिसमें लोक के सब द्रव्य स्थान पाते हैं और अलोकाकाश जो आकाश ही आकाश है। पांचवां द्रव्य काल और सब द्रव्यों के परिवर्तन में सहायता करता है। यह भी सर्वव्यापी है।

काल

बाक़ी पांच तत्त्व

आध्यात्मिक घटना या अवस्था का निरूपण करने को माने गये हैं। रागद्वेष इत्यादि के कारण मन से, वचन से या शरीर से जो क्रियाएं होती हैं उनके कारण कर्म परमाणु

कर्म

खिंचकर आत्मा के पास आते हैं। इसे आस्रव कहते हैं। जैन सिद्धान्त में कर्म को पुद्गल या द्रव्य का भाग माना है और कहा है कि उसके परमाणु रागद्वेषादिपूर्ण क्रिया के कारण आत्माकी ओर स्वभावतः खिच आते हैं। यह परमाणु क्रिया के प्रकार के अनुसार अपने रससंयुक्त आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध करते हैं, अर्थात् चिपट जाते हैं, अर्थात् बंध जाते हैं। यह चौथा बन्धतत्त्व है। कर्म बन्ध होने पर कर्मानुसार फल भोगना पड़ता है। इस तरह कर्म का फल एक स्वाभाविक नियम है; यहां किसी परमेश्वरकी अपेक्षा नहीं है। जब तक कर्म हैं तबतक फलस्वरूप जन्म मरण है, सुख दुख है, संसार का झंझट है। इस लिये कर्म को रोकना चाहिये। रागद्वेष आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। यह पांचवा तत्त्व संवर है। पहिले के बंधे हुये कर्म परमाणुओं को आध्यात्मिक बल, योग, तप इत्यादि से नष्ट करना निर्जरा है। यह छठा तत्त्व है। कर्म के सर्वथा नाश होने पर पुनर्जन्म इत्यादि के सब कारण मिट जाते हैं, आत्मा के सब आवरण हट जाते हैं, स्वाभाविक गुण सदा के लिये प्रगट हो जाते हैं, अर्थात मोक्ष हो जाती है। यह मोक्ष सातवां तत्त्व है। स्मरण रखना चाहिये कि मोक्ष पुण्य कार्यों से नहीं मिलती; पुण्य से सांसारिक सुख और ऐश्वर्य मिल सकता है, स्वर्ग मिल सकता है पर मोक्ष नहीं। मोक्ष तो भले और बुरे, पाप और पुण्य, सब ही कर्मों के नाश से मिलती है। अतएव मोक्ष के लिये कर्म को छोड़ना, संसार को छोड़ना, आवश्यक है। पर सब

आस्रव

बन्ध

संवर

निर्जरा

मोक्ष

लोगों में सन्यास की योग्यता नहीं है या शक्ति नहीं है। इस लिये दो तरह से धर्म का उपदेश देना ज़रूरी है—एक तो साधुओं या सन्यासियों के लिये, दूसरे गृहस्थ या श्रावकों के लिये। श्रावकों को चाहिये कि इस तरह जीवन निर्वाह करें कि अन्त में आसानी से निवृत्ति मार्ग ग्रहण कर सकें। श्रावकों को पांच अणुव्रतों का पालन करना चाहिये—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जान बूझ के किसी द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी की हत्या न करना अहिंसा है। एकेन्द्रिय वाले पृथ्वीकाय आदि की हिंसा छोड़ना तो गृहस्थ के लिये असम्भव है पर दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा न करनी चाहिये और न उन्हें किसी तरह का कष्ट पहुँचाना चाहिये। अहिंसा के पांच अतीचार हैं, छेदना, बांधना, पीड़ा पहुंचाना, बहुत बोझा लादना, और खाना पीना रोकना। इस सब को बचाना चाहिये। शिकार कभी न खेलना चाहिये, मांस न खाना चाहिये, शराब न पीना चाहिये क्योंकि इसमें बहुत जीव होते हैं। इसी तरह शहद भी न खाना चाहिये। ऊमर, कठूमर, पीपर, बड़ और पाकर यह पांच उदुम्बर फल भी छोड़ देने चाहिये क्योंकि इनके भीतर जीव बहुत हैं। सब जैन ग्रन्थों में अहिंसा पर सब से ज़्यादा ज़ोर दिया है। साफ़ २ कहा है कि हिंसा करने वाले जीव—शेर, बाज़, वग़ैरह—को भी न मारना चाहिये। दूसरा अणुव्रत है सत्य। झूठ कभी न बोलना चाहिये, अप्रिय, निन्द्य, कठोर, पापपूर्ण, प्रलापरूप बात कभी न कहनी चाहिये। कभी चुग़ली न करनी चाहिये। यदि गृहस्थ अपने व्यवसाय के कारण पापसहित वाणी

श्रावकधर्म

अहिंसा

सत्य

का पूरा त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम झूंठ बोलने का तो त्याग करना ही चाहिये। तीसरा अणुव्रत है अस्तेय अर्थात् चोरी कभी न की जाय। चोरी करना भी एक तरह की हिंसा है। न किसी को चोरी का उपाय बताना चाहिये, न चोरी का माल लेना चाहिये, न बढ़िया चीज़ में घटिया चीज़ मिलानी चाहिये, न राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना चाहिये, न बांट, तराज़ू, वग़ैरह में धोखा देना चाहिये। चौथा अणुव्रत ब्रह्मचर्य है। कम से कम पराई स्त्री का त्याग तो कर ही देना चाहिये; काम की तीव्र तृष्णा मेटनी चाहिये। पांचवें अणुव्रत अपरिग्रह का अभिप्राय है कि संसार का झंझट जहां तक हो सके कम करना चाहिये; पराई सम्पत्ति में ज़रा भी ममता न करनी चाहिये। अपनी सम्पत्ति में भी बहुत ममता न करनी चाहिये। केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार धन धान्य इत्यादि रखने चाहिये; बाक़ी में निस्पृहता होनी चाहिये। राग, द्वेष, क्रोध, मान, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इत्यादि का त्याग करना चाहिये। अणुव्रतों का पूरा पालन करने से स्वर्ग में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व वशित्व महागुण सम्पन्न देवजन्म मिलता है, अवधिज्ञान होता है अर्थात् क्षेत्रविशेष की सब बातों का ज्ञान होता है। पर यह सुख भी चिरस्थायी नहीं है। मनुष्य को केवल अणुव्रतों पर ही संतोष न करना चाहिये। तीन गुणव्रतों का भी पालन करना चाहिये—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण। दस दिशाओं में अपने आने जाने की मर्यादा बांधना दिग्व्रत है। ऐसे कामों का

अस्तेय

ब्रह्मचर्य

अपरिग्रह

गुणव्रत

छोड़ना जिनसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं सिद्ध होता पर पाप की सम्भावना है, अनर्थदण्डविरति का गुणव्रत है। अपने एक वार या अनेक बार भोग करने की वस्तुओं का परिमाण बांध लेना भोगोपभोगपरिमाण है। इनके भी अतीचार वर्णन किये हैं जैसे अनर्थदण्ड के अतीचार हैं पाप का उपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति, प्रमादचर्या। दुःश्रुति से उन शास्त्रों का अभिप्राय है जो मिथ्या उपदेश देते हैं, राग, द्वेष, मद या काम पैदा करते हैं, आरंभ अर्थात् व्यवसाय, संग अर्थात् धन धान्य आदि परिग्रह, साहस अर्थात् वीरता इत्यादि के कर्म के सम्बन्ध मे ग़लत उपदेश करते हैं। भोगोपभोगव्रत के भी पांच अतीचार हैं—अनुप्रेक्षा अर्थात् परिणाम के राग को न घटाना; अनुस्मृति अर्थात् पहिले भोगे हुये विषयों की याद करना; अतिलौल्य अर्थात् भोग के समय बहुत आसक्ति; अतितृष्णा अर्थात् आगामी भोग की अभिलाषा; अनुभव अर्थात् भोग का ध्यान करना।

शिक्षाव्रत

गुणव्रतों के अलावा चार शिक्षाव्रत हैं—देशावकाशिक अर्थात् दिशाओं में जाने की मर्यादा को दिन पर दिन घटाना, सामायिक अर्थात् सब पापों को छोड़कर नित्य एकान्त शान्त वन, भवन, या चैत्यालय में बैठकर या खड़े होकर साम्यभाव को प्राप्त हुये देवों का एकाग्र मन से चिन्तन करना; प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी इत्यादि को धर्मध्यान में तत्पर होकर उपवास करना; और वैयावृत्य अर्थात् कपट, कषाय, ईर्षा इत्यादि के बिना आहार औषधि, उपकरण, आवास का दान करना, मुनियों की पूजा और शुश्रूषा करना, जिनेन्द्र अर्थात् अरहंत देव की पूजा करना। इन्हीं भिन्न २ व्रतों के आधार पर १६ भावनाओं की कल्पना की है।

दूसरी तरह से धर्म के दस लक्षण कहे हैं—उत्तम क्षमा अर्थात् क्रोध को पूरे तौर पर जीतना; उत्तम मार्दव अर्थात् गर्व को जीतकर मृदुता धारण करना; उत्तम आर्जव अर्थात् कुटिलता को छोड़कर सरलता धारण करना; उत्तम सत्य, उत्तम शौच अर्थात् हिंसा, लोभ, माया, मद, मोह इत्यादि दूर कर, मुक्ति पानेवालों का ध्यान कर आत्मा को पवित्र करना; उत्तम संयम अर्थात् अणुव्रतों को धारण कर के पथ्य से रहना; उत्तम तप अर्थात् इन्द्रियों का निरोध करना, संसार के विषयों से विरक्त होना, वन पर्वत या गुफ़ा में नंगे शरीर पर गर्मी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी, सांप, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र, रीछ इत्यादि की वेदना सहना; उत्तम त्याग अर्थात् धन सम्पदा इत्यादि को विष बराबर समझ कर त्याग करना, तरह २ के दान देना; उत्तम आकिंचन्य अर्थात् यह अनुभव करना कि आत्मा के वास्तविक रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को छोड़कर मेरा कुछ नहीं है, कोई अन्य द्रव्य मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ; उत्तम ब्रह्मचर्य अर्थात् सब विषयों में अनुराग छोड़कर आत्मा को आत्मा के ही ध्यान में लगाना। स्मरण रखना चाहिये कि व्रत या धर्म के पालन के लिये तीन शल्यों का अभाव आवश्यक है—निदानशल्य अर्थात् आगामी वांछा का शल्य; मायाशल्य अर्थात् सरलता के बजाय मायाचार करना; और मिथ्यात्वशल्य अर्थात् असत्य विश्वास करना। जैन लेखकों ने शास्त्रों के स्वाध्याय पर सब जगह जोर दिया है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं—पढ़ना, पूछना, अनुप्रेक्षा अर्थात् बारम्बार अर्थ का मनन करना, आम्नाय अर्थात् दोषों को छोड़कर साफ़ २ पढ़ना, और धर्मोपदेश। यह स्वाध्याय एक तरह का आभ्यंतर तप है। पांच और आभ्यंतर तप हैं—प्रायश्चित्त

धर्म के लक्षण

जिसके नौ मुख्य भेद हैं और छोटे २ बहुत से भेद हैं; विनय जिसके पांच भेद हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चरित्रविनय, तपविनय, उपचारविनय; वैयावृत्य अर्थात् ग्लानि का अभाव, दुखियों का उपकार, पूज्यों की पूजा; कायोत्सर्ग अर्थात् आभ्यन्तरिक क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा इत्यादि और बाह्य धन धान्य इत्यादि का त्याग, समय आने पर भोजन इत्यादि सब छोड़ कर सल्लेखना करना यानी मरना; ध्यान अर्थात् एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना, आर्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादि छोड़ना, सत्य का, धर्म का, ध्यान करना। धर्मध्यान मे बारह भावना बराबर सोचनी चाहिये—अनित्य अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि सब अनित्य हैं; अशरण अर्थात् देव दानव मनुष्य आदि कोई भी ऐसा नहीं है जो कालचक्र से मुक्त हो; संसार अर्थात् अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कर्म के कारण पराधीन चारों गतियों में भटक रहा है; एकत्व अर्थात् वास्तव में आत्मा अकेला है; अन्यत्व अर्थात् कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, धन दौलत सब न्यारे हैं; अशुचि, अर्थात् यह देह रुधिर मांस हड्डी और दुर्गन्ध से भरी अपवित्र है; आस्रव अर्थात् मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत इत्यादि के अनुसार मन वचन काय से शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव होता है और जन्ममरण का चक्र चलता है; संवर अर्थात् संयम, आरम्भ त्याग या सम्यग्दर्शन से कर्म का आस्रव रुक जाता है; निर्जरा अर्थात् ज्ञानी, वीतरागी, मदरहित निदानरहित आत्मा बारह प्रकार का तप कर के कर्मों को झाड़ देता है; लोक अर्थात् इस लोक में अनन्तानन्त जीव हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश हैं, लोक के परे अनन्तानन्त आकाश है; बोधिदुर्लभ अर्थात् एक तो मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है, उसमें भी अच्छे

देश काल में पैदा होना दुर्लभ है, तिस पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है; धर्म अर्थात् धर्म में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण विरले ही करते हैं, सुख का मुख्य कारण धर्म है। धर्मध्यान चार तरह का है—पिण्डस्थध्यान, पदस्थध्यान, रूपस्थध्यान और रूपातीतध्यान जिनके अनेक भेद हैं और जो वास्तव में योग हैं। जैनशास्त्रों में शुक्ल ध्यान या योग के और भी चार भेद किये हैं, पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। इस प्रकार गृहस्थ को धर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करना चाहिये और उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये। जैनसिद्धान्त में परहिंसा के साथ २ साधारण आत्मघात भी मना है पर एक प्रकार के आत्मघात, सल्लेखना, की इजाज़त दी है। बुढ़ापे में या निष्प्रतीकार बीमारी होने पर या दुर्भिक्ष पड़ने पर, या कुराज्य इत्यादि घोर विपत्ति पड़ने पर मनुष्य शुद्धमन होकर स्नेह, वैर, संग और परिग्रह छोड़े, घर बाहर के सब लोगों को प्यारे बचनों से क्षमा करे, अपने सब पापों की आलोचना करे, महाव्रतों का आरोपण करे, शोक, भय, विषाद, अरति इत्यादि सब छोड़े, भोजन त्याग करे, फिर पीने का त्याग करे और समाधि मरण करे।

गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है पर पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती, कर्म का पूरा क्षय नहीं हो सकता.

मुनिधर्म

सकल चारित्र नही होता और केवल-ज्ञान या मोक्ष असम्भव है। इस लिये जब हो सके तब घर बार छोड़ कर वैराग्य लेना चाहिये। विरक्तों या मुनियों का धर्म कुछ तो वैसा ही है जैसा उच्चकोटि के गृहस्थों का पर यहां कर्म बहुत कम हैं, तप और ध्यान बहुत हैं और वैराग्य, ज्ञान और चारित्र की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

बाईस परीषह हैं जो मुनि को जीतने चाहिये अर्थात् (१) क्षुधा—बहुत भूखे होने पर भी भूख की परवा न करना (२) तृषा—बहुत प्यासे होने पर भी पानी न पीना (३) शीत—पद्मासन में स्थित तपस्या करते हुये कड़े से कड़ा जाड़ा सहना (४) उष्ण—कड़ी से कड़ी गर्मी और गर्म से गर्म लू सहते हुये तप करना

परीषह

(५) नग्न—ऊन, सूत, घास, वल्कल, चर्म आदि सब तरह के कपड़े त्याग कर बन में अकेले रहना और शरीर सम्बन्धी कोई विकार न होने देना (६) याचना—किसी से कुछ न मांगना, (७) अरति—इष्ट अनिष्ट सब वस्तुओं में रागद्वेष छोड़ना, शत्रु और मित्र, मिट्टी और सोना, महल और जङ्गल सब को बराबर समझना (८) अलाभ—भोजन के लिये जाने पर भोजन न मिले तो खिन्न न होना (९) दंशमशकादि—वन में नंगे शरीर मच्छर, सांप, खनखजूर इत्यादि के लिपटने पर भी शान्तिपूर्वक ध्यान में लगे रहना (१०) आक्रोश—नग्न अवस्था पर दुष्टों के बुरे वचनों का ज़रा भी बुरा न मानना और चित्त में पूर्ण क्षमा धारण करना, (११) रोग—रोग की पीड़ा सहते हुये भी किसी तरह की दवा न करना (१२) मल—शरीर के बहुत मलिन हो जाने पर भी स्नान न करना पर चित्त को निर्मल रखना (१३) तृणस्पर्श—कांटा, कंकड़ चुभजाने पर उन्हें निकालने का कोई यत्न न करना और न खिन्न होना (१४) अज्ञान—तपस्या करने पर भी पूरा ज्ञान न होने पर खेद न करना; अपनी अज्ञानता पर दूसरों के ताने सुनकर दुखी न होना (१५) अदर्शन—यदि तपस्या करने पर भी कोई ऋद्धि सिद्धि आदि अतिशय न प्रगट हों तब भी संयम की शक्ति में संशय न करना. खेद न करना, सम्यग्दर्शन को दूषित न करना

और अपने पथ पर स्थिर रहना (१६) प्रज्ञा—बुद्धि का पूरा विकास होने पर किसी तरह का घमंड न करना (१७) सत्कार पुरस्कार—ऊंचे से ऊंचा सत्कार और तीव्र से तीव्र तिरस्कार होने पर भी समानभाव धारण करना (१८) शय्या—कंकड़, पत्थर, कांटे से भरी ज़मीन पर सोने में कोई दुःख न मानना (१६) चर्य्या—सवारी की इच्छा न करते हुये, मार्ग का कष्ट न मानते हुये, ज़मीन साफ़ करते हुये चलना (२०) वधबंधन-दुष्टों के द्वारा बांधे जाने पर या मारे जाने पर समता पूर्वक दुख सहना (२१) निषद्या—निर्जन बन में, हिंसक जीवों के स्थानों में, अंधेरी गुफाओं में, श्मशान इत्यादि में रहते हुये भी किसी तरह का दुख न मानना (२२) स्त्री—सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों के हाव भाव इत्यादि से किसी तरह विचलित न होना।

कर्म

कर्म जिसका नाश करने के लिये यह सब किया जाता है आठ तरह का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म परदे की तरह आत्मा पर पड़ जाता है और यथार्थ तत्त्वज्ञान नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म यथार्थ श्रद्धा नहीं होने देता। वेदनीय कर्म कुछ दिन भले ही सुख दिखाये पर अन्त में बहुधा दुख ही देता है। यह शहद लगी हुई छुरी के समान है। मोहनीयकर्म जिसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय—शराब की तरह आत्मा को मतवाला कर देता है और संसार के मोह में फँसा देता है। आयुकर्म बार २ जन्म कराता है और जब तक रहता है जन्ममरण का चक्र चलाता रहता है। नामकर्म निश्चय करता है कि आत्मा, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च इत्यादि किस गति में जायगा। गोत्र कर्म से पैदा

होने के गोत्र की उच्चता या नीचता स्थिर होती है। अन्तराय-कर्म दान लाभ आदि में बाधा डालता है। इन कर्मों के परमाणु भावनाओं से खिचकर आत्मा से चिपट जाते हैं और सारा अनर्थ करते हैं। कर्मबन्ध चार तरह का है—प्रकृतिबन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबंध। जीव से अपने स्वभाव के अनुसार कर्म का सम्बन्ध होना प्रकृतिबन्ध है। अलग २ कर्म-परमाणुओं का अलग २ मर्यादा लिये स्थिर होना स्थितिबंध है। दर्शनमोहनीय कर्म की ज़्यादा से ज़्यादा स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की है; चारित्रमोहनीय की चालीस कोडा कोड़ी सागर की; ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की चालीस कोड़ा कोड़ी सागर की; नाम और गोत्र की बीस कोड़ा कोड़ी सागर की और आयु की तैतीस सागर है। एक कोड़ा कोडी सागर में इतने बरस होते हैं कि अङ्कगणित के द्वारा प्रकट करना असम्भव सा है। कर्मों की कम से कम स्थिति मुहूर्तों की है; वेद-नीयकर्म की बारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और बाक़ी की अन्तर्मुहूर्त है। यहां यह बताने का अभिप्राय है कि कौन सा कर्म ज़्यादा से ज़्यादा कब तक रह सकता है और कम से कम कब तक ज़रूर ही रहेगा। पर नये कर्मों का बन्ध संसारी जीव सदा करता रहता है और इस तरह चक्र मानो असं-ख्यात वर्ष तक चला करता है। जब कर्म उदय होकर फल देते हैं तब उनका सम्बन्ध अनुभागबन्ध कहलाता है। कर्म के अनुसार यह कभी शुभविपाक होता है और कभी अशुभविपाक। आत्मा के प्रदेशों और पुद्गल कर्म परमाणुओं के प्रदेशों का एक साथ रहना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

शुद्धनय से तो सभी जीव शुद्ध हैं पर अशुद्धनय से उनके १४ प्रकार माने हैं जो गुणस्थान कहलाते हैं। पहिला गुणस्थान

है मिथ्यात्व जिसमें जीव सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश में श्रद्धा न कर के मिथ्या बातें मानता है । दूसरा गुण-स्थान है सासादन जिसमें जीव मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच में रहता है । तीसरे गुण-स्थान, मिश्र, में जीव कुछ उपदेश तो सर्वज्ञ वीतराग का मानता है और कुछ दूसरों का। चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि में जीव सर्वज्ञ के उपदेश को मानता है पर इन्द्रियसुखों में भी लगा रहता है। पांचवें गुणस्थान देशविरत में जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ अणुव्रत इत्यादि का पालन करता है। पांचवें गुणस्थान में रहनेवाले श्रावकों के ११ भेद हैं जिन को प्रतिमा कहते हैं। (१) दर्शनिक जो सम्यग्दर्शन धारण करता है, मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों को त्यागता है (२) व्रतिक जो त्रस जीवों की हिंसा बिल्कुल छोड़ देता है और पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है। (३) तीनों काल में सामायिक करने से जीव तीसरी प्रतिमा में पहुँचता है। (४) प्रोषधोपवास करने से चौथी प्रतिमा में पहुँचता है। (५) सचित्त के त्याग से पाँचवी प्रतिमा मिलती है। (६) दिन को सदा ब्रह्मचर्य रखने से छठी प्रतिमा मिलती है । (७) सदा ब्रह्मचारी रहने से श्रावक सातवीं प्रतिमा में पहुँचता है । (८) आरम्भ आदि सब व्यापार छोड़ने से आठवीं प्रतिमा मिलती है । (९) वस्त्र इत्यादि परिग्रह छोड़ने से नवीं प्रतिमा को मनुष्य पहुँचता है। (१०) जब मनुष्य घर के कार बार में, जिसमें हिंसा होती ही है, सलाह देना भी छोड़ देता है तब दसवीं प्रतिमा को पहुँचता है । (११) अपने लिये बनाया हुआ भोजन भी जो छोड़ दे वह ग्यारहवी प्रतिमा का श्रावक है। इन ग्यारह प्रतिमाओं में पहिली छः जघन्य, फिर तीन मध्यम और अन्तिम

चौदह गुणस्थान

को उत्तम मानी गई हैं । यह सब पांचवें गुणस्थान के भेद हैं । छठे गुणस्थान प्रमत्तसंयत में वह जीव हैं जिन्होंने क्रोध आदि का त्याग कर दिया है, बाह्यरूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग कर दिया है, जिन को सम्यग्दर्शन है और जो शुद्ध आत्मा से उत्पन्न सुख का अनुभव कर सकते हैं, पर जिन को कभी २ बुरे स्वप्न होते हैं और कभी २ प्रमाद भी होता है । सातवें गुणस्थान अप्रमत्त-संयत में व्यक्त अर्थात् प्रगट और अव्यक्त अर्थात् अप्रगट प्रमाद जाते रहते हैं । आठवें गुणस्थान अपूर्वकरण में पुराने संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर बड़े आह्लाद का अनुभव होता है । नवें गुणस्थान अनिवृत्तिकरण में जीव देखे, सुने और अनुभव किये सब संकल्प विकल्पों को छोड़ कर आत्मस्वरूप का एकाग्र ध्यान करता है, चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकार की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण मे समर्थ होता है। दसवें गुणस्थान सूक्ष्मसांपण्य में जीव सूक्ष्म आत्मतत्त्व की भावना की शक्ति से सूक्ष्म लोभ कषाय का उपशमन और क्षपण करता है । ग्यारहवें उपशान्तमोह मे आत्मा के ज्ञान की शक्ति से सारा मोह शान्त हो जाता है । बारहवें क्षीणमोह में शुद्ध आत्मा की भावना के बल से कषाय बिलकुल नष्ट हो जाते हैं । तेरहवें संयोगिकेवलिजिन में आत्मा मोह का नाश कर देता है, ज्ञाना-वरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों को बिलकुल नष्ट कर देता है, तब आत्मा का शुद्ध रूप प्रगट हो जाता है, पूरा निर्मल केवलज्ञान हो जाता है, लोकालोक सब हस्तकमल-वत् भासने लगते हैं । संक्षेप में, आत्मा कर्म को जीत कर जिन हो जाता है । चौदहवें अयोगिकेवलिजिन गुणस्थान में आत्मा के प्रदेशों का संचलन भी बंद हो जाता है और सदा

के लिये जन्ममरणरहित, कर्मरहित, परम अलौकिक, अनिर्वचनीय, एक मात्र अनुभवगम्य सुख हो जाता है। एक दूसरी दृष्टि से जैनशास्त्रों में १४ मार्गणाओं का भी वर्णन किया है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार पर इनकी व्याख्या में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो और व्याख्याओं में न आ गया हो।

ज्ञान

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुये जैनदार्शनिकों ने ज्ञान के पांच भेद किये हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय, और केवल। मतिज्ञान पांच इन्द्रियों से और मन से होता है पर यह बाह्य-कारण हैं। अंतरंगकारण यह है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से यह प्रगट होता है। इसके चार भेद हैं—अवग्रह अर्थात् सत्तामात्र जानना, ईहा अर्थात् विशेष प्रकार से जानना; अवाय अर्थात् इस विशेष ज्ञान का चिन्हों, लक्षणों द्वारा निश्चय करना; धारणा अर्थात् ऐसा ज्ञान करना कि कालांतर में भी न भूले। पदार्थों की दृष्टि से यह मति ज्ञान छः तरह का है—बहु अर्थात् बहुत से पदार्थों का अवग्रह इत्यादि, बहुविधि अर्थात् बहुत तरह के पदार्थों का अवग्रह इत्यादि; क्षिप्र अर्थात् जल्दी से पदार्थों का ग्रहण; अनिःसृत अर्थात् थोड़े से अवग्रह इत्यादि के आधार पर बहुत सा समझ लेना; अनुक्त अर्थात् वचन सुने बिना ही अभिप्राय जान लेना; और ध्रुव अर्थात् बहुत समय तक यथार्थ निश्चलरूप से पदार्थों का जानना। ठीक इनके उलटे छः भेद और हैं—अल्प, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव। इस तरह पदार्थ की दृष्टि से मतिज्ञान के बारह भेद हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान के निमित्त से होता है और दो तरह का है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुत शास्त्रोक्त-ज्ञान है और शास्त्रों की दृष्टि से दो तरह का है—

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिप्रवादांग। यह जैनों के मुख्य शास्त्र हैं और प्रामाणिक हैं जिनके पढ़ने या सुनने से बहुत ज्ञान होता है। अल्प बुद्धि के या कम पढ़े लिखे लोगों के लिये अंगबाह्य है जिसके चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वेदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक. उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प. पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका। इनमें अंगों के मोटे २ सिद्धान्त और मुख्य उपदेश संक्षेप से बताये हैं। तीसरा अवधिज्ञान वह है जो क्षेत्र, काल, भाव और द्रव्य की मर्यादा में आत्मा के प्रत्यक्ष रूप से अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के बिना होता है। इसके दो भेद हैं भवप्रत्यय जो देवों और नारकी जीवों को होता है और क्षयोपशमनिमित्तक जो अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से जीवों के उत्पन्न होता है। क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञान के छः भेद हैं—अनुगामी जो दूसरे क्षेत्र या जन्म में भी जीव के साथ जाता है; अननुगामी जो इस तरह साथ नहीं जाता; वर्द्धमान जो बढ़ता रहता है; हीयमान जो घटता रहता है; अवस्थित जो एक सा रहता है; और अनवस्थित जो घटता बढ़ता रहता है। दूसरी तरह से अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय तो देशावधि ही होता है और क्षयोपशमनिमित्तक तीनों तरह का हो सकता है। चौथा मनःपर्ययज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं है,

मनःपर्ययज्ञान

आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के विकास से अर्थात् कर्मोपशम से होता है। मनःपर्ययज्ञान दूसरों के मनकी बातें जताता है।

इसके दो भेद हैं—ऋजुमति जो दूसरे के मन में सरलता से ठहरे हुये पदार्थों को जताता है और विपुलमति जो दूसरे के मन में सरलता तथा वक्रता से ठहरे हुये पदार्थों को जताता है। विपुलमतिमनःपर्यय श्रेष्ठ है क्योंकि वह परिणामों की विशेष विशुद्धता से होता है और केवलज्ञान तक बना रहता है। केवलज्ञान वह है जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के

केवलज्ञान

पूर्ण क्षय के बाद प्रगट होता है, जो वास्तव में शुद्ध आत्मा का स्वभाव है और जो एक समय में ही प्रत्यक्ष रूप से सब द्रव्यों को, सब क्षेत्रों को, सब भावों को, भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सब पदार्थों को, सब पर्यायों को, जानता है। किसी तरह की कोई भी चीज़ केवलज्ञान के बाहर नहीं हो सकती। उसकी सीमा में सब कुछ शामिल है।

पदार्थ के सर्वदेश का ज्ञान जिस प्रकार से होता है उसे प्रमाण कहते हैं। जो पदार्थ के एक देश को जताता है उसे नय कहते हैं। प्रमाण के विषय में जैन तत्त्वज्ञानियों का सिद्धान्त है कि इसके मुख्य दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—पारमार्थिकप्रत्यक्ष और सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष।

प्रमाण

पारमार्थिक प्रत्यक्ष से अभिप्राय उस ज्ञान का है जो आत्मा को अपने ही अधीन रह कर अपनी ही विशुद्धता से होता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसके दो भेद हैं—एकदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष जो एकदेशीय है, अर्थात् परिमित है जैसे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, और सर्वदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष जो सर्वव्यापी है अर्थात् जिसमें समस्त ज्ञान सम्मिलित हैं। ऐसा ज्ञान केवलज्ञान है जो कर्म का बन्ध छूटने पर और आत्मा के शुद्ध स्वरूप के पूर्ण विकास के

होने पर होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो नाक, कान, आँख जीभ आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है। जैन परमार्थदृष्टि से तो यह भी परोक्ष ज्ञान है क्योंकि वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो आत्मा के भीतर ही है और कर्म का आवरण हटने पर आप से आप प्रकट होता है। पर व्यवहार की दृष्टि से इन्द्रिजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है वह परोक्ष है और पांच तरह का है—स्मृति अर्थात् पहिली बात के स्मरण से उत्पन्न हुआ ज्ञान; प्रत्यभिज्ञान अर्थात् पहिली बात का स्मरण करके प्रत्यक्ष का निश्चय करना; का तर्क अर्थात् व्याप्तिज्ञान, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का ज्ञान जैसे जहां धुआं है वहाँ आग है; अनुमान अर्थात् लक्षणों या संकेतों से निश्चय करना; और आगम अर्थात् आप्त पुरुषों के रचे हुये शास्त्रों से ज्ञान।

नय

प्रमाण के द्वारा जाने हुये पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्यता से अनुभव कराना नय है। इसके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिकनय जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव करता है और पर्य्यायार्थिकनय जो पर्य्याय की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव कराता है। द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं—नैगम अर्थात् संकल्प मात्र से पदार्थ का ग्रहण करना जैसे घड़ा बनाने की मिट्टी लाने को जो जाता है वह कहे कि घड़े के लिये जाता हूँ; संग्रह अर्थात् सामान्यरूप से पदार्थों का ग्रहण करना जैसे छः द्रव्य या आठ कर्म; और व्यवहार अर्थात् सामान्य विषय की विशेषता करना जैसे द्रव्य के भाग करना, कर्म के भाग करना। पर्य्यायार्थिकनय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र जो केवल वर्त्तमान पर्याय का ग्रहण कराता है; शब्द जो व्याकरण इत्यादि के अनुसार दोष दूर कराता है; समभिरूढ़ जो पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ को

आरूढ़ करता है जैसे गौ शब्द का अर्थ है जो गमन करे पर बैठी हुई गाय को भी गाय कहते हैं; एवंभूत जो वर्तमान क्रिया को उसी प्रकार से कहता है जैसे सिर्फ़ चलती हुई गाय को गाय कहना। बहुत से जैन ग्रन्थों में नय के दो विभाग किये हैं—निश्चयनय जो पदार्थ के स्वरूप को ही मुख्य कर के बतलाता है और व्यवहारनय, उपचारनय या उपनय जो किसी प्रयोजन से नैमित्तिक भाव को बताता है या एक पदार्थ के भाव को दूसरे पदार्थ में आरोपण करता है। निश्चयनय दो तरह का है—शुद्ध और अशुद्ध। व्यवहारनय तीन तरह का है—सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार।

जैनस्याद्वाद

जैन दार्शनिकों ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया है कि किसी पदार्थ को समझने के लिये उसे अनेक दृष्टियों से देखना चाहिये। एक ही पदार्थ में अपेक्षा पूर्वक तरह २ के धर्म रहते हैं, विरुद्धधर्म रहते हैं। यह मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहलाता है। आठवीं ईस्वी सदी में शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्याद्वाद पर बड़ा कटाक्ष किया है। बहुत से ब्राह्मण दार्शनिकों ने स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चितवाद कहा है पर वास्तव में यह बात नहीं है। जैनदर्शन पदार्थ के गुणों या धर्मों में संशय नहीं करता वरन् केवल यह मानता है कि दृष्टिकोण के अनुसार यह गुण या धर्म भिन्न २ हैं। जैसे पुरुष एक है पर अपने पिता की दृष्टि से वह पुत्र है, स्वयं अपने पुत्र की दृष्टि से वह पिता है, भतीजे के लिये चचा है पर बाप के भाई के लिये भतीजा है, बड़े भाई के लिये छोटा भाई है, छोटे भाई के लिये बड़ा भाई है, स्त्री के लिये पति है, मामा के लिये भानजा है। इसी तरह शरीर की ओर से देखिये तो आदमी मरता है पर आत्मा की ओर से देखिये तो मर ही नहीं

सकता । स्याद्वाद का दार्शनिक प्रतिपादन सप्तभंगी न्याय है अर्थात् उसमें सात तरह के पक्षाभास हैं। (१) स्वयं वस्तु की अपेक्षा से देखिये तो उसका अस्तित्व है। यह हुआ स्यात् अस्ति। (२) पर किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से देखिये तो पहिली वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यह हुआ स्यात् नास्ति। (३) एक दम इन दोनों वस्तुओं की दृष्टि से देखिये तो कहना पड़ेगा कि है भी और नहीं भी है। यह हुआ स्यात् अस्ति नास्ति। (४) पर यह भी हो सकता है कि एक वस्तु के बारे में अन्य दो वस्तुओं की अपेक्षा से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह हुआ स्यात् अवक्तव्य (५) यह भी सम्भव है कि इन दो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर केवल एक वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह है। यह हुआ स्यात् अस्ति अवक्तव्य। (६) पर यहां दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह नहीं है। यह हुआ स्यात् नास्ति अवक्तव्य (७) एक वस्तु के लिये अन्य दो वस्तुओं के लिये एक दम उत्तर देना असम्भव हो पर बारी २ से कहा जा सके कि यह है और नहीं है तो स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य हुआ[१]।

बौद्ध धर्म

जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के समय में अर्थात् ई० पू० ६--५ वीं सदी में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम सिद्धार्थ ने बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु इत्यादि के दृश्य देख कर संसार से विरक्त होने पर छः बरस व्यर्थ तप करने के बाद गया में बुद्धि पाई। बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होकर उन्होंने पहिले बनारस के पास सारनाथ

---

१ स्याद्वाद के लिये देखिये समवायांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, प्रज्ञापनसूत्र, सिद्धसेन दिवाकर, सम्मति तर्कसूत्र, समंतभद्र, आप्तमीमांसा, मल्लिसेनसूरि, स्याद्वादमंजरी ॥

में और फिर उत्तर हिन्दुस्तान में ३५ बरस घूम २ कर उपदेश दिया और अपने धर्म का चक्र चलाया। इन उपदेशों के आधार पर उनके शिष्यों ने और शिष्यों के उत्तराधिकारियों ने बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन का रूप निश्चय किया।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य तीन पिटकों में है—(१) सुत्त जिसमें पांच निकाय हैं—दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक—जिनमें सिद्धान्त और कहानियां हैं (२) विनय जिसके पांच ग्रन्थ पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग, सुत्तविभंग और परिवर में भिक्खु, भिक्खुनियों के नियम हैं और (३) अभिधम्म जिसके सात संग्रहों में तत्वज्ञान की चर्चा है। इनका मूल पाली संस्करण लंका, स्याम और बर्मा में माना जाता है और आगे का संस्कृत संस्करण नैपाल, तिब्बत और एक प्रकार से चीन, जापान और कोरिया में माना जाता है। पाली ग्रन्थों की रचना रिह्ज़ डेविड्स, ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों ने ई० पू० ५वी ४र्थी सदी में मानी थी पर अब सिल्वां लेवी, कीथ आदि के अनुसंधान के बाद यह तीसरी सदी के लगभग मानी जाती है।

बौद्धधर्म

आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और संसार के सिद्धान्त बौद्ध धर्म ने भी माने हैं। बौद्धधर्म का उद्देश्य है जीव को दुख से छुड़ा कर परम सुख प्राप्त कराना। दुख का कारण है तृष्णा और कर्मबन्ध। तृष्णा अज्ञान और मोह के कारण होती है। आत्मा को ज्ञान होना चाहिये और मोह छोड़ना चाहिये। सच्चा

ज्ञान

ज्ञान क्या है? यह कि जीव जड़ पदार्थों से भिन्न हैं, विश्व में कोई चीज़ स्थिर नहीं है; सब बदलती रहती है, प्रतिक्षण बदलती हैं, यह बौद्ध क्षणिक-

वाद है। आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है: अनात्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह सिद्धान्त लगभग सब बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं पर इनकी व्याख्या कई प्रकार से की गई है। इनके अलावा और बहुत से सिद्धान्त भिन्न २ शास्त्रों में धीरे २ विकसित हुये हैं और इन सब के आधार और प्रमाण पर सैकड़ों पुस्तकों में बहस की गई है।

उपदेश

बौद्ध शास्त्रों में बुद्ध के वाक्य को प्रमाण माना है, बुद्ध भगवान् सब सच्चे ज्ञान के स्रोत हैं, बुद्ध ने जो कुछ कहा है खूब कहा है, ठीक कहा है। उदान-वर्ग के वद्धसुत्त, में ज़ोर दिया है कि जो सचाई को पहुँचना चाहता है वह बुद्ध का उपदेश सुने। बुद्ध इस सत्यता का उपदेश क्यों देते हैं? इस लिये कि दुख का निवारण हो और शान्ति मिले। यदि बुद्धि में श्रद्धा हो तो ज्ञान और शान्ति सब में बड़ी सहायता मिलेगी। पर अपनी बुद्धि से भी काम लेना चाहिये। बुद्ध भगवान् ने तो अपने शिष्यों से यहां तक कहा था कि मेरे सिद्धान्तो को मेरे। कारण मत स्वीकार करो वरन् अपने आप खूब समझ बूझकर स्वीकार करो।

संसार की समस्या

यह संसार कहां से आया है? किसने इसको बनाया है? क्या यह अनादि है, अनन्त है? इन प्रश्नों का उत्तर देने से स्वय बुद्ध ने इन्कार किया था क्योंकि इस छान वीन से निर्वाण में कोई सहायता नहीं मिलती। पर आगे चलकर बौद्धों ने यह मत स्थिर किया कि संसार का रचयिता कोई नहीं है। महायान बौद्धशास्त्रों में यह ज़रूर माना है कि बुद्ध इस संसार को देखते हैं और इसकी भलाई चाहते हैं, भक्तों को शरण देते हैं, दुखियो को शान्ति देते हैं। गौतम बुद्ध ने संसार को प्रधानतः दुखमय माना है और सांसारिक जीवन

का, अनुभवों का, अस्तित्व का, दर्जा बहुत नीचा रक्खा है पर दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने संसार के अस्तित्व से कभी इन्कार नहीं किया। यद्यपि कुछ आगामी बौद्ध ग्रन्थों से यह ध्वनि निकलती है कि जगत् मिथ्या है, भ्रम है पर सब से प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से इस मत का समर्थन नहीं होता। प्रारंभ से अन्त तक बौद्ध दर्शन में

क्षणवाद

इस बात पर अवश्य ज़ोर दिया है कि जगत् प्रतिक्षण बदलता रहता है; हर चीज़ बदलती रहती है; कोई भी वस्तु जैसी इस क्षण में है दूसरे क्षण में वैसी न रहेगी। जो कुछ है क्षणभंगुर है। दूसरी बात यह है कि जगत् में दुःख बहुत है, सच पूछिये तो दुख ही दुख है। यह दुख कर्म के बन्धन से होता है। कर्म के छुटने से बन्धन

निर्वाण

छुट जाता है और दुख दूर हो जाता है; सुख, शान्ति, मिल जाती है। यही निर्वाण है। जीवन काल में यह हो सकता है पर निर्वाण पाने के बाद जब शरीर छुट जाता है तब क्या होता है? पुनर्जन्म तो हो नहीं सकता; कोई दूसरा शरीर धारण नहीं किया जा सकता। तो क्या आत्मा का सर्वथा नाश हो जाता है, अस्तित्व मिट जाता है? या आत्मा कहीं परम अलौकिक अनन्त सुख और शान्ति से रहता है? इस जटिल समस्या का उत्तर बौद्धदर्शन के अनुसार देना बहुत कठिन है। स्वयं बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। संयुत्तनिकाय में वच्छगोत्त बुद्ध से पूछता है कि आत्मा रहता है या नहीं? पर बुद्ध कोई उत्तर नहीं देते[1]। मज्झिम निकाय में प्रधान शिष्य आनन्द भी इस प्रश्न का उत्तर चाहता है; यह जानना चाहता है कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? पर बुद्ध से उत्तर मिलता है कि आनन्द! इन बातों की शिक्षा देने को तो मैं ने शिष्यों

---

१. सयुत्त निकाय ४। ४००॥

को नहीं बुलाया है । अस्तु, यही मानना पड़ेगा कि जैसे बुद्ध ने जगत् की उत्पत्ति के प्रश्न को प्रश्नरूप में ही छोड़ दिया वैसे ही निर्वाण के बाद आत्मा के अस्तित्व को भी प्रश्नरूप में ही रहने दिया। उनका निजी विचार कुछ रहा हो या न रहा हो पर वह इस श्रेणी के तत्त्वज्ञान को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर मानते थे। उनका भाव कुछ ऐसा था कि मेरे बताये मार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त कर लो; फिर अन्तिम शरीर त्याग के बाद क्या होगा?—इसकी परवा मत करो; कुछ भी हो, व्यर्थ सिर मत मारो।

पर बुद्ध के इस ठंडे भाव से दार्शनिकों की जिज्ञासा न बुझी।

शून्य

बौद्धदार्शनिक इस प्रश्न को बार २ उठाते हैं। संयुत्तनिकाय में एक विधर्मी भिक्षु यमक बुद्ध के कथनों से यह नतीजा निकालता है कि मरने के बाद तथागत अर्थात् बुद्ध सर्वथा नष्ट हो जाता है, मिट जाता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, कोरा शून्य रह जाता है। सारिपुत्त को यह अर्थ स्वीकार नहीं है। बहुत प्रश्नोत्तर के बाद सारिपुत्त यमक से कहता है कि तथागत को तुम जीवन में तो समझ ही नहीं सकते; भला, मरने के बाद की हालत को क्या समझोगे? स्वयं बौद्धों ने इसे दो तरह से समझा। कुछ ने तो क्षणिक वाद के प्रभाव से यह समझा कि निर्वाण के बाद आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्तन नहीं हो सकता। सो, आत्मा का अस्तित्व मिट जाता है। पर कुछ लोगों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और निर्वाण के बाद शरीरान्त होने पर चेतन का अस्तित्व माना।

---

१ मज्झिमनिकाय १। ४२६॥

जब निर्वाण के बाद की अवस्था पर मतभेद था तब दार्शनिक दृष्टि से आत्मा और अस्तित्व के बारे में मतभेद होना स्वाभाविक था। कुछ बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि वस्तुतः आत्मा कुछ नहीं है; केवल उत्तरोत्तर होने वाली चेतन अवस्थाओं का रूप है; कोई स्थायी, अनश्वर, अनित्य या अनन्त वस्तु नहीं है; प्रतिक्षण चेतन परिवर्तन होता है, यही आत्मा है; परिवर्तन बन्द होते ही अवस्थाओं का उत्तरोत्तर क्रम टूटते ही, आत्मा विलीन हो जाता है, मिट जाता है। इसके विपरीत अन्य बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पृथक् वस्तु मानते हैं; वह परिवर्तन स्वीकार करते हैं पर आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के आधार पर। प्रतिक्षण परिवर्तन तो जड़ पदार्थों में भी होता है पर जड़ और चेतन एक नहीं हैं, भिन्न २ हैं। आत्मा न निरी वेदना है, न निरा विज्ञान है, न केवल संज्ञा है। यह सब लक्षण या गुण उसमें है पर इनसे पृथक् कोई आत्मा है। इन दो विरोधी सिद्धान्तों के बीच में बहुत से दार्शनिक विचार हैं जो इधर या उधर झुकते हैं और जिनकी व्याख्या और समालोचना से संस्कृत और पाली बौद्ध साहित्य की सैकड़ों पुस्तकें भरी हैं।

आत्मा

जड़ या अचेतन के विषय में पहिले बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नई बातें कही हैं। साधारण हिन्दू दार्शनिक विश्वास के अनुसार यहाँ भी पृथिवी, तेज, वायु और जल तत्त्व माने हैं पर आकाश को कहीं २ तो तत्त्व माना है और कहीं २ नहीं। सब चीज़ें अनित्य हैं अर्थात् अस्थायी हैं; आगामी बौद्ध दार्शनिकों ने इन्हें क्षणिक कहा है। पहिले ग्रन्थों में अनित्यता या अनस्थिरता की विशेष समीक्षा नहीं की है पर आगे चल कर बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु, निदान, कारण

तत्त्व

या निमित्त इत्यादि की कल्पना करके इन परिवर्तनों को मानो एक ज़ंजीर से जोड़ दिया। जड़ और चेतन दोनों के विषय में कारण-वाद की व्याख्या बड़े विस्तार से की गई है।

जैनियों की तरह बौद्धों ने कर्म को जड़ पदार्थ नहीं माना है।

कर्म

कर्म वास्तव में आत्मा की चेतना है जिसके बाद क्रिया होती है। कर्म के अनुसार अवस्था बदल जाती है पर कर्म के कोई जड़ परमाणु नहीं हैं जो आत्मा से चिपट जाते हों। कर्म की शृंखला तोड़ने के लिये शील, समाधि और प्रज्ञा आवश्यक हैं जिनकी विवेचना तरह २ से बौद्ध दार्शनिकों ने की है।

जीवन का मार्ग

शील या सदाचार का वर्णन करते हुये बौद्धों ने जीवन का धर्म बताया है। जैन साहित्य की तरह बौद्ध साहित्य में भी सब जगह अहिंसा, संयम, इन्द्रियदमन, त्याग, दान इत्यादि पर बहुत ज़ोर दिया है। सब हिन्दू धर्मों की तरह यहां भी सत्य का उपदेश दिया है, ब्रह्मचर्य की महिमा गाई है। तपस्या पर उतना ज़ोर नहीं है जितना ब्राह्मण और जैन शास्त्रों में पर उसका तिरस्कार भी नहीं किया है। बौद्धों ने भी आध्यात्मिक ध्यान की आवश्यकता स्वीकार की है और बाद के शास्त्रकारों ने योग के बहुत से उपचार और प्रकार बताए हैं[1]।

पारस्परिक प्रभाव

स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध, जैन और अनेक ब्राह्मण दर्शन लगभग एक ही समय निकले थे; समय के कुछ विचारों को सब ने स्वीकार किया है; नैतिक जीवन के एक से ही आदर्श सब ने

---

१. बौद्ध धर्म और दर्शन पर वह ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में इस पुस्तक में किया गया है।

माने हैं। यह सब दर्शन या धर्म डेढ़ हज़ार बरस तक साथ २ रहे, एक दूसरे पर बराबर इनका प्रभाव पड़ता रहा, दार्शनिक विकास और पारस्परिक प्रभाव के कारण इनमें नये नये पन्थ निकलते रहे जो मूल सिद्धान्तों का बहुत सा भाग मानते रहे और जिनका प्रभाव दूसरे पन्थों पर ही नहीं वरन् मूलधर्मों और तत्त्वज्ञानों पर भी पड़ता रहा। मानों राजनीति की तरह धर्म और तत्त्वज्ञान में भी हिन्दुस्तान का संगठन संघसिद्धान्त के अनुसार था। कुछ बातों में एकता थी, कुछ में अनैक्य था; बहुत सी बातों में समानता थी; एक क्षेत्र धीरे २ दूसरे क्षेत्र में मिल जाता था।

संसार की उत्पत्ति

कुछ बौद्ध ग्रन्थों में संसार संगठन की उत्पत्ति बड़े मज़े से लिखी है। तिब्बती दुल्व के पांचवें भाग में बुद्ध भगवान भिक्षुओं से कहते हैं कि आभास्वर देवों के पवित्र, सुन्दर, चमकदार, अपार्थिव शरीर थे; आनन्द से बहुत दिन तक वह जीते थे। अभी तक पृथ्वी न थी पर इस अर्से में जल के साथ पृथ्वी मिल गई और फिर एक आंधी ऐसी चली कि सूखी धरती बाहर निकल आई। पुण्य क्षीण होने पर बहुत से आभास्वर देव पृथ्वी पर जन्मे। उनमें से कुछ ने समुद्र का पानी पिया जिससे उनकी चमक जाती रही। उसके बाद सूरज, चाँद और तारे प्रगट हुये और समय का विभाग शुरू हुआ। भोजन के भेद से लोगों के रंग अलग २ हो गये; जिनका रंग अच्छा था वह गर्वीले—अर्थात्—पापी हो गये। भोजन में बहुत से परिवर्तनों के बाद चावल का रिवाज बढ़ा जिसके खाने से लिङ्ग भेद हुआ—अर्थात् कुछ लोग पुरुष हो गये और कुछ स्त्री। प्रेम और विलास आरम्भ हुआ, मकान बनने लगे, लोग चावल जमा करने लगे, झगड़े हुए, सरहदें बनी, राजा की स्थापना हुई, वर्ण, श्रेणी, व्यवसाय इत्यादि के विभाग हुये।

गौतम बुद्ध ने अहिंसा, सदाचार और त्याग पर सब से ज़्यादा ज़ोर दिया है। उनका उपदेश मानकर संसार छोड़कर बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये और भिक्खु या भिक्षु कहलाये। कुछ दिन बाद आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्खुनी बनाना स्वीकार कर लिया। धम्मपद में बुद्ध ने भिक्खुओं को उपदेश दिया है कि कभी किसी से बुरा न मानना चाहिये, किसी से घृणा न करनी चाहिये; घृणा का अन्त प्रेम से होता है; भोग विलास में जीवन नष्ट न करना चाहिये; सरगर्मी से आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये; हृदय को शुद्ध करना चाहिये और भलाई करनी चाहिये[1]। सुत्तनिपात में संसार को बुरा बताया है; माता पिता, स्त्री पुत्र, धनधान्य, सब माया ममता छोड़कर जंगल में अकेले घूमना चाहिये[2]। महावग्ग के पब्बज्जासुत्त में भी घर के जीवन को दुखमय और अपवित्र बताया है और सन्यास का उपदेश दिया है। पर बुद्ध को कठिन तपस्या के बुरे नतीजे का तजरुबा था। इसलिये उन्होंने या कम से कम उनके उत्तराधिकारियों ने, भिक्खुओं और भिक्खुनियों को एक २ करके बहुत सी चीज़ें जैसे कुर्सी, चौकी, चारपाई, छोटे तकिये, चटाई, बरंडे, ढके चबूतरे, कपड़े, सुई, तागा, अरगन, मसहरी इत्यादि प्रयोग करने की इजाज़त दे दी[3]। मज्झिमनिकाय में बुद्ध ने साफ २ कहा है कि भिक्खुओं को विलास और क्लेश दोनों की अतियों से बचना चाहिये। प्रधान शिष्य आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में लेना स्वीकार कर लिया था पर अनुचित सम्बन्ध और लोकापवाद के डर

भिक्खुओं को उपदेश

---

१. धम्मपद १-२ ॥ १८३ ॥

२ सुत्तनिपात ३ ॥ ७ ॥ ८ ॥

३. चुल्लवग्ग ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

से बुद्ध ने धीरे २ भिक्खुओं को भिक्खुनियों से भोजन लेने से, उनको पातिमोक्ख सुनाने से, उनके अपराधों का विचार करने से, उनको हाथ जोड़ने या दण्डवत् करने से रोक दिया[1]। चुल्लवग्ग से ज़ाहिर है कि सन्यास के प्रचार से बहुत से कुटुम्ब टूट गये और ख़ास कर बूढ़े माता पिताओं को बड़ी वेदना हुई[2]।

सन्यास

मज्झिमनिकाय में सन्यासी होने वाले युवकों के मां बाप की यन्त्रणा का मर्मभेदी चित्र खींचा है। माताएं रोती चिल्लाती थीं, पछाड़ खाकर गिरती थीं, मूर्च्छित होती थी पर सन्यास में मस्त युवक स्नेह के सारे स्रोतों को सुखा कर अपने हृदय विचलित न होने देते थे[3]। ऐसी घटनाएँ जैनों की पुस्तकों में भी मिलती हैं।

गौतमबुद्ध का स्थापित किया हुआ बौद्धसंघ आत्मशासन के सिद्धान्त पर स्थिर था। इसकी कार्यवाही में राज्य की ओर से बहुत कम हस्तक्षेप होता था। संघ में भिक्खु

बौद्धसंघ

और भिक्खुनी दोनों के लिये एक समान नियम थे। संघ में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी, जो कुछ था, संघ का था, किसी विशेष भिक्खु या भिक्खुनी का नहीं। स्वयं गौतमबुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य से कहा था—" आनन्द ! मेरे बाद अगर चाहे तो संघ छोटे नियमों में परिवर्तन कर ले"। पर जब एक सभा में नियमों पर विचार हुआ तब इतना मतभेद प्रगट हुआ कि परिवर्तन

नियम

करना मुनासिब नहीं समझा गया। सभा ने निर्णय किया कि बुद्ध भगवान् जो कुछ

---

१. चुल्लवग्ग १० । २ । २ ॥ १० । ६ । १-३ ॥ १० । १५ । १ ॥

२. चुल्लवग्ग ७ ॥

३. मज्झिमनिकाय २ । ५४ । रट्ठपालसुत्त ८२ ॥

कह गये हैं, वही ठीक है, न उनके किसी नियम में परिवर्तन करना चाहिये और न कोई नया नियम बनाना चाहिये । यद्यपि बुद्ध के नियम संघ में सर्वत्र मान्य थे तो भी साधारण मामलों और झगड़ों का निपटारा प्रत्येक स्थान में प्रत्येक संघ अपने आप कर लेता था । संघ के भीतर सब कार्यवाही, सब निर्णय, जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार होते थे । महावग्ग और चुल्लवग्ग में संघसभाओं की पद्धति के नियम दिये हुये हैं । यहां धारणा है कि यह सारे पद्धतिनियम बुद्ध ने कहे थे पर सम्भव है कि कुछ उनके बाद जोड़े गये हों । यह नियम वर्तमान यूरोपियन प्रतिनिधि मूलक व्यवस्थापक सभाओं की याद दिलाते हैं । सम्भव है कि इनमें से कुछ तत्कालीन राजकीय सभाओं से लिये गये हों पर ऐतिहासिक साक्षी के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । नियम बहुत से थे । यहां केवल मुख्य नियमों का निर्देश काफ़ी होगा । जब तक निश्चित संख्या में सदस्य न आ जायँ तब तक सभा की कार्यवाही शुरू नहीं हो सकती थी । गण-पूरक का कर्तव्य था कि निश्चित संख्या पूरी करे । सभा में आने पर आसनपज्ञापक सदस्यों को छोटे बड़े के लिहाज़ से उपयुक्त स्थानों पर बैठाता था । कभी २ निश्चित संख्या पूरी होने के पहिले ही काम शुरू हो जाता था पर पीछे से इस काम की मंज़ूरी लेनी होती थी । स्वयं गौतमबुद्ध की राय थी कि ऐसा कभी होना ही नहीं चाहिये । प्रत्येक प्रस्ताव पर दो या चार चार विचार होता था । सब से पहिले ज्ञप्ति होती थी जिसमें सदस्य अपना प्रस्ताव सुनाता था और उसके कारण समझाता था । फिर प्रतिज्ञा होती थी जिसमें पूछा जाता था कि यह प्रस्ताव संघ को पसन्द है या नहीं ? महत्वपूर्ण मामलों में

शासन

यह प्रश्न तीन बार पूछा जाता था। इन स्थितियों में प्रस्ताव पर बहस होती थी, पक्ष और विपक्ष में तर्क किया जाता था। जब वक्तृताएं बहुत लम्बी हो जाती थीं या अप्रासंगिक बहस छिड़ जाती थी, या तीव्र मतभेद प्रगट होता था तब प्रस्ताव सदस्यों की एक छोटी समिति के सुपुर्द कर दिया जाता था। यदि समिति में भी समझौता न हो सके तो प्रस्ताव फिर पूरी सभा के सामने आता था। यदि यहाँ पर इस बार भी एक मत न हो सका तो कम्मवाचा होती थी अर्थात् प्रस्ताव पर सम्मति ली जाती थी। एक पुरुष सदस्यों को रंग २ की लकड़ी की शलाकाएं बांट देता था और समझा देता था कि प्रत्येक रंग का अर्थ क्या है ? खुल्लम खुल्ला या चुपके से, जैसा निश्चित हो, सम्मतियां डाली जाती थीं। येभूय्य-सिकस्स नामक नियम के अनुसार जिस ओर अधिक सम्मतियां आयें उसी पक्ष की जय होती थी अर्थात् वही माना जाता था। अनुपस्थित सदस्यों की सम्मति डालने का भी प्रबन्ध था। स्वीकृत होने पर प्रस्ताव कम्म अर्थात् कर्म कहलाता था। एक बार निर्णय हो जाने पर प्रस्ताव पर फिर बहस न होनी चाहिये और न उसे रद्द करना चाहिये—ऐसी राय गौतमबुद्ध ने दी थी पर कभी २ इसका उल्लंघन होता था[1]।

जैनसंघ

बौद्धों की तरह जैनियों के भी संघ थे जो जिनवाक्य को प्रमाण मानते थे, सम्पत्ति में समष्टि वादी थे और छोटे मोटे मामलों का फ़ैसला जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार करते थे। पर जैनग्रन्थों

---

१. पद्धति के लिये देखिये चुल्लवग्ग ४ । १० ॥ ९ । १ ॥ १२ । २ ॥ १२ । १ ॥ ४ । ९ ॥ ४ । १४ ॥ महावग्ग २ ॥ ३ । ६ ॥ ९ । ३ ॥

में पद्धति के सूक्ष्म नियम नहीं मिलते हैं। जैन साधुओं और साध्वियों के लिये जो साधारण नियम थे वह बौद्धों के से ही थे[1]।

बौद्ध संघ में नियम था कि नया भिक्खु—सद्धिविहारिक—दस बरस तक उपाज्झाय या आचारिक की सेवा में रहे। विद्वान भिक्खुओं के लिये पाँच बरस काफ़ी समझे जाते थे[2]। कभी २ इस उम्मेदवारी से बिलकुल मुक्ति भी दे दी जाती थी[3]। बुद्ध ने कहा था कि उपाज्झाय और सद्धिविहारिक में पिता पुत्र का सा सम्बन्ध होना चाहिये[4]। संघ में भरती सारी सभा की सम्मति से होती थी। कभी २ भिक्खु लोग आपस में बहुत झगड़े करते थे, और दलबन्दी करते थे[5]। संघ के सब भिक्खु पातिमोक्ख पाठ करने के लिये जमा होते थे; विद्वान् भिक्खु ही पाठ करा सकते थे[6]। उपाज्झाय और सद्धिविहारिक के सम्बन्ध पर जो नियम संघ में प्रचलित थे उन से नये सदस्यों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध हो जाता था। धीरे २ बौद्धसंघ इतना फैला कि देश में हज़ारों संघाराम बन गये। यह बौद्ध धर्म, शिक्षा और साहित्य के केन्द्र थे और मुख्यतः इन्हीं के प्रयत्नों से धर्म का इतना प्रचार हुआ।

शिक्षा

संघ की अवस्था

बौद्धों ने और जैनों ने सन्यास की ज़ोरदार लहर पैदा की पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें यह ढंग पसन्द न थे। एक युवती की

---

१ आचारांगसूत्र १ ॥ २ ॥

२ महावग्ग १ । ३२ । १ ॥ १ । ५३ । ४ ॥

३. महावग्ग १ । ५३ । ५ ॥

४. महावग्ग १ । २५ । ६ ॥

५. महावग्ग १० । १—५ ॥

६. महावग्ग ३ । २ । ३ ॥ २ । ४ । २ ॥ २ । ३ । ३ ॥

कथा है कि नंगे सन्यासियों से उसके मन में घृणा होती थी; उसका पति उन्हें मानता था पर वह उन्हें देखने से या उनसे कुछ पूछने से इन्कार कर देती थी[1]। बौद्ध धर्म की स्थापना के पहिले ही युवक गौतम को शुद्धोदन ने समझाया था कि बेटा! अभी त्याग का विचार न करो। उसके प्रस्थान पर सब को बड़ा क्लेश हुआ था। यशोधरा हिचकी भर २ रोती थी[2], बेहोश होती थी और चिल्लाती थी कि पत्नी को छोड़कर धर्म पालना चाहते हैं—यह भी कोई धर्म है? कहां है उसका धर्म जो स्त्री को छोड़कर तप करना चाहता है? वह कितना निर्दयी है, उसका हृदय कितना कठोर है जो अपने नन्हे से बच्चे को त्याग कर चला गया? शुद्धोदन ने फिर संदेशा भेजा कि अपने दुखी परिवार का अपमान न करो; दया परम धर्म है; धर्म जंगल में ही नहीं होता, नगर में भी हो सकता है[3]। पुरुषों को सन्यास से रोकने में कभी २ स्त्रियां सफल भी हो जाती थीं[4]।

सन्यास का विरोध

बौद्धों में कुछ लोग तो हमेशा के लिये सन्यासी हो जाते थे पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो थोड़े दिन के लिये ही भिक्षु होते थे। कोई २ भिक्खु इन्द्रिय दमन पूरा न कर सकते थे, भिक्खुनियों को या और स्त्रियों को फँसाने की कोशिश करते थे या तड़क भड़क से रहना चाहते थे[5]।

---

१. कर्न मैनुएल आफ़ बुधिज़्म ३७।

२. अश्वघोष, बुद्ध चरित ५। २८-३३॥

३. अश्वघोष, बुद्ध चरित, ८। २४-३२, ३१-६२, ३८, ७३॥ ९। १४-२१॥ १०। २२-२४॥

४. बुद्ध घोष, धम्मपद टीका ६। ९॥

५. बुद्धघोष, धम्मपद टीका २१। ६॥ १२। ८॥ ११। ७॥

आठवां अध्याय

मौर्य साम्राज्य के पूर्व।

राजनैतिक इतिहास

साहित्य के आधार पर भारतीय सभ्यता का इतिहास ऋग्वेद के समय से थोड़ा बहुत लिखा जा सकता है। अनुमान से ग्रन्थों की तिथियां स्थापित की जा सकती हैं और संस्थाओं का कुछ क्रमिक विकास भी दिखाया जा सकता है। पर अभाग्यवश हिन्दुस्तान का साधारण राजनैतिक इतिहास ई० पू० सातवीं सदी के पहिले लगभग शून्य है और उसके बाद भी लगातार ठीक २ नहीं मिलता। ई० पू० सातवीं सदी से बारहवीं ई० सदी तक कभी बहुत, कभी थोड़ा राजनैतिक इतिहास अनेक दिशाओं से सामग्री जमा कर के जैसा तैसा बनाया जा सकता है पर उसके पहिले की घटनाएं अन्धकार में छिपी हैं। यह सच है कि रामायण और महाभारत में बहुत से राजाओं और युद्धों के वर्णन हैं पर इनके इतिहास में काव्य और कल्पना का ऐसा समावेश है कि किसी घटना की ऐतिहासिकता पूरी तरह प्रमाणित नहीं होती। दूसरे, अगर मान भी लें कि पाण्डवों का निर्वास या कुरुक्षेत्र का युद्ध या ऐसी ही और कोई घटना ऐतिहासिक है तो भी तारीख़ का पता नहीं लगता और अन्य घटनाओं से इनका सम्बन्ध स्थिर नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ राजाओं के नाम आये हैं और उनके यज्ञ इत्यादि का उल्लेख है। इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि इन नामों के राजाओं ने राज्य किया, और ब्राह्मण धर्म

के अनुयायी होने के कारण यह यज्ञ किया करते थे। पर इनके राज्य की और बातों का पता बहुत कम लगता है। अन्त में, राजाओं की और यज्ञों की अधूरी सूची ही रह जाती है। आगामी पुराण ग्रन्थों में बहुत सी ऐतिहासिक नामावली और घटनावली मिलती हैं। जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन समय से यहाँ किसी न किसी तरह की पुराण लिखने की परिपाटी थी क्योंकि पुराण शब्द बहुत पुराने ग्रन्थों में आया है। जैसा कि पुराण शब्द से ही मालूम होता है, इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाएं लिखी जाती थी। पर यह पुराण बराबर बदलते रहे और इनके नये संस्करणों के सामने पुराने लोप होते गये। पुराणों के जो संस्करण इस समय हमारे पास हैं वह मुख्यतः ५ वी ई० सदी और ८—६ वीं सदी के बीच में स्थिर हुये थे। तो भी उनमें बहुत से राजाओं के नाम हैं जो शताब्दियों पहिले, यहां तक कि ई० पू० ७ वीं सदी के भी पहिले, हुये थे। ऐसे सब उल्लेखों को जमा कर मि० पार्जिटर ने और उनके अनुसरण करने वालों ने अनेक वंशावलियां तय्यार की हैं और उनका सामयिक क्रम निश्चित करने की चेष्टा की है[1]। इन प्रयत्नों में कुछ सफलता भी हुई है और यह सिद्ध होगया है कि बहुत प्राचीन समय में ही देश में सुव्यवस्थित राज्य थे और राज वंश शासन करते थे। पर राज्यों की सीमा का पता अभी तक नहीं लगा है और राजनैतिक घटनाएं भी बहुत कम मालूम हुई हैं। ई० पू० सातवी सदी से इस पौराणिक परम्परा के और बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के आधार पर कुछ सुसम्बद्ध इतिहास लिखा जा सकता है।

पौराणिक सामग्री

---

1. देखिये पार्जिटर, पुराणिक टेक्स्ट आफ़ दि डिनैस्टीज़ आफ़ दि कलि एज।

अनेक बौद्ध ग्रन्थों में सोलह राज्यों का उल्लेख है जिनके पाली नाम हैं—अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी, मल्ल चेती, वंसा, कुरू, पञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार, और कम्बोज।

सोलह राज्य

यह उत्तर हिन्दुस्तान में वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान से बंगाल तक ई० पू० ६ ठी सदी में फैले हुये थे। इनके अलावा वर्तमान युक्तप्रदेश और बिहार के उत्तर में कम से कम दस प्रजातंत्र भी थे जिनके गणों और राजधानियों के नाम इस प्रकार हैं[1] :—

प्रजातंत्र

गण	राजधानी
साकिय	कपिलवस्थु
बुलि	अल्लकप्प
भग्ग	सुसुमार
कोलिय	राम गाम
कालाम	केसपुत्त
मल्ल	पावा
मल्ल	कुसीनारा
मोरिय	पिप्फलिवन
विदेह	मिथिला
लिच्छवि	वेसाली

जैन आचराङ्गसूत्र कहता है कि किसी २ गण में दो राजा थे और किसी २ में एक भी नहीं[2]। गणराज्यों में संथागार होते

१ अंगुत्तरनिकाय १। २१३ ॥ ४। २५२, २५६, २६० ॥ विनय २। १४६ ॥ महावस्तु, २। २ ॥ दीघनिकाय २। २३५ ॥ रिह्ज़डेविड्स, बुधिस्ट इन्डिया पृ २३ ॥

२. आचाराङ्गसूत्र २। ३। १। १० ॥

थे जहां लोग जमा होकर शासन के मामलों पर विचार और निर्णय करते थे और किसी अज्ञात रीति से अपना एक मुखिया—राजा—चुनते थे। उसकी सहायता के लिये उपराज और सेनापति रहते थे। महत्तक भी प्रतिनिधि का काम करता था। कुलों को भी कुछ राजनैतिक अधिकार थे। अट्ठकथा के अनुसार विनिच्चय महामत्त, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुल, सेनापति, उपराज और राजा—यह आठ न्यायाधीश थे जो एक २ करके मुक़द्दमों की जांच करते थे। राजा के निर्णय एक पवेनिपत्थकान में दर्ज किये जाते थे। कभी २ शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये दो या अधिक गण संघ बना लेते थे और संयुक्त शासन स्थापित करते थे[1]। सम्वज्जी अर्थात् संयुक्त वज्जियों के संघ को दीघनिकाय महापरिनिब्बान सुत्त में और अंगुत्तरनिकाय में गौतम बुद्ध ने उपदेश दिया है। कहा है कि पुरानी रीतियों का पालन करना चाहिये, बड़ों का आदर और आज्ञापालन करना चाहिये, स्त्रियों पर कभी बलात्कार न करना चाहिये, अर्हन्तों की पालना और चैत्यों की रक्षा करनी चाहिये, न्याय सदा निष्पक्ष होना चाहिये, सभाएं बराबर करनी चाहिये और सभाओं में शान्ति और मेल से काम करना चाहिये[2]।

गण शासन

गौतम बुद्ध के समय में जैसी राजनैतिक अवस्था थी कुछ वैसी ही ई० पू० ७ वीं सदी में भी थी। सब राज्यों में मगध प्रबल हो रहा था और अपनी प्रभुता चारो ओर बढ़ा रहा था। राजा शिशुनाक या

मगध

---

१. दीघनिकाय २। १४७ ॥ १६१ ॥ महापरिनिब्बान सुत्तन्त, ६। २३ ॥ महावस्तु १। २५४ ॥ ललितविस्तर ३ ॥ अट्ठकथा, जे० ए० एस० बी० १८३८, पृ० ९९३ इत्यादि।

२. अंगुत्तर निकाय ७। १९ ॥

शिशुनाग ने ई० पू० ६४२ के लगभग शैशुनाग राजवंश की स्थापना की उसकी राजधानी गया के पास राजगृह में थी। शैशुनाग वंश के दूसरे, तीसरे और चौथे राजाओं के नाम भर मालूम हैं। पाँचवाँ राजा हुआ बिम्बिसार जो बहुधा जैन ग्रन्थों में श्रेणिक कहलाता है, जो ई० पू० ५८२ के लगभग सिंहासन पर बैठा और जिसने लगभग २८ बरस तक राज्य किया। उसने नये राजगृह की स्थापना की, अंग को जीतकर अपने राज्य में मिलाया और कोशल राजवंश तथा वैसाली के लिच्छवि गण से ब्याह सम्बन्ध किये। उसके समय में मगध की प्रभुता बहुत बढ़ी। बुढ़ापे में बिम्बिसार ने राज्य अपने लड़के अजातशत्रु को सौंप दिया, पर बौद्धग्रन्थ में यह भी लिखा है कि अजातशत्रु सिंहासन पर बैठने को उतावला हो रहा था और उसने, बुद्ध के विद्रोही चचेरे भाई देवदत्त के कहने से बूढ़े पिता को कारागार में बन्द करके भूखा मार डाला। सामञ्ञ-फलसुत्त में यह भी लिखा है कि इस पाप के लिये पीछे उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह बौद्ध होकर गौतम बुद्ध के पास क्षमा मागने गया। कुछ भी हो, अजातशत्रु ई० पू० ५५४ के लगभग गद्दी पर बैठा। जैन ग्रन्थों में बहुधा उसका नाम कूणिक है।

शिशुनाग

बिम्बिसार

अजातशत्रु

बिम्बिसार और अजातशत्रु गौतमबुद्ध और महावीर के सम-कालीन थे। बौद्ध और जैन लेखक दोनों ही दावा करते हैं कि अजातशत्रु ने उनका धर्म अङ्गीकार किया और बढ़ाया। और किसी ऐतिहासिक साक्षी के न होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि अजातशत्रु जैन था या बौद्ध। शायद वह बुद्ध और महावीर दोनों को आदर और भक्ति से देखता था और उन को आवश्यक

सहायता पहुँचाता था। अजातशत्रु की नीति उस धार्मिक सहनशीलता का दृष्टान्त है जो हिन्दू स्वतंत्रता के अन्त तक हिन्दू राज्यों का एक प्रधान लक्षण थी। निस्संदेह हिन्दू इतिहास में दस पांच उदाहरण धार्मिक असहिष्णुता, अत्याचार और संग्राम के मिलते हैं पर इतने राज्यों और इतनी सदियों के लिये यह नहीं के बराबर है। ऐसे राजा बहुत कम हुये जो किसी भी धर्म के अनुयायियों को क्षति पहुँचाते हों, बहुतेरे तो अनेक धर्मों के उपदेशकों और अधिष्ठाताओं के लिये समान दृष्टि से सुविधाएं करते थे और दान देते थे। जान पड़ता है कि अजातशत्रु भी इसी नीति का पालन करता था।

सहनशीलता

अजातशत्रु ने मगध की प्रभुता और भी बढ़ाई। उसने कोशल से युद्ध छेड़ा, कभी उसकी जीत हुई, कभी कोशल राज की, पर अन्त में मगध का ही प्रभाव बढ़ा। उत्तर की ओर बिम्बिसार ने लिच्छवियों पर विजय पाई और वैसाली पर अधिकार जमा लिया। सोन और गंगा के संगम के पास उसने पाटलि गांव में एक क़िला बनवाया जिसके पास थोड़े दिन में उसके पोते उदय ने पाटलिपुत्र नामक वह नगर बसाया जो ई० पू० चौथी सदी में संसार के प्रधान नगरों में से था।

मगध का प्रसार

ई० पू० ५२७ के लगभग अजातशत्रु का देहान्त हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में बहुत कम बातें मालूम हैं। अन्त में ई० पू० ४१३ के लगभग शैशुनागवंश को गद्दी से उतारकर महापद्म नन्द ने एक नये राजवंश नन्दवंश की स्थापना की। महापद्म की मा शूद्र थी पर उसका पिता अन्तिम शैशुनाग राजा ही था। इस प्रकार नन्दवंश को शैशुनाग वंश की ही एक शाखा मान सकते हैं। पर

नन्दवंश

शूद्र माता के कारण महापद्म को पुराणों में भला बुरा कहा है और खेद प्रगट किया है कि उसके आरोहण से क्षत्रिय राजाओं का नाश हो गया और नीच शूद्रों का शासन प्रारंभ हुआ। नन्दवंश में शायद नौ राजा हुये। इन्होंने मगध का प्रभाव और भी बढ़ाया और बहुत सा रुपया ख़ज़ाने में जमा किया। अन्तिम नन्द राजा के समय में अर्थात् ई० पू० ३२५ में मेसीडोनिया के राजा एलेक्ज़ैंडर ने जिसे सिकन्दर भी कहते है, सारा पच्छिम एशिया जीतने के बाद हिन्दुस्तान पर हमला किया। मगध के बारे में सिकन्दर को समाचार मिला था कि राजा के पास २ लाख पैदल, २० हज़ार घुड़सवार ४००० या ३००० हाथी और २००० रथ थे। इससे मगध की शक्ति का पता लग सकता है[१]।

आगे की घटनाओं को समझने के लिये हिन्दुस्तान की उत्तर-पच्छिमी सरहद और पञ्जाब पर एक नज़र डालना ज़रूरी है।

उत्तर पच्छिम

ई० पू० पाचवीं सदी में ईरान के शाहंशाह ने सिंध के पच्छिम का भारतीय प्रदेश अपने विशाल साम्राज्य में मिला लिया पर हेरोडोटस और ज़ेनोफ़न से जान पड़ता है कि इस भाग में पुराने हिन्दू राजा बने रहे; केवल ईरान को कर देते रहे[२]। कुछ भी हो, हिन्दुस्तान का यह हिस्सा ईरानी साम्राज्य का

ईरानी अधिकार

बीसवां सूबा कहलाता था; धन धान्य में सब से बढ़कर था और सबसे ज़्यादा कर देता

---

१ इस सारे इतिहास के लिये देखिये, विंसेंट ए-स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण) पृ० २८—४४ और वह पुस्तक तथा लेख जिनका हवाला स्मिथ ने दिया है।

२ हेरोडोटस, हिस्ट्री (अनु० राक्लिसन) भाग २ पृ० ४०३ ॥ भाग ४ पृ० १७७, २०७ ॥ ज़ेनोफ़न, साइरोपीडया ६। २। २-११ ॥

था। जब शाहंशाह ज़र्क्सीज़ ने ग्रीस पर हमला किया तब कुछ हिन्दू तीरंदाज़ भी उसके साथ थे। जान पड़ता है कि कुछ बरसों के बाद हिन्दू प्रान्त स्वतंत्र हो गया। ई० पू० ३२७-२५ में मेसीडोनिया के राजा सिकंदर ने तमाम पच्छिम एशिया विजय करने के बाद घमासान लड़ाइयां करके कुछ दिनो के लिये पञ्जाब और सिन्ध अपने साम्राज्य में मिला लिये। उसने भी बहुत से हिन्दू राजा अपनी अधीनता में बनाये रक्खे। उसके साथ के कम से कम १६ लेखकों की बची हुई रचनाओं से जान पड़ता है कि सिंध और पञ्जाब में भी बहुत से प्रजातन्त्र थे जिनमें कहीं थोड़े और कहीं बहुत आदमी शासन करते थे, जहां वीरता पर सब से ज़्यादा ज़ोर दिया जाता था, जहां हज़ारों पैदल, घुड़सवार और रथों की सेनाएं रक्खी जाती थीं, और कभी दो या अनेक राज्यों में संघ भी बन जाते थे। किसी २ राज्य में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव था और वह विदेशियों का वीरता से सामना करने की प्रेरणा जनता को करते थे[१]। शूरता और स्वातंत्र्य प्रेम इन हिन्दुओं के प्रधान लक्षण थे। देश की रक्षा के लिये हज़ारों आदमी प्राण देने को सदा तय्यार रहते थे। ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि यहां पर नगर

सिकन्दर

प्रजातन्त्र

---

१ एरियन ५। २१, २५, १-२, १४ ॥ ६ ॥ २६ ॥ स्ट्राबो, १५। ३०, ३४, ३७ ॥ डायोडोरस, १७। ९१, १०४, ९६ ॥ ३। ३८, ३९ कर्टियस ९। ८ मैक्क्रिंड्ल, एलैक्ज़ैंडर्स इन्वेज़न आफ़ इन्डिया पृ० ११३-१४, २८०, २१९, ४०, ७९-८१, २८५, २८२, २३४ ॥ मैक्क्रिंड्ल इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एंड एरियन, पृ० १४७, १५९, १९४-९५, २००-२०२, ६८ मैक्क्रिंड्ल, इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर पृ० १०८, १५१।

राज्य थे पर इस विषय मे शायद वह केवल अपने विचित्र राज-नैतिक अनुभव से काम ले रहे थे। एक राज्य के विषय में यह भी लिखा है कि यहां पैदा होते ही सब बच्चों का निरीक्षण राजकर्म-चारी करते थे। जो बच्चे कमज़ोर मालूम होते थे वह उसी समय मार डाले जाते थे क्योंकि राज्य को केवल हृष्ट पुष्ट मनुष्यों की ही आवश्यकता थी। यह ग्रीक लेखक अपने स्पार्टा नगर के नियमों की कल्पना हिन्दुस्तान के विषय में कर रहे है। किसी भी हिन्दू ग्रन्थ या शिलालेख से ज़रा भी अनुमान नही होता कि किसी भी प्रदेश या युग में कमज़ोर बच्चों के बध की प्रथा थी।

सिकन्दर के बाद

सिकन्दर की सेना कई बरस से देश देशान्तर में युद्ध करती रही थी। जब घर के लिये उत्सुक थके माँदे सिपाहियों ने मगध की महाशक्ति का हाल सुनकर पञ्जाब से आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया तब लाचार सिकन्दर को पीछे लौटना पड़ा। हिन्दुस्तानी विजित प्रान्तों की रक्षा और शासन का भार अपने अधीन हिन्दू राजाओं को और ग्रीक सेनापतियो को छोडकर सिकन्दर ने हिन्दुस्तान से विदा ली। घर पहुँचने के पहिले ही वह बैबिलन में मर गया। पर शायद उसके मरने के पहिले ही हिन्दुस्तान मे गड़-बड़ शुरू हो गई थी। ग्रीक शासन बालू की नीव पर खड़ा था। हिन्दुओ ने दो तीन बरस में ही उसका नाम निशान मिटा दिया। किसी हिन्दू ग्रन्थ या शिलालेख में सिकन्दर के आक्रमण का ज़रा सा भी उल्लेख नहीं है।

चन्द्रगुप्त मौर्य

स्वातंत्र्य युद्ध का नेता था चन्द्रगुप्त मौर्य जो मगध के नन्द-राजवंश में पैदा हुआ था पर शायद किसी विवाहिता रानी से न था। कई बरस पहिले वह अत्याचारी नन्द राजा की नाराज़ी के

कारण मगध से भागकर उत्तर-पच्छिम में आया था। वह सिकन्दर से मिला था और ग्रीक दांव पेचों को अच्छी तरह पहिचान गया था। बहुत से राजाओं और सिपाहियों को जमा करके उसने ग्रीक लोगों को हिन्दुस्तान से निकाल दिया। इस बीच में उसे मगध के सिंहासन पर अधिकार करने का भी अवसर मिल गया था। अन्तिम नन्द राजा के कुचरित्र और निर्दयता ने एक विद्रोह उभाड़ दिया था। जो गड़बड़ शुरू हुई उस में चन्द्रगुप्त ई० पू० ३२२ के लगभग मगध का अथवा यों कहना चाहिये उत्तर भारत का सम्राट् बन बैठा। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य का प्रारंभ हुआ।

लगभग ई० पू० ६४२ से लगभग ई० पू० ३२२ तक राजनैतिक इतिहास का ऐसा क्रम रहा। इस युग के धम और राजनैतिक संगठन के बारे में दो चार बातें ऊपर आगई है। शासन और समाज इत्यादि के बारे मे और बातें उन बौद्ध ग्रन्थों से मालूम होती हैं जिनमे पुरानी परम्परा आज तक सुरक्षित है। सब से उपयोगी जातक हैं जो खुद्दक निकाय के भाग हैं और जिनमें, जैसा कि नाम से प्रकट है, गौतमबुद्ध के पूर्व जन्मों की कथायें हैं। पूर्व जन्म के बुद्ध को बोधिसत्त्व कहते थे। प्रत्येक जातक में एक बोधिसत्त्व का वृत्तान्त है, बोधिसत्त्व कभी मनुष्य के शरीर में है, कभी पशु के शरीर में, कभी ब्राह्मण है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य। संख्या में ५४७ जातक हैं पर कोई बहुत छोटे हैं, कोई बहुत बड़े हैं। जातको का क्रम वैज्ञानिक नही है, केवल गाथाओं की संख्या के अनुसार है, जिन जातकों के बीच में केवल एक गाथा आई है वह पहिले भाग मे रख दिये हैं, जिन में दो गाथाएं हैं वह दूसरे भाग में हैं, इस तरह बीस से भी अधिक भाग हैं। बौद्ध-ग्रन्थ होते हुये भी जातकों की परिस्थिति बहुत कुछ ब्राह्मण समय की सी है अर्थात् उल्लिखित

जातक

धार्मिक विश्वास और समाज संगठन बहुत कर के ब्राह्मण विधान के आधार पर है। इससे र्‌हिज़ डेविड्स और ओल्डनवर्ग आदि अर्वाचीन विद्वानों की धारणा हुई थी कि जातकों का वास्तविक समय बुद्ध के पहिले अर्थात् ई० पू० सातवी छठवी सदी में मानना चाहिये। इसी धारणा के अनुसार रिचर्ड फ़िक ने उत्तर-पूर्व भारत के ई० पू० सातवी सदी के सामाजिक संगठन का चित्र जातकों के आधार पर बनाया था। इसमें कोई संदेह नही कि जातकों में कुछ सामग्री इतनी पुरानी अवश्य है पर बहुत सी पीछे की घटनाओं का भी उल्लेख है। भाषा से तो प्रतीत होता है कि जातकों ने अपना वर्तमान रूप ई० पू० सातवी क्या, ई० पू० तीसरी सदी में भी नही ग्रहण किया था। बात यह है कि सब जातक एक समय में नहीं बने थे और न उनका एक ही संस्करण हुआ था। स्वभावतः जनता में कथाएं बहुत प्राचीन समय से प्रचलित थीं। और बातों की तरह कथाएं भी बदलती रहती हैं, नये रूप धारण करती रहती हैं। बौद्ध लेखकों ने बहुत सी पुरानी और शायद कुछ नई कथाओं में बोधिसत्त्व का प्रवेश कर दिया, भाषा सुधार दी, कुछ गाथाएं भी रख दीं। इस तरह जातक बने। कथाओं की उत्पत्ति के स्थान भी अनेक थे, कोई मगध में बनी थी, कोई बनारस के पास, कोई और पच्छिम में। इस प्रकार जातकों में जो सामग्री है वह कई शताब्दियों से और अनेक स्थानों से सम्बन्ध रखती है। उसकी संस्थाओं के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वह इस काल के भीतर किसी न किसी प्रदेश में प्रचलित थी। इस काल में बौद्ध और ब्राह्मण विचारों का संघर्षण हो रहा था। यह बात सामाजिक संस्थाओं की समीक्षा से अच्छी तरह मालूम होती है।

जातकों का समय

स्थान

बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त जाति पाँत के प्रतिकूल थे पर वर्ण-व्यवस्था की जड़ इतनी गहरी थी कि उखड़ न सकी। तो भी बौद्धों ने बन्धन कुछ ढीले कर दिये और विचारों में कुछ परिवर्तन कर दिया। जब यज्ञ और पूजा पाठ का महत्त्व कम हुआ तब ब्राह्मणों की सत्ता में भी फ़र्क़ आ गया। निर्वाण के लिये जाति भेद निरर्थक था; कोई भी पुरुष भिक्षु हो सकता था, कोई भी स्त्री भिक्षुणी हो सकती थी। संघ में सब बराबर थे। लौकिक जीवन में चरित्र पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता था। जैसा कि मिलिन्दपन्हो में बुद्ध से कहलाया है, ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। ब्राह्मण वह है जिसका मन ऊँचा है, हृदय पवित्र है, चरित्र शुद्ध है, आत्मा में संयम और धर्म है[1]।

वर्णव्यवस्था

बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को प्रधान माना है। जीवन के सबसे ऊँचे ध्येय निर्वाण के लिये जात पात के भेद को निरर्थक बताया है। मोक्ष पाने में कुलीनता से कोई सहायता नहीं मिलती; नीचे कुल में पैदा होने से कोई बाधा नहीं होती। अपने कर्मों से ही शान्ति और परम सुख की प्राप्ति हो सकती है। वर्ण पर ज़ोर देने से क्या लाभ है[2]? साधारण जीवन में भी गुण और कर्म प्रधान है। एक जगह सुत्त-निपात में इस विषय पर भरद्वाज और वसिष्ठ में बड़ा विवाद हुआ है। भरद्वाज कहता है कि ब्राह्मण जन्म की शुद्धता से होता है अर्थात् शुद्ध ब्राह्मण कुल में जिसका जन्म हुआ वह ब्राह्मण है, ऊँचा है और आदर का पात्र है; अन्य किसी प्रकार से ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता है। वसिष्ठ कहता है नहीं; जन्म से कुछ नहीं होता,

गुण और कर्म

1. मिलिन्दपन्हो ४। ५। २५-२६॥
2. मज्झिमनिकाय ९०, मधुरसुत्त, अस्सलायनसुत्त, कण्णत्थलसुत्त ८४॥

धर्म और चरित्र ही प्रधान हैं अर्थात् जो धर्मात्मा और सच्चरित्र है वह चाहे जिस कुल में पैदा हुआ हो, ब्राह्मण कहलाने के योग्य है और आदर सन्मान का पात्र है। आपस में वह विवाद का निर्णय न कर सके तब गौतम बुद्ध के पास गये। दोनों की दलीलें सुनकर बुद्ध ने कहा कि ज्ञान, चरित्र, मृदुता, धर्म इत्यादि ही ब्राह्मण के लक्षण हैं[१]। कई एक जातकों में भी बोधिसत्त्व की कथाओं से यह नतीजा निकलता है कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चंडाल, पुक्कुस आदि सब भेद निरर्थक है। बनारस के एक राजा का पुरोहित आप ही परीक्षा करके सोचता है कि जन्म और वर्ण से केवल अभिमान बढ़ता है, इनसे तो ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से भी धर्म श्रेष्ठ है, जो २ धर्मात्मा हैं वह सब परलोक में बराबर होंगे[२]। अस्वाजातक में कहा है कि सब जातियों में वही आदमी सबसे अच्छा है जिससे धर्म सीखा जा सकता है[३]। तित्तिरजातक में बुद्ध भिक्खुओं से पूछते हैं कि सबसे अच्छे स्थान, पानी और भोजन का अधिकारी कौन है? कुछ भिक्खुओं ने उत्तर दिया कि वह जो भिक्खु होने के पहिले क्षत्रिय था। औरों ने कहा नहीं, वह जो पहिले ब्राह्मण या गहपति था। पर बुद्ध ने कहा कि इस मामले में जाति-पांत का भेद बिल्कुल निरर्थक है[४]। बौद्ध साहित्य मे एक और मनोरंजक बात है। यहाँ वर्णों की गिनती में सदा क्षत्रियों का नाम

ऊँचे पद की कसौटी

---

१. सुत्तनिपात, ११५। ९८॥

२. जातक १। २१७॥ ३। १९४॥ जातकों के उल्लेख फ़ासवाल द्वारा सम्पादित संस्करण से है जो ६ भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रत्येक जातक का अलग २ नाम भी है।

३. अस्वाजातक ४। २०५॥

४. तित्तिर जातक १। २१७॥

पहिले आया है और उसके बाद ब्राह्मणों का, अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊँचे हैं। दीघनिकाय और निदानकथा में तो साफ़ २ कहा है कि क्षत्रियों का पद ब्राह्मणों से ऊँचा है[1]। इसी बात को ललितविस्तर जो आगमी काल का एक विशाल मिश्रित-संस्कृत ग्रन्थ है और जिसमें गौतम बुद्ध का जीवन काव्य रूप में वर्णन किया है, और तरह से कहता है। यहां कथन है कि बोधि-सत्त्व कभी हीन कुलों में जैसे रथकार, चंडाल, पुक्कुस आदि के कुलों में जन्म नही लेता; बोधिसत्त्व सदा ऊँचे कुल में पैदा होता है; जब ब्राह्मणों का विशेष आदर होता है तब वह ब्राह्मण शरीर धारण करता है, जब क्षत्रियों का विशेष आदर रहता है तब वह क्षत्रिय होकर प्रगट होता है[2]। इन कथनों से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि गुण कर्म की चर्चा होते हुये भी कुल का विचार बौद्धों में था। बुद्ध का निर्णय कुछ भी रहा हो पर उसके अनु-यायी कुल की उच्चता और नीचता के विचारों से न बच सके। दूसरा निष्कर्ष यह है कि इस समय क्षत्रियों की पदवी ब्राह्मणा से बहुधा ऊँचो हो गई थी। ब्राह्मण धर्म का प्रभाव घट गया था, बुद्ध इत्यादि ने क्षत्रिय कुल को बिभूषित किया था, क्षत्रियां के पास राजनैतिक अधिकार था और विद्या का बल भी था। उनकी प्रतिष्ठा सदा ही रही। इस काल में उनकी प्रधानता हो गई।

क्षत्रियों की प्रधानता

जैन ग्रन्थों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। भद्रबाहु स्वामी के कल्पसूत्र में ब्राह्मणों की गिनती नीच कुलों में की है। तीर्थंकर कभी ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले सकते। चौवीसों तीर्थंकर क्षत्रिय थे।

जैन साक्षी

---

१. दीघनिकाय ३ । १ । २४ ॥ २६ ॥ निदानकथा १ । ४९ ॥

२. ललितविस्तर ३ ॥

तीर्थंकरो के अलावा जैन बहुत से चक्रवर्ती, बलदेव और वसुदेव भी मानते हैं और उनको महापुरुष समझते हैं। यह भी ब्राह्मणकुल में जन्म नही ले सकते। २४ वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर के जन्म के विषय में एक कथा है जो कुलसम्बन्धी जैन विश्वासों पर बहुत प्रकाश डालती है। महावीरस्वामी एक ब्राह्मणी के गर्भ में आ गये; यह देखकर देवताओं का राजा इन्द्र बहुत घबड़ाया। कभी किसी शलाकापुरुष ने ब्राह्मणकुल में जन्म नहो लिया था; २४ वें तीर्थंकर क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण हों, यह कैसे हो सकता था? अतएव इन्द्र ने महावीर को ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रिय त्रिशला के गर्भ में पहुँचा दिया[1]। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू समाज मे सहनशीलता होते हुये भी बौद्ध और जैन लेखकों को ब्राह्मणों से थोड़ा वैमनस्य था। अनेक जातकों मे कथा का ऐसा क्रम है कि कोई न कोई ब्राह्मण मूर्ख या पाजी साबित होता है[2]। बौद्ध ग्रन्थ तेविज्जसुत्त कहता है कि ब्राह्मण बड़े आलसी, स्वार्थी, घमंडी, द्वेषी और कामी होते है। पर इस

महावीर का जन्म

वैमनस्य की गणना करने के बाद भी नतीजा यही निकलता है कि ब्राह्मणों के आसन हिल गये थे। और सामाजिक प्रधानता क्षत्रियों की हो गई थी। तथापि वर्णभेद मिटा नहीं था।

निष्कर्ष

बौद्ध ग्रन्थों से सामाजिक व्यवहार का थोड़ा सा पता लगता है। जान पड़ता है कि कहीं २ चण्डाल अस्पृश्य गिने जाने लगे थे। वेदों में अस्पृश्यता का उल्लेख कही नही है, ब्राह्मणों में भी नही

अस्पृश्यता

1. कल्पसूत्र १७॥
2. उदाहरणार्थ, सम्भवजातक, ५। २७॥ जुण्ह जातक, ४। ९६॥ जातक १। ४२५॥ ४। ४८४॥ भी देखिये।

है। पर शायद उस समय चण्डाल समाज के बाहर रहते थे। जब वह भीतर रहने लगे और वर्ण के नियम भी अधिक कड़े हो गये तो कहीं चण्डालों को अस्पृश्य माना गया। चित्तसम्भूतजातक में कथा है कि दो अमीर लड़कियां एक यात्रा में दो चण्डालों को देखते ही वापिस लौट गईं। लोग चण्डालों से बहुत नाराज़ हुये क्योंकि यात्रा समाप्त होने पर उनको लड़कियों से बहुत से खानपान की आशा थी। बेचारे चण्डाल बेतरह पीटे गये। इस सामाजिक अपमान और अत्याचार से बचने के लिये उन्होंने ब्राह्मण का भेष बनाया और तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय में पढ़ने गये। पर यहां भी अभाग्यवश उनके जन्म का पता लग गया। बेचारे फिर बहुत पीटे गये[१]। ऐसी ही एक और कथा है[२]। यह सिद्ध है कि अब कम से कम कुछ स्थानों में चण्डाल अस्पृश्य माने जाते थे और उनका बड़ा निरादर होता था पर सब जगह यह बात न थी। एक जातक कथा है कि एक राजा ऊँचे आसन पर बैठा हुआ पुरोहित से पाठ पढ़ रहा था। एक चण्डाल ने राजा को समझाया कि गुरु की अपेक्षा ऊँचे स्थान पर बैठना अनुचित है। राजा प्रसन्न हुआ और उसने चण्डाल को नगरगुत्तिक अर्थात् नगर का रक्षक नियत किया[३]। इस सम्बन्ध में बुद्ध के प्रधान शिष्य की एक कथा दिव्यावदान में है। एक बार यात्रा करते २ आनन्द थक गया और उसे बहुत प्यास लगी। कूए के पास प्रकृति नामक एक लड़की को खड़ा देखकर वह बोला "बहिन, मुझे पीने को पानी दो"। प्रकृति बोली, "मैं चण्डाल हूँ"। आनन्द ने जवाब

चण्डाल

---

१. जातक ४। ३९१-९२॥

२. जातक ४। ३७८॥ जातक ४। ३८८ भी देखिये।

३. जातक ३। २७॥

दिया, "बहिन, मैं तुमसे कुल जाति नहीं पूछ रहा हूँ। अगर तुम्हारे पास कुछ पानी बचा है तो मुझे दे दो; मैं पीऊँगा"। यहां प्रकृति के कथन से स्पष्ट है कि बहुत से लोगों को चण्डाल के हाथ का पानी पीने में आपत्ति थी पर आनन्द के उत्तर से यह भी स्पष्ट है कि कुछ लोगों को यह सब प्रतिबन्ध निरे ढोंग मालूम होते थे और वह उनकी ज़रा भी पर्वाह न करते थे। अस्पृश्यता के इस भाव को बौद्ध धर्म ने कुछ दबाए रक्खा पर जब बौद्धधर्म का ह्रास हुआ तब यह भाव बहुत प्रबल हो गया। धर्मशास्त्रों में यह बढ़ रहा है, जैनों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। तब से आज तक अस्पृश्यता हिन्दू समाज में चली आती है।

खानपान

खानपान के कुछ प्रतिबन्ध भी अब प्रारंभ होते हैं। एक जातक में एक क्षत्रिय दासी से उत्पन्न अपनी ही कन्या के साथ खाने से इन्कार करता है। इस बात पर बहस होती है कि क्षत्रिय की नीचे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तान क्षत्रिय मानी जाय या नहीं। जान पड़ता है कि कुछ लोगों की सम्मति के अनुसार माता की जाति से कुछ प्रयोजन नहीं, पिता की जाति के अनुसार संतान की जाति है[१]। अन्यत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों के साथ भोजन करने के उदाहरण हैं[२]। खानपान के भेद भी बौद्ध धर्म से कुछ दबे रहे और उसके ह्रास के बाद प्रबल हो गये।

ब्याह के मामले में वर्ण का विचार साधारणतः अवश्य होता था। एक जातक में एक राजकुमारी पेड़ पर बैठी है। एक तपस्वी आकर उससे उतरने को कहता है और ब्याह का प्रस्ताव करता है।

---

१ जातक ४। १४४॥

२, जातक २। ३१९-२०॥

राजकुमारी उतरने से इन्कार करती है। पर जब तपस्वी उसे अच्छी तरह विश्वास दिलाता है और साबित करता है कि मैं भी क्षत्रिय हूं और राजकुमार हूँ तब वह उतर आती है[1]। इसके विपरीत एक राजा अपनी कन्या का ब्याह एक ब्राह्मण तपस्वी से करने का प्रस्ताव करता है[2]। एक और जातक में एक राजा लकड़िहारी से ब्याह करता है, उसे अग्गमहिषी अर्थात् प्रधान रानी बनाता है और फिर उसके पुत्र को युवराज नियत करता है[3]। अनुलोम नियम के प्रतिकूल क्षत्रिय भी कभी २ ब्राह्मण कन्याओं से ब्याह करते थे। दीघनिकाय अम्बट्ठसुत्त में क्षत्रियों की ऊंची पदवी बताते हुये कहा है कि जाति से निकाले हुये क्षत्रिय भी ब्राह्मण कन्या ब्याहने के योग्य समझे जाते थे[4]। आगामी लेखक बुद्धघोष की धम्मपद टीका में एक पुरानी कथा है कि एक ब्राह्मण अपनी लड़की का ब्याह (क्षत्रिय) गौतम बुद्ध से करना चाहता था[5]। जातकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारणतः ब्याह वर्ण के भीतर ही होता था पर कभी २ बाहर भी हो जाता था। बौद्धधर्म के ह्रास के बाद यहाँ भी अधिक कठोरता आ गई और ब्याह का क्षेत्र बिल्कुल संकुचित हो के उपजाति की सीमा के भीतर ही रह गया।

ब्याह

व्यवसाय के मामले में वर्णव्यवस्था का पालन बहुत कम होता

---

१. जातक ४ । २३१ ॥

२. जातक ३ । ५१७ ॥

३. जातक १ । १३४ ॥

४. अम्बट्ठसुत्त, दीघनिकाय ३ ॥

५. बुद्धघोष, धम्मपदटीका, १४ । १ ॥

था। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ ब्राह्मण विद्या, धर्म और शिक्षा में ही मग्न रहते थे। बड़े २ ब्राह्मण गुरु थे जिनके पाँच २ सौ शिष्य थे और जो फ़ीस लेकर या बिना फ़ीस के ही शिक्षा देते थे[1]। बहुत से ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित थे[2]। पर कुछ ब्राह्मण संसार के और भी सब काम करते थे। कोई २ तो राजा बन बैठते थे। पदकुसलमाणव जातक में एक राजा और पुरोहित की चोरी और कपट की ओर एक ब्राह्मण प्रजा का ध्यान आकर्षित करता है। हलचल और विद्रोह होता है और राजा और पुरोहित डंडों की मार से मार डाले जाते हैं। प्रजा विद्रोह के नेता ब्राह्मण को ही राजा बना देती है[3]। इसी तरह सच्चंकिरजातक में क्षत्रिय ब्राह्मण तथा और लोग मिल कर एक राजा को निकालते हैं और उसके बाद एक ब्राह्मण का राज्याभिषेक करते हैं[4]। बहुत से ब्राह्मण बड़े ज़मीन्दार थे[5]। बहुत से सौदागर थे[6]। जातकों से और सुत्तनिपात से भी जान पड़ता है कि ज़मीन्दारी या व्यापार के द्वारा या और किसी उपाय से अनेक ब्राह्मण लखपती करोड़पती हो

व्यवसाय

ब्राह्मण

---

१. जातक १ । १६६, २३९, २९९, ३१७, ४०२, ४३६ ॥ २ । १३७, २६०, ४२१ ॥ ३ । २१५ ॥ इत्यादि २ देखिये ।

२. सामान्यतः जातक के सब भागों में इसके उदाहरण मिलेंगे । विशेष कर देखिये १ । २८९, ४३७ ॥ २ । ४७, २८२, ३७६ ४३७ ॥ ३ । ३१, ३१७, ३९२, ४१७, ४५५ ॥ ४ । २००, २७० ॥ ५ । १२७ ॥ ६ । ३३० ॥

३. जातक ३ । ५१३ ॥

४ जातक १ । ३२६ ॥

५. जातक ३ । २९३ ॥ ४ । २७६ ॥

६. जातक ४ । ७, १५ ॥ ५ । २२, ४७१ ॥

गये थे[१]। बहुतेरे ब्राह्मण साधारण व्यवसाय करते थे जो वर्णव्यवस्था के कट्टर नियमों के अनुसार दूसरे वर्णवालों के लिये ही थे। अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख है जो खेती करते थे[२], या तीरंदाज थे[३], या शिकारी या मछुये थे[४], या पहिये बनाते थे[५] या ऐसे ही और किसी व्यवसाय से निर्वाह करते थे।

क्षत्रिय इत्यादि

क्षत्रियों की भी ऐसी ही दशा थी। उनमें एक छोटा सा राजन्य वर्ग था जो बहुधा शासन करता था। इस वर्ग के लोग अपने को सबसे ऊँचा समझते थे। उदाहरणार्थ, एक राजा पुरोहित के लड़के को हीनजच्च अर्थात् नीचे जन्म का कह के पुकारता है[६]। पर कभी २ यह राजन्य और बाक़ी क्षत्रिय साधारणतः सभी व्यवसाय करते थे। कोई २ तिजारत करते थे, कोई २ साधारण नौकरी करते थे[७]। वैश्य भी सब व्यवसाय करते थे। जातकों में बहुधा उनको गहपति कहा है। व्यवसाय के मामले में वर्ण के नियम पुस्तकों मे ही रहते थे; व्यवहार में बहुत नहीं माने जाते थे। यह अवस्था बराबर ऐसी ही बनी रही। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद भी परिवर्तन नहीं हुआ। धर्म शास्त्र व्यर्थ ही राजाओं से वर्णधर्म चलाने की प्रेरणा करते रहे। पेट के सवाल के सामने वर्णव्यवस्था चुप चाप खड़ी रह गई।

---

१. जातक २। २७२ ॥ ३। ३९ ॥ ५। २२७ ॥ ६। १५, २२, २८, २३७, ३२५ ॥ सुत्तनिपात ३५। वासेट्ठसुत्त ॥

२. जातक २। १६५ ॥ ३। १६३ ॥ ५। ६८ ॥

३. जातक, ५। १२७ ॥

४. जातक २। २०० ॥ ६। १७० ॥

५. जातक ४। २०७ ॥

६. जातक ५। २५७ ॥

७. जातक २। ८७ ॥ ४। ८४। १६९ ॥

आश्रम

आश्रमव्यवस्था भी मुख्यतः पुस्तकों की ही व्यवस्था रही है। जातकों के समय में भी इसके सिद्धान्त में विश्वास किया जाता था[1]। पर बहुत से बालक तो कभी गुरु के यहां पढ़ने ही न जाते थे। और न सब गृहस्थ समय आने पर वानप्रस्थ बनते थे। बौद्ध और जैन धर्मो ने सन्यास की प्रवृत्ति अवश्य बढ़ा दी थी पर इसमें भी आश्रम के पूर्वापर नियम का पालन बहुधा नहीं होता था। जातकों में अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख है जो जवान होते ही सन्यासी हो गये[2]। अनेक ब्रह्मचारी थे जो अध्ययन समाप्त करते ही बन को चले गये[3]। आश्रमव्यवस्था के अनुसार उनको पहिले गृहस्थ होना चाहिये था, फिर वानप्रस्थ और उसके बाद सन्यासी। एक जातक में ब्राह्मण मा बाप अपने १६ बरस के लड़के से कहते है, "बेटा! तुम्हारे जन्म दिन पर जन्माग्नि से उत्सव मनाया था। अब क्या कहते हो? अगर गृहस्थ होना चाहते हो तो तीनों वेद पढ़ लो, अगर ब्रह्मलोक पहुँचना चाहते हो, तो अपनी अग्नि लेकर बन को चले जाओ जिसमें महाब्रह्म का प्रसाद पाओ और ब्रह्मलोक पहुँच जाओ।" यह सुनकर लड़का बन को चला गया[4]। एक और भी ऐसी ही कथा है[5]। यह सब कार्यवाही आश्रम व्यस्था के नियमो के अनुकूल नहीं थी। कहीं २ लोग तीसरे आश्रम

---

१. जातक २ । ८५, ३९४ ॥ ३ । १४७, ३५२ ॥

२. जातक १ । ३३३, ३४३, ३६१, ३७३, ४५० ॥ २ । १३१, २३२, २५७, २६२ ॥ ३ । ११० ॥ ४ । ३२५ ॥

३. जातक २ । ५३, ५६, ७२, ८५ ॥ ३ । ६४, ७९, ११०, ११९, २२८, २४९, ३०८ ॥ ५ । १५२, १९३ ॥

४. जातक १ । ४९४ ॥

५ जातक २ । ४३ ॥

को लांघकर सीधे चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर जाते हैं[१]। अन्यत्र पुत्र की उत्पत्ति मानों वन जाने का परवाना है[२]। कभी २ विपत्ति आने पर लोग अपना दुख भुलाने को वन की शरण लेते थे। कथा है कि शिकारियों के एक मुखिया के लड़के का ब्याह दूसरे मुखिया की लड़की से कर दिया गया। पर दूलह और दुलहिन दोनों ही अपने इस ब्याह के प्रतिकूल थे। ब्याह के बाद ही दोनों सन्यासी हो गये[३]। एक ब्राह्मण अपने मा बाप के मरने पर संसार त्याग देता है[४]। दूसरा अपनी स्त्री के मरने पर सन्यासी हो जाता है[५]। कोई २ स्त्रियां भी संसार से खिन्न होकर भिक्खुनी बन जाती थीं[६]। इसके विपरीत कोई २ अत्यंत वैभव और ऐश्वर्य के समय ही विरक्त होकर वन को सिधार जाते थे। एक राजकुमार ठीक राज्याभिषेक के समय पर सन्यासी हो गया[७]। अन्यत्र दो राजकुमार संसार छोड़ना चाहते हैं; माता पिता उन्हें बहुत समझाते हैं पर नवयुवक सन्यास पर तुले हैं और वन को चले जाते हैं[८]। राज्य वैभव छोड़ कर सन्यासी होने के और भी उदाहरण जातकों में हैं[९]। संसार त्यागने से सदा सांसारिक भावनाएं न छूटती थीं। जातकों से संसार त्यागी अकेले न रहते थे। परिव्राजकों की सुसंगठित मण्डलियां

सन्यास

---

१. जातक २। ४१, १४५, २६९, ४३० ॥ ३। ४५ ॥
२. जातक ३। ३००–३०१ ॥ ४। २२० ॥
३. जातक ४। ७२ ॥
४. जातक २। ३१४ ॥ २। ४११ भी देखिये।
५. जातक ३। १४७ ॥
६. जातक १। १४६ ॥ ३। ९४ ॥
७. जातक ४। ४९२।
८. जातक ४। १२१-२२।
९. जातक ३। ३१।

लियाँ थीं[1]। बौद्ध और जैन संघों की व्यवस्था का उल्लेख सिद्ध होता है कि कोई २ सन्यासी बड़े पाखंडी होते थे[2]।

परिव्राजक

सब पहिले ही कर चुके हैं[3]। और सम्प्रदाय वालों ने भी कुछ २ उसी तरह के संघ बनाये थे।

वर्ण और आश्रम के अलावा सामाजिक जीवन के और अङ्गों के बारे में भी कुछ बातें साहित्य से मालूम होती हैं। मल्ल, लिच्छवि, इत्यादि में समाज का संगठन कुल के आधार पर मालूम होता है अर्थात् एक कुल के आदमी अपने अपने कुलपति की अधीनता में रहते थे; सब बातें कुल के नियम के अनुसार तै होती थीं। इनका बाक़ी जीवन और लोगों का सा ही था।

कुल

स्त्रियों का पद लगभग वैसा ही मालूम होता है जैसा कि पिछले अध्यायों में लिख चुके हैं। सन्यास के कारण ग्रन्थों में स्त्रियों की निन्दा बढ़ गई है। उनके सम्बन्ध में अनेक बार जातकों में बहुत से अपशब्द प्रयोग किये हैं—कहा है कि स्त्रियां चञ्चल होती हैं, दुराचारी होती हैं, पापी होती हैं[4]। जैन आचारांगसूत्र कहता है कि पुरुष स्त्रियों को सुख का साधन समझते हैं पर वास्तव में वह अज्ञान, दुख, मृत्यु और नरक की द्वार है[5]।

स्त्रियों का पद

क्षत्रियों में बहुविवाह की प्रथा बढ़ गई थी और इससे भी स्त्रियों का पद गिर रहा

बहु विवाह

---

१. जातक ४। २४-२५।

२. मज्झिमनिकाय २। १। महासकुलुदापि सुत्त ७७॥ मज्झिमनिकाय २। २२। समणमंडिका सुत्त ७८॥

३. देखिये सातवां अध्याय।

४. जातक १। ३००-३०२, ३३८॥ २। १६७॥ ३। २५०, ३४२॥

५. आचारांगसूत्र, १। २। ४। ३॥

था[1]। बुद्धघोष से भी प्रगट है कि कभी २ सौतों में बड़े झगड़े होते थे और खून तक हो जाता था। बहुविवाह की प्रथा इतनी अस्वाभाविक है कि सौतों के झगड़े किसी तरह रुक ही नहीं सकते। पर इन झगड़ों से स्त्रियाँ झगड़ालू मालूम होती हैं और आदर खो बैठती हैं। पर अगर बौद्ध और जैनधर्म ने वर्णव्यवस्था के नियम ढीले कर दिये थे तो स्त्रियों को कुछ अधिक स्वतंत्रता हो गई होगी। कह चुके हैं कि स्वयं गौतमबुद्ध स्त्रियों को भिक्खुनी बनाने के प्रतिकूल थे पर आनन्द के कहने पर वह मान गये थे। आज तक बौद्ध स्त्रियां आनन्द की पूजा करती हैं और कृतज्ञता प्रकाश करती हैं कि उसने उनके लिये आध्यात्मिक जीवन का मार्ग खोला। साधारण जीवन में भी स्त्रियों का पद अभी नीचा नहीं मालूम होता। अशोकावदान और अवदानशतक से सिद्ध है कि अभी पर्दा नहीं शुरू हुआ था। स्त्रियां पतियों के साथ उत्सवों में जाती थीं और छोटे बड़े आदमियों से मिलती थी[3]। दीघनिकाय में लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण का समाचार पाते ही मल्लकुल के स्त्री पुरुष बच्चे सब कुशीनार को गये जहां बुद्ध का शव रक्खा था। तम्बू तान कर छः दिन तक वह फूल, माला, सुगन्ध और नाच गाने से बुद्ध का सन्मान करते रहे। इस यात्रा और सन्मान में स्त्रियां भी शामिल थीं[4]। जातकों में ऐसी स्त्रियों के भी उदाहरण हैं

पर्दे का अभाव

---

१. जातक १। २६२ ॥ २। १२५–२६, ४०१ ॥ ३। १३, २१, ६८, १०७-१०८, १६८, ३३७, ४१९ ॥ ४। ७९, १०५, १२४, १९१, ३१६ ॥ ६। २२० ॥

२. बुद्धघोष. धम्मपदटीका, १। ४ ॥

३. ललित विस्तर १२। पृ० २०२ ॥ राजेन्द्रलाल मित्र, नैपालीज़ बुधिस्ट लिटरेचर पृ० २३, २५ ॥

४. दीर्घनिकाय २। १५९।

जिन्होंने अपने पतियों के मरने पर राजकार्य चलाया[१]। जातकों से यह भी सिद्ध होता है कि ब्याह बहुधा बालपन के बाद होता था और युवक तथा युवती कभी २ अपनी इच्छा के अनुसार ही ब्याह करते थे। बुद्धघोष की पुरानी कथाओं से भी प्रगट है कि कोई २ युवतियाँ अपनी मर्ज़ी से ब्याह करती थीं या न करती थीं[२]। बुद्धघोष ने एक पतोहू की भी कथा लिखी है जिसे स्वामी घर से बाहर निकाले देता था। पर वह कहती थी कि इस तरह आप मुझे घर के बाहिर नहीं कर सकते; क़ायदे से मेरा मुक़द्दमा होना चाहिये। नतीजा यह हुआ कि वह निर्दोष निकली[३]। जातकों में भी कहा है कि स्त्रियों से नम्रता के साथ बात चीत करनी चाहिये[४]।

बालविवाह का अभाव

इस युग में शिक्षा का प्रबन्ध पहिले की अपेक्षा अधिक मालूम होता है। गुरुओं के पास बहुत से ब्रह्मचारी पढ़ते थे। बहुत से लोग घर पर ही अपने बालकों को शिक्षा देते थे। इधर उधर कुछ पाठशालाएं भी थीं[५]। कुछ बड़े २ विद्यापीठ भी थे जिनको विश्वविद्यालय कह सकते है और जिनमें राजाओं के[६], बड़े

शिक्षा

विद्यापीठ

---

१. जातक ४। १०५॥

२. बुद्धघोष, धम्मपदटीका ५। १०॥ ८। ३॥

३ धम्मपदटीका, ४। ८॥

४. जातक ५। ४२१॥

५. ललितविस्तर १० पृ० १८१॥

६. जातक १। २७३॥ २। ३१९, ३२३, ४००॥ ३। १५८, १६८, ४१५, ४६३॥ ४। ३१५॥ ५। १६१॥

पुरोहितों के[1] और धनी पुरुषों के[2] लड़के पढ़ते थे; बहुत से साधारण युवक भी वहां पहुँच जाते थे। तक्कसिला या तक्षशिला का उल्लेख बौद्ध और जैन ग्रन्थों में बीसों बार आया है। यह नगर भारत के उत्तर-पच्छिम में बसा हुआ था और अनेक शताब्दियों तक ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शिक्षा तथा साधारण लौकिक शास्त्रों की शिक्षा का केन्द्र रहा। यहां बहुधा विद्यार्थी १६ बरस की अवस्था पर आते थे[3]।

तक्षशिला

तिलमुट्ठिजातक कहता है कि अपने नगर में प्रसिद्ध शिक्षकों के रहते हुये भी राजा लोग कुमारों को इतनी दूर तक्षशिला को इस लिये भेजते थे कि कठोर जीवन का अभ्यास हो जाय और संसार का ज्ञान हो जाय। एक राजा ने अपने पुत्र को केवल एक जोड़ा चट्टी, पत्तियों का एक छाता और १००० कहापण दे कर तक्षशिला को विदा कर दिया[4]। मार्ग में बहुत से जंगल थे। सब को पार कर के राजकुमार तक्षशिला पहुँचा। देखा कि मेरे भविष्य गुरु पाठ पढ़ा कर इधर उधर टहल रहे हैं। राजकुमार ने उनको देखते ही अपनी चट्टियाँ उतार डालीं, छाता हटा लिया और प्रणाम करता हुआ खड़ा हो गया। गुरु ने उसका स्वागत किया, यात्रा की थकावट दूर कराई और फिर बातचीत शुरू की।

राजकुमार और गुरु

---

१. जातक १। ४६३, ५०५, ५१० ॥ २। ५३, ५६, ८५३। ३९, ६४, १५८, १९४, २११, २२८, ३४१, ३५२, ४००, ४०३, ४२८, ४९७ ॥ ४। २२, ७४, २००, २२४ ॥ ५। २४७, २६३ ॥

२ जातक ३। ३७५ ॥ ४। ४७५ ॥

३. जातक १। २५९, २६२, २७३ ॥ २। २, ८७, २७७ ॥ ३। १२२ ॥ इत्यादि।

४. जातक २। २७७ ॥ जातक ५। ४५७ भी देखिये ॥

गुरु—तुम कहां से आ रहे हो?

राजकुमार—बनारस से।

गुरु—तुम किसके लड़के हो?

राजकुमार—बनारस के राजा का।

गुरु—तुम यहां किस लिये आये हो?

राजकुमार—शास्त्र पढ़ने के लिये।

गुरु—तुम अपने साथ आचरिय भाग (आचार्य भाग) लाये हो या धम्मन्तेवासिक होना चाहते हो?

राजकुमार—मैं आचार्य भाग लाया हूँ।

इतना कहते ही राजकुमार ने १००० कहा पण की थैली गुरु के सामने रख दी। इससे प्रगट है कि तक्षशिला में दो तरह के विद्यार्थी थे—एक तो फ़ीस देने वाले और दूसरे मुफ़्त पढ़ने वाले। फ़ीस देने वाले का कुछ अधिक सन्मान होता था। गुरुओं की आमदनी बहुत थी, जीवन में बड़ा पद पाने पर अनेक शिष्य उनको और भी बहुत कुछ देते थे। इसके अलावा गुरुओं को भोज इत्यादि के लिये निमंत्रण भी बहुत मिला करते थे[1]। छात्रों को अपने गुरुओ की सेवा करनी होती थी।

गुरु का पद

अपराध करने पर वह दण्ड पाते थे; कभी २ शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था[2]। यहां बहुत से गुरु तीन वेद पढ़ाते थे—अभी अथर्ववेद का विशेष अध्यापन प्रारंभ नहीं हुआ था। जातकों में लिखा है कि यहां अठारहो विद्याएं पढ़ाई जाती थी अर्थात् सब धार्मिक और लौकिक शास्त्रो की पढ़ाई थी। तीरंदाज़ी वग़ैरह भी सिखाई जाती थी।

---

१. जातक २। २७८ ॥ ३। १७१ ॥

२. जातक २। २७८ ॥

यहाँ किसी न किसी जगह कोई जन्त्र मन्त्र जादू टोना भी पढ़ाता था[1]। जैन और बौद्ध गुरु अवश्य ही अपने २ धर्मों की शिक्षा भी देते होंगे। अस्तु, तक्षशिला के समान विद्यापीठों में बड़ी व्यापक शिक्षा होती थी, सारी सभ्यता का परिशीलन होता था, और सब शास्त्रों की रक्षा का प्रबन्ध था। पढ़ाने के अलावा ऐसी विद्यापीठों में विद्या की वृद्धि होती थी, अर्थात् अनुसन्धान के द्वारा नये २ ज्ञान का उपार्जन होता था। ऐसी संस्थाओं की परिपाटी हिन्दुस्तान में १३ वी सदी तक स्थिर रही; उदाहरणार्थ, ७ वी ई० सदी में नालन्द और १० वीं ई० सदी में विक्रमशिला के विद्यालय तक्षशिला से भी बढ़ कर थे और संसार के किसी विद्यालय की बराबरी कर सकते थे। हिन्दू सभ्यता को दृढ़ करने में इन विद्यापीठों का बहुत बड़ा भाग था।

शिक्षा के विषय

इस काल में उद्योग और व्यापार की उन्नति भी बहुत हो गई थी। तरह २ के सूती, रेशमी, ऊनी, कपड़े बनते थे; जूते, छाते वग़ैरह बहुत बनाये जाते थे; नगरों में सुगन्धों का बाज़ार गर्म था, सोना, चांदी और मणियों के ज़ेवर तय्यार किये जाते थे। तरह २ के तेल बनाये जाते थे, गाड़ी और रथ भांति २ के थे, तीर, कमान तलवार इत्यादि का उद्योग भी ज़ोर पर था। इन सब चीज़ों का, ज़मीन से पैदा होने वाले अनाज, बनस्पति, फल फूलों का, और मांस मदिरा इत्यादि का बहुत व्यापार होता था। नदियों और सड़कों के द्वारा सारा देश एक व्यापार क्षेत्र बनता जाता था। विदेश से भी व्यापार होता था। तक्षशिला होकर एक व्यापार

उद्योग और व्यापार

---

1. तक्षशिला की शिक्षा के लिये देखिये जातक १। २५९ ॥ २। ८७, १०० ॥ ३। १२२, १५८ ॥

मार्ग था जो मध्य एशिया और पच्छिम एशिया को जाता था।

विदेशी व्यापार

दक्खिन के बन्दरगाह पूरब में वर्मा, स्याम और चीन से और पच्छिम में मिस्र और पच्छिम एशिया से व्यापार करते थे। हिन्दू लोग बहुत जहाज चलाते थे और कभी २ बड़े भयंकर समुद्रों में निकल जाते थे। एक हिन्दू का उल्लेख यूरोपियन साहित्य में है जो ई० पू० चौथी सदी में जर्मनी और इग्लैंड के बीच उत्तरसागर में अपना जहाज़ ले गया और तूफ़ान में बुरी तरह फस गया[1]।

नगर

उद्योग और व्यापार के कारण और राजधानियों के कारण अनेक बड़े २ नगर थे। उत्तर भारत के कोई बीस नगर थे। थेर आनन्द ने बुद्ध के निर्वाण के समय के छः महानगरों का उल्लेख है—सावत्थी, चम्पा, राजगृह, साकेत (अयोध्या) कौशाम्बी और बनारस। इनके अलावा बहुत से छोटे २ निगम अर्थात् शहर थे। मौर्य साम्राज्य के दिनों में पाटलिपुत्र सब से बड़ा नगर होगया[2]। शहरों और गावों के जीवन में सदा की तरह बहुत अन्तर था। एक जातक में एक दास को नगर छोड़ कर देहात में रहना पड़ा।

नगर का जीवन

वह था तो दास पर उसे नगरनिवासी होने का अभिमान था। कहने लगा कि यह देहाती बड़े मूर्ख हैं, न तो इनका भोजन अच्छा है और न यह कपड़े पहिनना ही जानते हैं, फूल माला सुगन्ध

---

१. उद्योग व्यापार के लिये देखिये जातक ग्रन्थ। मिसेज़ र्‌हिज़ डेविड्स, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, १, पृ० १९८ इत्यादि। कनकसभाइ पिल्ले, तामिल्स एट्टीन हन्ड्रेड ईयर्स एगो॥ राधाकुमुद मुकर्जी हिस्ट्री आफ़ इंडियन शिपिङ्ग एण्ड मैरिटाइम ऐक्टिविटी॥

२. मिसेज र्‌हिज़ डेविड्स, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, १ पृ० २०१॥

की तो कोई तमीज़ ही इन को नहीं है[1]। शहरों में आनन्द प्रमोद भी बहुत होता था। ख़ास कर बड़े आदमियों के यहां नाच रङ्ग गाने का जमाव लगा रहता था[2]। वेश्याओं का नाच भी होता था[3]। कोई २ रंगीले युवक वनों में जा कर नाचने गाने वाली स्त्रियों के साथ विहार करते थे[4]। शहरों में इमारतें भी बहुत अच्छी अच्छी होती थीं।

भवन निर्माण

इस समय तक निर्माणकला जो आगे चल कर मानसार कहलाई बहुत उन्नति कर गई थी। संघाराम नगर से न तो बहुत दूर और न बहुत पास होता था। चारो ओर ईंट, पत्थर, और लकड़ी की एक एक दीवार होती थी। उनके बाद बांस और काँटे के घेरे और फिर खाई रक्षा के लिये बनाई जाती थी। मकानों में भोजन, अग्नि, बैठने, सोने, चीज़ें रखने, कसरत करने और नहाने के अलग २ कमरे रहते थे। तालाब होते थे और खुली छत की इमारतें भी होती थीं। भीतर के कमरे तीन तरह के हो सकते थे—शिविकागर्भ नालिकागर्भ, और हर्म्यगर्भ।

स्नानगार

गर्म स्नानागार ऊँचे चबूतरों पर बनते थे, चढ़ने के लिये सीढ़ियां होती थी, चारो ओर घेरा लगा दिया जाता था। लकडी की छत और दीवारों पर चमड़ा और चूना लगाया जाता था। नहाने के लिये तालाब था, बैठने के लिये एक गर्म कमरे में आग के चारो तरफ़ चौकियां लगी थीं। नहाने के लिये ऐसे तालाब भी थे जिनमें बावड़ी की तरह उतरने को सीढ़िया

---

१. जातक १। ४५२ ॥

२. बुद्धघोष, धम्मपद टीका १। १६३ ॥

३. धम्मपदटीका १७। १ ॥

४. धम्मपदटीका ५। ७ ॥

थीं, जो पत्थर के बने हुये थे और जिनमें फूल और नक़्क़ाशी की शोभा थी। मकानों के लिये ऐसी चौकियां भी होती थीं जिनपर बेंच की तरह तीन आदमी बैठ सकते थे।

आराम के सामान

आसन्दी या कुर्सियां कई तरह की होती थीं, जैसे आरामी, गद्देदार। दरी, कम्बल, तकिये, पर्दे, फ़र्श, मसहरी, रूमाल और उगालदान भी बहुत तरह के थे[१]।

शासन के सम्बन्ध में भी इस समय के साहित्य से बहुत सी बातों का पता लगता है। बहुधा शासन खत्तिय

शासन

अर्थात् क्षत्रियों के हाथ में था जो अपने सामने पुरोहितों को भी हीनजच्च समझते थे[२], पर कहीं २ और वर्णों के आदमी भी राजा होते थे। दो जातकों में जनता अत्याचारी क्षत्रिय राजाओं को निकाल कर ब्राह्मणों को गद्दी पर बैठाती है[३]। राजाओं के तथा अन्य कुलीन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लड़के बनारस, अयोध्या इत्यादि नगरों से सैकड़ों मील दूर आकर उत्तर-पच्छिम में तक्कसिला अर्थात् तक्षशिला में बहुधा लम्बी २ फ़ीस देकर गुरुओं से धार्मिक

राजा

और लौकिकशास्त्र तथा तीरंदाज़ी इत्यादि सीखते थे[४]। ज़मीन्दारी संघशासनप्रथा

---

१. चुल्लवग्ग । ६ । ४ । ८ ॥ ६ । ३ । ७ ॥ ६ । १ । १० ॥ ६ । ३ । १० ॥ ६ । २ । ८ ॥ ६ । २ । २ ॥ ६ । १३ । २ ॥ ६ । १४ । १ ॥ ६ । ८ । १ ॥ विनय ३ । १०५-११०, २९७ ॥ महावग्ग ५ । १० । २-३ ॥ ८ । १८ ॥

२. जातक ५ । २५७ ॥ १ । १७७ ॥ ३ । १९ ॥ ४ । ४२, २०५, २०३ ॥ ५ । १२३ ॥

३. जातक १ । ३२६ ॥ ३ । ५१३ ॥

४. जातक १ । २९५. २५९, २६२. २७३ ॥ २ । २, ८७, २७७, १००. २७८. २१७-१८, २९७ ॥ ३ । १२२, ११५, १७१ ॥ ५ । २१०, ४५७ ॥

जातकों में भी है[1], पर उतनी ज़्यादा नहीं जितनी आगे चल कर मिलती है। राजा लोग कभी २ बिना कारण ही आपस मे लड़ते थे[2]। दसराजधम्म के अनुसार राजा को सत्य, यज्ञ, दान, नम्रता, त्याग, क्षमा इत्यादि गुणों का पालन करना चाहिये पर कोई २ राजा अत्याचारी भी होते थे जिन्हें प्रजा निकाल देती थी या मार डालती थी[3]। राजा का पद बहुधा मौरूसी होता था[4] पर कही २ अभिषेक के पहिले राजकुमार को मंत्रियों के सामने परीक्षा देनी पड़ती थी और अयोग्य सिद्ध होने पर गद्दी से दूर हट जाना पड़ता था[5]। अंधा कोढ़ी या इसी तरह का रोगी राजा गद्दी के अयोग्य समझा जाता था[6]। राजकुमारों में राज्य के बटने के भी दो एक उदाहरण हैं[7]। पुत्रहीन राजा की गद्दी कही २ भाई को[8] और कहीं २ दामाद को[9] मिलती थी और कही २ रानी ही राजकार्य करती रहती थी[10]। कहीं २ जनता आप ही राजा

---

१. जातक ३। १३ ॥ ५। २८२ ॥

२. जातक ३। ३ ॥

३. जातक २। २४० ॥ ४। २२४, २३ ॥ २। १२२, १६९, ३९१ ॥ ३। १७८, ४५४, ३१७ ॥ ५। ९८ ॥ ४। १४६ ॥ दसराजधम्म के लिये ३। २७४, ३२० ॥

४ जातक १। १२७ ३९५ ॥ २। ८७, ११६, २०३, २२९ ॥ ३। १२१ ॥ ४। १२४, १७६ ॥ ६। १५८ ॥

५. जातक २। २६४ ॥

६. जातक ४। ४०७ ॥ ५। ८८ ॥

७. जातक ४। १३१, १६८, ८४ ॥

८. जातक १। १३३ ॥ २। ३६७ ॥

९. जातक २। ३२३ ॥

१०. जातक ४। १०५ ॥

का चुनाव करती थी[1] और कहीं २ मंत्री रथ चलवाते थे और जिसके पास रथ ठहर जाय उसीको तिलक कर देते थे[2]। कहीं २ हर हालत में प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी[3]। कभी २ राज के लाभ के कारण राजकुमारों में बड़ी अनबन हो जाती थी और कुमारों को देश निकाले का दण्ड दिया जाता था पर कभी २ राजा या राजकुमार बहुत समझाने बुझाने पर भी लौकिक वैभव को लात मार कर सन्यास ले बैठते थे[4]। राजा का अभिषेक सफ़ेद छाते के नीचे पुरोहित और मंत्रियों के द्वारा नाच, रंग, गान, वाद्य, खेल तमाशे के साथ बड़ी धूमधाम से होता था[5]। यों भी कोई २ राजा बड़े आलीशान महलों में रहते थे, रंग बिरंगे जलूस निकालते थे, महफ़िल सजाते थे, कुश्तियाँ कराते थे, और शान मे एक दूसरे की होड़ करते थे[6]। जातक कहानियों में बहुत से राजाओं के पास सोलह हज़ार रानियां हैं जिससे मालूम होता है कि वह ज़रूर बहुत सी शादियां करते थे, और कभी २ अन्तःपुर के झगड़ा

उत्तराधिकारी

वैभव

---

१. जातक १ । ३९९ ॥

२. जातक ३ । २३८ ॥ ४ । ३८-३९ ॥ ५ । २४८ ॥

३. जातक १ । ५०७ ॥

४. जातक ६ । ३१, ९५ ॥ ३ । १२२, २१६, १७९, ३६४, ३९३, ५१५ ॥ २ । ११६ ॥ १, १३८ ॥ ४ । १६८, २३०, ७, १०५ ॥ ५ । १६१-६२, १७७, २२, २६३ ॥

५. जातक ३ । २३९, ४०८ ॥ ४ । ४०, ४९२ ॥ १ । ४७० ॥ ५ । २८२ ॥

६. जातक १ । २६७, ३०५ ॥ २ । १२२, २५३ ॥ ३ । ४०, ३२५ ३४२ ॥ ४ । १५३, ८१ ॥ ५ । १३, २८२ ॥

से बड़ी चिन्ता में पड़ जाते थे[1]। बहुत से राजा बड़े दानी होते थे और शहर के बीच में और चारो दर्वाज़ों पर सदाव्रत बैठाते थे और हिन्दुस्तान भर में यश पाते थे[2]। उनका अनुकरण करते हुये बहुत से सेठ और मंत्री भी इसी तरह दान करते थे[3]। राजा स्वयं न्याय करता था, प्रजा को सदाचार का उपदेश देता था, रक्षा करता था और सुख सम्पत्ति बढ़ाता था[4]।

दान

राजा की सहायता के लिये कुछ बड़े अधिकारी होते थे, जैसे उपराजन् जो राजा का भाई, बेटा या और कोई सम्बन्धी होता था; पुरोहित जो बड़ा भारी सलाहकार था; अमच्च जो बहुत सा राज कार्य करते थे; सेनापति जो सेना का प्रबन्ध करता था और सब मंत्रियों में प्रधान था; विनिच्छामच्च जो मुक़द्दमों का फ़ैसला करते थे और धर्म के मामलों में राजा को सलाह देते थे; भांडागारिक जो ख़ज़ाने का प्रबन्ध करता था; रज्जुक या रज्जुगाहक अमच्च, और दोड़ या दोड़मापक जो ज़मीन की टीप करते थे, हेरञ्जिक जो रुपये का हिसाब रखता था; सारथी जो रथों की देख रेख करता था; दोवारिक जो चौकीदारी करता था,

अधिकारी

१, जातक ४। ३१६, १२४, १०५, १९१, ७९ ॥ ६। २२० ॥ ३। २१, ६८, १०७-८, १३, १६८, ३३७, ४१९ ॥ २। १२५-२६, ४०१ ॥ १। २६२ ॥

२. जातक २। ११८, २७३, ३१६ ॥ ४। १७६, ३५५, ३६१, ४०२, २०१ ॥ ५। १६२ ॥ ६। ४२ ॥ ३। ७९ ॥

३. जातक ३। १२९ ॥ ४। ३५५ ॥ ५। ३८३ ॥

४. जातक १। ४३३, ३७१, ३८४, २६० ॥ ३। २३२, १०४, १११ ॥ २, १८२, ॥ ४। १७६-७७, ३६१, ४४४ ॥ ५। २९९ ॥

चोर घातक जो पुलिस का काम करते थे[१]। इनके अलावा राज-की नौकरी में बहुत से तीरंदाज़, गवैये और कारीगर वग़ैरह भी रहते थे[२]। बड़े २ अधिकारी महामत्तों के कुलों से बहुधा लिये जाते थे[३]। दरबार में इन सब अधिकारियों के अलावा सेठ साहू-कार और अन्य बड़े आदमी भी रहते थे[४]। प्रान्तों के शासन के लिये अक्सर राजकुमार नियत किये जाते थे। गांवों का प्रबन्ध ज़्यादातर गांववाले आप ही कर लेते थे। कोई २ गांव बहुत बड़े थे जिनमें वैद्य रोज़गार के लिये जाते थे।

प्रादेशिक शासन

किसी २ गांव में एक ही वर्ण या पेशे के आदमी ज़्यादातर रहते थे, जैसे ब्राह्मण, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, शिकारी। गांव में एक मुखिया या ग्राम-भोजक होता था पर कूआँ, तालाब, सड़क, भवन इत्यादि बनाने

---

१. जातक १। ४३७. २८९, ३३४, ३७१, ४३९, २७२, २६० २४८, १३३. २५२, ३४९, ४६६ ॥ २। ३७४, ४७, ३७६, २८२, ४६, १८६-८७, ९८, १२५, ३०, ७४, ३८०, ३६७, ३७८, ३७७, २४१, ३७९ ॥ ३। ४५४. ३९२, ४५५, ४००, १९४, ३३७, २८, ३१७, ३१, ४१७, १०५, ५१६ ४३, १५९, ३७६, ३४२, २३९ १९३, ५९, १७९ ॥ ४। ७९, २००, २७०, ४७५, ३६४, ४०८, ४६२-१३७०, ४०७, ४३८, १६८, ४३, ५६९ ॥ ५। १२७, ५७, २, १७८, ४५९, १२५, १२३, २५०, ५०२ ॥ ६। ७५, ३३०, १३१, ३०, २८ ॥

२. जातक १। १२४, १२१, १३७, १३८, ३४२ ॥ २। ८७, २२१, २५०, ५, ३१९ ॥ ४। ३२४ ॥ ५। १२८ ॥

३. जातक ९८. १२५, २०३, ३७८ ॥

४. जातक १। २८९, ३४९ ॥ ३। ११९, १२८, २९९, ३००, ४४४, ४७५ ॥ ४। ६३ ॥ ५। ३८२ ॥

में सब ही लोग भाग लेते थे[१]। शहरों का इन्तिज़ाम सरकारी अफ़सरों के हाथ में ही मालूम होता है।

कर

रज्जोभाग अर्थात् ज़मीन का कर ग्रामभोजक बलपतिगाहक, निग्गाहक और बलिसाधकों की सहायता से इकट्ठा करता था। वसूल करने में कभी २ अत्याचार होता था। राजकम्मिका ज़मीन नापते थे और लगान तै करते थे। बिना वारिस की दौलत राजा के ख़ज़ाने में जाती थी[२]।

न्याय

न्याय का काम राजा के अलावा पुरोहित, सेनापति और पंच भी करते थे। राजद्रोह, या डाके के लिये प्राणदण्ड या अङ्ग-भङ्ग की सज़ा होती थी। कुछ और अपराधों के लिये जेलख़ाना होता था जिसमें बड़ा कष्ट मिलता था। बड़े घृणित अपराधों के लिये अपराधी को काँटे के बेत मारे जाते थे या हाथियों से उनकी हड्डियां तुड़वा दी जाती थीं[३]।

श्रेणी

जातकों में भी व्यवसाइयों की बहुत सी श्रेणियाँ मिलती हैं। राज, लुहार, बढ़ई, चित्रकार, सौदागर, माली, सिपाही आदि सब लोग अपनी २ श्रेणियां बनाकर अपना बहुत सा प्रबन्ध आप ही

---

१. जातक २। ३६८, १८, ४०५, ३८८ ॥ ३। ८६, २८१, २९३, ३७६, ५०८, ११५ ॥ ४। १५९, २०८, ४३० ॥ ६। ७१ ॥ १। १९९, २०१ ॥

२. जातक ४। १६९, २२४, ४८५ ॥ २। ३७८, २४०, १७ ॥ ३। ९, २९९ ॥ १। २७७, ३९८ ॥ ५। ९८ ॥

३ जातक १। १४६, २०० ॥ २। १२२-२३, ११७ ॥ ३। ४३६, ४४१, ५०५ ॥ ५। २२८-२९, ४६१, २२९, १३ ॥ ६। ८, ४ ॥

करते थे। श्रेणी का मुखिया एक सेठी कहलाता था और उनके किसी २ झगड़े का फ़ैसला भांडागारिक करता था[1]।

गुलामी

लड़ाई में पकड़े जाने से, प्राणदण्ड के घटाने से या दण्ड स्वरुप या ऋण न देने से आदमी ग़ुलाम हो सकता था। पर ग़ुलामों को भी गृहस्थ जीवन की इजाज़त थी। बहुत से लोग थे जो खेती या व्यापार नहीं करते थे वरन् किराये पर मज़दूरी कर के पेट भरते थे। यह लोग दासों से बेहतर नहीं समझे जाते थे[2]।

---

१ जातक १। ३६८, २९६, ३२०, २३१ ॥ २। २९५, ३८७, १२, ५२ ॥ ३। २८१, ३८७, ४७५ ॥ ४। १३७, ४११, ४२७, ४३ ॥ ६। २२, ४२७ ॥

२, मज्झिम निकाय १। १२५ ॥ विनय ३। ४०१ ॥ जातक १। ४०२, ९२, २४८ ३७७, १२४, १७८, १८१ ॥ २। ३१, २५७, २७७ ॥ ४। २२० ॥ ६। ५२१ ॥

नवाँ अध्याय ।

मौर्यकाल, लगभग ई० पू० ३२२–१८४ ।

मगध में अन्तिम नन्दराजा के अत्याचार से जो विप्लव हुआ था उसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा था।

मौर्यवंश

उसने लगभग ई० पू० ३२२-२९८ तक राज्य किया और उस मौर्यवंश का प्रारम्भ किया जो लगभग ई० पू० १८४ तक पाटलिपुत्र की गद्दी पर रहा और जो संसार के अत्यन्त प्रशंसनीय राजवंशों में है। चन्द्रगुप्त के अभिषेक के पहिले ही सिकन्दर का देहान्त हो गया था और विशाल

चन्द्रगुप्त

मैसिडोनियन साम्राज्य के टुकड़े २ होने लगे थे। सिकन्दर के सेनापतियों ने साम्राज्य के भिन्न २ देश दबा लिये और स्वतंत्र राजाओं की तरह शासन करना शुरू किया। आपस की लड़ाई में उन्होंने कोई कसर न रक्खी

ग्रीक प्रभाव

और दूसरों से भी युद्ध करते रहे। सिकन्दर के विश्वसाम्राज्य के स्वप्न स्वप्न ही रह गये पर उसके पराक्रमों ने तमाम पच्छिमी एशिया पर स्थायी प्रभाव डाला। कई शताब्दियों तक मेसीडोनियन या ग्रीक राजवंश भूमध्य-सागर से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक राज करते रहे। थोड़ी बहुत ग्रीक सभ्यता जो संसार की अत्यन्त प्रभावशाली सभ्यताओं में गिनी जाती है, पच्छिम एशिया में फैल

तत्त्वज्ञान

गई। ग्रीक तत्त्वज्ञान जो सामान्यतः केवल हिन्दू ज्ञान से ही घटकर था और किसी २ अंश में जैसे सामाजिक और राजनैतिक विवेचना में, उससे

भी बढ़कर था, बहुत जगह पढ़ा गया। ग्रीक सिद्धान्तों की मिलावट के बाद देसी तत्त्वज्ञान स्वभावतः बदल गये और इस सम्पर्क और हलचल से नये तत्त्वज्ञान पैदा हुये। उत्तर-पच्छिम सीमा पर यह सब विचार हिन्दू अर्थात् बौद्ध और ब्राह्मण पद्धतियों से सम्पर्क में आये। आगे चलकर इन्हों ने एक दूसरे पर कुछ प्रभाव डाला। तत्त्वज्ञान के अलावा ग्रीक लोगों ने ललित कलाओं में भी आश्चर्य-जनक उन्नति की थी। मूर्तिकला में वह ऐसे निपुण थे कि जहाँ तक शारीरिक सौन्दर्य और कारीगरी की सफ़ाई का सम्बन्ध है आज तक कोई उनकी बराबरी नहीं कर सका है। ई० पू० पाचवीं सदी में फ़ीडो ने ज़ूस देवता की जो विशाल मूर्ति बनाई थी वह वास्तव में अनुपम है। पच्छिम एशिया में ग्रीक मूर्तिकला ने आसानी से अपना सिक्का जमा लिया और गाँधार में बौद्ध मूर्तिकला भी उसके प्रभाव से न बच सकी। याद रखना चाहिये कि प्राचीन समय में वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान हिन्दू सभ्यता के क्षेत्र में था, गांधार जिसे अब क़न्दहार कहते हैं, हिन्दू सभ्यता के केन्द्रों में से था। यह प्रदेश पच्छिमी प्रभावों के लिये खुला हुआ था और इसमें से होकर वही प्रभाव पञ्जाब की ओर बढ़ सकते थे। जब गांधार की मूर्तिकला ग्रीक प्रभाव के नीचे आ गई तब पच्छिमी भारत की कला भी अछूत न बचने पाई।

ललित कला

ग्रीक लोगों ने नाटक को भी बड़े ऊंचे दर्जे तक पहुँचा दिया था। ई० पू० पांचवी और चौथी सदी के नाटककार ईस्काइलस, यूरिपिडीज़, सोफ़ोक्लीज़ और ऐरिस्टोफ़ेनीज़ में ऐसा चमत्कार है, भावों का ऐसा चित्रण है, घटनाओं का ऐसा विश्लेषण है कि आज तक कुछ अंशों में ग्रीक नाटक अद्वितीय हैं। इस नाटक ने भी पच्छिम एशिया

नाटक

पर प्रभाव डाला। सौ बरस से विद्वानों में यह विवाद चल रहा है कि हिन्दू नाटक पर ग्रीक प्रभाव पड़ा था नहीं और अगर पड़ा तो कितना ? इसमें तो कोई संदेह नही है कि आगे चौथी ई० सदी के लगभग ग्रीक ज्योतिष् ने हिन्दू ज्योतिष् को पलट दिया।

ज्योतिष

उत्तर पच्छिम के ग्रीक या आधे चौथाई ग्रीक राज्य हिन्दुस्तान की राजनीति में भी कभी २ खलबली मचाते रहे। ई० पू० चौथी सदी से ई० पू० पहिली सदी तक उन्होंने कई हमले किये और थोड़े बहुत दिन के लिये कुछ प्रदेश अपने बस में कर लिया। सब से पहिला हमला चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हुआ और पच्छिम एशिया के स्वामी सेल्यूकस के द्वारा हुआ। अपने दूसरे प्रतिद्वन्दी सेनापति एंटिगोनस को हरा कर, सेल्यूकस ने ई० पू० ३१२ में अपना राज्य एशिया के सब पच्छिमी देशों पर जमा लिया था। उसने निकेटर अर्थात् विजेता की पदवी धारण की[1] और दूसरा सिकन्दर बनने का उद्योग किया। ई० पू० ३०५ के लगभग हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की। वह गंगा नदी तक चला आया पर उसे शीघ्र ही पता लग गया कि अब हिन्दुस्तान की अवस्था बदल गई है। सिकन्दर के समय में देश बीसों छोटे २ राज्यों में बटा हुआ था जो संघ बनाने पर भी विदेशियों का सामना सफलता पूर्वक न कर सके थे। पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने कम से कम सारे उत्तर भारत में एक राज्य स्थापित कर दिया था। देश की संयुक्त शक्ति के सामने सेल्यूकस ने घुटने टेक दिये; लड़ाई में हार कर उसने ई० पू० ३०३ के लगभग

सेल्यूकस निकेटर

हिन्दुस्तान पर हमला

---

१. सेल्यूकस के लिये देखिये, ई० आर० बेवन, हाउस आफ़ सेल्यूकस

चन्द्रगुप्त से संधि करली और अपनी बेटी मौर्य सम्राट् को ब्याह दी। अधिक महत्त्व की बात यह थी कि सेल्यूकस ने सिंध नदी के पश्चिम का देश अर्थात् सारा वर्तमान सीमाप्रदेश और अफ़ग़ानिस्तान एवं मध्य एशिया का कुछ भाग चन्द्रगुप्त को सौंप दिया। बदले में चन्द्रगुप्त से केवल ५०० हाथी पाकर उसने हिन्दुस्तान से बिदा ली। हां, चन्द्रगुप्त ने अपनी राजधानी में उसका एक दूत रखना स्वीकार कर लिया। इस पद पर मेगेस्थनीज़ नियुक्त हुआ जिसने हिन्दुस्तान का देखा और सुना हुआ हाल एक पुस्तक में लिखा। पुस्तक लोप हो गई है पर उसके अंश बहुत सा नमक मिर्च लगा कर अन्य ग्रीक लेखकों ने अपनी रचनाओं में रक्खे। इन अंशों में बहुत सी असम्भव बातें हैं जैसे सोना खोदनेवाली चींटियों का ज़िक्र है, बिना आँख नाक वाली जातियों का वर्णन है। दूसरे, स्वयं मेगेस्थनीज़ हिन्दुस्तान के थोड़े से हिस्से से ही जानकारी रखता था और यहाँ की भी भाषा न जानता था। तीसरे वह स्वभावतः हिन्दू संस्थाओं को ग्रीक दृष्टिकोण से देखता था। उसके वर्णन के अवशेषों की समीक्षा में इन सब बातों का ख़याल रखना ज़रूरी है। भाग्यवश, इसके बाद भी मेगेस्थनीज़ से हिन्दू समाज और विशेष कर राजनीति के बारे में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है।

पराजय

मेगेस्थनीज़

सेल्यूकस पर विजय पाने के बाद चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का फैलाव पश्छिम में अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूरब में बंगाल तक हो गया। इतना बड़ा और सुव्यवस्थित साम्राज्य अभी तक हिन्दुस्तान में न हुआ था। अब ब्राह्मणों और इतिहासकाव्यों की साम्राज्य

मौर्य साम्राज्य

कल्पनाएं व्यवहार में परिणत हो गईं। अभाग्यवश, चन्द्रगुप्त के विषय में उस समय के भारतीय ग्रंथकारों ने बहुत कम लिखा है। शायद उसने दक्षिण की ओर भी अपना साम्राज्य फैलाया था। उसका शासनचातुर्य उसके कृत्यों से ही प्रगट है। चन्द्रगुप्त का धर्म कौन सा था—यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। वह बौद्ध नहीं था पर जैनधर्म को मानता था या ब्राह्मणधर्म को।

चन्द्रगुप्त का धर्म

जैन ग्रन्थों में लिखा है कि वह जैन था। जब उसके राज्य में बारह बरस का अकाल पड़ा तब अपने पुत्र बिन्दुसार को गद्दी सौंप कर वह मुनि हो गया और भद्रबाहुस्वामी तथा अन्य मुनियों के साथ दक्खिन की ओर चला गया। मैसूर में श्रवणबेलगोल में उन सब ने वास किया और यहां ही चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म के अनुसार सल्लेखना करके अर्थात् धीरे २ सब खानपान और माया मोह छोड़कर प्राण त्याग दिये। इस जैन वृत्तान्त का समर्थन एक शिलालेख से अवश्य होता है पर यह शिलालेख अनेक शताब्दी पीछे खोदा गया था और शायद जैन वृत्तान्त ही इसका आधार था। सम्भव है कि यह सब सच हो पर अभी तक हमें इसका पक्का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है[१]।

चन्द्रगुप्त का राज्य लगभग ई० पू० २९८ तक रहा। उसके

बिन्दुसार

पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसार को अमित्रघात कहा है जिससे प्रगट है कि उसने लड़ाइयाँ की और विजय पाईं। अगर चन्द्रगुप्त ने दक्खिन नहीं जीता था तो बिन्दुसार ने जीता होगा क्योंकि कृष्णा नदी तक का सारा देश और उसके नीचे भी कुछ देश अशोक के सिंहासन पाने के समय मौर्य राज्य में शामिल था। बिन्दुसार के

---

१. चन्द्रगुप्त के लिये देखिये, विंसेंट ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, (चौथा संस्करण) पृ० १२१—५५॥

समय में मौर्य राज्य उत्तर में मध्य एशिया से लेकर दक्खिन में वर्तमान नेलोर नगर तक था। पूर्वी समुद्रतट पर कलिङ्ग राजा अभी स्वतंत्र था पर अन्यत्र एकसाम्राज्य की पताका फहराती थी। बिन्दुसार ने पच्छिम एशिया से सम्बन्ध क़ायम रक्खे। मेगेस्थनीज़ के बाद डाइमेकस दूत होकर पाटलिपुत्र में आया पर उसके लेख नाम मात्र को ही बचे हैं। उधर ई० पू० २८० में सेल्यूकस निकेटर की हत्या के बाद उसका लड़का एन्टायोकससोटर गद्दी पर बैठा। उससे बिन्दुसार की लिखा पढ़ी बराबर होती रही। एक बार बिन्दुसार ने एन्टायोकस से कुछ अंजीर मँगाये और लिखा कि एक अध्यापक भी मोल लेकर भेज दीजिये। एन्टायोकस ने अंजीर इत्यादि भेज दीं पर लिखा कि हमारे यहां अध्यापक बेचना नियम के प्रतिकूल है। मिस्र के ग्रीक राजा टालेमी फ़िलाडेल्फ़ोस ने भी डायोनीसियस नामक एक दूत पाटलिपुत्र को भेजा। औरों की तरह उसने भी हिन्दुस्तान का एक वृत्तान्त लिखा। घरेलू मामलों में बिन्दुसार के बारे में इतना ही मालूम है कि दो एक प्रान्तों में अधिकारियों के अत्याचार से विद्रोह हुये थे और राजकुमार अशोक ने उन्हें दबाया था। बिन्दुसार ने ई० पू० २७३ या २७२ तक राज्य किया[१]।

विदेशी राजाओं से सम्बन्ध

पिता के मरने पर अशोक ई० पू० २७३ या २७२ में साम्राज्य का शासक बना पर किसी कारण से उसका अभिषेक तीन चार बरस पीछे ई० पू० २६९ में हुआ। बौद्ध परम्परा के अनुसार, अशोक को अपने भाइयों से लड़ना पड़ा था और विजय पाने पर उसने उनको बुरी तरह मरवा डाला था पर स्वयं सम्राट् ने अपने किसी शिलालेख

अशोक

१. बिन्दुसार के लिये देखिये, विंसेंटएस्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण) पृ० १५५-५८॥

में इसका उल्लेख नहीं किया। ई० पू० २६१ में अशोक ने कलिङ्ग पर चढ़ाई की। कलिङ्ग राजा के पास बड़ी भारी सेना थी। मेगेस्थनीज़ ने लिखा है कि वहाँ ६०,००० पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हाथी थे। इधर मौर्यसम्राट् की सेना इससे भी ज़्यादा थी।

कलिङ्गविजय

बड़ा घमासान संग्राम हुआ। दोनों ओर से एक लाख सिपाही काम आये, डेढ़ लाख क़ैद में आये। युद्ध के बाद अकाल पड़ा और महामारी फैली जिससे और लाखों का प्राणान्त हो गया। संग्राम में अशोक की जीत रही और एक मात्र स्वतंत्र प्रदेश कलिङ्ग भी मौर्यराज्य का भाग हो गया। पर लोहू की नदियों से और दुखियों की आहों से अशोक का हृदय कांप उठा। उसका सारा आत्मा हिल

आध्यात्मिक परिवर्तन

गया और जीवन तन्त्री के सब तार एक साथ ही दया और पश्चात्ताप से बजने लगे। विजय, वैभव की भावनाएं सदा के लिये त्याग कर उसने अहिंसा की प्रतिज्ञा की और बौद्ध होकर संसार की सेवा में जीवन अर्पण कर दिया। अपने अभिमान को आप ही तोड़कर उसने हृदय संसार के सामने रख दिया और सब को अपनी राम कहानी सुना दी। साम्राज्य भर में शिला लेख खुदवा कर उसने नीति का उपदेश दिया, छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर सब को प्राणियों का सुख बढ़ाने की प्रेरणा की, सब को कर्तव्य और शान्ति का मार्ग दिखाया। अशोक के लेखों में कहीं धार्मिक कट्टरता का नाम नहीं है; संकुचित विचारों की छाया नहीं है। वह संसार भर के मनुष्यों का हित चाहता है, मनुष्यों का ही नहीं, पशु पक्षियों का भी दुख निवारण करने में जी जान से लगा हुआ है। अत्यन्त नम्र होते हुये भी वह इतने ऊंचे नैतिक और आध्यात्मिक आसन पर जा बैठा है कि जात पाँत, रंग, देश के भेद उसे

दिखाई नहीं पड़ते। बौद्धधर्म की सहायता वह इसी लिये करता है कि उसमें अहिंसा और दया का भाव है। इसी लिये उसने धुर दक्खिन में, लंका में, और पच्छिम की ओर, एशिया, यूरुप और। अफ्रीक़ा के देशों में अर्थात् सीरिया, मेसीडोनिया, एपिरस, मिस्र और साइरीनी में अपने धर्मप्रचारक भेजे। सीमाप्रान्तों पर जो असभ्य और अर्धसभ्य जातियां थी उनको भी धर्म का उपदेश सुनाया। सारे साम्राज्य में उपदेशक और निरीक्षक नियत किये। पर उपदेश से ही उसे संतोष न था। जनता का सुख बढ़ाने के लिये उसने शासन और न्याय में सुधार किये, खेती की सिंचाई का प्रबन्ध किया, सराय, अस्पताल और पाठशाला इत्यादि बनाई। संसार के इतिहास में अशोक का सा राजा और कोई नहीं हुआ। किसी देश में, किसी युग में इतने ऊँचे आदर्शों का, और प्रजा के हित में इतना निमग्न, शासक नहीं हुआ[1]।

अशोक के उत्तराधिकारी

चालीस बरस राज करने के बाद ई० पू० २३२ में अशोक का देहान्त हुआ। उसका पोता दशरथ अथवा एक अन्य प्राचीन लेख के अनुसार दूसरा पोता सम्प्रति बैठा। उसके बाद कई मौर्य सम्राट् गद्दी पर बैठे पर उनमें अपने पूर्वजों का सा तेज नहीं था।

---

१. अशोक के लिये देखिये हुल्ट्ज़, इन्स्क्रिप्शन्स आफ़ अशोक। शिलालेखों का पुराना कनिंघम कृत संस्करण अब काम का नहीं है। पालिग्रन्थ दीपवंश, महावंश और दिव्यावदान देखिये। अशोकावदान और बुद्धघोष कृत समन्त-पासादिका भी देखिये। अशोक के बारे में बहुत सी कथाएं अनेक बौद्धग्रन्थों में एवं चीनी यात्री युआनच्वांग में है। शिलालेखों पर इंडियन एन्टिक्वेरी, जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी में बीसों लेख हैं। हिन्दी में देखिये गौरीशंकर हीराचंद ओझा और श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित अशोक की प्रधान धर्मलिपियां।

अन्तिम मौर्यसम्राट् बृहद्रथ को उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पू० १८५ के लगभग मार डाला। पुष्यमित्र स्वयं गद्दी पर बैठा। मौर्यवंश के छोटे २ राजा इधर उधर अनेक बरसों तक राज करते रहे पर ई० पू० १८५ के लगभग मौर्यसाम्राज्य समाप्त हो गया।

अशोक के शिलालेखों से, बौद्ध ग्रन्थों से और ग्रीक वर्णनों से मौर्यसाम्राज्य की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था का कुछ पता लगता है। मेगेस्थनीज़ ने, शायद राज्य की दृष्टि से, सात वर्ग गिनाये हैं—एक तो तत्त्वज्ञानी जिनकी संख्या कम थी पर प्रभाव बहुत था, जो न किसी के नौकर थे और न किसी के मालिक और जो यज्ञ कराया करते थे और भविष्य बताया करते थे। दूसरे, किसान जिनकी संख्या सबसे ज़्यादा थी, जो देहात में ही रहते थे, खेती करते थे और लड़ाई या सरकारी नौकरी से अलग रहते थे। तीसरे, चरवाहे और गड़रिये जो ख़ीमे लिये घूमा करते थे। चौथे, कारीगर जो खेती, उद्योग और लड़ाई के औज़ार बनाते थे, जिनसे कर नहीं लिया जाता था और जिन्हें राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। पर स्ट्रैबो के अनुसार इस वर्ग के कई भाग थे, जैसे सौदागर इत्यादि जो कर देते थे या राज्य की और सेवा करते थे। पांचवें, सिपाही थे जो शान्ति के समयों में आलस्य में बैठे रहते थे। छठे, अध्यक्ष थे जो हर एक बात की निगरानी किया करते थे। सातवें, मंत्री और अधिकारी थे जो संख्या में सब से कम थे पर जो चरित्र और बुद्धि के कारण सब से अधिक आदर के पात्र थे। सेना, शासन, न्याय, कोष इत्यादि के अधिकारी इनमें से ही लिये जाते थे। मेगेस्थनीज़ कहता है कि प्रत्येक वर्ग आपस में ही ब्याह करता था[1]। सात वर्गों का यह वर्णन चातुर्वर्ण्य का वर्णन नहीं है पर

समाज

1. डायोडोरस २। ४०-४१ ॥ एरियन ११-१२ ॥ स्ट्रैबो, १५। १, ४६-४९, ५८-६० ॥ प्लिनी, ६। २२ ॥

शायद यह बिलकुल गप भी नहीं है। बहुत सम्भव है कि व्यवहार में इस प्रकार के वर्ग बन गये हों। वह प्रायः अपना ही व्यवसाय करते थे और आपस में ही ब्याह करते थे।

ग्रीक वर्णन

इस समय के ग्रीक लेखकों से मालूम होता है कि ब्राह्मण सन्यासी योग किया करते थे। बौद्ध श्रमण प्रत्येक जाति से लिये जाते थे और फिर जाति भेद न मानते थे। साधारण ब्राह्मण अच्छे कपड़े, पगड़ी और सुगंध इत्यादि का प्रयोग करते थे। मामूली तौर से लोग किफ़ायत से रहते थे पर कपड़े और ज़ेवर का शौक़ सबको था। यज्ञ के अवसरों को छोड़कर और कभी कोई शराब नहीं पीता था। कोई २ ब्रह्मचारी तीस बरस तक गुरु के यहां संयम से रहते और विद्या पढ़ते थे। ज़्यादातर लोग देहात में रहते थे और .खुशहाल थे। क़ानून सादे थे; चोरी बहुत कम होती थी, घर द्वार बिना चौकीदारी के पड़े रहते थे; इक़रारनामे या क़र्ज़ के वक्त गवाहों की ज़रूरत न होती थी। मुक़द्दमेबाज़ी बहुत कम थी। बहुत से लोग एक से ज़्यादा शादी करते थे। सती की प्रथा इधर उधर प्रचलित थी[1]।

रीति रिवाज

अशोक के निषेधों से भी सामाजिक रीतियों का कुछ पता लगता है। बीमारी में, बच्चों के जन्म पर, ब्याह पर, यात्रा के समय और दूसरे अवसरों पर आदमी, ख़ास कर स्त्रियां, बहुत सी व्यर्थ और गंवारू रस्में करती थीं। अशोक कहता है कि रस्में ज़रूर हों पर ऐसी रस्मों से तो कुछ नतीजा नहीं निकलता। उस समय समाज अर्थात् आनन्द प्रमोद की गोष्ठियां बहुत होती थीं। अशोक

---

१. स्ट्रैबो १५॥ प्लिनी ७।३।२॥ मैक्क्रिन्डल, इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, ३८, ४१. ४७, ५५ ८, ६४-७६, ११३-१४, १४६, १६१, १७५, १८३, २०२

को इनमें भी बुराई देख पड़ी। हर जगह अशोक ने माता पिता, बड़े बूढ़ों की आज्ञा पालने का, ब्राह्मण और श्रमणों के आदर सन्मान का, नौकर ग़ुलाम, दीन दुखियों पर दया करने का, दान और सदाचार का उपदेश दिया है।

ग्रीक लेखक आयलियन से प्रकट है कि सम्राट् बड़ी शान और ऐश्वर्य से रहता था[1]। सुनहरे स्तम्भों के महलों का सौन्दर्य और वैभव ईरान के सूसा और एकबटाना से भी ज़्यादा था। सिपाहियों द्वारा सुरक्षित सम्राट् सोने से जड़े हुये महीन कपड़े पहिन कर मोतियों से झलझलाती हुई सुनहरी पालकी में बैठकर बाहर जाता था[2]। सिंहासन मौरूसी था पर एरियन कहता है कि राज संतान न होने पर जनता सब से योग्य आदमी को राजा बना देती थी[3]। राज्य की ओर से नहरें थीं जिनके अध्यक्ष सिंचाई के लिये सब को बराबर पानी देते थे। सड़कें ख़ूब थीं और आध २ कोस पर फ़ासला और छोटी सड़क बताने के लिये पत्थर लगे हुये थे। गंगा और सोन के संगम पर कोई आठ मील लम्बी और १ मील चौड़ी विशाल वैभवशाली राजधानी पाटलिपुत्र के चारो ओर लकड़ी की दीवाल थी जिसमें तीर मारने के लिये सूराख़ थे, आने जाने के लिये ६४ फाटक थे और रक्षा के लिये ५७० बुर्ज थे। चारों ओर एक खाई थी जिसमें शहर की नालियां भी गिरती थीं। नगर के प्रबन्धकों की पांच समितियां थीं। एक समिति उद्योगों का प्रबन्ध करती

शासन

राजधानी

समिति

१. आयलियन १३। १८॥

२. क्विन्टस कर्टियस ८-९॥

३. एरियन ८॥

थी। दूसरी विदेशियों के निवास, स्वास्थ्य और मरने पर उनकी अन्त्येष्टि क्रिया का और उनकी सम्पत्ति को सम्बन्धियों के पास भेजने का प्रबन्ध करती थी। उनके चालचलन का निरीक्षण भी यही समिति करती थी। तीसरी समिति पैदाइश और मौत का लेखा रखती थी ताकि सरकार को जनता का हाल मालूम रहे और कर लगाने में सुभीता हो। चौथी समिति व्यापार का प्रबन्ध करती थी, और बांट नाप की देखभाल करती थी। पांचवीं समिति बनाये हुये माल की बिक्री की देखभाल करती थी और नये या बढ़िया माल में पुराने या घटिया माल का मिलाना रोकती थी। छठी समिति बिक्री पर दस फ़ी सदी कर इकट्ठा करती थी, क़ीमत मुक़र्रर करती थी और इमारत, बाज़ार, बन्दर इत्यादि की देखभाल करती थी[1]। मेगेस्थनीज़ के आधार पर बहुत से लेखकों ने दुहराया है कि मुक़द्मे बहुत कम होते थे और होने पर रीति रिवाज के अनुसार फ़ैसल किये जाते थे। चोरी बहुत कम होती थी। जोहानीज़ स्टोबाइस ने बार्डिसानीज़ के लेख के आधार पर लिखा है कि कभी २ अभियुक्तों को पानी की परीक्षा पार करनी पड़ती थी। झूंठी गवाही देने वालों की अँगुलियां काट ली जाती थीं। अंगभंग करने वाले का वही अंग काट लिया जाता था और हाथ भी काट लिया जाता था। किसी मज़दूर के हाथ तोड़ने या आँख फोड़ने के अपराध में प्राणदण्ड दिया जाता था[2]। सेना के प्रबन्ध के लिये भी पांच २ सदस्यों की छः समितियां थीं।

सेना का प्रबन्ध

पहिली समिति नावों और शायद जहाज़ों के इन्तिज़ाम में नौपति को मदद देती थी। दूसरी

---

१. स्ट्रैबो १५।१, ३५-३६॥ प्लिनी, ६।२२॥ यह वर्णन बहुत से ग्रीक लेखकों ने दुहराया है।

२. मैकक्रिंडल, इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई मैगेस्थनीज़ एण्ड एरियन।

चारा, भोजन, हथियार, घोड़े, साईस, कारीगर, बैल, बैलगाड़ी इत्यादि का प्रबन्ध करती थी। बाक़ी चार समितियां पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों के विभाग का इन्तिज़ाम करती थीं। सैनिक, व्यापारिक कारणों से और मुसाफ़िरों के सुभीते के लिये सरकार सड़कों का प्रबन्ध बहुत अच्छा करती थी। उदाहरणार्थ, एक सड़क पाटलिपुत्र से उत्तर पच्छिमी सीमाप्रान्त तक जाती थी और कोई १००० मील लम्बी थी। साम्राज्य के कई प्रान्त थे जिनका शासन सम्राट् की ओर से राष्ट्रीय करते थे। सुराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ के राष्ट्रिय पुष्यगुप्त ने एक चट्टान और क़िले के बीच में नदी को बांध कर सुदर्शन झील बनवाई थी जिसको उसके उत्तराधिकारी यवन अर्थात् ईरानी तुशास्प ने अशोक के समय में बढ़ाया। खेती का इतना ख़याल रक्खा जाता था कि देश में सिंचाई का तो पूरा प्रबन्ध था ही पर किसानों से सैनिक नौकरी नहीं ली जाती थी और लड़ाई के समय में भी शत्रु खेती का नुक़सान नहीं करते थे। और कर्मचारियों के अलावा राज्य की नौकरी में बहुत से जासूस थे जो हर एक बात का पता लगाते थे। रंडियां भी जासूसी के काम में नियुक्त की जाती थीं। राज्य की आमदनी ज़मीन के लगान के अलावा व्यापार कर, राजकारखानों की चीज़ों की बिक्री, सामन्तों के ख़राज और बड़े छोटों के तुहफ़ों से होती थी। खेती बारी की उन्नति के लिये ईजाद करने वालों से कोई कर नहीं लिया जाता था[1]।

सड़क

झील

जासूस

---

1. मैक्क्रिंडल, पूर्ववत् ॥ ई० आई० ७ न० ६ ॥

इस शासन पद्धति में विन्दुसार के किये हुये किसी परिवर्तन का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। पर अशोक के शिलालेख कुछ परिवर्तन का और कुछ नई बातों का निर्देश करते हैं। दक्खिन और दक्खिनपूरब के शासक अशोक को सम्राट् मानते थे पर घरेलू मामलों में वह स्वतंत्र मालूम होते हैं। अशोक ने अपना सारा प्रभाव, सारी शक्ति धर्म और सदाचार बढ़ाने में लगा दी और राज्य को धर्मराज्य बना दिया। पर पुरानी हिन्दुस्तानी प्रवृत्ति के अनुसार वह पूरा सहनशील था। उसने बौद्ध भिक्षुओं के अलावा ब्राह्मणों के आदर सत्कार पर भी ज़ोर दिया है और दूसरे धर्मों की निन्दा को बहुत बुरा कहा है। शिलालेखों में किसी तत्त्वज्ञान का ज़िक्र नहीं है, सारा ज़ोर सदाचार पर है। यह ज़रूर है कि उसने अहिंसा का प्रचार किया और कुछ दिनों मास बेचने की मनाई कर दी। बाक़ी, सत्य, सच्चरित्र, माता पिता का आदर, आपस में मेल, सब की भलाई, का उपदेश उसने देश भर में लेखों और अभिनयों द्वारा और उसके प्रचारकों ने व्याख्यान द्वारा दिया। जुआ और मद्यपान इत्यादि की समाजों को रोक दिया, स्त्रियों को बीमारी, ब्याह या प्रस्थान के समयों की गंवारू निरर्थक रीतियों को छोड़ने की शिक्षा दी, बौद्ध भिक्षु और भिक्षु-नियों से आपसी फूट छोड़ने का आग्रह किया, बहुत से चैत्य और संघाराम बनवाये। विहारयात्राओं को धर्मयात्रा बनाकर वह सारे साम्राज्य का दौरा करता था और सब जगह धर्म की वृद्धि करता था। चारों ओर सदाचार बढ़ाने के लिये उसने धर्म-महामात्र नियुक्त किये।

अशोक का समय

साम्राज्य के प्रान्त जैसे उज्जैनी, तक्षशिला, कलिङ्ग और शायद दक्खिन में सुवर्णगिरि अक्सर राजकुमारों के अधीन थे। प्रत्येक

शासक को सलाह और सहायता देने के लिये महामात्रों अर्थात् अधिकारियों का एक परिषद् था जिससे मतभेद होने पर मामला अक्सर सम्राट् के पास भेजा जाता था। एक लेख मे महामात्रों को प्रादेशिक भी कहा है जिससे अनुमान होता है कि वह प्रदेश या ज़िलों का शासन करते थे। महामात्रों के नीचे राजुक या लाजुक थे जो कर और न्याय के काम में थे, जिनको सम्राट् ने निष्पक्षता का उपदेश दिया है और जिनके निरीक्षण के लिये उसने महामात्र तैनात किये। इनके नीचे युत लिपिकार और छोटे, बडे और मंझले पुरुष, और प्रतिवेदक थे जो साधारण राजकार्य करते थे। अशोक ने जेलख़ानो की हालत भी सुधारी और फांसी पानेवालों को अपील के लिये या परलोक की तयारी के लिये तीन दिन की मुहलत का नियम बनाया[1]।

प्रादेशिक शासन

हिन्दुस्तान के इतिहास में मौर्यकाल का जैसा महत्त्व धर्म और शासन के क्षेत्र में है वैसा ही कला के क्षेत्र में भी है। ब्राह्मणों से और वीरकाव्यों से सिद्ध होता है कि ईस्वी सन् के कई सदी पहिले देश में कलाओं की बड़ी उन्नति हो गई थी। गौतमबुद्ध के समय के सारनाथ अवशेष जो बनारस के पास निकले हैं सूचित करते हैं कि स्मारकस्तम्भ, धर्मभवन, रहने के मकान, साधारण प्रयोग के बर्तन इत्यादि बहुत अच्छे बनाये जाते थे। मौर्यसम्राट् अशोक के समय के बहुत से निर्माण अब तक मौजूद हैं और उस समय की कला का अच्छा परिचय देते हैं। बुद्ध के असली या नक़ली अवशेष रख कर या बुद्ध के जीवन की या इतिहास की घटनाओं को स्मरण कराने के लिये स्तूप बहुत तरह

कला

स्तूप

के बनाये जाते थे। कोई २ एक हाथ से कम ऊंचे थे, कोई २ तीस चालीस गज़ ऊँचे थे। मौर्यकाल में स्तूपों पर मूर्तियां कम रहती थीं, शुंग काल में बढ़ने लगीं और उस के बाद तो स्तूपों में सब जगह मूर्तियां ही मूर्तियां नज़र आने लगी। वर्तमान भूपाल राज्य में साँची का स्तूप अशोक ने बनवाया था पर अशोक के बाद भी उसपर बहुत काम किया गया है। इस समय सांची के स्तूप की ज़मीन चारों ओर पत्थर की रेलों से घिरी है जिनके चारों ओर परिक्रमा की जाती थी। आने जाने के लिये चार दिशाओं से चार रास्ते हैं जिनके दर्वाजों पर भीतर और बाहर बुद्ध के जीवन और बौद्ध साहित्य के दृश्य पत्थर की नक़्क़ाशी में ऐसे बनाये हैं कि मानों पत्थर ही साहित्य का सर्वोत्तम साधन है। दुहरे ज़ीने पर चढ़ के एक विशाल चबूतरा मिलता है जो परिक्रमा का भी काम देता है। इसके ऊपर स्तूप है जो लगभग अर्द्धचन्द्राकार है और चोटी पर छोटा हो गया है। सांची के दर्वाज़े अशोक के समय के पीछे बनाये गये थे। तभी भर्हुत स्तूप के दर्वाज़ों और चौगिर्दी रेलों पर और अमरावती के स्तूप और रेलों पर अनगिनित भिन्न २ सुन्दर, चमत्कारी, पत्थर के चित्र बौद्ध जीवन और इतिहास, साधारण जीवन, मेला, जानवर इत्यादि को अंकित करने के लिये बनाये हैं। बौद्धों का विश्वास था कि सारे विश्व ने—स्त्री, पुरुष, बालक, देवता, राक्षस, जानवर सब ने—बुद्ध की पूजा की थी। इस लिये यह सब अंकित किये जाते हैं। इनके बनाने वालों को पत्थर पर वैसा ही अधिकार था जैसा बड़े २ गायकों को आवाज़ पर और बड़े २ कवियों को भाषा पर होता है। प्रत्येक आकार, प्रत्येक

सांची

अन्य स्तूप

चातुर्य

भाव, प्रत्येक क्रिया यह पत्थर के द्वारा पूर्ण चातुर्य से प्रगट करते हैं। अशोक के स्तम्भ जिन पर शिला

अशोक के स्तम्भ

लेख खुदे हुये हैं भारतीय कला के सर्वोत्तम दृष्टान्तों में हैं। इनके बनाने, उठाने और खड़ा करने वाले पत्थर के काम में या एंजिनियरी में किसी देश या किसी समय के लोगों से कम न थे। चिकने रेतीले पत्थर का लौरियानन्दनगढ़ स्तम्भ ३२ फ़ीट और ६' इंच ऊंचा है, गोलाई में नीचे ३५½ इंच है और ऊपर २२¼ इंच जिससे दृश्य बहुत सुन्दर हो गया है। स्तम्भों की चोटी पर हाथी शेर इत्यादि की मूर्तियाँ हैं जिनका जीवनसादृश्य उतना ही आश्चर्यजनक है जितना कि निर्माण का आदर्श और चातुर्य। सारनाथ का स्तम्भ जिसका पता १९०५ई में लगा था उस स्थान का स्मारक है

सारनाथ का स्तम्भ

जहां बुद्ध ने पहिला उपदेश देकर धर्मचक्र चलाया था। सारनाथ स्तम्भ की चोटी के हिस्से पर जो सात फ़ीट ऊंचा है चार शेर हैं जो एक दूसरे की ओर पीठ किये खड़े हैं और जिनके बीच में पत्थर का धर्मचक्र है। इस धर्मचक्र में ३२ तीलियां रही होंगी। शेर एक ढोल पर खड़े हुये हैं जिसकी बग़लों पर चौबीस २ तीली वाले चार छोटे धर्मचक्र हैं जिनके बीच में एक शेर, एक हाथी, एक बैल और एक घोड़ा है। चाहे जीवनसादृश्य की दृष्टि से देखिये और चाहे आदर्श की दृष्टि से, यह जानवर और उनके सारे अंग ऐसे चातुर्य और कौशल से बने हैं कि इस कला की बराबरी संसार में कहीं नहीं हो सकती।

पुराने समय मे यहाँ भिक्षुओं और सन्यासियों के लिये एवं मंदिरों के लिये पहाड़ियों की बड़ी चट्टानें

गुफ़ा

खोखली कर के भवन बनाने की, दीवारों और छत पर मूर्तियां छांट देने की और चित्र बनाने

की चाल भी बहुत थी। इस कला में हिन्दुओं के बराबर निपुणता किसी ने नहीं दिखाई। गया के १६ मील उत्तर बराबर नामक पहाड़ियों पर अशोक ने ऐसी एक सुदाम गुफ़ा आजीवक सन्यासियों के लिये बनवाई थी। इस में दो कमरे हैं —बाहरी कमरा ३२ फ़ीट ६ इंच लम्बा और १६ फ़ीट ६ इंच चौड़ा है और भीतरी कमरा जो क़रीब गोलाकार है लम्बाई में १६ फ़ीट ११ इंच और चौड़ाई में १६ फ़ीट है। अशोक की बनवाई हुई दूसरी कर्णचौपार गुफ़ा में एक ही कमरा है, ३३ फ़ीट ६ इंच लम्बा और १४ फ़ीट चौडा। दीवारें ६ फ़ीट १ इंच ऊंची हैं और महराबदार छत दीवारों से ४ फ़ीट ८ इंच ऊपर है। इस समय की गुफ़ाओं में मूर्तियां कम हैं, तथापि बराबर पहाड़ी पर लोमसऋषि गुफ़ा के तोरण या दर्वाज़े पर कुछ अच्छी मूर्तियां हैं।

अशोक के पोते दशरथ ने भी इसी तरह चट्टान में कई गुफ़ायें बनवाईं। मौर्य सम्राटों के बाद इस कला में यह विकास हुआ कि गुफ़ाओं के भीतर मूर्तियाँ और चित्र बहुत बनने लगे और मूर्ति तथा चित्रकला पराकाष्ठा को पहुँच गई। बम्बई और पूना के बीच में कार्ली गुफ़ा १२४ फ़ीट ३ इंच लम्बी, ४५ फ़ीट, ६ इंच चौड़ी और ४५ फ़ीट ऊंची है। इसके तीन हिस्से हैं, मध्यभाग के दोनों ओर पन्द्रह २ स्तम्भ हैं जिनके दूसरी ओर किनारियां हैं। प्रत्येक स्तम्भ आठ कोने का है और प्रत्येक की चोटी पर बड़ी नक़्क़ाशी की गई है। चोटी के हिस्से के पिछले भाग पर दो हाथी घुटने टेके हुये हैं, प्रत्येक हाथी पर एक पुरुष और एक स्त्री है या दो स्त्रियां ही हैं; इनके पीछे घोड़े और चीते हैं जिनपर एक २ आदमी बैठा है। इस सारी निर्माणकला और मूर्तिकला की श्रेष्ठता का पर्याप्त वर्णन भाषा की शक्ति के बाहर है। इतना ही कहा जा सकता है कि पत्थर

गुफ़ाओं की कला में विकास

४०

की नक्क़ाशी का ऐसा चमत्कार संसार में कहीं नहीं देखा गया।

मध्यहिंद की ग्वालियर रियासत में भीलसा के पड़ोस में वेस-नगर के पास ६ फ़ीट ७ इंच ऊंची एक स्त्री की मूर्ति मिली है। यह बहुत टूटी फूटी है जिससे असली रूप का पता ठीक २ नहीं लगता। पर शायद यह एक यक्षिणी की मूर्ति है। स्त्री का आकार स्वाभाविक ह। वेस नगर के भीतर तेलिन की एक ७ फ़ीट ऊंची मूर्ति और है। शायद यह भी मौर्यकाल की है यद्यपि निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें भी स्वाभाविकता दृष्टिगोचर है। यहां ऐसी कुछ और मूर्तियां भी मिली हैं जो मौर्यकाल की या आस-पास की हैं। मथुरा अजायबख़ाने की परखम की यक्षकुवेर मूर्ति मौर्यकाल की है। आसन को मिला कर इसकी ऊंचाई ८ फ़ीट ८ इंच है और सीने की चौड़ाई २ फ़ीट ८ इंच है। यह एक धोती बांधे हुये है, धोती से ही सीने को ढके हुये है और एक हंसुली पहिने है।

मौर्य काल की मूर्ति

मद्रास प्रान्त के गन्तूर ज़िले में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती या पुराने धरनिकोट नगर में एक बड़ा स्तूप ई० पू० तीसरी सदी में बनाया गया था। यह लगभग उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक क़ायम रहा पर उस समय एक मूर्ख ज़मीन्दार ने पत्थर लेने के लिये इसे बिल्कुल नष्ट कर दिया। इसकी बची बचाई सामग्री से और पुराने चित्रों से मालूम होता है कि यह पुराने समय की सर्व-श्रेष्ठ इमारतों में से था। कुर्सी से १३ १४ फ़ीट ऊंची और ६०० फ़ीट लम्बी खड़े पत्थरों की रेल थी। सारे स्तूप का क्षेत्रफल १६,८०० वर्ग फ़ीट था और सब जगह मूर्तियां ही मूर्तियां नज़र आती थीं। आदमी, जानवर, देवता,—व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक

अमरावती स्तूप

जीवन, इतिहास—आदि सब कुछ यहां पत्थर में अंकित था। हिन्दुस्तान की पुरानी शान का पूरा नाटक था। हर एक चीज़ जीवन की सत्यता से पूर्ण थी।

धुर दक्खिन की मूर्तिकला

द्राविड़ मूर्तिकला के पुराने नमूने बहुत कम मिले हैं। मद्रास प्रान्त के गन्तूर ज़िले में भट्टिप्रोलू स्तूप में जो ई० पू० तीसरी सदी का है, चारो ओर संगमरमर की जाली थी और बहुत सी मूर्तियां थीं पर वह सब हाल में नष्ट हो गई हैं। पर इसी ज़िले में जग्गयपेट या वेट्टवोलू में इसी समय का एक स्तूप और है जिसकी मूर्तियां थोड़ी सी बच गई हैं। यह मूर्तियां उसी तरह की हैं जैसी भरहुत के स्तूप की या पच्छिम के गुफ़ा मंदिरों की[१]।

---

१. कला के लिये देखिये आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ़ इंडिया की वार्षिक रिपोर्ट। फ़र्गुसन कृत हिस्ट्री आफ़ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर अब बहुत पुरानी हो गई है। पर हेवल कृत एंशेन्ट इंडियन आर्किटेक्चर और इंडियन स्कल्प्चर एण्ड पेंटिंग और वी० ए० स्मिथ कृत हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन देखिये। जर्नल आफ़ इंडियन आर्ट एण्ड इन्डस्ट्री में भी अच्छी सामग्री है। बहुत से लेख जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी आदि की पत्रिकाओं में हैं। कुमारस्वामी कृत आइडियल्स आफ़ इंडियन आर्ट भी उपयोगी है।

दसवां अध्याय

मौर्यकाल के वाद ।

राजनैतिक अवस्था

मगध

ई० पू० १८५ के लगभग वृहद्रथ मौर्य को हटा कर उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र की गद्दी पर शुंगवंश की स्थापना की। इस घटना से प्रगट होता है कि क्षत्रियों के अलावा और लोग भी कभी २ शासन करते थे[1]। पुष्यमित्र ने ब्राह्मणधर्म का पक्ष लेकर वहुतेरे वौद्ध मठ जला दिये और भिक्षुओं को मार भगाया। उसने दो राजसूय-यज्ञ किये और इस तरह घोषणा की कि ब्राह्मणधर्म फिर सिर उठा रहा है[2]। हाथीगुम्फा शिलालेख से मालूम होता है कि इस समय भी छोटे मोटे राजा बहुत थे अर्थात् वही पुरानी ज़मीन्दारी संघशासन प्रथा प्रचलित थी। ई० पू० ७३ के लगभग शुंगवंश को हटाकर काण्ववंश पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। इसके बहुत पहिले ही साम्राज्य टूट चुका था। कलिंग आदि प्रदेश स्वतंत्र हो गये थे। ई० पू० दूसरी सदी में

कलिङ्ग

ही ऐर महाराज महामेघवाहन कलिङ्गाधिपति खारवेल ने कलिङ्ग (उड़ीसा) को फिर बड़ी शक्ति बना दिया और हिमालय तक अपना डंका वजाया। इस जैन

---

१. दिव्यावदान, पृ० ४३३-३४ ॥ तारनाथ (अनु० काइफनर) पृ० ८१ ॥ कालिदास, मालविकाग्निमित्र अंक ५ ॥

२. जे० बी० ओ० आर० एस० सितम्बर १९१४ पृ० २०३ ॥

महाराजा ने बहुत से जैनमंदिर बनवाये, क्षत्रिय सन्यासियों के लिये विशेष प्रबन्ध कराया पर ब्राह्मणों को भी हाथी घोड़ा रथ सुवर्ण वृक्ष इत्यादि दान देकर और खूब भोजन कराके प्रसन्न रक्खा। राजधानी में गाना, बजाना, नाच, नाटक और उत्सव बहुत होते थे[१]। इसी समय के लगभग दक्खिन की ओर शातवाहन-वंश ने अपनी प्रभुता इतनी बढ़ाई कि ई० पू० २८ मे काण्ववंश को उतार कर पाटलिपुत्र पर अधिकार जमा लिया[२]। शातवाहन या शातकर्णि राजाओं के सिक्कों और शिलालेखों से मालूम होता है कि इनके समय मे भी ज़मीन्दारी-संघशासन प्रचलित था; अमात्य, महामात्र और भंडागारिक इत्यादि अधिकारी प्रायः एक ही ज़मीन्दार वर्ग से लिये जाते थे; दफ़्तरों में लेखक इत्यादि भी बहुत थे। कुम्हार, जुलाहे, लुहार, बढ़ई, कारीगर सौदागर इत्यादि ने अपनी २ श्रेणियां बना रक्खी थीं जो व्यवसायो की देख-भाल, महाजनी और कुछ सामाजिक कार्य भी करती थी। राजा इन सब का आदर करते थे और ब्राह्मण तथा भिक्षुओं को ज़मीन वग़ैरह दान करते थे[३]।

आंध्र

उत्तर-पच्छिम

उधर उत्तर-पच्छिम में ई० पू० दूसरी सदी में यवनों का दौर-दौरा रहा। ग्रीक और पार्थियन राजाओं के सिक्के साफ़

---

१. हाथीगुम्फा शिलालेख जे० बी० ओ० आर० एस० जिल्द ३। १९१७ ई०। भाग १ पृ० ४२५-५०७ ॥ एवं जिल्द ४। १९१८ ई०। पृ० ९६-९८ ॥ ई० आई० १० परिशिष्ट ॥ आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९२३ ॥

२. काण्ववंश के लिये देखिये पार्जिटर, डिनैस्टीज़ आफ़ दि कलि एज पृ० ७१ ॥

३. रैप्सन, कौइन्स आफ़ दि आन्ध्र, वेस्टर्न सेट्रेप, त्रैकूटक एण्ड वोधि डिनैस्टीज़। रा० गो० भंडारकर, अर्ली हिस्ट्री आफ़ दि दक्खिन ॥ दे० रा० भंडारकर, ई० ए० ४७ पृ० ६९ इत्यादि। ई० ए० ८ पृ० ८२-८८ ल्यूडर्स नं० ११२३, ११२७, ११६५, ११८० ॥ ई० आई० १४ नं० ९ ॥

बताते हैं कि यह विदेशी हिन्दूधर्म और सभ्यता के नीचे सिर झुका रहे थे, और ब्राह्मण या बौद्ध मत को स्वीकार कर रहे थे। मिनेन्डर जिसने ई० पू० १५५-५३ में काठियावाड़ से मथुरा तक देश अपने अधिकार में कर लिया और पाटलिपुत्र तक हमला किया एक प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ मिलिन्दपन्हो में मिलिन्द नाम से धर्म के प्रश्न करता है[1]। पहिली ईसवी सदी के लगभग सुराष्ट्र (काठियावाड़) और आस पास के प्रदेशों में विदेशी क्षत्रप और महाक्षत्रपों ने अपने राज्य स्थापित किये पर बहुत जल्द उनको भी हिन्दू सभ्यता ने हज़्म कर लिया। जूनागढ़ चट्टान लेख से प्रकट है कि इनका शासन भी बाक़ी हिन्दूशासन के सिद्धान्तों का अनुसरण करता था; राजा मंत्रियों की सलाह लेता था; मंत्री स्वतंत्रता से राय देते थे, कभी २ राजा का विरोध तक कर जाते थे। नहपान के दामाद उषवदात ने देवताओं और ब्राह्मणों को १६ गांव दिये थे; एक लाख ब्राह्मणों को साल भर तक रोज़ भोजन कराया था; सराय, कूप, तालाब, बाग़, घर, प्याऊ, सभाभवन इत्यादि प्रजा के लिये बनवाये थे; एक गांव सब धर्मों के सन्यासियों की पालना के लिये नियत किया था। यहां भी व्यवसायियों की श्रेणियां थीं जैसे कि गोवर्द्धन में २००० जुलाहों की एक श्रेणी थी और १००० जुलाहों की दूसरी श्रेणी थी जो महाजनी भी करती थीं[2]। पहिली दूसरी ईसवी सदी में उज्जैनी, मथुरा, तक्षशिला, कपिश इत्यादि में भी क्षत्रप शासन सुराष्ट्र का सा ही था।

सुराष्ट्र

१, बेवन, हाउस् आफ् सेल्यूकस। राॅलिसन, सिक्सथ ओरिएटल मानर्की। ब्रिटिश म्यूज़ियम की इंडो पार्थियन सिक्कों की फेहरिस्त॥ केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ् इंडिया १ पृ० ५४०—६२॥

२, ई० आई० ७ नं० ७॥ ८ नं० ८॥

इसी समय उत्तर-पश्चिम में विदेशी यूची जाति के कुशानवंश ने अपना आधिपत्य जमाया जिसके राजा अपने को महाराजा राजातिराज कहते थे। इस साम्राज्य में जो हिन्दुस्तान के बाहर भी फैला हुआ था, ब्राह्मण, बौद्ध, पारसी और ग्रीक सभ्यताओं का संघर्षण हुआ। एक दूसरे पर उनका प्रभाव पड़ाः उदाहरणार्थ, गांधार मूर्तिकला और महायान बौद्धधर्म अनेक सभ्यताओं के परिणाम हैं। इस वंश के सबसे प्रतापी राजा कनिष्क ने बौद्धधर्म तिब्बत और चीन में फैलाया। जहां से वह कोरिया, जापान, मंगोलिया, मंचूरिया में और थोड़ा सा साइबीरिया तक फैल गया।

अन्य राज्य

कनिष्क

राज्य में धार्मिक सहनशीलता वैसी ही थी जैसी अन्य हिन्दू सरकारों में। कनिष्क के कुछ सिक्कों पर शिव की मूर्ति है। यूची इतिहास से भी साबित होता है कि हिन्दूसभ्यता में विदेशियों को हिन्दू बनाने की बड़ी प्रबल शक्ति थी[1]। कनिष्क के दरबार के सब से बड़े कवि अश्वघोष ने संस्कृत में बुद्धचरित, सौन्दरनन्दम्काव्यम् इत्यादि ग्रन्थ रचे जिनमें संस्कृत काव्य का पहिला उदाहरण मिलता है। वज्रशूची नामक ग्रन्थ में लेखक ने जो शायद अश्वघोष ही था वर्णव्यवस्था पर हमला किया है और ज़ोर दिया है कि सब आदमी जीने मरने में, रंज व ख़ुशी में, एक से ही हैं। शारद्वतीपुत्र प्रकरण में, जिसका ताड़पत्र लेख हाल

अश्वघोष

1. रैप्सन, केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया १ पृ० ५६३-९२॥ र० दा० बनर्जी, आई० ए० सन् १९०८ पृ० २५-७५ ॥ आर्कियोलाजिकल सर्वे, रिपोर्ट, ३॥ हिन्दुस्तान के ग्रीक और सिथियन राजाओं के सिक्कों का ब्रिटिश म्यूज़ियम सूचीपत्र ॥ पंजाब म्यूज़ियम के सिक्कों का सूचीपत्र ॥ जे० आर० ए० एस० १९०९ ई० पृ० ६५७ ॥

में ही तुर्फ़ान में मिला है, कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय से उपदेश ले सकता है; नीच आदमी भी दवा दे तो फ़ायदा करती है। अश्वघोष से यह भी मालूम होता है कि स्त्रियों की स्वतंत्रता में कुछ फ़र्क़ आगया था। शायद, इसका कारण विदेशी आक्रमण थे। सदा की तरह स्त्रियों को अच्छे कपड़े, माला, ज़ेवर वग़ैरह का बहुत शौक़ था और वेषभूषा में वह बहुत समय ख़र्च करती थीं[1]। इस समय उत्तर-पच्छिम से ग्रीक या बैक्ट्रियन लड़कियां ख़रीद कर महलों में रक्षक के काम पर नियुक्त की जाती थी।

स्त्रियों का पद

दूसरी ईस्वी सदी से हिन्दुस्तान का इतिहास फिर अन्धकार में प्रवेश करता है। तीसरी ई० सदी की राजनैतिक घटनाओं के बारे में प्रायः कुछ नहीं मालूम है। पर साहित्य से साधारण परिस्थितियों का कुछ पता लगता है। ई० पू० चौथी सदी से लेकर सातवीं ईस्वी सदी तक अर्थात् हिन्दू सभ्यता के उत्कृष्ट काल के पूरे हज़ार बरस तक हिन्दुस्तान में मुख्य धर्म तीन थे—बौद्ध, जैन और ब्राह्मण—जो भिन्न २ प्रदेशों में प्रधान थे। सारे देश की दृष्टि से बौद्धधर्म प्रधान था पर ब्राह्मण-धर्म भी हमेशा जीता जागता धर्म रहा। मौर्यसाम्राज्य के नाश होने के बाद ब्राह्मण-धर्म ने फिर बहुत से राजाओं का सहारा पाया। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने वर्णाश्रम धर्म स्थापित करने का दावा किया है। ब्राह्मण साहित्य की धारा यों तो कभी न टूटी थी पर अब वह बड़े वेग से बहने लगी।

अन्धकार

धार्मिक स्थिति

---

1. अश्वघोष, बुद्ध चरित २। १३॥ इत्यादि

मौर्यसाम्राज्य के पतन और गुप्तसाम्राज्य के उत्थान के बीच में संस्कृत में अनेक धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और दूसरे ग्रन्थ बने जिनमें से बहुत से नष्ट हो गये हैं पर जो बच रहे हैं वह धर्म, समाज, उद्योग

पहिले धर्मशास्त्र

व्यापार इत्यादि पर बहुत प्रकाश डालते हैं। याद रखना चाहिये कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सिद्धान्त के ग्रन्थ हैं, व्यवहार के नहीं और उनके कोई २ रचयिता संसार से बहुत जानकारी भी नहीं रखते थे। पर उनके बनाये हुये नियम बहुत मनोरञ्जक हैं और गौर से पढ़ने पर कुछ २ पता लग जाता है कि लोग उस समय कैसे रहते थे। जैमिनीय न्यायमालाविस्तर में माधवाचार्य का कहना है कि स्मृतियों ने बिखरे हुये वैदिक सिद्धान्त और उपदेश संग्रह किये हैं। पर सच यह है कि उन में पीछे की बहुत सी बातें शामिल हैं। सबसे प्रामाणिक धर्मशास्त्र है मनु का जो दूसरी ईस्वी सदी के लगभग रचा गया था[1], जिसमें लुप्त मानव-धर्मसूत्र के अंश अवश्य ही सम्मिलित होंगे और जिसमें भिन्न २ सिद्धान्तों और व्यवहारों को मिलाने के प्रयोजन से कभी २ परस्पर विरोधी बातें कही हैं।

मनु

वर्णाश्रमधर्म पर मनु ने बहुत से नियम बनाये हैं और जीवन की छोटी से छोटी बातों को भी सिद्धान्त के अनुसार चलाने का प्रयत्न किया है। ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, देवता हैं, विद्या ही उनका व्यसन है पर आपत्ति में वह खेतीबारी कर सकते हैं। श्राद्ध में न बुलाये जाने वाले ब्राह्मणों की फ़ेहरिस्त से साबित होता है कि उस समय कुछ ब्राह्मण नट, नर्तक, गायक, महाजन, किसान, सौदागर,

वर्णाश्रम

1. मनु के समय के लिये बुहलर और बर्नेल के अनुवादों की भूमिकाएं, और जौली कृत रौ एंड कस्टम ऑफ़ हिन्दू ला आफ़ एडाप्शन देखिये।

तीर कमान बनाने वाले, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गाय बैल रखने वाले, मुर्दा ढोनेवाले, क़साई वग़ैरह भी थे[1]। मनु ने कारीगरी का अपमान किया है और शूद्रों को विद्या और ऊंचे स्थान का निषेध किया है[2]।

राजप्रबन्ध

मनु शिष्टाचार और आत्मतुष्टि को भी क़ानून का दर्जा देते हैं और आगे चलकर यह भी कहते हैं कि राजा को न्याय में देश, जाति और कुलों के रीति-रिवाज को मानना चाहिये[3]। मनु ने राजा को देवता माना है और दण्ड के द्वारा धर्म की स्थापना का आदेश किया है। कारीगर, सौदागर, वैद्य इत्यादि सब के व्यवसायों पर राजा को क़ानून बनाने चाहिये। तथापि मनु से ही सिद्ध होता है कि इस काल में भी, धर्मसूत्रों और जातकों के समय की तरह, व्यवसायिक आत्मशासन बहुत था। मनु के अनुसार, राजा को प्रादेशिक शासन, चीज़ों के दाम, नाप और वज़न सब नियत करने चाहिये; जो वैद्य रोगी को क्षति पहुँचाएं उनपर जुर्माना करना चाहिये। राजा को ब्राह्मण पुरोहित के अलावा सात आठ मंत्री रखने चाहिये और रोज़ उनसे लड़ाई, सुलह, आयव्यय इत्यादि पर सलाह करनी चाहिये। परराष्ट्र सम्बन्धों के लिये होशियार दूत होना चाहिये। खान, माल, बाज़ार, गोदाम इत्यादि के प्रबन्ध के लिये और अफ़सर होने चाहिये। सभा, सराय, बाग़, नाटकगृह, चौराहे, जंगल, शराब और भोजन की दूकान, वेश्याभवन, तमाशे,

---

1. मनु १। २१, ८९, ३१, ९६, ९८, १००-१०१ ॥ २। २२४ ॥ ३। १५१ इत्यादि ४। ४ ॥ ६। ३४-३७ ॥ ९। ३१३-२३ ॥ १२। ८८-९० ॥
2. मनु २। १५५, १६८ ॥ ३। १२, १५४-६७ ॥ ४। ४-६, ६१, ८१ ॥ ५। ८३-८४ ॥ ८। २०, २२, ४१८ ॥
3. मनु २। १४ ॥ ८। ३, ८, ४६ ॥

मन्दिर के वृक्ष इत्यादि पर सिपाहियों का पहरा रहना चाहिये[1]।

प्रादेशिक शासन

प्रादेशिक शासन का आधार गांव है जिसका प्रबन्ध मुखिया को करना चाहिये। दस, बीस, सौ और हज़ार गांवों के समूहों पर अधिकारी होने चाहिये जिनको वेतन के तौर पर ज़मीन दी जाय। सब अधिकारियों पर कड़ी नज़र रखनी चाहिये और घूसख़ोरों की जायदाद ज़ब्त करके देश निकाला देना चाहिये[2]।

कर

ज़मीन की पैदावार का १/८, १/६ या १/१२ कर रूप में लेना चाहिये; पशु और सोने की क़ीमत से १/५०, पेड़, मास, शहद, घी, सुगन्ध, मसाले, फूल, फल और चमड़े के सामान, मिट्टी के बर्तन और पत्थर की चीज़ों पर १/६; बिक्री की चीज़ों पर १/२० और हाथ से काम करनेवालों से महीने में एक दिन की मेहनत। इसके अलावा ज़मीन के नीचे से निकलने वाली दौलत का आधा हिस्सा राजा को और आधा ब्राह्मणों को मिलना चाहिये; माल की गाड़ियों से कुछ कर लेना चाहिये; लावारिस जायदाद राज्य की है। पर विद्वान ब्राह्मणों से, सत्तर बरस के ऊपर बुड्ढों से, अंधे और लंगड़ों से कोई कर न लेना चाहिये[3]।

न्याय

न्यायालय में राजा को ब्राह्मणों की सहायता से या राजा की ग़ैरहाज़िरी में ब्राह्मण न्यायाधीश को और तीन ब्राह्मणों की सहायता से घटना, अभियुक्त, समय, गवाह इत्यादि सब की परीक्षा कर

---

१. मनु ७। ३-१२, ३७-६८, १४-५१, १४-२४, ८०-८८, १४४ ॥ ३। १३४-३६, १४३ ॥ ८। ३०२, ३८६, ४०१-४०३ ॥ ९। २५६-६०, ३०४, ३०९, २६४-६६, २७२ ॥ ११। १८, २२-२३ ॥

२. मनु ७। ११३-४४ ॥ ९। २३४ ॥

३. मनु ७। १२७-३८ ॥ ८। ३०-४५, ३९८-९९, ३९४, ४०४-४०७ ॥ ९। ४४ ॥

के सत्य का पता लगाना चाहिये। खेत या गांव की सरहदों के मुक़दमों में पड़ोसियों की सहायता लेनी चाहिये। दंड चार तरह का है—चेतावनी, डांट, जुर्माना और शारीरिक दण्ड[1]। जनता पर और न्यायाधिकारियों पर नज़र रखने के लिये बहुत से जासूस होने चाहिये[2]।

विष्णु

समस्त आगामी ब्राह्मण साहित्य पर मनु का प्रभाव दृष्टिगोचर है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त भी बहुत से लेखकों ने जैसे के तैसे रख दिये हैं। उदाहरणार्थ, तीसरी ईस्वी सदी के लगभग विष्णु ने अपनी भाषा में मनु के नियम दुहराये हैं[3]।

मनु के बाद सब से अधिक प्रभावशाली धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्य का है जो शायद चौथी ईस्वी सदी के लगभग रचा गया था।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य धर्म के चौदह स्थान मानते हैं—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद और छः अङ्ग। संशय हो तो वेद, धर्मशास्त्र के पंडितों के परिषद् से या उनके अभाव में केवल एक सब से बड़े पंडित से तै कराना चाहिये।

परिषद्

जान पड़ता है कि हिन्दूराज्यों में शंकासमाधान के लिये विद्वानों के परिषद् बराबर हुआ करते थे। उनसे एक बड़ा प्रयोजन यह सिद्ध होता था कि क़ानून समय की प्रगति के बहुत पीछे न पड़ता था। धर्मशास्त्र पर

१. मनु ८। ४८-५०; १-२, ९-११, २०-२१, २५-२६, ७१-१२३, १२७ ३०, ४३ ॥

२ मनु ७। १२२, १५४ ॥ ९, २५६, २९८ ॥

३. देखिये विष्णु १। ४७ ॥ २। २-३, ५-१६, ६५-६७, ९८ ॥ ३। ४-६, १६-१७, २१, २३-३२ ५५-६४ ॥ ५। ५०-५९ ॥ ६। २० ॥ १७। १३ ॥ २४। १-८ ॥ २६। ४-७ ॥ न्याय के लिये, ५। ६०-१९५ ॥ परीक्षाओं के लिये ९। ५-३२ ॥ १०-१४ ॥

बहुत ज़ोर देते हुये भी हिन्दू लेखक यह मानते हैं कि व्यवहार में और बातों का भी विचार रखना चाहिये। याज्ञवल्क्य मानते हैं कि आत्मतुष्टि भी धर्म का एक स्थान है। देश, कुल और जाति के रीति रिवाजों का भी आदर राजा को न्याय में करना चाहिये। राजा को हर तरह से प्रजा की बढ़ती करनी चाहिये और रक्षा के लिये बहुत से क़िले बनाने चाहिये[1]। याज्ञवल्क्य के अन्य राजनैतिक सिद्धान्तों में कोई नई बात नहीं है। सामान्यतः वह मनु से मिलते जुलते हैं। पर हिन्दू क़ानून में आज तक याज्ञवल्क्य का बड़ा महत्त्व है। कारण यह है कि याज्ञवल्क्य स्मृति पर आगे चल कर विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा नामक टीका लिखी जिसमें दायभाग इत्यादि की ऐसी व्यापक और विशद विवेचना है कि वह अनेक प्रदेशों में अबतक प्रामाणिक मानी जाती है।

राजा के कर्त्तव्य

मिताक्षरा

हिन्दू साहित्य में जीवन के चार उद्देश्य माने हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इस लिये धर्मशास्त्रों के साथ २ अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र भी रचे गये जिनमे से अधिकांश नष्ट हो गये हैं। कोई २५ बरस हुये दक्खिन में एक अत्यंत महत्त्व पूर्ण अर्थशास्त्र मिला है जो चाणक्य, कौटिल्य या कौटल्य के नाम का होने से बहुधा ई० पू० चौथी सदी के चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री का समझा जाता है पर जिसका समय वास्तव में अनिश्चित है। शायद दूसरी

अर्थशास्त्र

कौटल्य

---

१. याज्ञवल्क्य १ । ३-५, ७, ११ ॥ २ । ३०, ३०५ ॥ १३ । ३०९ १३, ५२७-४१, ३४४, ३५३-६१, ३६४-६८ ॥ १६ । २० ॥ १८, ४-५, १२ ॥

तीसरी ईस्वी सदी का होगा[1]। अर्थशास्त्र में सब जगह ज़मीन्दारी संघशासन प्रथा का प्रतिबिम्ब, है, साम्राज्य बढ़ाने की आकांक्षा है और शत्रुओं को वश में करने के लिये परराष्ट्रनीति में मंडल के नियम बना कर पास वालों से वैर, उनके पास वालों से मित्रता और तत्पश्चात् मित्रता, शत्रुता या उदासीनता का विस्तारपूर्वक विधान है। विजय होने पर अधीन राजाओं को घरेलू मामलों में स्वतंत्रता देनी चाहिये, उनका सन्मान करना चाहिये पर उन पर हमेशा नज़र रखनी चाहिये और साम दाम दण्ड भेद—सच झूठ—सब उपायों से उन को अधीन रखना चाहिये[2]। मनु, विष्णु, और याज्ञवल्क्य इत्यादि धर्मशास्त्रों में और कामन्दक इत्यादि नीतिसारों में भी इसी तरह के उपदेश हैं[3]।

मंडल

---

१. भिन्न २ मतों के लिये देखिये शामशास्त्री, गणपतिशास्त्री और जौली के संस्करणों की भूमिका। जैकोबी, आई० ए० जून-जुलाई १९१८ ॥ जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, परिशिष्ट, ३ पृ० २०३-१५ ॥ रा० गो० भंडारकर, पहिली पूर्वी परिषद् की कार्यवाही, पूना, १९२० ॥ विंटरनिज़, कलकत्ता रिव्यू, १९२४ ॥ कीथ, जे० आर० ए० एस० १९१६ पृ० १३०-३८ ॥ संस्कृत साहित्य में अर्थशास्त्र के उल्लेखों के लिये देखिये कामन्दक, नीतिसार, १। ४-७ ॥ दण्डिन्, दशकुमार चरित, २। ८ ॥ जैन नन्दिसूत्र ॥ सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् ॥ बाणभट्ट, कादम्बरी ॥ हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि (बम्बई) पृ० ३४ और यादव प्रकाश, वैजयन्ती, (सं० ओपर्ट) पृ० ९६। कौटल्य को द्रामिल भी कहते हैं। शिलालेखों के (ई० आई० १६ न० ७) के अनुसार कौटिल्य की अपेक्षा कौटल्य का प्रयोग ज्यादा ठीक है।

२. अर्थशास्त्र (सं० शामशास्त्री) ७। पृ० २११—२१९, ३८०, ४०७

३. मनु ७। १०४, १२२, १५४, १५८-२०१ ॥ ९। २५१, २९८ विष्णु, ३ ॥ ३७-३९, ३५ ॥ याज्ञवल्क्य १३। ३२१, ३५३ ॥ कामन्दक ८। १६-१९, २० ॥ ९। २-२१, ४५, ७५ ॥ १० ॥ ८-२२ ॥ १७। २-३ ॥ अग्निपुराण २४० ॥

कौटल्य के मतानुसार राजा को प्रजा के लिये सब कुछ करना चाहिये। जंगल साफ़ करा के, नये गांव बसा कर, बढ़ती हुई आबादी के लिये उपनिवेश बना कर आर्थिक अवस्था सुधारनी चाहिये। अकाल के समय शिकार करा के, अच्छे स्थानों में लोगों को ले जाके, मूल कन्द फल इत्यादि बोकर, अमीरों पर भारी कर लगा कर और पड़ोसी राजाओं से रुपया ला कर लोगों की जान बचानी चाहिये। उद्योग व्यापार में कौटल्य ने राजा को चीज़ों के दाम तै करने का, उनकी बिक्री के लिये बाज़ार बनाने का, और लगभग हर एक चीज़ पर नियत कर लेने का उपदेश दिया है। राजा को राजमार्ग, राष्ट्र मार्ग इत्यादि और सब तरफ़ आदमी और जानवरों के लिये सड़कें, पगडंडी वग़ैरह बनानी चाहिये[1]। बीमारी, बढ़िया, सांप, टीड़ी इत्यादि सब आपत्तियों से जनता की रक्षा भौतिक और आधिभौतिक उपायों के द्वारा करनी चाहिये[2]। राजा को नियम और उपदेश के द्वारा प्रयत्न करना चाहिये कि गुरु-शिष्य और प्रत्येक घर में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, चचा भतीजे प्रीति से रहें। अनाथ, बूढ़े, कमज़ोर, ग़रीब और विपत्ति-ग्रस्त आदमियों की मदद राज्य को करनी चाहिये। कौटल्य से यह भी पता लगता है कि उन दिनों विधवाओं का ब्याह होता था और रोग या निर्दयता इत्यादि के कारण स्त्री या पुरुष एक दूसरे को तलाक़ दे सकते थे। विधवा ब्याह और तलाक़ दोनों ही राज्य

राज्य के कर्त्तव्य

आर्थिक प्रयत्न

मार्ग

भरण पोषण

---

१. अर्थशास्त्र, पृ० ६६१-६८, १४४, २०६-२०७, २२७, ३०, ४७-४९, ५४, २२८॥

२ अर्थशास्त्र, पृ० २०५-२०८॥

को मान्य थे । यह भी मालूम होता है कि बहुत से वर्गों में ब्याह बहुधा बड़ी अवस्था में होता था और ब्याह के पहिले युवक और युवती एक दूसरे से मुलाक़ात किया करते थे। कौटल्य ने वेश्या, नट, नाटक, जूआ, शराब, इत्यादि पर बहुत से नियम दिये हैं, वग बनाये हैं, दाम या फ़ीस नियत की है, उन सब के लिये अध्यक्षों का प्रबन्ध किया है और उनकी आमदनी पर १/५ या ऐसा ही कर लगाया है[1]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में राज्य के कर्तव्यों की कोई सीमा नहीं है। शायद उन दिनों राज्य की ओर से कार्यवाही भी बहुत की जाती थीं। जान पड़ता है कि इस समय राज्य की ओर से सोना चाँदी लोहा इत्यादि की खानों का प्रबन्ध होता था और समुद्र से मोती वग़ैरह निकाले जाते थे। इनके बारे में भी कौटल्य ने बहुत से नियम दिये हैं। राज्य के बहुत से कारख़ाने थे जिनमें सैकड़ों स्त्री पुरुष काम करते थे और जिन का प्रबन्ध कोष्ठागार इत्यादि अफ़सर रखते थे। इसी तरह राज्य की ओर से नाव और जहाज़ भी चलते थे[2]।

निरीक्षण

राज्य की कार्यवाही

राजा के लिये कौटल्य ने दिन रात का कार्यक्रम बनाया है जिसके अनुसार अधिकांश समय मंत्रियों से सलाह में, अधिकारियों से मिलने में, दूतों को आज्ञा देने में और सेना के निरीक्षण में व्यतीत करना चाहिये। पुराने अर्थशास्त्र लेखकों में मनु ने १२, बृहस्पति ने १६ और उशनस् ने २० मंत्री रखने का आदेश किया था पर

राजा

---

१. अर्थशास्त्र, पृ० ४७-४८, ११९, २१ १२४ २५, २५३-५९, १८३—८४, १९७ १९९, २३२-३५, २२८—२९, ॥

२. अर्थशास्त्र, पृ० ९३-९४, ९८-१०१, ११३—१५, १२६-२८, १४०—४१ ॥

कौटल्य की राय है कि जितने आवश्यक हों उतने मंत्री रखने चाहिये। मंत्री ऊंचे कुल, चरित्र और बुद्धि के होने चाहिये।

मंत्री

पुरोहित के अलावा मुख्य मंत्री हैं सेनापति, समाहर्ता (कर इकट्ठा करनेवाला), निधायक और सन्निधाता (ख़ज़ाञ्ची), कार्मान्तिक (कार्यालयों का निरीक्षक), नायक (पुलिस का अध्यक्ष) इत्यादि। इनके नीचे खेती, पशु, नाप बांट, व्यापार, जहाज़, खान, कर, शराब इत्यादि महकमों के अध्यक्ष थे और उनके नीचे बहुत से कर्मचारी, लेखक इत्यादि थे। सेना के ख़ास महकमे थे—हथियार, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। सरहद्दों का प्रबन्ध अन्तपाल करते थे, और दुर्गपाल क़िलों का। ज़िलों में प्रदेष्ट, नगर में नागरक और गाँव में गोप का प्रबन्ध था। दण्डपाल या प्रशास्तृ न्याय करते थे। इनके अलावा बहुत से दूत थे। दरबारों में दौवारिक, अन्तर्वांसिक, बहुत से पंडित, गायक, इत्यादि २ थे।

वेतन

वेतन ४८,००० पण से ले कर १०० पण तक थे। आवश्यकता पड़ने पर सरकारी नौकरों को और भी सहायता मिलती थी और मरने पर कुछ के परिवारों को पेन्शन दी जाती थी।

अन्यत्र कौटल्य के कथनों से जान पड़ता है कि फ़ौजदारी के

न्याय

मुक़द्दमे अधिकतर कण्टकशोधन और दूसरे मुक़द्दमे धर्मस्थीय न्यायालयों में फ़ैसल होते थे। ज़्यादातर तीन न्यायाधीश होते थे। लेखक मुद्दई, मुद्दालय और गवाहों के बयान लिखा करते थे। जासूस भी बहुतेरी बातों का पता लगा देते थे।

सेना

सेना में देशी, विदेशी, पहाड़ी, जङ्गली, इत्यादि सब ही तरह के लोग रख लिये जाते थे। बहुत से सिपाही दस, दो सौ, चार सौ, और आठ सौ गावों

के प्रदेशों के केन्द्रस्थलों में संग्रहण, खारवाटिक, द्रोणमुख और स्थानीय क़िलों में रखने चाहिये। कौटल्य कहता है कि आवश्यकता पड़ने पर राजा श्रेणियों का धन ज़ब्त कर सकता है और धोखा देकर प्रजा से बहुत सा द्रव्य वसूल कर सकता है[1]। राजनीति में कौटल्य को धर्म और सदाचार की पर्वाह नहीं है। राज्य का धन और बल जिन उपायों से बढ़े वह सब ठीक है। यूरोपियन लेखक मेकियावेली की तरह कौटल्य भी धर्महीन राजनीति का पोषक है।

धर्महीन राजनीति

प्राचीन भारत मे कम से कम बीस अर्थशास्त्र रचे गये थे पर कौटल्य के सिवाय केवल एक और अर्थशास्त्र का पता लगा है। वह बहुत छोटा है और बृहस्पति के नाम से है। उसके कुछ अंश ६-१० ई० सदी के जान पड़ते हैं पर उसमें भी कौटल्य के से पुराने विचार हैं। एक जगह कहा है कि जहां आचार और धर्म का विरोध हो वहाँ आचार को मानना चाहिये। मंत्रिमण्डल में मत की एकता का प्रयत्न करना चाहिये। नाविक और सैनिक रक्षा का प्रबन्ध पूरा पूरा होना चाहिये और सुभीते, आराम और उन्नति के लिये राजा को सराय, मन्दिर, तालाब और पाठशालाएं बनानी चाहिये[2]। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र बहुत महत्त्व का नहीं है पर कौटिलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव संस्कृत साहित्य में बहुत जगह दिखाई पड़ता है। अर्थशास्त्रों का

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र

---

1. अर्थशास्त्र ३०, १३-४५, ५४, ७०-७५, ८९-१४३. ६१-७०, ६७, १६०-६५, १९९-२००, २०३, २०५-२०८, २९८, २२२-२४

2. बार्हस्पत्य सूत्र (सं० एफ० डब्ल्यू० टामस) १। ४-५, ४६-४८, ५२ ॥ २। ५१-५७, ५४ ॥ ३। १८, २६ २७, ३८, ४९, ५३-५५, ७६ ७८ ॥ ४। २७, ३०, ३४, ३६-४४ ॥ ६। ४ ॥

प्रभाव इतना बढ़ा कि पुराणों में धर्मशास्त्र की प्रधानता स्थापित करने की आवश्यकता हुई।

७ ८ वीं ई० सदी के लगभग कामन्दक ने नीतिसार में कौटल्य के बहुत से सिद्धान्त पद्य में लिखे[1]। इनका भी प्रचार बहुत हुआ और यह अनेक संस्कृत लेखकों और टीकाकारों ने उद्धृत किये हैं। कामन्दक ने कौटल्य की बहुत सी बातें छोड़ दी हैं। शायद वह ७-८वीं ई० सदी के अनुकूल नहीं थीं। १० ई० सदी में शंकरार्य ने कामन्दक पर एक टीका रची। उसी समय के लगभग दक्खिन में सोमदेव सूरि ने कुछ तो कौटल्य के और कुछ दूसरों के सिद्धान्त लेकर नीतिवाक्यामृतम् रचा। अग्नि और मत्स्य पुराणों में भी कामन्दक के बहुत से अंश उद्धृत हैं।

कामन्दक इत्यादि

कौटल्य इत्यादि ने अपने संगठन के सिद्धान्त बहुत कुछ व्यवहार के आधार पर बनाये हैं—यह कई बातों से साबित है। एक तो यह सिद्धान्त २-३ ई० सदी से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण, नीतिशास्त्र, काव्य, कथा—सब जगह मिलते हैं। दूसरे, धुर दक्खिन के तामिल साहित्य से २-३ सदी के बारे में जो बातें मालूम होती हैं वह कौटल्य इत्यादि की सी हैं[2]। इसी समय (मद्रास के निकट) मयलापुर के कवि तिरुवल्लुवर ने अपना मुप्पाल या कुरल रचा जो अब तक तामिल साहित्य के सब से अच्छे ग्रन्थोंमें गिना जाता है और

धुर दक्खिन

तिरुवल्लुवर

---

१. ख़ास कर देखिये नीतिसार, १ । २-७, ११-१४, २१-६० ॥ २ । ६१-७१ ॥ ४ । ३३ ॥ ५ । ३७ ॥ ७ । १ २ ॥ २२ । ९३ ॥ ३१ । ५४ ६८ ।

२. देखिये कनक समाइ (पिल्ले), "तामिल्स एटीन हन्ड्रेड ईयर्स एगो" ख़ासकर पृ० ११०-१२, १२३,

जिसका प्रभाव सारे तामीलकम् पर १८०० बरस से खूब ही रहा है। इसमें राजा को जो उपदेश दिया है और जो राजप्रबन्ध बत या है वह कौटल्य से बहुत मेल खाता है[1]। इस समानता से कभी कभी तो ख़याल होता है कि कहीं कौटल्य भी तो दक्खिन का नहीं है पर अर्थशास्त्र के बहुतेरे उल्लेखों से इस धारणा का खण्डन हो जाता है। तो भी यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस समय हिन्दुस्तान के उत्तर में और दक्खिन में संगठन के एक से ही तत्त्व प्रचलित थे और एक से ही सिद्धान्त ग्रन्थों में लिखे गये। पर यह कह देना ज़रूरी है कि परराष्ट्रनीति में जिस दम्भ की सलाह अर्थशास्त्र इत्यादि ने दी है उसका समर्थन सब लेखकों ने नहीं किया। उदाहरणार्थ, इसी समय के तथा राज्य बौद्ध लेखक आर्यदेव ने व्यक्ति के जीवन में सब जगह सत्य और सदाचार के पालन पर ज़ोर दिया है[2]। उस का ग्रन्थ चतुःशतिका धर्महीन राजनीति का निराकरण करना है।

आर्यदेव

इस प्रकार इस काल में राजनैतिक इतिहास की कमी में भी राजनैतिक संस्थाओं का कुछ पता लगता है। भाग्यवश, इधर राजनीति पर बहुत से लेखकों ने रचनाएं कीं। राजनीति के सम्बन्ध में दो बातें स्पष्ट प्रगट होती हैं—एक तो शासन का संगठन बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुँच गया था। दूसरे, राज्य के कर्त्तव्य बहुत बढ़ गये थे। कृषि, उद्योग, व्यापार, समाज, रीति, विद्या, शिक्षा, साहित्य, कला—जीवन का कोई अंग न था जिसकी स्थिरता या उन्नति के लिये राज्य की ओर से प्रयत्न न होता हो। हिन्दू सभ्यता के विकास में राज्य सदा से एक बड़ा भारी कारण था; जीवन के अनेक अंगों से राज्य का

निष्कर्ष

---

१. देखिये, तिरुवल्लु पर, कुरल (अनु० लाज़रस) ४००-७०० ॥

२. चतुः शतिका, पृ० ४६२–६४ ॥

सम्पर्क रहा था। पर ई० पू० चौथी सदी से यह सम्पर्क और भी घनिष्ट हो गया और राज्य की सहायता से चारों ओर बहुत से परिवर्तन हुये।

सामाजिक सिद्धान्त

मौर्य युग और गुप्त युग (चौथी ईस्वी सदी) के बीच में सामाजिक आदर्श और आचार पर भी बहुत विचार हुआ और बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। इसका एक कारण यह था कि ब्राह्मण धर्म फिर प्रबल हो रहा था और समाज के लिये फिर से क़ानून बना रहा था। यों तो ब्राह्मण लेखक संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और धर्मसूत्र की दुहाई बराबर देते हैं पर वह बहुत सी नई बातें लोकाचार के आधार पर लिखते रहते हैं।

सामाजिक सिद्धान्त

मनु ने हिन्दू सामाजिक सिद्धान्त को जो रूप दिया वह आज तक नहीं मिटा है। व्यक्तिगत चरित्र का, वर्णाश्रम धर्म का, कौटुम्बिक जीवन का और क़ानून का ब्योरेवार कथन संक्षेप से पर ओजस्वी पद्य में मनु ने बहुत सदियों के लिये कर दिया है। सारी स्मृति मे उन्होंने द्विजों की और ख़ास कर ब्राह्मणों की सत्ता जमाई है। क्षेत्रों मे वह मध्य देश को प्रधान मानते हैं जहां काला हिरन स्वतंत्रता से घूमता है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग २ हैं। वर्णों के धर्म वही हैं जो सूत्रो में देख चुके हैं। सब वर्णों का, सारी सृष्टि का, स्वामी ब्राह्मण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों का यज्ञोपवीत पांच, छ, आठ, या आठ, ग्यारह, बारह बरस की अवस्था में क्रमशः करना चाहिये और सोलह, बाईस, चौबीस बरस की अवस्था में क्रमशः गायत्री मंत्र देना

मनु

वर्णधर्म

ब्रह्मचर्य

चाहिये[1]। यज्ञोपवीत के बाद बालक को गुरु के यहां ३६, १८ या ९ बरस या विद्यासमाप्ति तक संयम और भक्तिपूर्वक, गुरु की सेवा करते हुये, स्त्रियों से भीख माँग कर खाते हुये, सब व्रत पालन करते हुये, वेद शास्त्र इत्यादि पढ़ने चाहिये। इसके बाद ब्याह करना चाहिये। ब्याह आठ तरह के हैं—ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। पहिले छ ब्राह्मणों के लिये और आख़िरी चार दूसरे वर्णों के लिये हैं पर पैशाच और असुर ब्याह कभी न करने चाहिये। भ्रातृहीन कन्या से ब्याह न करना चाहिये क्योंकि अगर उसका पिता उसे नियुक्त कर दे तो पुत्र का लाभ (पारलौकिक लाभ) ससुर को होगा। पिता, भाई, पति, इत्यादि सब को स्त्रियों का आदर करना चाहिये, नहीं तो घर जैसे जादू से नष्ट हो जायगा। रस्मों और उत्सवों पर भोजन, वस्त्र, ज़ेवर से स्त्रियों का सन्मान करना चाहिये। स्त्री प्रसन्न है तो सारा घर प्रसन्न है, स्त्री अप्रसन्न है तो कोई भी प्रसन्न नहीं है। पर मनु स्त्री को स्वतंत्रता से वंचित करते हैं, देवता की तरह पति की पूजा और आज्ञा पालने का आदेश करते हैं[2]। आगे चल कर मनु कहते हैं कि स्त्रियों की प्रवृत्ति स्वभाव से चंचल और दुराचार की ओर होती है, इस लिये बड़ी होशियारी से उनकी रक्षा करनी चाहिये, और घर के काम में ही उन्हें लगाये रहना चाहिये[3]। एक जगह विधवा ब्याह का निषेध किया है[4]। पर अन्यत्र विधवाओं को या ऐसी पत्नियों को

ब्याह

स्त्री

---

१. मनु० १ । ८१-९९ ॥ २ । १६, ३६-३८ ॥

२. मनु० २ । ५०-५८ ॥ ३ । १-३३, ५५ ६२, १०५, ११७, ॥ ५ । १४७-१६४ ॥

३. मनु० ९ । २-१६ ॥

४. मनु० ५ । १५७, १६२ ॥

जिनके पति बरसों से लापता हों, देवर से नियोग, या शायद ब्याह की इजाज़त दी है[१]। यहां पर विधवा ब्याह के चलन का ज़िक्र है पर मनु को वह पसन्द नहीं है[२]। मनु से प्रतीत होता है कि विधवा ब्याह अब तक जारी था पर अब उसका कुछ विरोध होने लगा था। इसका कारण शायद यह था कि सन्यास, वर्णव्यवस्था और विदेशी आक्रमणों की गड़-बड़ से स्त्रियों का पद गिर रहा था। उनका बाहर आना जाना कम हो रहा था, समाजिक प्रभाव घट रहा था, वह सम्पत्ति समझी जाने लगीं थीं। यह धारणा उत्पन्न हो रही थी कि स्त्री एक बार जिसकी हो गई, सदा के लिये उसी की रहेगी। स्त्रियों की अवनति के और भी उदाहरण मनुसंहिता में मिलते हैं। मनु कहते हैं कि जो पत्नियां आज्ञा न मानें वह कुछ दिन के लिये त्यागी जा सकती हैं और उनके ज़ेवर छीने जा सकते हैं[३]। मनु के अनुसार पुरुषों का ब्याह बड़ी उम्र पर जैसे, चौबीस तीस बरस पर होना चाहिये पर, वह आठ या बारह बरस तक की छोटी कन्याओं के ब्याह की इजाज़त देते हैं[४]। ऐसे अनमेल ब्याह कभी बहुत न होते होंगे। एक ओर तो बहुत लोग ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते थे। दूसरी ओर अब बाल ब्याह प्रारंभ हो रहा था। यह पारस्परिक विरोध बहुत दिन तक नहीं चल सकता था।

भोजन इत्यादि

गृहस्थजीवन के लिये मनु ने छोटी बड़ी, आवश्यक अनावश्यक बातों पर बहुत से नियम बनाये, हैं। चाहे जिस समय आये अतिथि का अच्छी तरह भोजन देना चाहिये। देव, ऋषि

---

१. मनु० ९। ५२-६६, ७६॥

२. मनु० ९। ६६, ६८॥

३. मनु० ९। ७७-८०॥

४. मनु० ९। ८९—९४॥

पितृ और कुल-देवताओं की पूजा करके भोजन करना चाहिये, स्त्रियों के साथ नहीं और न अशुभ आदमियों की मौजूदगी में। मांस खाने और मद्य पीने में कोई दोष नहीं है पर उनसे परहेज़ करने से बड़ा लाभ है। नियत समयों पर यज्ञ, पूजापाठ और श्राद्ध करना चाहिये और जहां तक हो सके अपने ही वर्ण की वृत्ति से जीविका चलानी चाहिये। सच और मीठी बात बोलनी चाहिये[1]।

वानप्रस्थ

जब पुत्र के पुत्र हो जाय और अपने बाल सफ़ेद होने लगें तब संसार छोड़ कर इन्द्रियों को जीत कर वन में कन्द मूल फल फूल खाते हुये, तपस्या करते हुये और जीवों का उपकार करते हुये शान्ति संतोष, संयम के साथ रहना चाहिये। द्विजों से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिये और अध्ययन करना चाहिये। इस तीसरे आश्रम के बाद चौथा आश्रम है जिसमें सब मोह ममता छोड़ कर

संन्यास

परिव्रजन करना चाहिये, एक मात्र मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिये, योग ध्यान करना चाहिये, अकेले रहना चाहिये, तप करना चाहिये[2]। इस तरह जीवन व्यतीत करने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों की सिद्धि होगी। स्मृति के बारहवें अध्याय में मनु ने आध्यात्मिक विद्या का विस्तार से व्याख्यान किया है। ११वें अध्याय में छोटे बड़े पापों के लिये बहुत से प्रायश्चित्त भी बताए हैं।

वर्णसंकर

चार वर्णों के अलावा जो जातियां नज़र आती थीं उनकी उत्पत्ति मनु ने और शास्त्रकारों या सूत्रकारों की तरह वर्णों के मिश्रण से बताई हैं। जैसे वैश्य या शूद्र स्त्री से ब्राह्मण की सतान क्रमशः

---

१. मनु० ३ । १०५, ११७, ११९, १५२—६६ ॥ ४ ॥ ५ ॥

२. मनु० ६ । २, ८-२४, ३१ ५०, ५१, ७०-७३ ॥

अम्बष्ठ और पारशव है; शूद्र या ब्राह्मण से क्षत्रिय की संतान क्रमशः उग्र और सूत है; ब्राह्मण और क्षत्रिय से वैश्य की संतान क्रमशः वैदेह और मगध है। इत्यादि २॥ इसी तरह वर्णसंकर जातियों के आपस में या फिर वर्णों से और तत्पश्चात् इनकी संतान के वर्णों या वर्णसंकरों से मिश्रण होने पर बीसों जातियां पैदा हुईं। इन सब के लिये भिन्न २ उद्यम नियत किये गये हैं[1]। यह सम्भव है कि वैदिक काल के बाद भी वर्णों में कुछ मिश्रण हुआ हो पर इस तरह नई जाति पर जाति बनने का कोई प्रमाण इतिहास से नहीं मिलता। वर्णसंकरों में चीन, यवन इत्यादि के उल्लेख से भी मालूम होता है कि यहां शास्त्रकारों ने कल्पना से बहुत काम लिया है। उपजातियों की वास्तविक उत्पत्ति की विवेचना आगे की जायगी। पर यह बताना आवश्यक है कि वर्णसंकर की धारणा से धर्मशास्त्र और पुराण इतने सन्तुष्ट थे कि ऐतिहासिक कारण निश्चय करने में उनसे बहुत कम मदद मिलती है। मनु के बाद जितने ब्राह्मण धर्मशास्त्र रचे गये वह मनु के बहुत ऋणी हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय काठक शाखा का धर्मसूत्र जो विष्णु स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है आरंभ से ही मनु से बहुत सम्बन्ध रखता है और मनु के से ही सिद्धान्तों से भरा है। उसकी केवल दो चार विशेष बातें ही लिखने की ज़रूरत है। वैश्यों को खेती, पशुपालन, व्यापार, साहूकारी इत्यादि व्यवसाय करने चाहिये। शूद्रों के लिये कला उद्योग के सब मार्ग खुले हैं[2]। गाली, अपमान व्यभिचार पर जो कानून है वह वर्णभेद के आधार पर हैं अर्थात् एक ही तरह के अपराध के लिये मुद्दई मुद्दालय के वर्ण के अनुसार

विष्णु

1. मनु० १०। ८-३९, ४५-४९॥
2. विष्णु, २। १०-१४॥

भिन्न २ दण्डों का विधान है, ऊंची जाति के लिये कम, नीची जाति के लिये ज़्यादा। एक और विचित्र नियम है कि साधारणतः ऋण पर भिन्न २ वर्णों के आदमियों से भिन्न २ दर से ब्याज लिया जाय[1]। खंड १६ में विष्णु ने भी मनु की तरह वर्णों और वर्णसंकरों के सम्मिश्रण से और जातियों की उत्पत्ति बताई है, उनके लिये उद्योग नियत किये हैं और अन्तर्जातीय ब्याह का निषेध किया है[2]। पर १८वें खंड से सिद्ध है कि कभी २ अन्तर्जातीय ब्याह अवश्य होते थे। खंड २४ में ब्याह के वही आठ प्रकार बताये हैं और पुत्रों की अनिवार्य आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। विष्णु में तरह २ के पापों का वर्णन है और अयन्त्र प्रायश्चित्त के सामान्य विधान हैं[3]। विष्णु के समय में सती का रिवाज कहीं २ प्रचलित था[4]। व्यास, शंख और अंगिरस् की स्मृतियों में सती का बड़ा पुण्य परिणाम बताया है। ई० पू० चौथी सदी में सिकन्दर के समय में इसका उल्लेख मिलता है। जान पड़ता है कि बाहर से आनेवाली कुछ जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी। उन्होंने हिन्दुस्तान में बसने पर भी इसको जारी रक्खा। स्त्रियों का पद गिरने पर और निवृत्ति मार्ग का चलन होने से कुछ हिन्दुओं ने भी इसे अङ्गीकार कर लिया। जब स्त्रियों की ओर सम्पत्ति का सा भाव हो गया तब सती के भाव का प्रचार असम्भव नहीं था।

वर्ण

ब्याह

सती

---

१. विष्णु, ५ ।३५-४३ ॥ ६ । २३-

२. विष्णु, १६ ॥

३. विष्णु, २२ ॥ ५३ ॥ ५५ ॥ ३३-४२ ॥

४. विष्णु, २५ । १४ ॥

जैसे २ विधवा ब्याह रुकता गया सती की प्रथा कुछ बढ़ने लगी। पर सब हिन्दुओं में यह कभी नहीं फैली। अहिंसा के माननेवाले जैन और बौद्ध तो इसे कभी स्वीकार कर ही नहीं सकते। बाक़ी हिन्दुओं में भी कुछ ही समुदायों ने इसे माना। इनमें से भी बहुत से शायद बाहर से आने वालों के वंशज थे।

याज्ञवल्क्य

विष्णु की तरह याज्ञवल्क्य मनु पर सर्वथा निर्भर नहीं है पर उसके ग्रन्थ में भी मनु के से विचार बहुत से हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के तीन भाग हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। पहिले और तीसरे भाग के बहुत से अंश गरुड़ पुराण में उद्धृत किये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों के सामान्य नियम दिये हैं। याज्ञवल्क्य अनुलोम ब्याह मानते हैं पर शूद्र स्त्री से द्विज का ब्याह नहीं पसन्द करते।

ब्याह

अपने और प्रत्येक नीचे द्विज वर्ण से एक एक कन्या लेकर ब्राह्मण ३, क्षत्रिय २ और वैश्य १ ब्याह कर सकता है पर शूद्र कन्या से नहीं[1]। जान पड़ता है कि इस समय वर्णव्यवस्था के नियम और भी कड़े होते जाते थे और शूद्रों से किसी तरह का ब्याह सम्बन्ध पसन्द नहीं किया जाता था। याज्ञवल्क्य ने ब्याह के वही आठ प्रकार बताये हैं जो मनु, विष्णु और अन्य धर्म शास्त्रों में मिलते हैं[2]।

स्त्री

बीमार, दग़ाबाज़, शराबी, बांझ, कड़ा बोलने वाली, दुराचारी, या केवल लड़की पैदा करने वाली स्त्री को छोड़ कर दूसरा ब्याह किया जा सकता है[3]। पति की आज्ञा मानना स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य

---

१. याज्ञवल्क्य ३। ५६-५७॥

२. याज्ञवल्क्य ३। ५८-६१॥

३. याज्ञवल्क्य ३। ७२-७३॥

है, सास ससुर और पति की सेवा करनी चाहिये, घर का काम काज करना चाहिये। सम्बन्धियों को चाहिये कि स्त्रियों का आदर करें और बड़ी होशियारी से उनकी रक्षा करें। पति के मरने पर स्त्री को अपने या पति के सम्बन्धियों के साथ रहना चाहिये पर नियोग की भी इजाज़त है[1]। अतिथि सेवा बड़ा भारी धर्म है। बच्चों और बूढ़ों को, कन्या, दुलहिन और गर्भवती स्त्री को, अतिथि को और नौकरों को पहिले भोजन करा के गृहस्थ स्त्री पुरुष को खाना चाहिये[2]।

आतिथ्य इत्य.दि

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में दायभाग के बहुत से नियम हैं जो लौकिक रीतिरिवाज के आधार पर स्थिर जान पड़ते हैं और जो न्यायालयों में अब भी अंशतः माने जाते हैं। स्मृतियों में क़ानून है कि घर के मालिक के जीते जी पत्नी, पुत्र या दास किसी जायदाद के मालिक नहीं हो सकते[3]। वसिष्ठ ने जायदाद पर मा का अधिकार बहुत बताया है[4]। पर इस मामले में स्मृतियों में मतभेद है। गौतम[5], आपस्तम्ब[6] और मनु[7] के अनुसार सब से बड़ा लड़का जायदाद का अधिकारी है; उसे पिता की तरह भाइयों की रक्षा करनी चाहिये। नारद कहते हैं कि छोटा लड़का भी यदि वह अधिक योग्य हो तो, पैतृक जायदाद का

दायभाग

---

१. याज्ञवल्क्य ३। ६८-९०, ७८-८६ ॥

२ याज्ञवल्क्य ५। १०२, १०५, १०८, १११ ॥

३ मनु ८। ४१६ ॥ नारद १। ३, ३३, ३८ ३९ ॥ ५। ३९ ॥

४ वसिष्ठ १५। २-४ ॥

५. गौतम २८। १। ३ ॥

६. आपस्तम्ब २। ५। ६। १४ ॥

७. मनु० ९। १० ॥

प्रबन्धक हो सकता है[1]। गौतम मनु और विष्णु की सम्मति है कि ज़मीन, पानी, घड़ा, खाना, कपड़ा, ज़ेवर, चारपाई, दासी, घोड़ा गाड़ी, सड़क, पुस्तक इत्यादि का बटवारा नहीं हो सकता[2]। पर यहां भी और लेखकों से मतभेद है। नारद, शंखलिखित और हरित के अनुसार पिता की अनुमति से या पिता के बूढ़े, विक्षिप्त या बीमार होने पर योंही लड़के बटवारा कर सकते हैं। ज़्यादातर बटवारा पिता के मरने पर और कभी २ माता पिता दोनों के मर जाने पर होना चाहिये। विष्णु बटवारे में पैतृक सम्पत्ति और अपनी पैदा की हुई सम्पत्ति में भेद करते हैं[3]। बटवारे में मा के या बहिन के हिस्से के बारे में शास्त्रों में बड़ा मतभेद है—कोई २ तो उनका हिस्सा बिल्कुल नहीं मानते और बाक़ी उस हिस्से के परिमाण के बारे में अलग २ राय रखते हैं। अन्तर्जातीय ब्याह के पुत्रों में मा के वर्ण के अनुसार भिन्न २ परिमाण में बटवारा होने के नियम हैं[4]। जान पड़ता है कि भिन्न २ प्रदेशों, समयों या वर्गों में भिन्न २ क़ानून प्रचलित थे। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद इत्यादि सब मानते हैं कि स्त्री को अपने पिता, भाई पति या

स्त्रीधन

अन्य सम्बन्धियों से ब्याह के समय या और अवसरों पर जो द्रव्य मिले वह स्त्रीधन है और उसपर केवल स्त्री का ही अधिकार है। अगर पति, पुत्र, भाई या और कोई स्त्री की इजाज़त के बिना उसके स्त्रीधन का उपयोग करे तो उसे क़ानून से सज़ा मिले। कात्यायन इत्यादि कुछ शास्त्रकारों की राय से स्त्री की अपनी कमाई भी स्त्रीधन है। स्त्री के मरने पर

---

१. नारद १३। ५॥
२. गौतम २८। ४६-४७॥ मनु ९। २१९॥ विष्णु १८। ४४
३. विष्णु १७। १, २॥
४. वसिष्ठ १७। ४७-५०॥ मनु ९। १४९-५१॥ विष्णु १८। १-४०॥

स्त्रीधन कुछ लेखकों के अनुसार पुत्र पुत्रियों में, औरों के अनुसार केवल पुत्रियों में बटना चाहिये; ज़्यादातर राय है कि स्त्रीधन पर पहिला हक़ कुमारी पुत्रियों का है। संतान न होने पर स्त्रीधन पति के और कुछ अवस्थाओं में स्त्री के माता पिता के पास जाता है[1]। इस प्रकार के नियम स्मृति, टीका, भाष्य इत्यादि में भिन्न २ हैं और अलग २ समयों या स्थानों में प्रचलित रहे हैं। स्त्रीधन के बारे में कुछ लेखकों ने कहा है कि आवश्यकता पड़ने पर पति उसका प्रयोग कर सकता है।

कामशास्त्र

महाभारत के समय से ही हिन्दुओं ने जीवन के चार उद्देश्य माने थे—धर्म अर्थ, काम और मोक्ष। प्रत्येक उद्देश्य के ऊपर शास्त्रों की रचना हुई। मोक्ष पर तो पूरी २ तत्त्वज्ञान पद्धतियां ही निकली, धर्मों का उद्देश्य ही आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराना था। मोक्षशास्त्र नाम से भी बहुत से धार्मिक ग्रन्थ रचे गये। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का परिचय दिया जा चुका है। इनके अलावा कामशास्त्र पर भी बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं। अर्थशास्त्रों की तरह उनका भी अधिकांश लोप हो गया है। पर वात्स्यायन का महत्त्वपूर्ण कामसूत्र अब तक मौजूद है। लेखक ने प्रारंभ में ही स्वीकार किया है कि पहिले कामशास्त्र के बहुत से पंडित और लेखक हो गये हैं और उन्हीं के आधार पर मैं अपने ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ। इससे निर्विवाद सिद्ध है कि जैसे मोक्ष, धर्म और अर्थशास्त्रों की परम्परा थी वैसे ही कामशास्त्र की भी परम्परा थी। इनमें भोग विलास की विवेचना वैज्ञानिक ढंग से की जाती थी। वात्स्यायन का समय निश्चय करना उतना ही कठिन है जितना

---

१. मनु ३ । ५२ ॥ ९ । १९४ २०० ॥ विष्णु, १७ । १८, २२ ॥ १८ । ३४ ॥ याज्ञवल्क्य २ । १४३—४४ ॥ नारद १३ । ८ ॥

कौटल्य का। एक प्राचीन संस्कृत लेखक हेमचन्द्र ने कहा है कि वात्स्यायन और कौटल्य एक ही हैं[1]। और किसी प्राचीन लेख से इस कथन का समर्थन नही होता पर इसमें कोई संदेह नहीं कि वात्स्यायन की शैली बिल्कुल कौटल्य की सी है। चाहे दोनों एक न रहे हों पर एक ही समय के जान पड़ते हैं। यदि यह अनुमान ठीक हो तो वात्स्यायन को भी लगभग दूसरी तीसरी ई० सदी का मानना चाहिये। पर यह निरा अनुमान है। निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कामसूत्र में बहुत सी अश्लील बातें हैं; बहुत सी बातें हैं जो सर्वथा अश्लील न होते हुये भी यहाँ लिखने योग्य नही हैं। अस्तु, कामसूत्र के मुख्य विषय का परिचय हम यहां नहीं देंगे; केवल उन प्रासंङ्गिक बातों की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे जो उस समय की सामाजिक संस्थाओं पर या सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती हैं।

वात्स्यायन

कामशास्त्र का पंडित होने पर भी वात्स्यायन जीवन में काम को अनुचित महत्व नहीं देता। शास्त्र प्रारंभ करते ही उसने घोषणा की है कि काम से अर्थ श्रेयस्कर है और अर्थ से भी धर्म श्रेयस्कर है। पर जीवन में काम का कुछ महत्व अवश्य है। जहां तक हो सके, धर्म, अर्थ और काम का पालन इस तरह करना चाहिये कि आपस में उनका विरोध न हो[2]। जीवन के सामञ्जस्य का यह सिद्धान्त बहुत गम्भीर और ऊंचे दर्जे का था और वात्स्यायन के चरित्रज्ञान और अन्तर्दृष्टि का प्रमाण है। एक और सिद्धान्त वात्स्यायन में है जिसपर अब यूरुप और अमरीका में शिक्षा सुधारक ज़ोर दे रहे हैं। वात्स्यायन कहता है कि और विषयों की तरह

काम का स्थान

---

१. देखिये शामशास्त्री, जर्नल आफ़ दि मिथिक सुसायटी, भाग ४ पृ० २१० १६॥

२ वात्स्यायन, कामसूत्र, १।२।१६-४९॥

काम की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी शिक्षा से बालक बहुत सी कुचेष्टाओं से बच सकते हैं। वात्स्यायन के प्रासंङ्गिक कथन जीवन की बहुत सी बातों के सम्बन्ध में हैं। उदाहरणार्थ, वह स्त्रियों की ऊंचीशिक्षा का कट्टर पक्षपाती है।

शिक्षा

स्त्रियों को साधारण शास्त्र पुरुषों की तरह पढ़ने चाहिये और कामशास्त्र सम्बन्धी, धाय, तपस्विनी इत्यादि से सीखने चाहिये[1]। अन्य लेखकों की तरह वात्स्यायन ने भी ६४ कलाएं गिनाई हैं। उन में गीत, वाद्य, नृत्य, लेख्य, पुस्तकवाचन, प्रहेलिका, वास्तुविद्या, धातुविद्या, निमित्तज्ञान, काव्यक्रिया, कसरत, सीना, पिरोना, फूल माला, गृह प्रबन्ध इत्यादि शामिल है। जो पुरुष इन्हें सीख ले वह स्त्रियों को आकर्षित कर सकेगा। जो स्त्री इन्ह सीख ले वह अपने पति को अधिकार में रख सकेगी[2]। नगरवृत्त अर्थात् नागरिक जीवन का वर्णन करते हुये वात्स्यायन कहते हैं कि मकान के दो हिस्से होने चाहिये—बाहर और भीतर—अलग २ कमरे और कबूतर और एक उपवन ज़रूरी है। पलंग, दरी, गद्दी, चन्दन, माला, गाना, बजाना—आदि सब घर में होना चाहिये। गाने बजाने, गपशप और साहित्य चर्चा के लिये गोष्ठियां होनी चाहिये[3]। अनुमान है कि वेश्याएं भी कलाओं में निपुण होती थी, गोष्ठियां करती थीं और रंगीले जवानों के बाग और शराब के जलसों में शामिल होती थीं। इस तरह के आनन्द-प्रमोद कभी २

स्त्रियों की शिक्षा

मकान इत्यादि

---

१. वात्स्यायन, कामसूत्र १। ३। १३॥

२. वात्स्यायन, कामसूत्र १। ३। १६-२४॥

३. वात्स्यायन, कामसूत्र १। ४। ४-३३॥

रात २ भर हुआ करते थे; बहुतेरे इससे बर्बाद हो जाते थे। हाँ, बहुत से जल्से अच्छे भी होते थे जिनमें घर के ही स्त्री पुरुष रहते थे[1]। तीसरी पुस्तक कन्यासम्प्रयुक्तम् में वात्स्यायन के उपदेशों

जल्से

और सिद्धान्तों से अनुमान होता है कि कुछ वर्गों में लड़कियां खूब शिक्षा पाती थीं, कला कौशल, वेषभूषा द्वारा आकर्षक बनाई जाती थीं, यज्ञ, उत्सव, त्यौहार, बरात इत्यादि के अवसरों पर लोगों से मिलती जुलती थीं, युवक और युवतियों में प्रेम हो जाता था, आना जाना, बातचीत, सैर, पढ़ना पढ़ाना, गाना बजाना हुआ करता था, एक दूसरे को प्रसन्न करने की चेष्टाएं होती थीं और फिर ब्याह होता था। वात्स्यायन कहते हैं कि उसी कन्या से ब्याह करने से सुख मिल सकता है जिससे वास्तव में प्रेम हो[2]। अगले अध्याय की बातें अश्लीलता के कारण यहां नहीं लिखी जा सकतीं पर उनसे बालविवाह का प्रतीकार होता है। चौथे भाग (अध्याय २) से विधवा ब्याह का प्रचार भी सिद्ध होता है[3]। घर में स्त्री को पति सास ससुर आदि की सेवा करनी चाहिये। शहरों की अपेक्षा देहात का जीवन बहुत सादा था। वहां रुपया कम था, ऐश्वर्य और भी कम था, विद्या की चर्चा भी बहुत नहीं थी।

ब्याह

इस युग की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण बात थी नई नई उपजातियों की उत्पत्ति। ऊपर कह चुके हैं कि उपजातियां वैदिक काल में ही बनने लगी थीं, शायद

उपजातियां

---

१. वात्स्यायन, कामसूत्र, १। ४। ३४-५२॥

२. वात्स्यायन, कामसूत्र, ३। १॥

३. वात्स्यायन, कामसूत्र, ४। २॥

अनार्यों में पहिले से ही अनेक जातियां थीं; मिश्रण से कुछ और उपजातियां बनी होंगी और फिर भौगोलिक और व्यवसायिक कारणों से प्रत्येक वर्ण या बड़ी उपजाति के और भी विभाग होते गये। पर आगामी समय में उपजातियों की संख्या इतनी बढ़ी कि अवश्य कुछ और विशेष कारण होंगे। धर्मशास्त्र में बहुत सी उपजातियां गिनाई हैं। पर यह लेखक अपने विश्वासों के कारण सारे संसार को चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र में लाने पर उतारू थे। इसलिये वह सब उपजातियों की उत्पत्ति वर्णसंकरता के आधार पर बता के संतुष्ट हो गये। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, इतिहास से इस धारणा का समर्थन नहीं हो सकता पर अभाग्य वश विवेचना के लिये बहुत सामग्री भी नहीं मिलती। अनुमान से ही कुछ कारण स्थिर किये जा सकते हैं। प्राचीन

कारण

हिन्दू सभ्यता में दूसरों पर प्रभाव डालने की अनुपम शक्ति थी; जो इसके सम्पर्क में आये वह अपने बहुत से विश्वासों और आचारों में हिन्दू हो गये। इस तरह एक एक करके बहुत से अनार्य समुदाय जो इधर उधर अपनी पुरानी सभ्यता लेकर जा छिपे थे ब्राह्मण धर्म के नीचे आये। पर वर्णव्यवस्था के कारण यह हिन्दू समाज में सर्वथा हिल मिल न सके। धर्म के कारण यह दूसरे पुराने अनार्यों से अलग हो गये, वर्ण के कारण यह हिन्दू समाज में खप न सके। इस परिस्थिति में एक ही बात सम्भव थी—यह कि नया समुदाय

नये हिन्दू समुदाय

अपनी अलग एक जाति बना ले। इस तरह बहुत सी नई उपजातियां बनी। पर प्रत्येक उपजाति किस वर्ण में गिनी जाय ? ब्राह्मण तो शायद इन सब को शूद्र समझना चाहते थे पर अगर नया समुदाय अपने को वैश्य, या क्षत्रिय या ब्राह्मण कहने लगे तो उसे कौन रोक सकता था ? कुछ दिन में लोग उनकी वास्तविक उत्पत्ति भूल

जाते होंगे और नया वर्ग अपनी पसन्द के वर्ण की एक उपजाति समझा जाता होगा। इस तरह की कार्यवाही के एक और परिणाम पर ध्यान देना चाहिये। इससे उपजातियों में अन्तर्व्याह और भी रुक गया होगा। इन नये हिन्दू समुदायों से व्याह करने में पुराने समुदाय स्वभावतः झिझकते होंगे और जब पृथक् व्याह की परिपाटी एक बार प्रारंभ हुई तो स्थिर हो गई होगी। अगर नये हिन्दू समुदाय में पहिले से आपस में ही वर्ग विभाग थे तो प्रत्येक वर्ग की अलग अलग उपजाति बनी होगी।

विदेशी समुदाय

अनार्य समुदायों की तरह विदेशी समुदाय भी हिन्दू हो रहे थे। उत्तर-पच्छिम से बहुत से लोग जैसे ग्रीक, सिथियन, शक इत्यादि हिन्दुस्तान में आये और बस गये। अब उनके वंशज कहां हैं? अब वह हिन्दू समाज के अङ्ग हैं। उन्होंने शीघ्र ही कोई हिन्दू धर्म अङ्गीकार कर लिया था, वह कोई भारतीय भाषा बोलने लगे थे और यहां की रीतिरिवाज मानने लगे थे। पर वर्णव्यवस्था के कारण पुराने हिन्दू उनसे व्याह सम्बन्ध न करते थे अथवा बहुत कम करते थे। इस लिये उन्होंने अपनी अपनी नई जातियां बनाईं। सम्भवतः उनके वर्गों की अलग अलग उपजातियां बनी होंगी; उनके पुरोहित वर्ग ने हिन्दू होने पर, एक ब्राह्मण उपजाति बनाई होगी; उनका शासकवर्ग अवश्य ही क्षत्रिय हो गया होगा; साधारण जन वैश्य या शूद्र हो गये होंगे। इस तरह एक साथ ही बहुत सी उपजातियां बनी होंगी।

अन्य कारण

जिन कारणों से पहिले जातियों के भेद हुये थे उन्हीं से अब उपजातियों के भी भेद होते रहे। एक उपजाति के जो लोग व्यापार के लिये, या और किसी कारण से दूर जा बसे उन्होंने अपनी छोटी

सी उपजाति अलग बना ली। उदाहरणार्थ, आगामी काल में विश्वास था कि बंगाल के राजा आदिसूर ने मध्यदेश से कुछ ब्राह्मण वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये बुलाये। वह बंगाल में ही बस गये और उनकी एक नई उपजाति बन गई। आज भी बंगाल की बहुत सी ब्राह्मण उपजातियां अपने को मध्यदेश से आनेवाले भिन्न भिन्न ब्राह्मण समुदायों की सन्तति बताती हैं। उड़ीसा के विषय में भी पर ऐतिहासिक परम्परा है कि एक राजा ने कनौज से १०, ००० ब्राह्मण बुला कर बसाये थे। उसके बाद कन्नौज से इनके ब्याह सम्बन्ध स्वभावतः टूट गये, पर उड़ीसा वालों से भी सम्बन्ध नहीं हो सकते थे; अस्तु, उनकी एक नई जाति बन गई। यह क्रम बहुत प्राचीन काल से १६ वीं ई० सदी तक रहा। रेल चलने के बाद ही यह बन्द हुआ।

प्रवास

धार्मिक भेद के कारण भी शायद कुछ छोटी छोटी उपजातियां बनी होंगी। एक ही उपजाति के जो लोग जैन या बौद्ध हो गये उनसे शायद ब्राह्मण धर्मवालों ने ब्याह सम्बन्ध छोड़ दिया होगा और इस तरह दो या अधिक विभाग हो गये होंगे। मांस खाने या न खाने के कारण यह भेद अधिक तीव्र हो गये होंगे।

धार्मिक भेद

सामाजिक आचार की भिन्नता का भी ऐसा ही परिणाम हुआ होगा। उदाहरणार्थ; जब विधवा ब्याह की रोक टोक प्रारंभ हुई तब एक ही उपजाति के समर्थकों और विरोधियों में भेद हो जाने की सम्भावना थी। व्यवसाय बदलने पर भी नई उपजातियों की उत्पत्ति सम्भव थी। कभी कभी तो जान पड़ता है कि एक ही व्यवसाय को भिन्न भिन्न रीतियों से करने वाले एक दूसरे से जुदा हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस समय भी उड़ीसा के कुछ हिस्सों में बैठ कर छोटे बर्तन बनाने वाले कुम्हार

आचारभेद

खड़े होकर बड़े बर्तन बनाने वाले कुम्हारों से ब्याह नहीं करते। कहीं कहीं दाहिनी ओर से बाईं ओर को जाल बुनने वाले मछुए बाईं ओर से दाहिनी ओर जाल बुनने वालों से अलग हैं। एक और कारण ध्यान के योग्य है। निम्नश्रेणी के कुछ लोग किसी तरह द्रव्य या विद्या या अधिकार पाकर उपजाति के साधारण निर्धन छोटे लोगों से अलग हो जाते थे। कभी की वह ऊंचे वर्ण का दावा करते थे; प्रारम्भ में चाहे उनकी हंसी हुई हो पर समय बीतने पर ऊंचे वर्ण के ही कहलाने लगते थे।

उन्नति

इस तरह एक नई उपजाति खडी हो जाती थी। यह क्रम अब तक जारी है। बहुत प्राचीन समय में भी इसके संकेत मिलते हैं। सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण में बताया है कि नीचे व्रात्यदेव किस प्रकार ऊंचे हो गये[१]; यहां पर उत्प्रेक्षा यह है कि नीची जातियां कैसे ऊंची हो जाती थीं। अथर्ववेद में तो की प्रशंसा की है[२]। किसी समय लिच्छवि या निच्छवि पतित गिने जाते थे। मनु ने भी उनको पतित व्रात्य क्षत्रिय कहा है[३]। पर अधिकार के कारण वह पूरे क्षत्रिय होने का दावा करने लगे और बड़े २ राजकुलों को अपनी बेटी ब्याहने में सकुचने लगे। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य जो सदा से ही कोरा सिद्धान्त था नाम मात्र को ही शेष रह गया। सारी व्यवस्था बीसों क्या सैकड़ों उपजातियों की थी।

धर्म

इसकाल के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। मुख्य धर्मों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण, १७। ४। ३॥

२. अथर्ववेद १५। २॥

३. मनु १०। २२॥

पहिले दिया जा चुका है। दो एक और बातों की ओर संकेत करना काफ़ी होगा। धर्म बहुत व्यापक अर्थ का शब्द है। पुराने ग्रन्थों में कहा है कि धर्म वह है जो सारे संसार और विश्व को धारण करता है। जैन कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। मीमांसासूत्र में कहा है कि धर्म वह है जो चलाता है। वैशेषिक सूत्रों में कहा है कि धर्म वह है जिससे इस लोक और परलोक में आनन्द हो। शारीरिक भाष्य मानता है कि देश और समय के अनुसार धर्म बदलता है[1]। साधारण साहित्य में बहुधा धर्म शब्द जीवन के मार्ग के अर्थ में प्रयोग किया गया है। जीवन का ध्येय क्या है? उस ध्येय तक कैसे पहुँच सकते हैं? इन विषयों पर देश में अनेक भिन्न २ मत थे पर आपस के सम्पर्क से एक मत का प्रभाव दूसरे मत पर पड़ा करता था।

धर्म

धीरे २ ब्राह्मणधर्म ने बौद्धधर्म पर असर डाला। महायान नामक एक नया बौद्ध पंथ निकला जिसमें बहुत से ब्राह्मण तत्त्वों का समावेश है। २०० ई० के लगभग नागार्जुन ने जो सब ब्राह्मणशास्त्रों का भी पण्डित था इसके सिद्धान्तों की व्यवस्था कर दी। महायान भक्ति पर ज़ोर देता है और सब के लिये निर्वाण का द्वार खोलता है। हीनयान पन्थ के अनुसार थोड़े ही आत्मा निर्वाण तक पहुँचेंगे पर महायान सबको निर्वाण की आशा दिलाता है। बुद्ध की भक्ति से यह सब हो सकता है। सद्धर्मपुण्डरीक ग्रन्थ में जो २०० ई० के लगभग बना था बुद्ध को प्रेमी पिता के तुल्य माना है। अवलोकितेश्वरगुणकरण्डव्यूह में माना है कि अवलोकितेश्वर अर्थात् बुद्ध असीम करुणा से सब जीवों की ओर देखते हैं। शिक्षासमुच्चय में बोधिसत्त्व कहता है कि मैं

महायान बौद्धधर्म

१, शारीरक भाष्य ३।१।१५॥

सब जीवों के दुख अपने ऊपर ले लेता हूँ और बर्दाश्त करता हूँ। यहां शान्तिदेव बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अपने निर्वाण में देर करके सब जीवों को मुक्ति दिलाओ। वह स्वयं भी अपने पुण्य से पापियों को बचाना चाहता है[1]।

इस समय के लगभग जैन सिद्धान्त या आगम के द्वादशांग भी लिखे गये। पांचवी सदी में देवर्द्धिगणिन् ने सारे जैन सिद्धान्त का सम्पादन कर दिया। जैन चरितों और प्रबन्धों में पुराने राजा, तीर्थंकर; साधू, सन्त इत्यादि की जीवनी हैं। प्रार्थना के बहुतेरे स्तोत्र भी जैनियों ने बनाये।

जैन सिद्धान्त

तीसरी चौथी सदी के लगभग असंग ने योग भी धर्म में मिला दिया। ६०० ई० के बाद महायान बौद्ध साहित्य और ब्राह्मण साहित्य एक दूसरे के नज़दीक आते हैं। दोनों में तन्त्र भी बने और तरह तरह के गुप्त रीति रिवाज वाले पन्थ निकले। देवियों की प्रार्थना और प्रशंसा में बहुत सी धरणियां लिखी गई। इस समय से अनेक नई पुरानी देवियों की आराधना प्रारम्भ होती है। कुछ लेखों से ध्वनि निकलती है कि कोई कोई एक साथ ही बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों को मानते थे।

तन्त्र इत्यादि

इधर ब्राह्मण भागवतधर्म ने ज़ोर पकड़ा और भक्ति की धाराएं बहाईं। नारायण और विष्णु के स्वरूप कृष्ण की पूजा प्रारम्भ हुई। शिव की पूजा भी बहुत से पन्थों ने अङ्गीकार की। इसी तरह शक्ति, गणपति, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य आदि देवी देवताओं की पूजा चली।

भागवत धर्म

---

1. शिक्षा समुच्चय ३ ॥ ६, ७, १७, १८ ॥

भक्ति की धारा का स्रोत वेदों में है। उसके बाद उपनिषदों में भक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है और गीता में उसकी कुछ व्यवस्था की है। पर भक्ति का प्राधान्य पहिले दक्खिन में हुआ। तामिल साहित्य के सब से पुराने ग्रन्थों में परमेश्वर की भक्ति का उपदेश दिया है। शङ्गम् के काव्य परिपाड़ल में विष्णु के व्यूहों का स्पष्ट उल्लेख किया है। कृष्ण और बलदेव की पूजा भी बहुत होती थी। बहुत से शङ्गम् ग्रन्थों में शिव की पूजा और भक्ति भी गाई है। पल्लव राजाओं के समय में अर्थात् लगभग २०० ई० से लगभग ६०० ई० तक ६३ प्रसिद्ध शैव भक्त हुये जिनके चरित्र और कथानक बहुत से तामिल ग्रन्थों में गाये हैं।

दक्खिन में भक्ति

इधर दक्खिन में जैन धर्म का प्रचार भो बहुत हुआ। जैन पट्टावलियों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में अर्थात् ई० पू० तीसरी सदी में बारह बरस के अकाल से पीड़ित हो कर भद्रबाहु स्वामी और उनके बहुतेरे दिगाम्बर अनुयायी उत्तर से आकर दक्खिन में वर्तमान मैसूर के श्रवणबेलगोल में आकर बसे थे। कुछ भी हो, यह अनुमान अवश्य होता है कि जैनधर्म ने ई० पू० चौथी तीसरी सदी के लगभग दक्खिन में प्रवेश किया और धीरे २ बहुत उन्नति की। इसी समय के लगभग बौद्धधर्म भी दक्खिन में आया और सम्राट् अशोक की सहायता से खूब फैला। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध पंडितों में बहुत शास्त्रार्थ हुआ करते थे। शासक गण प्रायः सहन-शील थे पर कभी २ एक धर्म के अनुयायी राजा दूसरे सम्प्रदायों पर अत्याचार करते थे और बलपूर्वक दूसरे मतों का नाश कर के अपना धर्म फैलाने की चेष्टा करते थे।

दक्खिन में जैनधर्म

दक्खिन में बौद्धधर्म

भाषा

इस समय तक देश में कुछ भाषासम्बन्धी परिवर्तन भी हो गये थे। उनपर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

भाषा

यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुस्तान के इतिहास में भाषा का सब से पुराना नमूना ऋग्वेद में मिलता है। पर ऋग्वेद की पेचीदा संस्कृत साहित्य की और ऊंचे वर्गों की ही भाषा मालूम होती है, साधारण जनता की नहीं। कुछ भी हो संसार की और

वैदिक संस्कृत

सब भाषाओं की तरह ऋग्वेद की संस्कृत भी धीरे धीरे बदलने लगी। उस पर आर्य लोक भाषा और अनार्य भाषाओं का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा। पिछली संहिताओं की भाषा ऋग्वेद से कुछ भिन्न है, ब्राह्मणों और आरण्यकों में भेद और भी बढ़ गया है, उपनिषदों में एक नई भाषा सी नज़र आती है। इस समय वैयाकरण उत्पन्न हुये जिन्होंने संस्कृत को नियमों में जकड़ दिया और विकास बहुत कुछ बन्द कर दिया। व्याकरणों में सबसे ऊंचा स्थान पाणिनि की अष्टाध्यायी ने पाया जो ई० पू० ७ वी और चौथी सदी के बीच में किसी समय रची गई थी। इसके सूत्र अब तक प्रामाणिक माने जाते हैं। पर थोड़ा सा परिवर्तन होता ही गया; वीरकाव्य की भाषा कहीं कहीं पाणिनि के नियमों का उल्लंघन कर गई है। साहित्य की भाषा जो वैदिक समय से ही केवल पढ़े लिखे आदमियों की भाषा थी व्याकरण के प्रभाव से, लगातार बदलती हुई लोक भाषा से बहुत दूर हट गई।

व्याकरण

यह लोक भाषा देश के अनुसार अनेक रूप धारण करती हुई, बोल चाल के सुभीते और अनार्य भाषाओं के संसर्ग से प्रत्येक समय में नये शब्द बढ़ाती हुई, पुराने शब्द छोड़ती हुई, क्रिया, उपसर्ग, वचन, लिङ्ग और काल

में सादगी की ओर जाती हुई, प्राकृत भाषाओं के रूप में दृष्टिगोचर हुई। इन का प्रचार संस्कृत से ज़्यादा था क्योंकि सब लोग इन्हे समझते थे। बुद्ध और महावीर ने मागधी या अर्धमागधी प्राकृत द्वारा उपदेश दिया। ग्रीक लेखकों के भारतीय शब्द प्राकृत शब्दों के ही रूपान्तर हैं—संस्कृत के नहीं। अशोक की धर्म लिपियां भी प्राकृत में लिखी हैं और आगे के बहुतेरे शिलालेखों का भी यही हाल है। पर ई० पू० तीसरी सदी के लगभग बौद्धों और जैनों ने एक नई साहित्यिक भाषा का विकास किया जिसका नाम पालि पड़ा। इस तरह दो भाषाएं—संस्कृत और पालि—तो केवल साहित्य की ओर पढ़े लिखे लोगों की भाषाएं हुईं, एक इस समय मुख्यतः ब्राह्मणों की और दूसरी बौद्ध और जैनों की। इनके अलावा जनता की प्राकृत भाषाएं थीं जिनमें लेख अवश्य लिखे जाते थे पर जो ज़्यादातर बोल चाल में ही प्रचलित थीं। ऊंचे विचार प्रगट करने की शक्ति संस्कृत में सब से ज़्यादा थीं, इसलिये साहित्य में उसकी प्रधानता रही। ई० पू० दूसरी सदी में शिलालेखों पर संस्कृत का प्रभाव नज़र आता है; पहिली दूसरी ई० सदी के कुछ शिलालेख जैसे रुद्रदामन का जूनागढ़ लेख संस्कृत में है और प्राकृत लेखों पर संस्कृत शैली असर डाल रही है। गुप्त साम्राज्य से बल पाकर चौथी सदी में संस्कृत प्राकृत को शिलालेखों और ताम्रपत्रों से क़रीब क़रीब निकाल देती है; पाँचवीं सदी से उत्तर के लेखों में प्राकृत कहीं नज़र नहीं आती। शिला और ताम्रपत्र लेखों के अलावा साहित्य में भी इसी तरह का विकास हुआ। ललितविस्तर, महावस्तु इत्यादि बौद्ध ग्रन्थों में प्राकृत के साथ संस्कृत मिली हुई है; इस अर्धसंस्कृत या

प्राकृत

संस्कृत की प्रधानता

शिलालेख

मिश्रित संस्कृत में बहुत सा धार्मिक और लौकिक साहित्य हिन्दुस्तान, नैपाल और तिब्बत में मिला है। पर इस समय भी संस्कृत का प्रभाव बढ़ रहा है; दूसरी ई० सदी में ही प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान शुद्ध संस्कृत में लिखा गया। बौद्ध महायान पर ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के साथ साथ संस्कृत का प्रभाव भी बढ़ता गया। तीसरी सदी के बाद बौद्धों ने सैकड़ों क्या हज़ारों ग्रन्थ संस्कृत में रचे जिनमें से बहुतेरे नैपाल, तिब्बत, और मध्य एशिया में मिले हैं और कुछ तो केवल तिब्बती या चीनी अनुवाद में ही मिले हैं। बौद्धों की अपेक्षा जैनियों ने ब्राह्मण धर्म के प्रभाव को और इसलिये संस्कृत के चलन को ज़्यादा रोका पर गुप्त साम्राज्य के बाद संस्कृत का सिक्का ऐसा जमा कि जैनियों ने भी उसे अङ्गीकार कर लिया। छठी ई० सदी से जैन संस्कृत साहित्य ब्राह्मण साहित्य से कम नहीं है। धर्म, नीति, कथा, कोष, व्याकरण, छन्दस्, वैद्यक, उपन्यास, नाटक, चम्पू, इत्यादि पर हज़ारों संस्कृत ग्रन्थ दिगाम्बर और श्वेताम्बर जैनियों ने लिखे जिनमें से बहुतेरे अब तक जैसलमेर, पाटन इत्यादि पुराने भण्डारों में अप्रकाशित पड़े हैं। इसके साथ साथ पालि और प्राकृत में भी बहुत सी रचनाएं जैन लोग करते रहे। संस्कृत की प्रभुता इतनी बढ़ी कि सिक्कों के लेख जो साधारण जनता के लिये थे और रुद्रदामन के समय तक प्राकृत में थे धीरे धीरे संस्कृत में लिखे जाने लगे।

मिश्रित संस्कृत

बौद्ध संस्कृत साहित्य

जैन साहित्य

दक्खिन में तामिल साहित्य की पुरानी धारा बराबर बहती रही, कनाड़ी भाषा में भी बहुत से ग्रंथ, विशेष कर जैनों द्वारा, लिखे गये। पर यहां भी संस्कृत का दौर दौरा था। ख़ासकर दक्खिन के ब्राह्मणों

दक्खिन में भाषाएं

और जैनियों ने धार्मिक और लौकिक विषयों पर रचनाएं करके संस्कृत साहित्य को मालामाल कर दिया। हिन्दुस्तान के साहित्य का यह क्रम मुसलमान विजय तक अर्थात् उत्तर में १२वीं सदी के अन्त तक और दक्खिन में १५-१६ वीं सदी तक जारी रहा। इसके बाद राज्य का सहारा टूट जाने से संस्कृत दुर्बल हो गई; प्राकृत या अपभ्रंश से निकली हुई देशी भाषाओं ने ज़ोर पकड़ा; फ़ारसी और अरबी ने भी कुछ हिन्दुओं पर सिक्का जमाया। पर याद रखना चाहिये कि संस्कृत की धारा कभी सर्वथा लोप नहीं हुई।

आगामी इतिहास

मुसलमानी राज्य में ही नहीं किन्तु आज तक पुराने संस्कृत साहित्य की पढ़ाई होती रही है और कुछ न कुछ नई रचना भी होती रही है। देश भर में संस्कृत के, और कुछ अंश में, पालि के प्रचार से सारे हिन्दुस्तान की सभ्यता बहुत सी बातों में एक समान हो गई।

साहित्यिक भाषा का सामंजस्य

विद्यार्थी, विद्वान, सन्यासी और भिक्षु देश भर का दौरा किया करते थे; हर जगह शास्त्रार्थ, पठनपाठन, और वार्तालाप कर सकते थे; अच्छे ग्रन्थ, चाहे जहाँ लिखे जाँय देशभर में प्रचार, प्रसिद्धि या प्रमाण पाते थे। इस तरह धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, नीति, समाजसिद्धान्त, साहित्य, क़ानून, इत्यादि में देश के सब हिस्से एक साथ थे, एक समान थे और एक साथ ही एक सी प्रगति करते रहे।

पर संस्कृत और पालि के प्रचार ने पठित और अपठित वर्गों के बीच में एक दीवार भी खड़ी कर दी।

वर्गभेद

साधारण जनता की भाषा में साहित्य था अवश्य; ख़ास कर जैन और बौद्ध साहित्य बहुत सा था पर तो भी संस्कृत न जाननेवाले बहुत से साहित्य से वंचित थे, विद्वानों के शास्त्रार्थ सुनने में असमर्थ

थे। उनकी देश भाषाओं का साहित्यिक विकास भी पूरा २ नहीं हुआ। अशोक के शिलालेखों के बाद प्राकृत के नमूने प्राकृत-ग्रन्थों के अलावा संस्कृत नाटकों में मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में स्त्रियाँ, शूद्र या छोटी जातियों के पात्र संस्कृत के स्थान पर कोई न कोई प्राकृत बोलते हैं। जान पड़ता है कि नाटक पढ़ने या देखनेवाली जनता दोनों भाषाएं समझती थी। पहिली-दूसरी ई० सदी के लग भग अश्वघोष ने अपने नाटकों में पुरानी मागधी, पुरानी अर्धमागधी और पुरानी शौरसेनी का प्रयोग किया है। इसके बाद श्वेताम्बर जैनों ने अपने शास्त्रों के लिये महाराष्ट्री और दिगाम्बरों ने शौरसेनी का प्रयोग किया है। गुणाढ्य ने अपनी बृहत्कथा पैशाची में लिखी। व्याकरण की जंजीरों के अभाव में प्राकृत भाषाएं बराबर बदलती रहीं। तीसरी ई० सदी के लगभग भास के नाटकों की प्राकृत अश्वघोष से कुछ भिन्न है और पाँचवीं सदी के लगभग कालिदास के नाटकों की प्राकृत और भी दूर हट गई है। मालूम होता है कि महाराष्ट्री में काव्य बहुत था; शौरसेनी में गद्य, और पैशाची में कथाएं। नाटकों से मागधी का दर्जा बहुत नीचा जान पड़ता है पर कथाएं उसमें भी थीं। प्राकृतों के अलावा अपभ्रंश बोलियाँ थीं जिनका उल्लेख छठी ई० सदी से मिलता है, जो कुछ विशेष सम्प्रदायों की भाषाओं और प्राकृतों के सम्मिश्रण से बनी थीं, और जो आगे चल कर बहुत फैल गईं। इन्हीं अपभ्रंशों से शायद आजकल की कुछ उत्तरी देश भाषाएं निकली हैं पर ग्रियर्सन के प्रतिकूल यह भी

नाटकों में प्राकृत

प्राकृत साहित्य

अपभ्रंश

वर्तमान भाषाएं

अनुमान होता है कि कुछ देश भाषाएं सीधी प्राकृत से निकली हैं[१]।

साहित्य

संस्कृत काव्य

काव्य में अब तक हिन्दुस्तान की कोई भाषा संस्कृत की बराबरी नहीं कर सकी है। संस्कृत कवियों और लेखकों ने वाल्मीकि को आदि कवि और रामायण को आदि काव्य माना है। वाल्मीकि ने जिस शैली से पहाड़, नदी, मौसिम, वन, शहर, सभा, दर्बार, तपोभूमि इत्यादि का वर्णन किया है, जिस शैली से स्त्री पुरुषों का, राजा, कुमार, आदि का चरित्र खींचा है, जिस ढंग से वीरता, प्रेम, भक्ति, वैराग्य आदि भाव बताये हैं वह सदा के लिये संस्कृत साहित्य पर अंकित हो गये।

वाल्मीकि

रामायण की कथा से कालिदास, भवभूति, आदि बड़े कवियों ने, पुराण बनाने वालों ने और अनगिनित छोटे लेखकों ने सामग्री ली है। काव्य या नाटक की सामग्री का दूसरा बड़ा भारी स्रोत महाभारत है। आदिपर्व की भूमिका कहती है कि जो कुछ है महाभारत से लिया गया है। तीसरा स्रोत है पुराना बौद्ध साहित्य जिसका प्रयोग बौद्ध लेखकों ने किया है। चौथा स्रोत जैन परम्परा है जो जैन कविता का आधार है। पांचवां स्रोत लोक कथाएं हैं जो गुणाढ्य इत्यादि में साहित्यिक रूप पाकर

काव्य के स्रोत

१. भाषा के विषय पर मूल ग्रन्थों के अलावा देखिये, ग्रियर्सन, लिंग्युस्टिक सर्वे आफ इन्डिया, भाग १। कीथ, हिष्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, संस्कृत ड्रामा॥ मेकडानेल, वैदिक ग्रामर। रा० गो० भंडारकार, जे० बी० बी० आर० ए० एस० १६। पृ० ३३०॥ हुल्ट्ज़, अशोक के लेख।

बहुत से संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित हैं। इन पांच स्रोतों से सामग्री ले लेकर ग्रन्थकारों की प्रतिभा ने ऐसी ऐसी रचनाएं पैदा की जो संसार भर के साहित्य में ऊंचा स्थान रखती हैं। पतञ्जलि और पिङ्गल के उल्लेखों से सिद्ध है कि ई० पू० २री सदी के पहिले भी लौकिक संस्कृत काव्य मौजूद था पर अभी तक कोई ग्रन्थ नहीं मिले हैं। जो आगामी काव्य मिलता है उसका बहुत बड़ा भाग ब्राह्मण, बौद्ध या जैनधर्म मानने वाले राजाओं के दर्बार में या राजाओं के प्रोत्साहन से रचा गया था। इसीलिये इस साहित्य में राज कथाएं बहुत हैं और कुछ ऐसे विषय भी हैं जो राजाओं या दर्बारियों को ही प्रिय रहे होंगे।

राजदर्बार

लौकिक संस्कृत काव्य में पहिला स्पष्ट नाम अश्वघोष है जो बौद्ध राजा कनिष्क के यहां १-२ ई० सदी में था पर अश्वघोष इस साहित्य का आरंभ नहीं है। उसकी शैली ही बताती है कि पहिले बहुत से कवि हो गये थे। ख़ैर, अश्वघोष ने महावग्ग और निदान कथा के आधार पर सौन्दरनन्द काव्य में नन्द को बुद्ध से वैराग्य और निर्वाण का उपदेश दिलाया है। नन्द की स्त्री सुन्दरी के रूप का वर्णन बड़ी चतुराई से किया है, पति के वैराग्य पर वह ऐसा शोक करती है कि नन्द का मन डिग जाता है पर जब बुद्ध स्वर्ग ले जाकर उसे अप्सराएं दिखलाते हैं तब वह अप्सरा के मोह में पड़ जाता है। पर स्वर्ग में अप्सराओं का भोग तो पुण्य से ही हो सकता है। इस अवसर पर बुद्ध का मुख्य शिष्य आनन्द यह उपदेश देता है कि स्वर्ग का सुख भी क्षणभंगुर है, पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में लौटना पड़ता है। अस्तु, नन्द निर्वाण का

अश्वघोष

सौन्दरनन्द काव्य

प्रयत्न करता है। बुद्धचरित में अश्वघोष ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं का काव्य बनाया है। कुछ श्लोक कालिदास के रघुवंश की याद दिलाते हैं। सम्भव है कि कालिदास ने अश्वघोष पढ़ा हो और जान कर या अनजान में उसके कुछ भाव और रूपक अपने ढंग से रघुवंश में रख दिये हों। अश्वघोष की भाव प्रगट करने की शैली का पता दो एक उदाहरणों से लग जायगा।

बुद्धचरित

छठवें अध्याय में चुपके से घरबार छोड़ कर वन में आकर गौतम स्वामिभक्त नौकर छन्द से कहते हैं कि बार २ प्रणाम कर के राजा से मेरी ओर से यह कहना, "बुढ़ापे को और मौत को नाश करने के लिये मैंने तपोवन में प्रवेश किया है, स्वर्ग की तृष्णा से नहीं, स्नेह के प्रभाव से नहीं, क्रोध से नहीं। इस तरह मैं घर से निकल गया हूं, मेरे लिये शोच न करना। संयोग कितने ही दिन रहे समय पाकर अवश्य ही समाप्त होगा। विश्लेष निश्चित है, इस लिये मेरी मति मोक्ष में लगी है। स्वजनों से बार २ का वियोग कैसे रुक सकता है? शोक का त्याग करने के लिये मैं घर से निकला हूं; मेरे लिये शोक न करना; शोक तो उनके लिये करना चाहिये जो राग में फँसे हैं और शोक के उत्पादक कामों में आसक्त हैं। हमारे पूर्वजों का यह स्थिर निश्चय था; उसी मार्ग से जाते हुये मेरे लिये आगे आने वाले शोक न करें।... यदि सोचते हो कि असमय में ही यह वन चला गया तो (मेरा निवेदन है कि) जीवन के चंचल होने से धर्म के लिये कभी असमय नहीं होता। इस लिये मेरा निश्चय है कि मैं अभी से अपने श्रेय की चिन्ता करूं।

गौतम का गृहत्याग

सन्देश

जब मौत बैरी की तरह खड़ी है तब जीवन का क्या ठिकाना है? . . . ."

यह सुन कर छन्द ने संताप से विकल हो कर, हाथ जोड़ कर आंसुओं से रुंधे हुये स्वर से उत्तर दिया:—"हे प्रभो! बान्धवों को कष्ट देनेवाले तुम्हारे इस भाव से मेरा चित्त वैसे ही डूबा जाता है जैसे नदी की कीचड़ में हाथी। किस लोहे के हृदय को भी तुम्हारा यह निश्चय न हिला देगा? फिर स्नेह से व्याकुल हृदय की बात ही क्या है? कहां तो यह सुकुमारता जो महल में शयन करने के ही योग्य है और कहां कठोर दर्भ के अंकुरवाली तपोवन भूमि? जो तुम्हारे व्यवसाय को सुन कर मैं घोड़ा लाया था सो हे नाथ! दैव ने बलात्कार से मुझ से यह कराया था। तुम्हारे इस निश्चय को जानता हुआ अब मैं कपिलवस्तु के शोक के पास इस घोड़े को कैसे ले जाऊं? हे महाबाहो! तुम्हें पुत्र की लालसा करनेवाले बूढ़े स्नेही राजा को ऐसे न छोड़ना चाहिये जैसे कि कोई नास्तिक अच्छे धर्म को छोड़ देता है। और हे देव! तुम्हें अपनी उस दूसरी माता[1] को जो तुम्हें पालते २ थक गई है इस तरह न भूलना चाहिये जैसे कृतघ्न उपकार को भूल जाता है। अपनी पत्नी को जो पतिव्रता है; बड़े कुल की है, गुणवती है, और जिसका लड़का छोटा है, तुम्हें इस तरह न छोड़ना चाहिये जैसे कोई डरपोक राजा लक्ष्मी को छोड़ देता है। हे यश और धर्म के धारकों में श्रेष्ठ! यशोधरा से उत्पन्न अपने छोटे प्रशंसनीय पुत्र को तुम्हें इस तरह न छोड़ना चाहिये जैसे कि व्यसनी पुरुष उत्तम यश को छोड़ देता है। हे विभो! अगर तुमने राज्य को और बन्धुओं को छोड़ने का ही निश्चय कर लिया है तो भी मुझे तो न

छन्द का निवेदन

---

१. गौतम की असली माता का देहान्त इनके बचपन में ही होगया था।

छोड़ो; मेरी गति तो तुम्हारे ही चरणों में है। जैसे सुमित्र (सुमंत्र) रामचन्द्र को वन में छोड़ कर चला गया था वैसे मैं तो तुम्हें छोड़ कर इस जलते हुये चित्त को लेकर नगर को नहीं जा सकता हूं। तुम्हें छोड़ कर नगर को जाऊं, तो राजा मुझसे क्या कहेंगे? और मैं तुम्हारे अन्तःपुरवालों को कौन सा अच्छा समाचार दूंगा? . . . . ."

शोक से विह्वल छन्द के इन वचनों को सुन कर बोलने वालों में श्रेष्ठ (गौतम) ने स्वस्थभाव से और परम धैर्य से, उत्तर दिया:—"हे छन्द! मेरे वियोग के बारे में इस संताप को छोड़ दो;

गौतम का उत्तर

बार बार जन्म लेने वाले देहधारियों के लिये परिवर्तन तो नियत ही है। मोक्ष की अभिलाषा में यदि मैं स्नेह के वश हो कर बान्धवों को न भी छोडूं तौभी मृत्यु बलात्कार से हम सब को एक दूसरे से छुड़ा देगी। जिस माता ने बड़ी तृष्णा से और बड़े कष्टों से मुझे गर्भ में रक्खा था उस व्यर्थ प्रयत्न वाली का अब मैं कौन हूं और वह मेरी कौन है[1]? जैसे पक्षी बसेरे के वृक्ष पर जमा होते हैं और फिर उड़ जाते हैं वैसे ही यह नियत है कि सब प्राणियों का समागम वियोग में समाप्त हो। जैसे बादल जमा हो कर फिर अलग २ हो जाते हैं—(बस) प्राणियों के संयोग और वियोग को भी मैं वैसा ही मानता हूं। यह संसार आपस में एक दूसरे को धोखा देता हुआ चला जाता है, इस लिये इस स्वप्न के से समागम में कोई ममत्व न मानना चाहिये। . . . .

"ऐसा होते हुये, हे सौम्य! शोक न करो, तुम जाओ अथवा यदि तुम्हारा स्नेह ठहरता है तो जा कर फिर लौट आना। कपिल-

---

१. गौतम की असली माता का देहान्त इनके बचपन में ही हो गया था।

वस्तु में, हमें न झिड़कते हुये, लोगों से कहना कि उस (गौतम) के लिये स्नेह का परित्याग करो और उसका निश्चय सुनो। या तो वह बुढ़ापे और मौत का नाश कर के जल्द ही लौट आयेगा या अपने प्रयत्न में असफल होने से निरालम्ब हो कर वह मर ही जायगा। . ."

अन्य ग्रन्थ

अश्वघोष के सूत्रालंकार या कल्पनामण्डीतिक में धर्म का उपदेश देने वाली बहुत सी कथाएं हैं। गण्डीस्तोत्रगाथा में बहुत से धार्मिक गीत हैं। इसी समय के लगभग मातृचेता ने, जो शायद अश्वघोष ही था, बहुत से ग्रन्थ लिखे जिनके अंश शतपञ्चाशतिकस्तोत्र से मिलते हैं। यहां बुद्ध की

मातृचेता?

भक्ति गाई है। अवदानशतक में बुद्ध के जन्मों की बहुत सी कथाएं हैं जिनमें से कुछ सर्वास्तिवादी बौद्धों के विनयपिटक से ली गई हैं।

नाटक

संस्कृत लौकिक काव्य की तरह संस्कृत नाटक के इतिहास में भी पहिला स्पष्ट नाम अश्वघोष का है पर यहां भी याद रखना चाहिये कि नाटक लिखने और खेलने की चाल बहुत पहिले ही शुरू हो गई थी। संस्कृत नाटक की उत्पत्ति धार्मिक साहित्य और आचार से मालूम होती है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में

उत्पत्ति

वार्तालाप हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञों और आचारों में बहुत से अवसरों पर कई आदमियों में नियत समयों पर बातचीत होती है। यहां पर नाटक का बीज है। रामायण और महाभारत में समाजों

नर्तक

के अर्थात् उत्सवों के नट नर्तकों का बार बार उल्लेख है। रामायण में एक जगह नाटक

शब्द भी आया है[1]। यहां नाटक का पूर्वरूप मालूम होता है। पाणिनि नटसूत्रों का उल्लेख करता है[2]। शायद उसके समय में या पहिले ही खेल तमाशों के क़ायदे बन रहे थे। राम, कृष्ण, बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की कथाएं सुनाने की परिपाटी से भी नाटक के विकास में ज़रूर बहुत सहायता मिली होगी।

धर्मकथा

बहुत से यूरोपियन विद्वानों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तान ने नाटक ग्रीक लोगों से लिया पर इस सम्मति के लिये इतिहास से कोई भी अटूट साक्षी नहीं मिलती। सभ्यताओं का सम्पर्क हमेशा चारों ओर प्रभाव डालता है। ई० पू० चौथी सदी के बाद हिन्दुस्तान से उत्तर पच्छिम में ग्रीक सभ्यता का प्रचार था। ग्रीक

ग्रीक प्रभाव

नाटक पहिले ही पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। सम्भव है कि ग्रीक नाटक से हिन्दुस्तानी नाटक को कुछ प्रोत्साहन मिला हो पर इन दोनों का चरित्र एक दूसरे से इतना भिन्न है, कहीं कहीं ऐसा उलटा है, कि विपरीत साक्षी के अभाव में, इनकी उत्पत्ति और विकास स्वतंत्र ही मानने पड़ेंगे।

ई० सन् के प्रारंभ तक संस्कृत नाटक की बड़ी उन्नति हो चुकी होगी। मध्यएशिया में तुर्फ़ान के एक ताड़पत्र

शारद्वतीपुत्रप्रकरण

पर अश्वघोष के नौ अङ्क के शारद्वतीपुत्रप्रकरण का एक अंश मिला है। यहां बुद्ध ने मौद्गलायन और शारिपुत्र को अपने धर्म का उपदेश दिया है और भविष्य वाणी की है कि शिष्यों में उनके पास सब से अधिक ज्ञान और शक्ति होगी। इस नाटक की शैली वही है जो आगे चलकर नाट्यशास्त्र ने

---

१. रामायण अयोध्याकांड ६९। ३॥

२. पाणिनि, अष्टाध्यायी ४। ३। ११०॥

बताई है, जिससे मालूम होता है कि नाट्यशास्त्र ने वर्तमान नाटकों के आधार पर ही नियम बनाये थे[१]। जिस प्रति में शारद्वतीपुत्र प्रकरण है उसी में दो और नाटकों के अंश हैं जो शायद अश्वघोष के हैं। एक में बुद्धि, कीर्ति और धृति की बात चीत होती है। दूसरे के पात्रों में हैं शारिपुत्र और मौद्गलायन, नायक, विदूषक, दुष्ट और गणिका मगधवती इत्यादि। यहां स्त्रियां और एक श्रमण भी प्राकृत बोलते हैं। नाटक में हिन्दू साहित्यिक प्रतिभा का ऊंचे से ऊंचा विकास मिलता है। वैराग्य का भाव भी इसके द्वारा प्रगट किया गया पर आगे चलकर इसमें वीररस, प्रेम और राजनैतिक दांव-पेच की प्रधानता रही। प्रेम की पवित्रता में बहुविवाह की प्रथा एक बड़ी कलुषित बाधा थी; कई नाटकों में प्रेम के पेच हंसी या घृणा पैदा करते हैं पर बहुत से नाटकों में कवि की प्रतिभा इस बाधा के ऊपर उठ गई है। दुखान्त नाटक की प्रथा न होने से नाटक का क्षेत्र कुछ संकुचित हो गया, जीवन की कई तीव्र समस्याएं छूट गईं, पर बीच २ में करुणा और क्लेश के भाव बराबर आये हैं। आगे चल कर बहुत से काव्यों की तरह बहुत से नाटको के वर्णनों, पद्यों और चित्रणों में कृत्रिमता आ गई और नाटक की लोकप्रियता में एवं आवश्यक स्वाभाविकता मे अन्तर पड़ गया। कुछ नाटक तो केवल पढ़ने के योग्य ही रह गये पर बहुत से नाटकों में प्रसाद गुण भी है, प्रकृति का कोई विरोध नहीं है। हिन्दू साहित्य के पढ़ने से इतना तो सिद्ध ही है कि नाटक आमोद प्रमोद का एक बड़ा साधन था।

अन्य नाटक

---

१. हिन्दुस्तानी नाटक के इतिहास के लिये देखिये कीथ, संस्कृत ड्रामा, सिल्वा लेवी, थियेटार इंडियन।

साहित्य में नाटक गृहों का उल्लेख बार बार आया है। नगरों में, ख़ास कर राजधानियों में, बहुत से नाटक-घर थे। पर ऐसा मालूम होता है कि नाटक-मंच पर केवल एक पर्दा रहता था; नदी, वन, पर्वत, आश्रम, नगर, गांव, इत्यादि वर्णन और संकेतों से बताये जाते थे; इसी तरह शिकार खेलना, रथ पर चढ़ना, पौधों को पानी देना, फूल तोड़ना, इत्यादि क्रियाएं भी वर्णन और संकेतों से बताई जाती थीं। पर्दे के पीछे नेपथ्यगृह थे जहाँ से आवश्यक आवाज़ें आती थीं। प्रारंभ में सूत्रधार अपनी स्त्री या पात्रों से बातें करता हुआ नाटक की प्रस्तावना देता था और फिर नाटक के अङ्क प्रारंभ होते थे। स्त्रियाँ नाट्यमंच पर आया करती थी पर कभी कभी स्त्रियों का पार्ट पुरुष भी करते थे। स्मृतियों में लिखा है कि नाटक खेलने वाले स्त्री पुरुषों का आचरण नीचा होता था सम्भव है कि यह कड़ी आलोचना नाटकसंसार के आनन्द जीवन के कारण ही हो।

नाटकघर

पर्दे

सूत्रधार

पात्र

कोई बीस बरस हुये गणपतिशास्त्री ने भास के तेरह नाटक खोज कर प्रकाशित किये जिनका समय भिन्न २ विद्वान् ई० पू० ७ ८ सदी से लेकर ई० ६–१० सदी तक निश्चय करते हैं और जिनको कुछ लोग भिन्न २ नाटककारों की रचना बताते हैं। पर सब सोच कर यह अनुमान ठीक मालूम होता है कि यह सब नाटक एक ही रचयिता के हैं और चौथी ई० सदी के आस पास लिखे गये थे। इन नाटकों की कथाएं ज़्यादातर महाभारत और रामायण से ली गई हैं; शैली और भाषा में बड़ी सादगी है; कई नाटक एक ही एक अङ्क के हैं; सब

भास

ही नाट्यमंच के लिये बहुत उपयुक्त हैं; लगभग सर्वत्र घटनाचक्र बड़ी तेज़ी से चलता है और चरित्र बड़ी सफ़ाई से खींचे हैं।

जैसा कि सातवीं ईस्वी सदी में बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में प्रसङ्गवश कहा है, भास के नाटक नन्दी के बिना प्रारम्भ होते हैं। इनमें प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना शब्द का प्रयोग किया है। रचना के दो एक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। पञ्चरात्र का आधार महाभारत है पर कवि की कल्पना ने नई कथा रच डाली है। पांडव बारह बरस के बनवास में हैं और राजा विराट के साथ हैं। दुर्योधन बड़ा यज्ञ करता है और द्रोणाचार्य से गुरु दक्षिणा मांगने को कहता है। द्रोण यह दक्षिणा मांगते हैं कि पांडवों को आधा राज्य दे दिया जाय। किन्तु इसपर दुर्योधन और शकुनि यह शर्त लगाते हैं कि पांच रातों के भीतर ही पांडवों का पता लग जाय। द्रोण को क्रोध आता है पर कीचकवध के समाचार से भीष्म अनुमान करते हैं कि यह तो भीम का ही काम हो सकता है। शर्त मान ली जाती है। कौरव विराट के राज्य पर आक्रमण करते हैं और उसकी गाय पकड़ लेते हैं। पाण्डव गायों को छुड़ाने आते हैं, उनका पता लग जाता है और दुर्योधन उनको आधा राज्य दे देता है।

पञ्चरात्र

(पहिले अङ्क में विष्कम्भक के बाद भीष्म और द्रोण आते हैं।)

द्रोण—सच पूछिये तो धर्म का अवलम्बन करके दुर्योधन ने मुझे ही अनुगृहीत किया है; क्योंकि शिष्य का दोष बान्धवों और मित्रों को छोड़ कर गुरु को ही लगता है; गुरु के हाथ में बालक को सौंपने वाले माता पिता का तो दोष ही नहीं है।

भीष्म—इस दुर्योधन ने (जूए में) रुपया लेने से प्रसिद्धि पाकर (पाण्डवों से) युद्ध की कामना के कारण अयश पाया था। अब

बहुत दिन में धर्म (यज्ञ) की सेवा करके यह पुण्य का भाजन हुआ है और इस रूप में शोभा पा रहा है।

(दुर्योधन, कर्ण और शकुनि आते हैं)

दुर्योधन—मैंने (शास्त्रों में) श्रद्धा दिखाई है; गुरुजन संतुष्ट हैं। जगत् मुझ में विश्वास करता है; मेरे गुण बस गये; अयश नष्ट हो गया। यदि कोई कहे कि स्वर्ग मरनेवालों को ही मिल सकता है तो झूंठ है; स्वर्ग तो परोक्ष नहीं है; स्वर्ग तो यहीं अनेक प्रकार से फलता है।

कर्ण—हे गांधारीपुत्र! न्याय से आये हुये धन को दान करने में आपने न्याय ही किया क्योंकि क्षत्रियों की समृद्धि वाणों के अधीन है। पुत्रों के लिये जो रुपया जमा करता है वह धोखा खाता है। राजा को चाहिये कि रुपया ब्राह्मणों पर न्यौछावर कर दे और पुत्रों को एक मात्र धनुष् देवे।

शकुनि—अङ्गराज (कर्ण) ने, जिसके पाप गंगा के उपस्पर्शन (अवभ्रथ) से धुल गये हैं, ठीक कहा।

कर्ण—इक्ष्वाकु, शर्याति, ययाति, राम, मान्धाता, नाभाग, नृग, अम्बरीष—यह (राजा) कोष और राज्यों के साथ शरीर से तो नष्ट हो गये हैं पर यज्ञों से अब भी जीवित हैं।

सब (लोग)— गांधारी पुत्र! यज्ञ की समाप्ति पर आपको बधाई।

दुर्योधन—मैं (बहुत) अनुगृहीत हुआ। आचार्य! आपको प्रणाम करता हूं।

द्रोण—इधर आओ पुत्र! यह क्रम ठीक नहीं है।

दुर्योधन—तो ठीक क्रम क्या है?

द्रोण—क्या आप नहीं देखते? पहिले इन भीष्म को प्रणाम करना चाहिये जो मनुष्य रूप में देवता हैं। भीष्म को छोड़ कर मुझे प्रणाम करना—इसे मैं ठीक आचरण नहीं मानता।

भीष्म—न न ऐसा न कहिये। मैं तो बहुतेरे कारणों से आप से घट कर हूँ; क्योंकि मैं तो माता से उत्पन्न हुआ हूँ, आप स्वयं ही उत्पन्न हुये हैं; मेरी वृत्ति हथियारों से है, आपकी प्रेम से; मैं क्षत्रिय हूँ, आप ब्राह्मण हैं; आप गुरु हैं, मैं बूढ़ा शिष्य हूँ।

द्रोण—क्या महात्माओं में अपनी छोटाई करने की शक्ति नहीं होती? आओ पुत्र! मुझे ही प्रणाम करो।

दुर्योधन—आचार्य! प्रणाम करता हूँ।

स्वप्नवासवदत्त — स्वप्नवासवदत्त में आधार उदयन और वासवदत्ता की पुरानी हिन्दू प्रेम कथा का है और उस मंत्री यौगन्धरायण का कौशल दिखाया है जो संस्कृत नाटक में स्वामिभक्ति के लिये प्रसिद्ध है। पहिला अङ्क इस तरह प्रारंभ होता है:—

(दो भट प्रवेश करते हैं)

दोनों भट—हटिये, हटिये, आप लोग हटिये।

(परिव्राजक के भेष में यौगन्धरायण और अवन्तिका के भेष में वासवदत्ता प्रवेश करते हैं)

यौगन्धरायण—(कान लगा कर) क्या! यहां भी लोग हटाये जाते हैं। जो धीर हैं और मान के योग्य हैं, आश्रम में रहते हैं, वल्कल पहिनते हैं, उनको क्यों त्रास दिया जाय? घमंडी, विनय से रहित, चंचल भाग्य से अंधा, यह कौन है जो इस शान्त तपोवन में गंवारपन चलाता है?

वासवदत्ता—आर्य! यह कौन (हमें) हटाता है?

यौगन्धरायण—वह है जो अपने को धर्म से हटाता है।

वासवदत्ता—आर्य! मैं यह नहीं कह रही थी (पर) क्या मैं भी हटाई जाऊंगी?

यौगन्धरायण—देवी ! न पहिचाने हुए धर्म भी इस तरह हटा दिये जाते हैं।

वासवदत्ता—परिश्रम से उतना खेद नहीं होता जितना इस अपमान से।

यौगन्धरायण—यह चीज़ें (मान ऐश्वर्य इत्यादि) तो देवी ने भोग कर छोड़ दी हैं। चिन्ता की बात नहीं है। . . . . .

दोनों भट—हटो, हटो।

(काञ्चुकीय प्रवेश करता है)

काञ्चुकीय— . . . इस तरह लोगों को कभी न हटाना चाहिये। देखो, राजा का नाम बदनाम न करो, आश्रम वासियों के साथ कठोरता न करो, नगर के अपमानों से मुक्त होने के लिये ही यह मनस्वी वन में जा कर रहते हैं।

दोनों भट—आर्य ! ऐसा ही (होगा)

(दोनों भट जाते हैं)

यौगन्धरायण—हा ! इसके दर्शन से तो विवेक मालूम होता है। पुत्री ! इसके पास चल।

वासवदत्ता—आर्य। ऐसा ही (हो)।

. . . . . .

मृच्छकटिका

चौथी ई० सदी के लगभग मृच्छकटिका नाटक लिखा गया जो परम्परा से राजा शूद्रक के नाम से संयुक्त है पर जो शायद किसी और प्रतिभाशाली लेखक का है। इसके पहिले चार अङ्कों में भास के चारुदत्त का प्रभाव बहुत है। पर लेखक की शक्ति, अनुभव, चरित्रदृष्टि, और भाषाप्रभुत्व सब जगह मौजूद हैं। कई बातों में यह संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इस पुराने ग्रन्थ

मे एक विचित्र अर्वाचीनता है और जीवन की बहुतेरी समस्याओं का अपूर्व विश्लेषण है। पहिले अङ्क में कुछ मौज उड़ानेवाले मित्र बातें कर रहे हैं:—

चारुदत्त—मोहि धन नास सोच कछु नाहीं।
मिलैं भाग सन धन अरु जाहीं॥
एक दुख मोहिं नित्य जरावत।
अब मित्रहु कछु ढील जनावत॥

और भी—धन नसत उपजत लाज तेहि सन तेज सकल नसात है।
बिन तेज परिभव लहत परिभव पाइ मन भरिजात है॥
मन भरे उपजत सोच बुद्धिहु सोच बस सब नसत है।
बिन बुद्धि को छय होत दारिद सकल अनरथ बसत है॥

मैत्रेय—अजी धन के लिये कब तक सोच करोगे?

चारु०—भाई, दरिद्रता भी।

चिन्ता घेरे रहत और से लहै अनादर।
मित्रहु देखि घिनात व्यर्थ ही बैर करत नर॥
सगे पराये होत करत आदर नहि नारी।
सोचत ही दिन बितत रहै नर सदा दुखारी॥

मैत्रेय, हमने कुल देवताओं को बलि देदी, अब तुम जाके चौराहे पर बलि दे आओ।

मैत्रेय—हम तो न जायंगे।

चारु०—क्यों?

मैत्रेय—अजी, पूजा करने से देवता तुम पर प्रसन्न नहीं होते तो क्यों पूजा करते हो?

चारु०—भाई, ऐसा न कहो, यह तो, गृहस्थ का धर्म है।

तन मन बच बलि कर्म सों पूजै सुर संसार।
होत प्रसन्न मनुष्य पर यहि में कौन विचार॥

तो जाओ देवियों को बलि चढ़ा आओ।

मैत्रेय—हम न जायंगे और किसी को भेज दीजिये। हम तो ब्राह्मण हैं, हम से सब उलटे का पुलटा हो जाता है, जैसे दर्पनी में परछाईं दहिने का बायां और बायें का दहिना . . . रात की बेर सड़क पर रंडी, बदमार, राजा के लग्गू भग्गू सब घूमते फिरते हैं, उनके बीच में जो कहीं पड़े तो मेढ़क के धोखे सांप के मुंह में मूसे की दशा हमारी हो जायगी[1]। . . . . .

दो एक शब्द जीवनोपयोगी शास्त्रों पर कहना यहां अनुचित न होगा।

आयुर्वेद का इतिहास वैदिक काल से प्रारंभ होता है। वैद्यशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग समझा जाता है। पतञ्जलि ने अङ्ग, इतिहास, पुराण और वाकोवाक्य के साथ साथ वैद्यक का ज़िक्र किया है।

आयुर्वेद

शायद पहिले वैद्यक पर तन्त्र या निबंध लिखे गये होंगे पर १-२ ई० सदी से संहिता रचने की परिपाटी शुरू हुई। चरक ने अपनी बड़ी संहिता लिखी जिसमें सारे वैद्यकशास्त्र का समावेश है और आयुर्वेद को धर्म और तत्त्वज्ञान से जोड़ने का प्रयत्न किया है। चरक का नाम हिन्दुस्तान के बाहर मध्य एशिया और पूर्वी एशिया में भी फैला। पश्चिम एशिया के साहित्य में भी चरक का नाम आया है।

चरक

चरक के कुछ दिन पीछे सुश्रुत ने दूसरी बड़ी संहिता लिखी। इन के अलावा मेल संहिता, अष्टांग संग्रह, रुग्विनिश्चय इत्यादि बहुत से ग्रन्थ बने जिन का सिलसिला अब तक जारी है और जो बड़ी संहिताओं की तरह इधर उधर संस्कृत पाठशालाओं में पढ़ाये जाते हैं।

सुश्रुत और अन्य ग्रन्थ

---

1. अनुवादक-लाला सीताराम।

कला

मौर्यकाल के बाद हिन्दुस्तानी कला में चारो ओर बहुत उन्नति हुई। मंदिर और मूर्ति बनाने की प्रथा बौद्धों और जैनो से ब्राह्मणो ने भी सीखी। जान पड़ता है कि ईस्वी सन् के कुछ पहिले से ही ब्राह्मण भी मंदिर बनवा कर मूर्तियां स्थापित करने लगे। कुछ भी हो, ईस्वी सन् के लगभग प्रारंभ समय का एक शैव मंदिर युक्त प्रान्त के बरेली ज़िले में रामनगर अर्थात् प्राचीन अहिक्षेत्र में है। इसमें ईंट और पक्की मिट्टी पर शिव के जीवन के चित्र अंकित थे।

ब्राह्मण मंदिर

उड़ीसा में पुरी ज़िले में खण्डगिरि, उदयगिरि और नीलगिरि पहाड़ियों पर भिन्न भिन्न समयों पर बहुत सी गुफाएं जैनियों ने बनाईं। यहां के जैनी पार्श्वनाथ तीर्थंकर की पूजा विशेष रूप से करते थे। पहाड़ों की चट्टान काट कर गुफ़ा बनाने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुत प्रचलित थी। इसमें हिन्दुओं का अपूर्व कौशल था। कुछ पुरानी गुफ़ाएं ई० पू० दूसरी सदी की हैं। रानीगुम्फा में पार्श्वनाथ का एक जलूस पत्थर में अंकित है पर कला बहुत ऊंचे दर्जे की नहीं है। उदयगिरि की जय विजय गुफ़ा में ६ फ़ीट ऊंची एक स्त्रीमूर्ति है जो शायद ई० पू० दूसरी सदी की है। यह स्त्री दाहिने पैर ज़ोर दिये खड़ी है, बांया पैर पीछे करके झुका लिया है; सिर्फ़ उसका अंगूठा ज़मीन को छू रहा है। सिर पर ऊंची टोपी है, कमर के नीचे जांघिया है, बाक़ी बदन खुला हुआ है। मूर्ति का आकार बिगड़ गया है पर इस समय भी प्रसादगुण स्पष्ट दिखाई देता है। मूर्ति की स्वाभाविकता बड़ी चित्ताकर्षक है।

मौर्यकाल के बाद मूर्तिकला

जैन गुफ़ा

मथुरा अजायबख़ाने में ई० पू० पहिली सदी के, महोली गाँव के पास के, एक जैन स्तूप के अवशेष हैं। यह स्तूप लोनसोभिका नामक एक गणिका ने महावीरस्वामी की पूजा के लिये बनवाया था। यह बौद्ध स्तूपों से बिल्कुल मिलता जुलता है। मूर्तियां और नक़्क़ाशी वैसी ही हैं। यक्षियों की भी नंगी मूर्तियां हैं। सारनाथ के नीचे से सैकड़ों मूर्तियां निकली हैं जो ई० पू० चौथी सदी से लेकर बारहवीं ईस्वी सदी तक में बनाई गई थीं। सारनाथ की शैली मथुरा की शैली से मिलती जुलती है; प्रसादगुण से संयुक्त है।

जैन स्तूप

हिन्दू कला के इतिहास में मूर्तिकला का स्थान बहुत ऊंचा है; जैसे हिन्दू साहित्य में नाटक है वैसे ही हिन्दू कला में मूर्ति। इसमें भी मौर्यकाल के बाद बहुत उन्नति हुई। प्रदेशों के अनुसार इस कला की चार शैलियां थीं—गांधार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। गांधार शैली पर जो उत्तर—पच्छिम प्रान्तों में प्रचलित थी ग्रीक शैली का बहुत प्रभाव पड़ा। इस मिश्रित हिन्दू-ग्रीक शैली ने पूर्वी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की कला पर बहुत प्रभाव डाला। जब तक बौद्ध धर्म की प्रधानता रही तब तक कला का प्रयोग प्रायः बौद्ध स्तूप चैत्यालय और मूर्तियों में होता रहा जिनके बहुतेरे अवशेष अब तक उन्हीं स्थानों पर या हिन्दुस्तान और यूरुप के अजायबख़ानों में मौजूद हैं। जहाँ जैन धर्म का प्रचार था वहां जैन मंदिर और मूर्तियों में कला की छटा प्रकट हुई। पर याद रखना चाहिये कि बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों की शैलियां एक सी ही थीं। दूसरे, धार्मिक मूर्तियों के अलावा पेड़, पौधे, नदी, तालाब, जानवर, और साधारण मनुष्यों की मूर्तियां भी सब लोग

मूर्तिकला

शैली और विषय

बनाते थे। बौद्ध प्रधानता के समय की मूर्तियों में और आगामी काल की मूर्तियों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर अवश्य है। बौद्ध काल की मूर्तियों में बड़ी स्वाभाविकता है; प्राकृतिक वस्तुओं का जानवरों का, स्त्री पुरुषों का चित्रण जैसे का तैसा है। पर ब्राह्मण धर्म के ज़ोर पकड़ने पर स्वाभाविकता कम होगई; प्रकृति का अनुसरण घट गया; भाव प्रदर्शन करने का ही उत्साह रह गया: इस लिये पिछले समय की मूर्तियों मे आभ्यन्तरिक अवस्था बताने के प्रयोजन से प्राकृतिक आकार का विरूप कर दिया गया है।

गांधार मूर्तिकला

गांधार मूर्तिकला के हज़ारों नमूने उत्तर—पच्छिम प्रान्त और वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान से जमा हो चुके हैं। यह कई सदियों के हैं। सब से अच्छे नमूने ई० ५०—१५० के अर्थात् राजा कनिष्क के युग के हैं। सब नमूने बौद्ध रचना के हैं और ज़्यादातर नीली चिकनी स्लेट के बने हैं जिसपर अजन्ता इत्यादि की तरह महीन प्लास्टर कर दिया है और कई तरह के रंग निकाले हैं। सिर ज़्यादातर छोटे हैं; एक ही तरह के है, छः इञ्च से आठ इञ्च तक ऊंचे हैं और मिट्टी के शरीर पर हैं। यह सिर गौतमबुद्ध, बोधिसत्त्व या बुद्ध होने वाले महापुरुषों के हैं। गांधार कला में बुद्ध सर्वव्यापी है। इमारतों के जो अंश बचे हैं उनपर तरह २ की मूर्तियां हैं। यहाँ पत्थर में हिन्दू जनता का सारा जीवन अंकित है—औज़ार, हथियार, बर्तन, चौकी, जानवर, मकान, रास्ता, बाग़, तालाब सब कुछ बनाया गया है। सब जगह स्वाभाविकता है। गांधार की पहिली मूर्तियों में बुद्ध के लम्बे बाल और मूंछें हैं पर पीछे यह चाल नहीं रही। सीकरी के संघाराम के ध्वंस से १८८६ ई० में एक मूर्ति तपस्वी दुर्बल बुद्ध की निकली थी पर यह प्रथा भी बहुत प्रचलित न रही। ज़्यादातर बुद्ध का शरीर

स्वाभाविक परिमाण में और शान्त विरक्त रूप में ही दिखाया है।

हिन्दू चित्रकला
ई० पू० दूसरी सदी

रामायण और महाभारत से सिद्ध है कि चित्रकारी हिन्दुस्तान में बहुत पुराने समय से प्रचलित थी। ई० पू० दूसरी सदी से हिन्दुस्तानी चित्रकला के उदाहरण अब तक मिलते हैं। वर्तमान मध्य-प्रदेश में सुरगुजा रियासत में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगिमारा गुफ़ा में ई० पू० दूसरी सदी के कई चित्र हैं जो दीवार पर खिंचे हैं। एक चित्र में पेड़ के नीचे एक पुरुष बैठा है, बाईं ओर गणिका और गाने वाले हैं, दाहिनी ओर एक जुलूस है जिसमें एक हाथी भी है। एक दूसरे चित्र में फूल, घोड़े और कपड़े पहिने हुये आदमी दिखाये हैं। अन्यत्र एक नंगा पुरुष बैठा है, पास तीन आदमी कपड़े पहिने हुये खड़े हैं, दो और आदमी बैठे हैं और एक किनारे पर तीन और हैं। यह चित्र सफ़ेद ज़मीन पर लाल या कभी २ काले खिंचे हैं; कपड़े सफ़ेद हैं पर किनारी लाल है, बाल काले हैं, आंखें सफ़ेद हैं। यह चित्र शायद जैन या बौद्ध हों पर यह भी सम्भव है कि किसी धर्म से इनका कोई सम्बन्ध न हो, आनन्द प्रमोद के लिये ही बनाए गये हों। यह चित्र बुरे नहीं हैं पर अभी भावों का प्रदर्शन ऊंचे दर्जे का नहीं हुआ है।

व्यापार और उपनिवेश

विदेशी व्यापार

हिन्दुस्तान की सभ्यता पर दूसरे देशों का प्रभाव बहुत कम पड़ा था पर पुराने समय में हिन्दुस्तान का सम्पर्क बराबर दूसरे देशों से था और उसने पूरबी और पच्छिमी देशों पर प्रभाव भी बहुत डाला। हिन्दुस्तान से जल और थल से दूसरे देशों के साथ व्यापार बहुत पुराने समय में ही शुरू हो गया था। ई० पू० नवीं आठवीं

सदी में इराक़, अरब, फ़िनिशिया और मिस्र से बराबर व्यापार होता था। धीरे २ यह व्यापार और भी बढ़ा। ई० पू० पाँचवीं सदी के लगभग बहुत सी व्यापारी वस्तुओं के संस्कृत या तामिल नाम इन दूर देशों में अपभ्रंश रूप में प्रचलित हो गये। पच्छिम में हिन्दुस्तानी मल्लाह जर्मनी और इंग्लिस्तान के बीच उत्तर समुद्र तक पहुँचे। पहिली ईस्वी सदी में अफ़्रीक़ा के किनारे एक टापू में हिन्दुओं ने अपना उपनिवेश बनाया था। पच्छिमी देशों में हिन्दुस्तान से मसाले, गंध, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दांत, कछुये की पीठ, मिट्टी के बरतन, मोती, हीरा, जवाहिर, चमड़ा, दवा वग़ैरह जाते थे। उन देशों से हिन्दुस्तान में कपड़ा, दवा, शीशे के बरतन, सोना, चांदी, तांबा, टीन, सीसा, और जवाहिरात आते थे। पहिली ईस्वी सदी का रोमन लेखक प्लिनी कहता है कि इस व्यापार से हिन्दुस्तान को बहुत फ़ायदा होता था और रोमन साम्राज्य की बहुत सी दौलत हर साल हिन्दुस्तान चली जाती थी[1]। इस समय के ग्रीक और रोमन लेखकों से स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के तट पर बड़े अच्छे २ बन्दरगाह थे और उनमें बहुत से जहाज़ आते जाते थे। तामिल साहित्य से पता लगता है कि चोल प्रदेश में कावेरीपट्टम्, तोंडी और पुहार समुद्री व्यापार के बड़े केन्द्र थे। दूसरी ओर पूरब के देशों से भी बहुत व्यापार होता था। बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाहों से जहाज़ पूर्वी द्वीपसमूह और चीन आया जाया करते थे। पांचवीं सदी में चीनी यात्री

पच्छिम से

पूरब से

---

१. हिन्दुस्तान के पुराने समुद्री व्यापार के लिये देखिये रालिंसन, इन्टरकोर्स बिट्वीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड। शौफ़, पेरिप्लस ग्राफ़ दि एरिथ्रियिन सी। राधाकुमुद मुकर्जी, इण्डियन शिपिङ्ग एण्ड मैरिटाइम ऐक्टिविटी॥

फाहियन हिन्दुस्तानी जहाज़ में बैठ कर चीन से आया था और फिर हिन्दुस्तानी जहाज़ में ही बैठ कर लौटा था। हाल में पूर्वी बोर्नियो में चार यूप लेख मिले हैं जिनमें ब्राह्मण प्रवासियों के यज्ञ और दान का उल्लेख है। इसी तरह जावा के बीच में पहाड़ों पर हिन्दू लेख मिले हैं।

हिन्दुस्तानी उपनिवेश

व्यापार के कारण हिन्दुओं को अपने उपनिवेश बनाने का भी प्रोत्साहन हुआ उन्होंने अपने देश के बाहर बहुत सी बस्तियां क़ायम कीं, मानों दूर दूर तक हिन्दुस्तान के टुकड़े गाड़ दिये। ई० पू० तीसरी सदी के लगभग लंका के टापू में, बर्मा में और उसके भी पूरब स्याम में हिन्दुओं ने अपने उपनिवेश बसाये। पहिली दूसरी ईस्वी सदी के लगभग कम्बोडिया में, दक्खिन अनाम में जिसका नाम चम्पा रक्खा गया; दक्खिन पूरब में जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो के द्वीपों में और मलय प्रायद्वीप में हिन्दू उपनिवेश बसाये गये। इन सब देशों में हिन्दुओं की सभ्यता फैल गई;

हिन्दू सभ्यता का प्रभाव

संस्कृत साहित्य का प्रचार हुआ, हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार चित्रकारी, मूर्तिनिर्माण और भवन निर्माण हुआ, हिन्दू धर्मों के विश्वास माने गये, कहीं कहीं समाज का संगठन भी हिन्दू वर्णव्यवस्था के अनुसार हुआ। कुछ सदियों के बाद हिन्दुस्तान से बहुत कुछ सम्बन्ध टूट जाने से, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन न करने से और दूसरी जातियों और धर्मों का प्रभाव बढ़ जाने से हिन्दू प्रधानता मिट गई। पर हिन्दू सभ्यता के आश्चर्यकारी चिन्ह अब तक मौजूद हैं। स्याम इत्यादि में राज्याभिषेक अब तक हिन्दू रस्मों के अनुसार होता है; ब्राह्मण ग्रन्थों के मंत्र उच्चारण किये जाते हैं; ब्राह्मण अभिषेक करते हैं, वैदिक रीतियों के अनुसार राजा आस

पास के लोगों को सम्बोधन करता है। वाली द्वीप में महाभारत, शुक्रनीति आदि बहुत से संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं। जावा में अब तक ६०० हिन्दू इमारतों के अवशेष विद्यमान हैं। यहां वरबोदूर के मंदिर तो हिन्दू निर्माणकला के सर्वोच्चम उदाहरणों में हैं। वरबोदूर का प्रधान मंदिर संसार के सब से सुन्दर भवनों में गिना जाता है। इसकी कुर्सी ४०० फ़ीट से ज़्यादा है और इसमें सात ऊंचे २ खन हैं। निर्माण की शैली बड़ी सुन्दर है। चारों ओर पत्थर की बहुत सी मूर्तियां नक़्क़ाश की हैं जो, अगर एक क़तार में रक्खी जायं तो ३ मील तक फैल जायं। मूर्तियां उसी तरह की हैं जैसी हिन्दुस्तान में अजन्ता इत्यादि जगहों में। मूर्तियों के द्वारा बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाएं बयान की हैं और इस ख़ूबी से बयान की हैं कि सदा के लिये चित्त पर अङ्कित हो जाती हैं। सब जगह कारीगरी वही है जो अलोरा, नासिक, अजन्ता इत्यादि में दिखाई देती है।

बरबोदूर

कम्बोडिया में अङ्कोरवात का मंदिर हिन्दूकला का एक दूसरा चमत्कार है। यह लगभग एक मील लम्बा और लगभग एक मील चौड़ा है और क्षेत्रफल में भी एक वर्गमील है। एक खंड के बाद दूसरा खंड है जो पहिले खंड से कुछ ऊंचा है और इसी तरह खंड पर खंड चले गये हैं। सीढ़ियों के बाद सीढ़ियां स्तम्भसमूह के बाद स्तम्भसमूह लांघते हुये दर्शक चारो ओर शैली के चातुर्य की और मूर्तिकला की निपुणता की प्रशंसा करता हुआ घंटों तक घूमा करता है। इन सब उपनिवेशों में बहुत से नगरों या प्रान्तों के नाम हिन्दुस्तान से लिये गये थे। दूर देशों में चम्पा

अङ्कोरवात

नगर

और कलिङ्ग थे, द्वारावती और कम्बोज थे, अमरावती और अयोध्या थे[१]। इन देशों के जंगलों में अब भी नई २ हिन्दू इमारतें और मूर्तियाँ निकल रही हैं। इनकी सभ्यता पर अब भी हिन्दू प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हैं।

---

१. हिन्दुस्तान के पूर्वी उपनिवेशों के लिये देखिये र० च० मजूमदार, एन्शेन्ट इण्डियन कालोनीज़ इन दि फ़ार ईस्ट। राधाकुमुद मुकर्जी, हिस्ट्री आफ़ इण्डियन शिपिङ्ग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी। ग्रेटर इण्डिया सुसायटी के ग्रन्थ भी देखिये। कला के लिये हेवेल, इण्डियन आर्किटेक्चर, इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिङ्ग।

ग्यारहवां अध्याय

गुप्त साम्राज और उसके बाद

ई० पू० दूसरी सदी के प्रारंभ में मौर्य साम्राज्य के गिरने पर देश में राजनैतिक विच्छेद हो गया। कुछ बड़े २ राज्य अवश्य बने पर तीसरी ई० सदी तक देश में राजनैतिक एकता न हुई। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि उत्तर-पच्छिम से बहुत से विदेशी समुदाय घुस आये और बहुत बरसों तक देश के अनेक भागों में राज करते रहे। चौथी ई० सदी में संयोजक शक्तियों ने फिर ज़ोर पकड़ा और देशव्यापी साम्राज्य की स्थापना प्रारंभ हुई।

राजनैतिक विच्छेद

पाटलिपुत्र में या कहीं आस पास तीसरी ईस्वी सदी में गुप्त नामक एक राजा राज्य करता था। उसका लड़का था घटोत्कच। घटोत्कच के बाद उसका लड़का चन्द्रगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने ३०८ ई० के लगभग लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से ब्याह किया और जान पड़ता है कि दोनों राज्यों को संयुक्त कर दिया। उसके सिक्कों पर कुमारदेवी का चित्र है और पीछे लिच्छवयः लिखा हुआ है[1]। शक्ति बढ़ जाने पर चन्द्रगुप्त ने तिरहुत, दक्खिन बिहार, अवध और आस पास के प्रदेशों पर भी अपनी सत्ता

चन्द्रगुप्त प्रथम

लिच्छवि ब्याह

---

१. गुप्त वंश के सिक्कों के लिये देखिये एलन, कैटेलोग आफ़ दि कौइन्स आफ़ दि गुप्त डिनैस्टीज़ इत्यादि।

जमाई और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। ३२० ई० में शायद एक महान अभिषेक के बाद उसने एक नया सम्वत् अर्थात् गुप्त संवत् चलाया जिसका प्रयोग कई सदियों तक बहुत से प्रदेशों में होता रहा। चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य से गुप्त साम्राज्य प्रारंभ होता है। ३३० या ३३५ ई० स० में उसके मरने पर उसका लड़का समुद्रगुप्त जो लिच्छवि कुमारदेवी से था गद्दी पर बैठा। समुद्रगुप्त दिग्विजय कर के चक्रवर्ती सम्राट् हुआ।

गुप्त संवत

समुद्रगुप्त

आर्यावर्त में उसने बहुत से राजाओं पर अपनी प्रधानता जमाई और बहुतों के राज बिल्कुल ही छीन लिये। पराजित नौ राजाओं के नाम इलाहाबाद अशोक स्तम्भ पर खुदी हुई कवि हरिषेण की प्रशस्ति में दिये हैं। इनके अलावा और भी बहुतेरे राजाओं को समुद्रगुप्त ने जीता था। जङ्गली जातियों पर भी उसने सत्ता जमाई थी और सीमा प्रान्त के जातिनायकों को भी वस में किया था। पंजाब की ओर अनेक गण राज्य या प्रजातन्त्र राज्य बन गये थे; उनके पास बड़ी २ सेनायें थीं; उनके निवासी बहुत युद्धप्रिय थे; वह ई० पू० चौथी सदी के उन प्रजातन्त्रों की याद दिलाते हैं जिन्होंने बड़ी वीरता से सिकन्दर का सामना किया था। इन सबको जीत कर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में मिला लिया। उत्तर के और राज्यों को भी जीतने के बाद समुद्रगुप्त ने दक्खिन में प्रवेश किया और शासकों पर अपनी सत्ता जमाता हुआ समुद्र तट तक जा पहुँचा। लौटते हुये उसने

दिग्विजय

प्रजातन्त्र

दक्खिन

पच्छिम की ओर महाराष्ट्र पर भी प्रभुता स्थापित कर दी। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु की ओट में शायद समुद्रगुप्त के दिग्विजय का ही वर्णन किया है। कोई ३५० ई० के लगभग समुद्रगुप्त ने यह दिग्विजय समाप्त कर दी थी। गुजरात, मालवा, काठियावाड़ इत्यादि कुछ प्रदेशों को छोड़ कर लगभग सारादेश उसकी प्रधानता मानता था; पर सब जगह उसका शासन प्रचलित नहीं था। अधीन राजा महाराजा दक्खिन में, महाराष्ट्र में, आसाम में, उड़ीसा में, और उत्तर के कुछ अन्य भागों में शासन करते रहे। शेष प्रदेशों पर स्वयं समुद्रगुप्त शासन करता था।

अधीन राजा

दिग्विजय के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया जो शायद उत्तर भारत में पुष्यमित्र के बाद किसी ने न किया था। इस यज्ञ में धूम धाम की कोई सीमा न थी। न जाने कितने लाख ब्राह्मणों का भोज हुआ, न जाने कितने लाख सिक्के उनको दान में दिये गये। अश्वमेध के स्मारक में बहुत से सिक्के ढाले गये जो अब तक मिलते हैं। लखनऊ अजायबघर में जो घोड़े की मूर्ति रक्खी है वह इस यज्ञ के घोड़े की जान पड़ती है। अश्वमेध से प्रकट है कि गुप्तवंश के राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे—यद्यपि इनके क्षत्रिय होने का कोई प्रमाण अब तक नही मिला है। किसी भी वर्ण के रहे हों, वह ब्राह्मणों की आवभगत करते थे, ब्राह्मण धर्म को बहुत सहारा देते थे। पर धार्मिक नीति में हिन्दू परम्परा के अनुसार वह सहनशील अवश्य थे। लंका के बौद्ध राजा सिरिमेघवन्न अर्थात् श्रीमेघवर्ण को बौद्ध यात्रियों के लिये गया में बोधिवृक्ष के पास एक मठ बनवाने की इजाज़त समुद्रगुप्त ने बड़ी प्रसन्नता से दी। यह मठ उन बौद्ध मठों का अच्छा उदाहरण है जो राजा, महाराजा और सेठ साहूकार बहुतायत

अश्वमेध

बौद्ध मठ

से बनवाया करते थे। इसके चारो ओर तीस चालीस फ़ीट ऊंची मज़बूत दीवार थी। इसके तीन खन थे, और तीन बुर्ज थे। बहुत बड़े बड़े छः कमरे थे और छोटे कमरे तो बहुत ज़्यादा थे। कला के सौन्दर्य की सीमा न थी। चारो ओर मूर्तियां थीं, चित्र थे, जो हृदय को सहज ही वस में कर लेते थे। गौतमबुद्ध की एक मूर्ति तो सोने चांदी की थी और मणियों से जड़ी थी। इस बड़ी इमारत के आस पास बहुत से स्तूप थे जो बुद्ध की अस्थियों के भागों को रखने के लिये बनाये गये थे। यह मठ कई सदियों तक बना रहा। जब सातवीं ई० सदी में चीनी यात्री युआनच्वांग यहां आया तब मठ में बौद्ध महायान पंथ के स्थविर सम्प्रदाय के एक हज़ार भिक्षु रहते थे। लंका से आने वाले यात्रियों का आतिथ्य स्वभावतः यहां बहुत होता था और उनको सब तरह की सुविधाएं मिलती थीं।

राजधानी

जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त के समय में राजधानी पाटलिपुत्र से उठ कर अयोध्या में आ गई थी। अयोध्या अधिक केन्द्रिक है और साम्राज्य की राजधानी होने के अधिक उपयुक्त है। गुप्तकाल में यह बहुत बड़ा नगर था। पाटलिपुत्र का महत्त्व कम हो गया पर छठवीं ई० सदी तक वह भी महा नगर रहा। कौशाम्बी भी बड़ा नगर था। उसकी स्थिति का पता हाल में ही इलाहाबाद ज़िले में लगा है।

विद्या की उन्नति

हिन्दू परम्परा के अनुसार समुद्रगुप्त भी विद्वानों का बड़ा आदर करता था और शिक्षा और साहित्य की उन्नति के लिये प्रयत्न करता था। हरिषेण जो उसके दर्बार का एक कवि था इलाहाबाद प्रशस्ति में लिखता है कि महाराजाधिराज बड़े भारी कवि थे और गाने बजाने में भी बहुत निपुण थे। यों तो दर्बारी कवि राजाओं की प्रशंसा में सब कुछ कह जाते हैं पर हरिषेण के यह कथन सच

मालूम होते हैं। कई सोने के सिक्के मिले हैं जिनपर सम्राट् की मूर्ति सितार बजा रही है। सम्राट् के इस उदाहरण से गाने बजाने की विद्या को बड़ा प्रोत्साहन मिलता होगा, और उसके आचार्य फूले न समाते होंगे। दर्बार में बहुत से गवैये थे; राज्य की सहायता से उन्होंने अपनी कला की उन्नति अवश्य की होगी। हरिषेण यह भी कहता है कि सम्राट् विद्वानों की सङ्गति को बहुत पसन्द करते थे, उनको बहुत सहायता देते थे और उनके साथ शास्त्र इत्यादि की विवेचना करते थे, काव्य पर वार्तालाप करते थे। सारे दर्बार में कविता की चर्चा बहुत थी। इससे साहित्य की प्रगति में बहुत सुविधा होती होगी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

चालीस पैंतालीस बरस राज करने के बाद, ३७५ ई० के लगभग समुद्रगुप्त का देहान्त हो गया और युवराज गद्दी पर बैठा। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध है और उसने विक्रमादित्य की पदवी भी धारण की। उसने मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र अर्थात् वर्तमान काठियावाड़ को भी जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके राज्य में संस्कृत साहित्य ने और भी अधिक उन्नति की।

कुमारगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ४१३ ई० तक राज्य किया। उसके बाद उसका लड़का गद्दी पर बैठा जो कुमारगुप्त प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त की तरह उसने भी एक बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया। कुमारगुप्त प्रथम ने ४५५ ई० तक राज्य किया और साम्राज्य को घटने न दिया पर राज्य के अन्तिम काल में देश को पुष्यमित्र नामक एक जाति के युद्धों से और हूणों के आक्रमणों से बड़ी क्षति पहुँची।

पुष्यमित्र जाति

पुष्यमित्र जाति का ठीक ठीक पता न तो पुराणों से और न शिलालेखों या ताम्रपत्रों से लगता है। पर यह सिद्ध है कि ४५०

ई० के लगभग उन्होंने गुप्त साम्राज्य से युद्ध छेड़ा और कुमारगुप्त की सेना को हरा दिया। तब युवराज स्कन्दगुप्त ने खेत लिया और बड़े कौशल और परिश्रम से पुष्यमित्रों को दूर भगाया। इसी बीच में मध्यएशिया से हूणों के झुंड के झुंड निकल पड़े। यह यूरुप की ओर गये और उत्तर पच्छिमी दर्रों में होकर हिन्दुस्तान में आ धमके। यूरुप और एशिया भर में इन्होंने हल चल मचा दी, जातियों को इधर से उधर ढकेल दिया, और अनेक देशों को बहुत दिन के लिये नष्ट कर दिया। अगर हिन्दुस्तान में इस समय राजनैतिक एकता, न होती तो यह असभ्य हूण शायद हिन्दुस्तान को तहस नहस कर देते और हमारे इतिहास का सारा क्रम बदल देते। पर गुप्तसाम्राज्य की संयुक्त शक्ति ने उनका सामना किया और तीव्र संग्रामों के बाद उनको पीछे हटा दिया।

हूण

४५५ ई० में कुमारगुप्त प्रथम के देहान्त पर युवराज स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। हूणों ने फिर हमले किये पर फिर हारे। तथापि यह आक्रमण सातवीं सदी तक बन्द न हुये। ४६५ ई० के लगभग हूण फिर पंजाब में घुस आये। स्कन्दगुप्त ने फिर मुक़ाबिला किया पर जान पड़ता है कि इस बार वह हार गया। ४६७ ई० के लगभग स्कन्दगुप्त का देहान्त हुआ और गुप्त साम्राज्य टूट गया। हूणों से उसने हिन्दुस्तान को बहुत कुछ बचा लिया था पर युद्धों से उसकी शक्ति जर्जर हो गई थी। स्कन्दगुप्त के बाद कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी न मिलने से साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गये। सातवीं सदी के प्रारंभ तक विभाजक शक्तियों की प्रधानता रही।

स्कन्दगुप्त

साम्राज्य का अन्त

इस प्रकार गुप्त साम्राज्य कोई डेढ़ सौ बरस तक अर्थात् लगभग ३२० ई० से लगभग ४६७ ई० तक स्थिर रहा। हिन्दू सभ्यता के विकास में इसका केन्द्रिक स्थान है। हिन्दू राजनैतिक संगठन की अनोखी प्रवृत्तियाँ इस समय पराकाष्ठा पर पहुँची और आगामी समयों का शासन गुप्त साम्राज्य के ढांचे पर ही चलता रहा। संस्कृत साहित्य का यह सुवर्ण युग है और आगामी काव्य वास्तव में गुप्त काव्य की कोरी नक़ल है। गणित, ज्योतिष् आदि ने भी गुप्तकाल में आश्चर्यजनक विकास पाया। इस समय ब्राह्मण धर्म ने और भी सिर उठाया और वह रूप धारण किया जो कुछ परिवर्तनों के बाद आज तक मौजूद है। अवतार, भक्ति, मूर्तिपूजा, शिव, पार्वती, विष्णु आदि की आराधना—इन सब सिद्धान्तों ने गुप्तकाल में ज़ोर पकड़ा। नये ब्राह्मण धर्म के अनुसार पुराणों का नया संस्करण हुआ।

गुप्त काल का स्थान

गुप्तकाल के धर्म, साहित्य और विज्ञान का विकास साम्राज्य के बाद भी होता रहा और राजनैतिक संगठन के सिद्धान्त भी वही बने रहे पर राजनैतिक इतिहास की धारा बिल्कुल पलट गई। बहुत से छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हुये और हूणों ने ज़ोर पकड़ा।

गुप्त साम्राज्य के बाद

मगध में गुप्तवंश बहुत दिन तक सिंहासन पर बना रहा। स्कन्दगुप्त के बाद उसका भाई पुरगुप्त गद्दी पर बैठा। पुरगुप्त का उत्तराधिकारी हुआ उसका लड़का नरसिंहगुप्त बालादित्य जो बौद्ध धर्म का समर्थक था और जिसने नालन्द का मठ और विद्यालय बनवाया। इन इमारतों का पूरा वर्णन सातवीं सदी मे युआन च्वांग ने किया है। पर धर्म और शिक्षा के अलावा समरभूमि में भी बालादित्य

मगध

बालादित्य

ने नाम किया। ४७० ई० के लगभग हूणों के झुंड फिर आगे बढ़े पर बालादित्य ने उनको पीछे हटा दिया। ४७३ ई० के लगभग बालादित्य का देहान्त होने पर उसका लड़का कुमारगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा पर शायद उसने बहुत थोड़े दिन राज्य किया। उसके बाद लगभग ५०० ई० तक बुद्धगुप्त ने मगध पर राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी एक शताब्दी तक और राज करते रहे पर उनके शासन का क्षेत्र और भी संकुचित हो गया था।

अन्य राजा

गुप्त साम्राज्य के अन्य प्रदेशों में दूसरे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। सुराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ के पूरब में एक प्रभावशाली राज्य बना जिसकी राजधानी वलभी में थी। वलभी के राजाओं ने धीरे २ अपनी प्रभुता बहुत दूर तक फैलाई। विदेशी लेखकों में इसका उल्लेख अनेक बार आया है। सातवीं सदी के बीच में युआन च्वांग ने और अन्त में इत्सिंग ने वलभी के ऐश्वर्य और विद्यापीठों की प्रशंसा की है। जान पड़ता है कि यहां भी एक बड़ा विश्वविद्यालय था जिसकी कीर्ति सारे देश में फैली हुई थी और जिसमें सैकड़ों अध्यापक और हज़ारों विद्यार्थी थे। आठवी सदी में अरब लेखकों ने वलभीराय को बल्हरा नाम से पुकारा है और कहा है कि वह बहुत से राजाओं का अधिराज था। आठवीं सदी में वलभी राज्य, शायद अरबों के आक्रमण से, नष्ट हो गया।

वलभी

दक्खिन के सब राज्य तो गुप्त साम्राज्य का ह्रास होते ही स्वतंत्र हो गये थे। मध्यहिन्द में भी ऐसा ही हुआ। यहां छठवीं ई० सदी में यशोधर्मन् नामक एक राजा ने एक तेजस्वी राज्य की स्थापना की। शिलालेखों में उसने चक्रवर्ती महाराज होने का दावा किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने हूणों को भगाने में

यशोधर्मन्

बड़ा भाग लिया। पाँचवी सदी के अन्त में हूणों ने फिर धावा मारा। इस समय उनका नेता था तोरमाण जो निस्संदेह बड़ा साहसी और योग्य सेनापति था। उसने बहुत से प्रदेश जीत लिये और ५०० ई० के लगभग मालवा में अपना राज्य स्थापित किया और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। जान पड़ता है कि तोर-माण ने पंजाब से लेकर मालवा तक सब राजाओं को बस में कर लिया था या उखाड़ कर फेंक दिया था। ५०२ ई० के लगभग उसका देहान्त होने पर उसका लड़का मिहिरगुल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। मिहिरगुल की राजधानी उत्तर पंजाब में साकल अर्थात् सियालकोट में थी। कल्हण की राजतरंगिणी से और युआन च्वांग के वर्णन से सिद्ध होता है कि मिहिरगुल अन्याय और अत्याचार की मूर्ति था। उसके बुरे शासन से तंग आकर यशोधर्मन् और दूसरे राजाओं ने एक संघ बना कर युद्ध छेड़ा। ५२८ ई० के लगभग घमासान लड़ाई हुई और मिहिर-गुल हार कर पच्छिम की ओर भाग गया। पर छल बल से उसने कश्मीर और गांधार पर राज्य जमा लिया। ५४२ ई० के लगभग उसका देहान्त हुआ। उसके बाद हूणों का सितारा डूब गया। मध्यएशिया में तुर्कों ने हूणों की शक्ति मिटा दी; हिन्दुस्तान में मिहिरगुल के बाद उनकी रही सही प्रभुता भी समाप्त हो गई। जो हूण यहां बस गये थे वह हिन्दू हो गये; उन्होंने अपनी अलग अलग जातियां बना ली और साधारण हिन्दू जनता की तरह रहने लगे। पर अपने प्राबल्य के समय में हूणों ने बहुत से राज ध्वंस कर दिये थे, जनता को बहुत क्लेश पहुँचाया था और बौद्ध धर्म

तोरमाण

मिहिरगुल

हूणों की पराजय

को एक गहरी चोट दी थी। बौद्ध मठ ही धर्म के केन्द्र थे, बौद्ध साहित्य, शिक्षा और पूजा पाठ के मुख्य स्थान थे। हूणों ने इतने मठ नष्ट किये कि बौद्धधर्म की क्षति फिर कभी पूरी न हुई।

यशोधर्मन् के वंश का आगामी इतिहास नहीं मिलता। सच यह है कि छठवीं सदी के उत्तर भाग के बारे में बहुत कम पता लगा है। हूणों के आक्रमणों से राजनैतिक एकता न पैदा हुई; छठवी सदी में बराबर विभाजक शक्तियो का प्राबल्य रहा। सातवीं सदी में संयोजक शक्तियों ने सिर उठाया और उत्तर में वर्द्धन साम्राज्य की और दक्खिन में पुलकेशिन् के साम्राज्य की सृष्टि हुई[1]।

छठवीं सदी का उत्तर भाग

चौथी ईस्वी सदी से छठवी ईस्वी सदी तक का यह राजनैतिक इतिहास सामग्री की कमी के कारण अब तक अधूरा है। अगर भविष्य में कोई अन्य शिलालेख या ताम्रपत्र लेख मिलें तो शायद कुछ और बातें मालूम होंगी। पर वर्तमान सामग्री के आधार पर ही इस काल की सभ्यता के बारे मे बहुत सी बातें मालूम होती हैं। शासन व्यवस्था का चित्र शिलालेख, ताम्रपत्र, धार्मिक और साधारण साहित्य, एवं विदेशी लेखों के आधार पर खींचा जा सकता है।

चौथी-छठवीं सदी की सभ्यता

---

१. चौथी ईस्वी सदी से छठवीं ईस्वी सदी तक के राजनैतिक इतिहास के लिये देखिये फ्लीट, कोर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इन्डिकेरम् भाग ३। इसमें शिलालेख और ताम्रपत्र लेख है। सुसम्बद्ध राजनैतिक इतिहास विनसेंट ए स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण) पृ० २९५-३४१ में है। कल्हण, राजतरंगिणी और युआन च्वांग, यात्रा, में कुछ बाते हैं। इंडियन एंटिक्वेरी और जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी आदि पत्रिकाओं में बहुत से लेख हैं।

शासन

गुप्तसाम्राज्य के शासन के बारे में चीनी यात्री फ़ाहियान (४०५-४११ ई०) जो बौद्ध तीर्थों के दर्शन और बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह करने आया था, कहता है कि देश का शासन बहुत अच्छा था; शान्ति थी; जान माल की रक्षा बहुत अच्छी तरह होती थी, सरकार लोगों के जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करती थी। ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होने पर भी गुप्त सम्राट् बौद्ध मठों को बहुत सी ज़मीन देते थे और किसी सम्प्रदाय को क्षति नहीं पहुँचाते थे। देश में माँस या शराब की प्रवृत्ति नहीं थी; बहुत से मुफ़्ती अस्पताल थे। पाटलिपुत्र के अस्पतालों में बहुत से लंगड़े, बीमार और ग़रीब आदमी थे जिनको दवा खाना पीना और आराम की चीज़ें मुफ़्त दी जाती थीं। फ़ाहियान कहता है कि प्राणदण्ड कभी किसी को नहीं दिया जाता था। शायद यह कथन अक्षरशः सत्य नहीं है पर यह ठीक मालूम होता है कि प्राणदण्ड बहुत कम था। डकैती या बलवे के जुर्म में हाथ काट लिया जाता था। ज़्यादातर सज़ा जुर्माने की होती थी। राज का ख़र्च ज़्यादातर राज की ज़मीन से चलता था[1]।

शासन

शासकों की पदवियाँ और सम्बन्ध

गुप्त समय के बहुत से शिलालेखों और ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि ज़मीन्दारी संत्रशासन प्रथा अब पराकाष्ठा को पहुँच गई। इस समय से ले कर बारहवीं ई० सदी तक प्रत्येक सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहलाता था। कभी २ सम्राट्, एकाधिराज, राजाधिराज, चक्रवर्ती और परमदैवत—यह पदवियां भी लिखी जाती थीं। सम्राज्ञी महादेवी कहलाती थी और

---

१ फ़ाहियान (अनु० जाइल्स) अध्याय २७ । २६-२७ ॥

बड़ा लड़का कुमार भट्टारक या युवराज। सम्राट् का आधिपत्य मानने वाले बड़े राजा महासामन्त या महाराज कहलाते थे और छोटे केवल सामन्त या राजा। महासामन्तों और महाराजाओं के भी अधीन बहुत से राजा थे जो सामन्त, राजा या नृपति कहलाते थे। यह सब शासक घरेलू मामलों में बहुधा स्वतंत्र थे पर इनको अपने से ऊपर के महाराजा या महाराजाधिराज की सहायता करनी पड़ती थी और बाहर के सब मामलों में उनकी आज्ञा माननी पड़ती थी; वह बहुधा उनके दरबारों में और सेना में जाते थे और कभी २ उनके शासन में ऊंची नौकरी भी कर लेते थे। यह सब सम्बन्ध शिलालेखों और ताम्रपत्रों में पादानुध्यात शब्द से प्रगट किये हैं[१]। साम्राज्य के मुख्य अधिकारियों में थे सेनापति या महासेनापति, बलाध्यक्ष या

अधिकारी

बलाधिकृत, महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत, भटाश्वपति (घोड़े और पैदलों के सर्दार), कटुक (हाथियों के सर्दार), रणभाण्डागाराधिकरण (सैनिक द्रव्य के ख़ज़ाञ्ची), संधिविग्रहिक या महासंधिविग्रहिक, संधिविग्रहिन्, संधिविग्रहाधिकृत या संधिविग्रहाधिकरणाधिकृत (एक तरह का परराष्ट्रसचिव), चमू (एक फ़ौजी अफ़सर) न्याय करने के लिये थे दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक, महासर्वदण्डनायक, दण्डाधिप, दण्डनाथ, दण्डाभिनाथ, दण्डाधिपति, दण्डेश या दण्डेश्वर। दण्डपाशाधिकरण पुलिस का अफ़सर मालूम होता है। दूत, दूतक या आज्ञादापक सम्राट् के शासन को अधिकारियों या प्रजा तक पहुँचाता था। बड़े महकमों की निगरानी सर्वाध्यक्ष करते थे। इन राजनैतिक अधिकारियों के

---

१ फ़्लीट, पूर्ववत् लगभग सब ही नं० देखिये। ई० आई १० नं० २, १२, १३ ॥ १५ नं० ४ आई० ए० १२ ॥ पृ० २४९ ॥ ३ पृ० २६ ॥ ९ पृ० १६८, १७२ ॥ १० पृ० १०३, १८९ ॥ ११ पृ० १२५ ॥ १४ पृ० ९८ ॥

अलावा महल और दर्बार में कुछ अन्य अफ़सर भी थे। प्रती- हार या महाप्रतीहार महल की रखवाली करता था, विनयासुर मुलाक़ातियों को सम्राट् के पास लेजाता था, स्थपालिसम्राट् शायद नौकरों की देख रेख करता था और प्रतिनर्तक शायद भाट था।

प्रादेशिक शासन

साम्राज्य कई सूबों में वटा हुआ था जो भुक्ति कहलाते थे और जिनके शासक भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक महाराज या राजस्थानीय नाम से प्रसिद्ध थे। कभी कभी राजकुमार इस पद पर नियुक्त किये जाते थे और उनकी सहायता के लिये कुमारा- मात्य या महाकुमारामात्य रहते थे। भुक्ति शासन के दफ़्तरों में और बहुत से कर्मचारी थे जैसे तन्नियुक्तक और उपरिक।

भुक्ति

प्रत्येक भुक्ति में बहुत से ज़िले थे जिनको विषय या कभी कभी आहार कहते थे, जिनका मुख्य स्थान अधिष्ठान, दफ़्तर अधिकरण और शासक विषयपति कहलाता था।

विषय

दामोदरपुर ताम्रपत्र से अनुमान होता है कि विषयपति को सलाह देने के लिये एक समिति सी थी जिसमें नगरश्रेष्ठी, प्रथमकुलिक और सार्थवाह—अर्थात् भिन्न भिन्न श्रेणियो के प्रतिनिधि होते थे।

समिति

अधिकरण मे बहुत से लेखक थे जो कुछ आगे चलकर कायस्थ कहलाने लगे और जिनका अफ़सर प्रथम कायस्थ की पदवी रखता था।

लेखक

प्रत्येक शहर का प्रबन्ध एक द्राङ्गिक के हाथ में था जिसकी नियुक्ति बहुधा भुक्ति शासक करता था।

द्राङ्गिक

गांव का इन्तिज़ाम ग्रामिक करता था और हिसाब

तलवार* रखता था। महत्तर और महत्तम शब्द जो ताम्रपत्रों में बहुत बार आये हैं और अष्टकुलाधिकरण शब्द जो कभी कभी आया है प्रगट करते हैं कि गांव के शासन में गांव के बड़े आदमियों की सलाह हमेशा ली जाती थी।

गांव

ज़िलों में चारो ओर दण्डपाशिक, दण्डिक, चौरोद्धरणिक, चाट, भट इत्यादि पुलिस के अफ़सर और आदमी अपराधों का पता लगाने के लिये थे। कर विभाग में प्रमातृ ज़मीन नापते थे, सीमाप्रदातृ खेतों की हद्दबन्दी करते थे, न्यायकरणिक नाप जोख के झगड़े फ़ैसल करते थे, ध्रुवाधिकरण या उत्खेतयिता निगरानी करते थे। पुस्तपाल, अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक, करणिक, कर्तृ या शासयितृ बन्दोबस्त वग़ैरह का लेख और हिसाब रखते थे। शौल्किक आने जाने वाले माल पर चुंगी वसूल करते थे; गौल्मिक जंगल या क़िलों का इन्तिज़ाम करते थे। इनके अलावा चारो ओर दफ़्तरों में आयुक्त, विनियुक्त, दिविर, लेखक आदि कर्मचारी थे। कभी कभी एक ही आदमी छोटे या बड़े दो पदों पर नियुक्त कर दिया जाता था। किसी किसी वंश के बहुत से लोग सरकारी पदों पर थे और एक तरह का मौरूसी हक़ सा रखते थे। ताम्रपत्रों से साबित होता है कि उद्रंग, उपरिकर, धान्य, हिरण्य, वात, भूत यह कर लिये जाते थे पर इनकी विशेषता का ठीक ठीक पता नहीं लगता। इतना ही कहा जा सकता है कि ज़मीन की पैदावार का एक हिस्सा, और धातुओं का शायद एक बहुत बड़ा हिस्सा राज्य के ख़ज़ाने में जाता था। जब कभी सेना चलती थी तब भी बस्तीवालों को उनके खाने पीने को कुछ देना पड़ता था। मज़दूरों से कुछ बेगार भी ली जाती थी। अपराधियों के जुर्माने से

पुलिस

कर विभाग

भी ख़ासी आमदनी होती थी। राजाओं या ज़मींदारों से ख़राज के रूप में कुछ मिल जाता था। आने जाने वाले माल पर चुंगी लगती थी। साम्राज्य में जैसी शासन पद्धति थी वैसी ही आवश्यक परिवर्तनों के साथ महाराजाओं या राजाओं के प्रदेशों में भी प्रचलित थी[1]।

राज के कर्त्तव्य

करों के बदले में सरकार जान माल की रक्षा और न्याय के अलावा सड़क, नहर, पुल, तालाब, कूप, बाग़, भवन, सराय, मंदिर पाठशाला, विहार, मठ इत्यादि भी प्रजा के लिये बनवाती थी। राजा ब्राह्मणों को, बौद्धों को और दूसरों को बहुत से गांव या ज़मीन के टुकड़े या और चीज़ दान में बहुत देते थे[2]। यह शुभ काम अक्सर अपने या किसी सम्बन्धी के पारलौकिक हित के नाम पर किये जाते थे। इलाहाबाद अशोकस्तम्भ लेख में हरिषेण की प्रशस्ति कहती है कि दर्बार में बहुत से कवि और विद्वान् थे। सरकार ग़रीब और दुखियों की मदद करती थी। एक दूसरे लेख में एक राजा के बारे में कहा है कि वह ब्राह्मणों, पुरोहितों और सन्यासियों से बड़ा प्रेम करता था[3]। खोह ताम्रपत्र में महाराजा संक्षोभ को नृपति परिव्राजक कहा है। उसने चौदहों विद्याएं पढ़ी थीं और वह ऋषितुल्य था[4]। पर प्रजा सब बातों के लिये सरकार पर निर्भर नहीं थी। इस

---

१ पूर्ववत् तथा बसाढ़ मुहर, आर्कियोलाजिकल सर्वेरिपोर्ट १९०३-१९०४ पृ० १०१ इत्यादि। आई० ए० ४ पृ० १७५, ६। पृ० १२४ ॥७। पृ० ७० ॥ ८। पृ० २० ॥ १०। पृ० २५२ ॥ १३ पृ० १२३ ॥ १४ पृ० १६०-६१ । ११ पृ० १८३ ॥ ई० आई० ११ नं० २१ ॥ १५ पृ० १३८ ॥ १२ पृ० ७५ ॥

२. पूर्ववत्। फ़्लीट नं० १७ ॥

३ फ़्लीट, नं० १५ ॥

४. फ़्लीट, नं० २५ ॥

समय भी व्यवसायियों की बहुतेरी श्रेणियाँ थी जिनकी अपनी मुहर थी, जिनका आदर राजा महाराजा भी करते थे और जो बहुत से आर्थिक और सामाजिक काम करती थीं[1]।

श्रेणी

शासन के बारे में जो नतीजे शिलालेख और ताम्रपत्रों से निकलते हैं उनका समर्थन कालिदास के काव्यों और नाटकों से भी होता है। परम्परा के अनुसार कालिदास ई० पू० पहिली सदी में मालवा की राजधानी उज्जैनी में शकारि विक्रमादित्य के दर्बार में नवरत्नों में से एक थे। पर ऐसे किसी विक्रमादित्य का पता इतिहास की प्रामाणिक सामग्री से नहीं लगता। इस समय भी कुछ विद्वानों की राय है कि ई० पू० पहिली सदी ही कालिदास का समय था पर कुछ विद्वान् महाकवि को छठी ई० सदी में रखते हैं। ज़्यादातर राय है कि वह पाँचवीं ई० सदी में हुये थे। सब बातोंका विचार करने पर यही मत ठीक मालूम होता है[2]। कालिदास के रघुवंश में आदर्श है चक्रवर्ती राज्य

कालिदास और शासन

कालिदास का समय

चक्रवर्ती राज्य

---

1. फ़्लीट, पूर्ववत् नं० ६, नं० १८। आर्कियोलाजिकल सर्वेरिपोर्ट, १९०३-१९०४ पृ० १०२ इत्यादि।

2. देखिये रा० गो० भांडारकर (जे० पी० बी० आर० ए० एस० २० पृ० ३९९, दे० रा० भांडारकर (एनेल्स आफ़ दि भांडारकर इन्स्टिट्यूट १९२६-२७ पृ० २००-२०४॥ हरप्रसाद शास्त्री, जे० बी० ओ० आर० एस० १९१६ पृ० ३०१। मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२३-२५॥ कीथ, क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर पृ० ३१–३२; संस्कृत ड्रामा, पृ० १४३-४७, जे० आर० ए० एस० १९०९ पृ० ४३३ पाठक, जे० बी० बी० आर० ए० एस० १९ पृ० ३९॥ आई० ए० १९१२ पृ० २६६-६७॥

का पर दिलीप का पुत्र रघु दिग्विजय में राजाओं को बिल्कुल नष्ट नहीं करता है, उनसे अपनी प्रभुता भर मनवा लेता है। अन्यत्र भी अधीन राजा बहुत हैं। रघुवंश के पहिले सर्ग के प्रारंभ में ही कवि ने राजा के चरित्र का आदर्श बहुत ऊंचा रक्खा है पर नाटकों से मालूम होता है कि कोई २ राजा आदर्श से बहुत नीचे थे। कर के रूप में पैदावार का ⅙ लिया जाता था[1]। विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र नाटकों से यह भी मालूम होता है कि अनेक ब्याह के कारण राजाओं को सौतों के झगड़ों से कभी २ बड़ा क्लेश होता था। मालविकाग्निमित्र में मंत्रिपरिषद् और अमात्यपरिषद् का भी ज़िक्र आया है जिससे मालूम होता है कि राजाओं के या भोगिक इत्यादि के लिये सलाह करने के वास्ते परिषद् हुआ करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल बताता है कि राजाओं को शिकार का शौक़ था, वह बहुत से ब्याह करते थे, ऋषियों की सेवा करते थे और पुलिस का प्रबन्ध अच्छा करते थे। छठे अंक के सौदागर के वृत्तान्त से प्रगट है कि लावारिस जायदाद राजा की होती थी पर धर्मशील राजा पहिले वारिसों का पता लगाने की पूरी कोशिश करते थे।

आदर्श

कर

अनेक ब्याह

परिषद्

मृच्छकटिका के ९ वें अङ्क से मालूम होता है कि अदालत में न्यायाधीश मुद्दई, मुद्दालय और गवाहों से बहुत से सवाल पूछता था पर अदालत में भले आदमी भी कभी २ झूठ बोल जाते थे।

मृच्छकटिका, न्याय

---

१. राजनैतिक विचारों के लिये देखिये, रघुवंश, १।७, १९, २४, ६० ॥ २।१६, ४७, ६६ ॥ ३।२५, २९-३१, ३५ ॥ ९।४९,५३ ॥ १२ ॥ १८ ॥ १५ ॥

कभी २ आग, पानी, ज़हर और तराज़ू से अभियुक्त की परीक्षा होती थी।

उत्तराध्ययन सूत्र

जैन उत्तराध्ययन सूत्र जो गुप्त साम्राज्य के बाद छठी सदी में बना था बताता है कि राजा बड़ी शान शौक़त से रहते थे, नगरों के चारो ओर दीवाल, बुर्ज, और खाई होती थीं और शतघ्नियों के द्वारा रक्षा की जाती थी। यहां भी ज़मीन्दारी शासन प्रथा के चिन्ह हैं[1]।

सामाजिक अवस्था

कालिदास और सामाजिक अवस्था

कालिदास के ग्रन्थों में उस समय की सामाजिक अवस्था और आदर्शों की भी झलक मिलती है। कभी २ गुरु अपने शिष्यों से बड़ी भारी दक्षिणा मांगते थे[2]। रघुवंश में कहा है कि गृहस्थ आश्रम से सब का उपकार होता है[3]। शिक्षा में १४ विद्याएं शामिल थीं[4]। राजा लोग बड़ा दान करते थे और यज्ञों में कभी २ सब कुछ लुटा देते थे[5]।

मुनि

बनों में मुनि अपने परिवार के साथ रहते थे। उन आश्रमों में उनकी कन्याएं पौधों को पानी दिया करती थीं[6]। अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व का आश्रम आदमी, देवता, पक्षी, हिरन, वृक्ष बेल इत्यादि

---

१ अध्ययन, ९। २२-३१॥ ब्राह्मणों के बारे में कुछ कथनों के लिये देखिये २५। २४, ३३॥

२. रघुवंश ५। २१॥

३. रघुवंश ५। १०॥

४ रघुवंश ३। २९-३०॥

५. रघुवंश ५। १-२, ११, १७॥

६. रघुवंश १। ५१॥ ११। १२॥ १२। १३॥ १४। ७५-८०॥ १८। २६, २८, ३३।

का स्नेहमय कुटुम्ब है[1]। राजदर्बार पहुँचने पर शारद्वत कहता है कि इन व्यसनियों को ऐसा समझता हूँ जैसा कि स्नान किये हुये आदमी मैले आदमी को समझते हैं, पवित्र अपवित्र को, जागते हुये सोते आदमी को और स्वतंत्र बंधुए को समझते हैं। शकुन्तला को न पहचानने पर ऋषि के शिष्यों ने राजा को ख़ूब डाटा[2]। बुढ़ापा आने पर बहुत से राजा पुत्रों को गद्दी देकर बन चले जाते थे[3]।

स्त्री

क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी और उसके बाद व्याह की रस्में होती थीं[4]। कोई २ स्त्रियां सब मामलों में अपने पतियों की विश्वासपात्र सलाहकार होती थीं[5]। घर के मामलों में भी स्त्रियों की बहुत चलती थीं[6]। कहीं २ सती का भी प्रचार थी[7]। कभी २ स्त्रियां भी संसार से तंग आकर तपस्विनी हो जाती थीं[8] और कोई २ इच्छानुसार पति पाने के लिये तपस्या करती थीं[9]। कुमारसम्भव में शिव और उमा के व्याह में कहीं पर्दा नहीं नज़र आता[10]। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी जवान लड़कियां पुरुषों से स्वतंत्रता पूर्वक बातें करती हैं। शकुन्तला आप ही

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क ४ ॥
२. अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क ५ ॥
३. रघुवंश ८। १२-१४ ॥
४. रघुवंश ५। ३९-४० ॥ ६ ॥
५. रघुवंश ८। ६७ ॥
६. कुमारसम्भव ६। ८५ ॥
७. कुमारसम्भव ४। ३३ ॥
८. कुमारसम्भव ५। ४२ ॥
९. कुमारसम्भव ५। ४७ ॥
१०. कुमारसम्भव ७। ७५ ॥

दुष्यन्त से ब्याह करने को राज़ी होती है। नाटक के तीसरे अङ्क से ज़ाहिर है कि यह लड़कियां इतिहास निबन्ध इत्यादि पढ़ती थीं। पहिले अङ्क में सखियां लजीली शकुन्तला को ठहरने को कहती हैं क्योंकि आतिथ्य उसका कर्तव्य था। चौथे अङ्क में आतिथ्य न पाने पर दुर्वासा शकुन्तला को शाप देता है। छठे अङ्क से मालूम होता है कि पुत्र की लालसा बहुत प्रबल थी।

शूद्र

कालिदास ने उस पुरानी कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार राजा रामचन्द्र ने तपस्या करनेवाले शूद्र को मार डाला[1]। पर यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास के समय में भी किसी राज की ओर से शूद्रों को तपस्या की मनाही थी। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से शूद्रों की कठिनाइयां शायद बढ़ गई हों पर शिलालेखों में या विदेशी लेखकों में कहीं यह कथन नहीं मिलता कि शूद्र आध्यात्मिक जीवन से वंचित थे। कालिदास ने अयोध्या नगरी का

नगर

बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन किया है। यह अनिश्चित है कि कवि ने गुप्त साम्राज्य की राजधानी देखो थी या नहीं। अगर वह आप न आये थे तो कम से कम उन्होंने हाल तो सुना होगा। अयोध्या बड़े आनन्द मंगल की जगह थी; इधर उधर हाथियों की और सुन्दर स्त्रियों की बहुत सी मूर्तियां नज़र आती थीं[2]। जान पड़ता है कि शहरों में बहुत से मनोहर उपवन थे जहां पुरुष ही नहीं किन्तु स्त्रियां भी सैर के लिये जाया करती थीं[3]। पूर्वकाल की तरह इस समय भी

---

१. रघुवंश १५। ४९ ॥

२. रघुवंश १६। १६ ॥

३. रघुवंश १९। ३० ॥

उद्योगियों और व्यापारियों की श्रेणियां इतनी बहुतायत से थीं कि साहित्य में भी उनका उल्लेख है। रघुवंश में शिल्पियों के संघों का उल्लेख है[1]। कहीं कहीं राजदर्बारों के नैतिक आदर्श कुछ नीचे थे।

श्रेणी

मृच्छकटिका में दर्बारी वेश्याओं का ज़िक्र है। यह बहुत पढ़ी लिखी होती थीं, गाने बजाने में और शिष्टाचार में निपुण होती थीं और बड़े बड़े आदमियों को अपने प्रेम पाश में फसाया करती थीं।

वेश्या

चीनी यात्री फ़ाहियान से मालूम होता है कि चण्डाल शहर के बाहर रहते थे और आते समय एक लकड़ी बजाते थे कि छू न जायं। राजा, ज़मींदार और बड़े आदमी बौद्ध भिक्खुओं को ज़मीन, मकान बाग़, नौकर, बैल वग़ैरह देते थे और दस्तावेज़ लिख देते थे। वह कपड़े वग़ैरह भी बाटते थे। मठों में स्थायी या अतिथि भिक्खुओं के लिये चटाई, बिस्तर, भोजन और वस्त्र हमेशा तय्यार रहते थे। बौद्ध भिक्खुनी आनन्द को बलि देती थीं क्योंकि उसने उनको मठ में आने की इजाज़त बुद्ध से दिलाई थी[2]। इस समय हिन्दुस्तान से पच्छिमी एशिया, अफ्रीक़ा और यूरुप से एवं जावा और चीन से व्यवहार और आमदरफ़्त थी। जैसा कि कह चुके हैं, हिन्दुओं ने लंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, मलय प्रायद्वीप, अनाम और पूर्वी द्वीपसमूह में उपनिवेश बसा कर अपनी सभ्यता का प्रचार किया। बाली द्वीप में बहुत सा हिन्दू साहित्य अब भी मौजूद है जिसमें धर्म, साहित्य, राजनीति, कला इत्यादि के ग्रन्थ शामिल हैं। इस द्वीप

सामाजिक अवस्था और फ़ाहियान

विदेशी सम्पर्क

---

१. रघुवंश १६। ३८॥

२. फ़ाहियान (अनु० जाइल्स) पृ० २१-२३॥

में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों के तत्त्व मौजूद हैं पर दोनों का सम्मिश्रण हो गया है। यहां सूर्य की पूजा मंदिर और मूर्ति के बिना होती है। अग्नि, यम, कुबेर, वरुण आदि वैदिक देवता भी मौजूद हैं। काम और रति की पूजा होती है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वैखानस और यति—यह चार आश्रम माने जाते हैं। बेला अर्थात् सती की प्रथा का बहुत सन्मान था पर सती बहुधा राजवंशों में ही होती थी। बाली के राजवंश क्षत्रिय या वैश्य हैं। बाली और जावा में चार वर्ण थे—इद्द अर्थात् ब्राह्मण, देव अर्थात् क्षत्रिय, गुस्ति अर्थात् वैश्य और शूद्र। मिश्रित जातियां न थी। राजा लोग महल में बहुत सी शूद्र स्त्रियां रखते थे। ब्राह्मण भी दूसरे वर्णों से शादी करते थे पर उनकी संतान ब्राह्मण ही मानी जाती थी। ब्राह्मणों में पदन्द ऊंचे होते थे और गुरुओं का काम करते थे पर राजा साधारण ब्राह्मणों को भी इस पदवी तक पहुँचा देते थे। पुराने हिन्दुस्तान की तरह यहां भी ज़मीन्दारी शासन प्रथा प्रचलित थी।

गुप्त साम्राज्य के बाद

गुप्त साम्राज्य के बाद भी शासनपद्धति की मुख्य २ बातें वैसी ही बनी रहीं—यह बहुत से ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है। हूण सर्दार तोरमाण और मिहिरगुल ने भी छठी सदी में उसी पद्धति को जारी रक्खा [१]।

नारद और बृहस्पति

छठी ई० सदी के लगभग नारद और बृहस्पति ने अपनी स्मृतियां रचीं जो विशेष कर क़ानून की पुस्तकें हैं। राजा को वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करनी चाहिये, जाति, देश, कुल के धर्म की भी रक्षा करनी चाहिये, नहीं तो बलवा हो जाने का डर है। छुट्टियों के दिनों

---

१. देखिये फ़्लीट नं० ३०, ३१, ३३, ५५-५६ ॥ ई० आई० ३। नं० ४६ ॥ १०। नं० १६ ॥ ११। नं० २, ५, ९ ॥ १७। नं० ७ ॥

को छोड़ कर रोज़ दोपहर तक राजा को अदालत करनी चाहिये। अदालतें चार तरह की होती हैं—राजा की, मुख्य न्यायाधीश की, स्थिर, घूमने वाली। जंगल में घूमने वालों के लिये जंगल में, सिपाहियों के लिये छावनी में और सौदागरों के लिये क़ाफ़िले में अदालत करनी चाहिये। नारद और बृहस्पति दोनों ने पानी, अग्नि, तराज़ू इत्यादि की परीक्षाएं अपराधों का निर्णय करने के लिये लिखी हैं[1]।

अन्य स्मृति

इसके बाद और बहुत सी स्मृतियां रची गईं जैसे अत्रि, हरित उशनस्, अंगिरस्. यम, समव्रत, कात्यायन, पराशर, व्यास, शंखलिखित, दक्ष, शरतातप, काश्यप, गार्ग्य, प्रचेता इत्यादि। पद्मपुराण ने ३६, वृद्धगौतम ने ५६ या ५७, नन्द पण्डित ने वैजयन्ती में ५७ और वीरमित्रोदय में मित्रमिश्र ने ५७ स्मृतियाँ गिनाई हैं। इनमे साधारण वर्णाश्रम धर्म, राजा के कर्त्तव्य, श्राद्ध और प्रायश्चित्त इत्यादि लिखे हैं। राजनैतिक सिद्धान्त बहुधा वही हैं जो पुरानी स्मृतियों में हैं। अत्रि कहता है कि यज्ञ न करने वाले ब्राह्मणों को जो दान दे उसे राजा से दण्ड मिलना चाहिये[2]।

भारवि

दण्डिन्

छठी ई० सदी के लगभग भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य रचा। इससे मालूम होता है कि राजा लोग दूत और जासूस बहुत रखते थे[3]। ६-७ ई० सदी के लगभग दण्डिन् ने दशकुमार चरित में कुत्सित राज दर्बार का चित्र खींचा जिससे

---

१. नारद १२। ९ ५॥ १६। २०॥ १८। १२, ५४॥ बृहस्पति १। २-३, २०, २३-३१, ३३॥ २। १२, २४, २६-२८॥ २०। ५-१५॥ २४। १२॥ १०। १-३३॥

२. अत्रि, १। २२-२३॥

३. किरातार्जुनीय सर्ग १-३॥

मालूम होता है कि कभी २ राजा, राजकुमार और मंत्री एक दूसरे से बड़ा द्वेष करते थे और हर तरह से नुक़-सान पहुचाने की कोशिश करते थे। इसी समय के लगभग सुबन्धु के वासवदत्ता में ज़मीन्दारी संघ शासन प्रथा का उल्लेख मिलता है।

सुबन्धु

चौथी ई० सदी के लगभग बौद्धजातक और अवदान कथाओं के प्रभाव से हिन्स्दुतान में कथाएं लिखने की प्रणाली बहुत फैली। कश्मीर में तन्त्राख्या-यिका लिखी गई जिसके आधार पर विष्णु-शर्मा ने पञ्चतन्त्र लिखा। पञ्चतन्त्र का एक पुराना संस्करण ६ ठी सदी में पहलवी मे अनुवाद किया गया जो ५७० में सिरियक और ७५० में अरबी में अनुवाद हुआ। अरबी संस्करण १२५१ में पुरानी स्पैनिश में अनुवाद किया गया जिससे लैटिन और अन्य यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद हुये। पञ्चतन्त्र में पशु पक्षियों की चमत्कारी कथाओं द्वारा नीति का उपदेश दिया है। राजनैतिक दृष्टि से इसमें बताया है कि राजकुमारों की शिक्षा अच्छी होनी चाहिये, राजाओं को प्रजा का हित सदा करना चाहिये।

पञ्चतन्त्र

७ वी सदी के लगभग आध्यात्मिक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय में एक स्थान पर राज के उत्सवों का ओजस्वी वर्णन है।

प्रबोध चन्द्रोदय

सामाजिक सिद्धान्त

गुप्त साम्राज्य के बादसामाजिक सिद्धान्त उन स्मृतियों में मिलता है जिन के नाम राजनैतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में अभी गिना चुके हैं। सामा-जिक सिद्धान्तों में भी कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है पर सामाजिक

सामाजिक सिद्धान्त

संस्था और रीति रिवाज स्थिर नहीं थे। व्यवहार में थोड़ा बहुत परिवर्तन होताही रहा। उसके अनुसार स्मृतियों के सिद्धान्तों में भी कुछ नई बातें दृष्टिगोचर हैं। याद रखना चाहिये कि स्मृति बनाने की प्रथा के द्वारा प्राचीन हिन्दू अपने सिद्धान्त और कानून को समय की परिस्थिति के अनुकूल किया करते थे। इसके अलावा हिन्दू शास्त्रकारों ने यह भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि राजा को लोकाचार का आदर करना चाहिये।

स्त्री

माधव ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो कुछ प्रतियों के अनुसार मनु का और कुछ के अनुसार यम का है और जिसका अर्थ है कि पुराने समय में लड़कियों का भी यज्ञोपवीत होता था, वह सावित्री मंत्र पढ़ सकती थीं, वेद पढ़ सकती थीं और पढ़ा सकती थीं। ऐसे कथनों से इतिहास का यह नतीजा और भी दृढ़ हो जाता है कि पहिले स्त्रियों को बहुत से अधिकार थे पर इस व्यसमय निवृत्ति के प्रचार से, विदेशियों के आक्रमण से, वर्ण-व्यवस्था से और अनुलोम के नियम से उनका पद गिर गया था।

नारद

तो भी नारद के सामाजिक नियमों में स्त्रियों की अवस्था उतनी ख़राब नहीं है जितनी आगे चल कर हो गई। अगर पहिला पति नपुंसक हो जाय तो स्त्री दूसरा ब्याह कर सकती है[१]। ऐसी स्त्रियों का भी उल्लेख है जो कुछ अवस्थाओं में अपने पतियों को छोड़ कर दूसरे पुरुषों के साथ रहने लगती थीं[२]। अन्यत्र नारद ने स्पष्टतः माना है कि अगर पति खो जाय या मर जाय, नपुंसक या सन्यासी हो जाय या जातिच्युत हो जाय तो स्त्री दूसरा पति कर

१, नारद १२। १०॥

२, नारद १२। ४७-६१॥

सकती है। पति के खो जाने पर दूसरा पति करने के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों को क्रमशः आठ, छ और चार बरस इन्तिज़ार करना चाहिये पर शूद्र स्त्रियों के लिये यह क़ैद भी नहीं है[1]। पर नारद स्त्री पुरुषों के स्वतंत्रता से मिलने जुलने के प्रतिकूल है क्योंकि इसमें दुराचार का डर है[2]। वर्णसंकर, जातिसम्मिश्रण, वर्णाश्रम धर्म और उसे चलाने का राजकर्त्तव्य, इत्यादि के नियम नारद में वैसे ही हैं जैसे मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु इत्यादि में। क़ानून का भी एक आधार जातिभेद है[3]। नारद ने अनुलोम ब्याह की इजाज़त दी है पर कहा है कि अपने ही वर्ण में ब्याह करना उत्तम है[4]। यहां वर्णव्यवस्था कुछ और कड़ी हो रही है। इन सब बातों पर बृहस्पति की राय नारद से मिलती जुलती है। नारद और बृहस्पति उत्तर हिन्दुस्तान में ५-६ सदी के लगभग हुये थे। इनके बाद बहुतेरे धर्मशास्त्र रचे गये।

बृहस्पति

आगामी धर्मशास्त्रों में बहुधा पुराने सिद्धान्त ही दुहराये गये हैं। केवल दो चार विशेषताओं का निर्देश यहाँ आवश्यक है। यम की राय में बानप्रस्थ से फिर संसार में लौटने से दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं[5]; शूद्र के साथ भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये[6]। अत्रि कहते हैं कि अपना धर्म पालने से शूद्र भी स्वर्ग पाता है पर जो

यम

अत्रि

---

१ नारद १२। ९८-१०० ॥
२. नारद १२। ६२-६३ ॥
३ नारद १० ॥ ११ ॥ १२ ॥
४ नारद १२। ४-६ ॥
५ यम ४ ॥
६. यम २१ ॥

शूद्र यज्ञ करे या गायत्री जाप करे उसे राजा प्राणदण्ड दे[1]; दूध बेचने से ब्राह्मण तीन दिन में ही शूद्र हो जाता है[2]। पुत्र के उत्पन्न होते ही पिता पितृऋण से मुक्त हो जाता है। समव्रत के धर्मशास्त्र में वही सामान्य व्याह हैं[3] और उसी तरह ब्रह्मचारी को माला, सुगंध, शहद, मांस इत्यादि का निषेध किया है[4]। कात्यायन में कोई भी ख़ास बात नहीं है। दक्ष की राय में आश्रमों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिये, उलटे सीधे नहीं, गृहस्थ होकर जो फिर ब्रह्मचारी हो जाता है वह न यति और न वानप्रस्थ हो सकता है, वह चारों आश्रमों के बाहर है[5]। गृहस्थों को विधिपूर्वक नित्य यज्ञ पूजा पाठ करना चाहिये[6]। गृहस्थी का मूल है पत्नी; अगर पत्नी कहे में है तो गृहस्थाश्रम से बढ़ कर और कुछ नहीं है; गृहस्थाश्रम सुख के लिये है; घर का सुख स्त्री पर निर्भर है। यदि दो पत्नी हों तो वहाँ कलह होती है। स्त्रियां जोंक सी होती हैं; रोज़ उन्हें चाहे जितना भोजन, वस्त्र, ज़ेवर दो वह और ज़्यादा ही मांगा करती हैं। जो स्त्री अपने ग़रीब या बीमार पति को त्याग देती है वह दूसरे

समव्रत

कात्यायन

दक्ष

गृहस्थ जीवन

---

१. अत्रि १८-१९ ॥

२. अत्रि २१ ॥

३ समव्रत ३५-३७ ॥

४. समव्रत ५ ॥

५. दक्ष १ । ९-१२ ॥

६. दक्ष २ । १-५८ ॥

जन्म में कुतिया, गिद्ध या घड़ियाल होती है। जो अपने पति के साथ सती हो जाती है वह स्वर्ग में आनन्द करती है[१]।

सन्यासी होकर जो सन्यास धर्म का पालन न करे उसे राजा तुरन्त ही देश से निकाल दे; बुरे सन्यासी जमा होकर दूसरों की निन्दा और ईर्षा करते हैं और शास्त्र बेचते हैं[२]।

शातातप

शातातप में सब प्रकार के दुराचारों के लिये भयंकर यंत्रणाएं बताई हैं[३]। लिखित कहते हैं कि तालाब बनवाने से, पेड़ लगवाने से, पुराने कुए, तालाब, झील या मंदिर की मरम्मत कराने से सात पुरखे तर जाते हैं, और स्वर्ग और मुक्ति मिलती है[४]। भ्रातृहीन कन्याओं से व्याह न करो क्योंकि पिता उन्हें 'नियुक्त' समझ सकता है[५]।

लिखित

व्यास की राय में पुराणों से स्मृति प्रबल है, स्मृति से श्रुति प्रबल है[६]। द्विजों को यज्ञ, कर्मकाण्ड, का अधिकार है; शूद्र न तो कोई वैदिक मंत्र पढ़ सकता है[७] और न स्वहा, स्वधा, वषट् शब्दों का उच्चारण कर सकता है[८]। वर्णव्यवस्था, अनुलोम व्याह, कर्मकाण्ड इत्यादि पर वही सामान्य

व्यास

---

१. दक्ष ४। १-१९ ॥

२. दक्ष ७। ३१-४५ ॥

३. शातातप २॥ ५ ॥

४. लिखित १-४ ॥

५. लिखित ५१-५३ ॥

६. व्यास १। ४ ॥

७. व्यास १। ५-६ ॥

८. व्यास १। ७-१७ ॥

नियम हैं। ब्रह्मचारी को गुरु की आज्ञा लेकर दोपहर के बाद भले आदमियों से भिक्षा मांगनी चाहिये[1]। गुरु की आज्ञा न मानने से सारा वैदिक अध्ययन निष्फल हो जाता है[2]। ब्याह, अनुलोम इत्यादि पर सामान्य नियम हैं[3]। पर अपने ही वर्ण की पत्नी धर्मपत्नी है। शास्त्रों में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम में स्त्री पति से अलग नहीं है; स्त्रिया को घर का सब काम करना चाहिये, चरित्र में श्रेष्ठ होना चाहिये, महापातकी पति को भी न त्यागना चाहिये पर पति को चाहिये कि दुराचारी स्त्री का मुंह न देखे और डांट फटकार कर उसे दूर देश में निकालवा दे। इसके विपरीत एक श्लोक मे कहा है कि ऋतुस्नान के बाद दुराचारी स्त्री फिर पहिले की तरह रक्खी जा सकती है। ब्राह्मण की विधवा सती हो जाय या सिर मुड़ा कर, भोगविलास छोड़ कर, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे[4]। अतिथियोंका आदर, पूजा और भक्ति करनी चाहिये[5]। नाई, किसान, ग्वालों और दासों का पका हुआ भात द्विजि खा सकते हैं; यज्ञ में ब्राह्मण को मांस अवश्य खाना चाहिये; होम, सन्ध्या, नित्य नैमित्तिक काम हमेशा करनी चाहिये[6]। माता पिता की पूजा करनी चाहिये, रोज़ ब्राह्मणों को और दूसरों को दान देना चाहिये; कंजूसी बहुत बुरा

ब्रह्मचारी

पत्नी

अतिथि

---

१. व्यास १। ३०-३१ ॥

२. व्यास १। ३९ ॥

३. व्यास २। ५-१२ ॥

४. व्यास २। १९-५४ ॥

५. व्यास ३। ४०-४४ ॥

६. व्यास ३। १-५, ५३-७३ ॥

दोष है[१]। ब्राह्मण सब में प्रधान हैं पर जो ब्राह्मण वेद नहीं पढ़ता वह काठ का हाथी है, चमड़े का हिरन है, ऊजड़ झोंपड़ा है या निर्जल कुआ है[२]। पराशर कहता है कि भिन्न २ युगों में भिन्न २ धर्म होते हैं; सतयुग का धर्म था तप; त्रेता का आत्मज्ञान; द्वापर का यज्ञ; कलियुग का धर्म है दान। सतयुग में प्रमाण था मनु का; त्रेता में गौतम का; द्वापर में शंखलिखत का; कलियुग में पराशर का प्रमाण है[३]। यहां पर मुक्त कंठ से यह स्वीकार किया है कि युग के अनुसार धर्म बदलता है। पराशर ने अपने नियम बड़ी ओजस्वी भाषा में लिखे हैं।

ब्राह्मण

पराशर

जो कोई अतिथि अपने यहाँ आवे, पापी हो या चंडाल हो, पितृघ्न हो या और कोई हो उसे देवतासमूह समझ कर पूजना चाहिये और बड़े आदर सन्मान से खिलाना पिलाना चाहिये[४]। शूद्रों का सब से बड़ा धर्म ब्राह्मणों की सेवा है; उनके और सब धर्म निष्फल हैं[५]। जो आत्महत्या करता है वह ६०,००० बरस घोर नरक में रहता है; उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह न करना चाहिये और न किसी को उसके लिये रोना चाहिये। पर जो स्त्री सती हो जाती है वह एक करोड़ बरस स्वर्ग में रहती है और पति के आत्मा

अतिथि

शूद्र

आत्महत्या

१. व्यास ४। १२-३६॥
२. व्यास ४। ३७-६८॥
३. पराशर १। १-२४॥
४. पराशर १। ३९-५५॥
५. पराशर १। ६१॥ २। १६॥

को भी नरक से अपने पास खींच लेती है। जो विधवा ब्रह्मचर्य से रहती है वह ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग जाती है। प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है कि संतान पैदा करे। जो जवानी में निर्दोष स्त्री को त्यागता है वह सात जन्म तक स्त्री हो कर विधवा होता है[१]। पराशर लड़कियों का ब्याह १२ बरस के पहिले कराना चाहते हैं और तीव्र अश्लील शब्दों में विलम्ब की निन्दा करते हैं[२]। यों तो सब जगह धर्म की दुहाई देते हैं पर एक जगह कहते हैं कि अकाल, महामारी, या गड़बड़ में और विदेश में सब से पहिले अपने बचाव की कोशिश करनी चाहिये; धर्म पीछे देखा जायगा[३]। धर्म के संशय में तीन या पाँच ब्राह्मणों के परिषद् से या एक ही तपस्वी ज्ञानी ब्राह्मण से पूछना चाहिये। एक ओर पराशर कहते हैं कि गायत्रीमंत्रविहीन ब्राह्मण शूद्र से भी नीचा है; दूसरी ओर कहते हैं कि पापी ब्राह्मण भी संयमी शूद्र से अच्छा है[४]। पराशर ने हत्या, व्यभिचार, चोरी, मद्यपान, निषिद्ध भोजन, निषिद्ध व्यापार इत्यादि २ के लिये भिन्न २ वर्णों के लिये बहुत से प्रायश्चित्त लिखे हैं[५]। शंख कहते हैं कि ब्राह्मणों का उपनाम शर्मा, क्षत्रियों का वर्मा, वैश्यों का धन और शूद्रों का दास होना चाहिये[६]।

स्त्री

बालब्याह

धर्म

शंख

---

१. पराशर ४। २-१५, २७-२९ ॥

२. पराशर ७। ६-८ ॥

३. पराशर ७। ४१-४३ ॥

४. पराशर ८। ४-३३ ॥

५. देखिये पराशर, अध्याय ५—११ ॥

६. शंख २। ३-४ ॥

स्त्री को प्यार भी करना चाहिये और डांटना भी चाहिये; पुचकारना भी चाहिये और रोक थाम भी करनी चाहिये[1]। ब्राह्मण को शूद्र से कभी कुछ न माँगना चाहिये[2]। वानप्रस्थ के समय स्त्री को अपने साथ वन ले जाना चाहिये या पुत्रों के सुपुर्द कर देना चाहिये। वानप्रस्थों को भी श्राद्ध करने चाहिये[3]। यतियों को घूमते फिरते जहां जो कुछ मिल जाय उसी से संतोष करना चाहिये[4]। इस धर्मशास्त्र के अध्याय १३-१४ में ब्राह्मणभोज के बहुतेरे अवसर बताये हैं[5]। शंख के अठारहों अध्यायों में वर्णाश्रम, अनुलोम, तप, प्रायश्चित्त, श्राद्ध इत्यादि के साधारण नियम हैं। हरित में भिन्न २ विषयों पर वही सामान्य नियम हैं[6]। उशनस् ने बड़ों के शिष्टाचार के नियम बनाये हैं[7] और आगे चल कर कहा है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र चाहे कैसे ही विद्वान् और पुण्यात्मा हों पर ब्राह्मण उन्हें कभी प्रणाम न करे[8]। अग्नि द्विजों को पूज्य है, ब्राह्मण सब वर्णों को पूज्य है; पति पत्नियों को पूज्य है; अतिथि सब को पूज्य है[9]। चण्डाल, म्लेच्छ, शूद्र

हरित

उशनस्

---

१. शंख ४। १५-१६ ॥

२. शंख ५। १६ ॥

३. शंख ६। १-३ ॥

४. शंख ७। १-३ ॥

५. शंख १३ ॥ १४ ॥

६. उदाहरणार्थ देखिये हरित १-४ ॥

७. उशनस् १। २० इत्यादि ॥

८. उशनस् १। ४५ ॥

९. उशनस् १। ४७ ॥

या दुराचारी स्त्रियों से बातें करने के बाद मुंह साफ़ करना चाहिये[1]। उशनस् ने बहुत से ब्राह्मण गिनाये हैं जिनको श्राद्ध में न

अङ्गिरस्

बुलाना चाहिये। इनमें वह भी शामिल है जो विधवा से ब्याह करें या ब्याहता विधवा के पुत्र हों। इससे प्रगट है कि इस तरह के ब्याह होते अवश्य थे पर अब बुरे समझे जाते थे[2]। श्राद्ध, प्रायश्चित्त इत्यादि के मामूली नियम यहां दिये हैं[3]। अङ्गिरस् कहता है कि स्मृतियों में धोबी, चमार, नट, बरुड़, कैवर्त और भिल्ल—यह सात नीच जाति हैं[4]। नीच जाति का भात खाने पर द्विजों को चान्द्रायण, कृच्छ्र आदि व्रत करने चाहिये। चण्डाल या नीच जाति के कूंए या बर्तन से पानी पीने पर भिन्न २ वर्णों के लिये भिन्न २ प्रायश्चित्त हैं[5]।

बालब्याह

इस समय के लगभग बालब्याह का जो प्रचार आरम्भ हुआ उसका एक कारण तो था जातिबन्धन, दूसरा था परदेसी आक्रमण, तीसरा था स्त्रियों के पद का ह्रास। साधारणतः जब पुरुषों की संख्या स्त्रियों से कम होती है तब बालब्याह की प्रवृत्ति होती है। अगर किसी कारण से हिन्दुस्तान में स्त्रियों की संख्या कम हो गई थी या परदेसी लोग अपने साथ स्त्रियाँ न लाये थे तो बालब्याह की प्रवृति बढ़ी होगी। यदि कुछ वर्गों में बहुविवाह बढ़ गया हो तो दूसरे वर्गों के लिये स्त्रियां कम रह गई होगीं और जल्दी २ ब्याह करने की अभिलाषा हुई होगी।

---

१. उशनस् २। ४-६॥
२. उशनस् ४। २०-२१॥
३. उशनस् ६-९॥
४. अङ्गिरस् १। २-३॥
५. अङ्गिरस् १। ५-७॥

पुराण

इस समय के धार्मिक साहित्य में स्मृतियों की तरह पुराणों का भी बड़ा महत्त्व है। हिन्दुस्तान में किसी न किसी तरह के पुराण अथर्ववेद के समय से चले आते थे। कौटल्य ने राजकुमारों के लिये पुराण पढ़ना ज़रूरी बताया है। स्मृतियों में पुराणों को प्रामाणिक बताया है। बहुत उलट फेर के बाद ई० ५—१० सदियों में पुराणों ने बौद्धधर्म के ह्रास पर जागते हुये ब्राह्मण धर्म के प्रभाव में वह रूप धारण किया जो कुछ परिवर्तनों के साथ अब तक मौजूद है। १८ पुराणों में कुल मिला कर चार लाख के क़रीब श्लोक हैं।

पुराण

समय

पुराणों की तीन कोटियां हैं—ब्राह्म, शैव और वैष्णव। प्रत्येक पुराण में सृष्टि, देव, मनु और सूर्य या चन्द्रवंशी राजाओं का हाल है, किसी विशेष देवता की महिमा है, बहुत सी कथाएं हैं, अवतारों का वर्णन है, किन्ही तीर्थों, यज्ञों और पूजा विधानों की महिमा और वर्णाश्रम धर्म, सदाचार इत्यादि का उपदेश है। श्रीमद्भागवत भी जिसमें कृष्ण की भक्ति बड़ी सुन्दर संस्कृत में गाई है पुराण माना जाता है। १८ उप-पुराण भी हैं जिनके विषय और सिद्धान्त पुराणों के से ही हैं। पुराणों में राजनीति भी बहुत है पर वह अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मसूत्र या स्मृतियों से बहुत करके ली गई है। अग्निपुराण कहता है कि राजा को अपना सारा जीवन प्रजा की उन्नति में लगा देना चाहिये, लोगों से रोज़ मिलना चाहिये, कुमारों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देनी

विषय

उपपुराण

राजनीति

चाहिये। पुराणों में भी राजनैतिक अवस्था उसी ज़मीन्दारी संघ शासन पद्धति की है जो बाक़ी साहित्य और शिलालेख या ताम्र पत्रों में झलकती है[1]। वृहन्नारदीय पुराण कहता है कि प्रत्येक युग का धर्म पृथक् है; कलियुग में समुद्रयात्रा, वानप्रस्थ, अन्तर्वर्ण व्याह का निषेध है।

पुराणों में धार्मिक और सामाजिक इतिहास की सामग्री बहुत है पर कठिनाई यह है कि एक ओर तो वह पुराने ग्रन्थों से बड़ी स्वच्छंदता से बहुत सी बातें ले लेते हैं और दूसरी ओर उनमें

धर्म

---

१. पुराणों की राजनीति के लिये ख़ास कर देखिये, अग्निपुराण, उत्तरखंड, २१८। २-३४ ॥ २२० । २२-२३ ॥ २२२ । १५-१८ ॥२२३ । ४-२९ ॥ २२५ । १-१७ ॥ २२९ । ६-१२ ॥ २३६ । १७-२० ॥ ११९ । १-८ ॥ २३७ । २०-२२ ॥ २१२ । १५-१८, ३०-३२ ॥ २२७ । १-१७, ४०-४८ । २५३ ॥ ३, ५० ॥ २४१ । १-२८, ४७-५३ ॥ १३६ । १७-२५ ॥ २२६ । ४-८ ॥

मार्कण्डेय पुराण १५। १-४, ६, १३-१६, १९ ॥ १७। २१ ॥ २७। १-१६, २१-३१ ॥ २८। ३३-३६ ॥ ११३ । १९-२१ ॥ १३१ । २७-२८ ॥ वायु पुराण (सं० राजेन्द्रलाल मित्र) ८ । ६०-६१, ६४-६५, ७८-८०. ८४-९०, ९२-१२३, १४२-४३, वर्णाश्रम धर्म के लिये १४२-६४ ॥

विष्णुपुराण (सं० व्यासाचार्य), ६ । ६, १७-२० ॥ १३ ॥

मत्स्यपुराण, ४७ ॥ १४४ ॥ २२२-२२८ ॥ वराहपुराण (सं० हरप्रसाद शास्त्री) २१८ । १८-२० ॥ कूर्मपुराण (सं० नीलमणि मुखोपाध्याय) प्रथम खंड, सर्ग, २९-३० ॥ स्वयंभूपुराण ७ ॥ पद्मपुराण (सं० महादेव चिमनजी आपटे), २१६-२२९ ॥ गरुणपुराण १११–११४ ॥ १४३-४४ ॥ उपपुराणों में देखिये वृहद्धर्मपुराण, (सं० हरप्रसाद शास्त्री) ३ । ६-५४ ॥ ४ । १०, १८-२४ ॥ १२ । ५-४२ ॥ १३ । १३-४९, ५४-६० ॥ १४ । ३-८० ॥ १ । ४-६, १४, २२-२३ ॥ २ । ८-६२ ॥

वृहन्नारदीय पुराण, (सं० हृषिकेश शास्त्री) २२ ॥ श्रीमद्भागवत ४ । १३-३५, ४५ ॥ १० । २६, ६१ ॥ ११ । ३, १४-१५, १७, १९ ॥

आगामी युगों में श्लोक बहुतायत से मिला दिये हैं। तो भी इतना प्रगट है कि परमात्मा के तीन रूप, ब्रह्मा, विष्णु, महेश; विष्णु के १० या २४ अवतार; इन सब की पूजा; मूर्तिपूजा; नदी, पर्वत और कुछ अन्य विशेष स्थानों के तीर्थ;—इन सब का प्रचार इस समय बढ़ रहा था। अग्निपुराण में विष्णु इत्यादि की मूर्ति और मंदिर बनवाने के ब्योरेवार नियम दिये हैं[1]। ब्रह्मभोज और दान की महिमा बढ़ रही है; जातपात के बन्धन, रोटी बेटी के नियम, और कड़े हो रहे हैं। बौद्ध धर्म का प्रभाव कम हो रहा था; कुछ बौद्ध सिद्धान्त और रीति रिवाज तो ब्राह्मणों ने अपना लिये; बाक़ी,

सघर्षण

नये ढंग ज़ोर पकड़ रहे थे। इस समय से जिस ब्राह्मण धर्म का दौर दौरा शुरू हुआ उस में पुराने वैदिक धर्म के, बौद्ध धर्म के, और दर्शनों के कुछ सिद्धान्त थे; अनार्य जातियों से लिये हुये कुछ विश्वास और रिवाज थे; इन सब तत्त्वों के संघर्षण से, इनके आधार पर तर्क से, बहुत सी बातें पैदा हो रही थी। इस धर्म में कोई एकता न थी; किसी एक सिद्धान्त की परमसत्ता न थी; यह भी एक तरह का संघ-

व्यापकता

शासन था; ईश्वर, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म—आदि बातों को किसी न किसी रूप में मानते हुये आदमी चाहे और किसी देवी देवता को मान सकता था, चाहे जो यज्ञ, कर्म, योग, दान, पूजा, तीर्थ कर सकता था, चाहे जिस सामाजिक शिष्टाचार का पालन कर सकता था, चाहे जिस दर्शन में विश्वास कर सकता था। यहां विस्तार, व्यापकता और सहिष्णुता की हद हो गई; कोई भी क्षेत्र न था जिसे ब्राह्मण धर्म ने अपने संघराज्य में न मिला लिया हो; किसी से उसे विरोध न था।

---

1. अग्नि पुराण ३९-४१ ॥

इस नतीजे के अलावा पुराणों से कुछ और बातें उस समय की हालत जताने के लिये संक्षेप से कही जा सकती हैं। अग्निपुराण कहता है कि पतित आदमी को मरा हुआ समझना चाहिये, उसका श्राद्ध करा देना चाहिये और उसकी सम्पत्ति दूसरों को बांट देनी चाहिये[1]।

साधारण रिवाज

छूत

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चंडाल, म्लेछ का छुआ या अपवित्र किया भोजन खाने पर या पानी पीने पर ब्राह्मण को भिन्न २ निश्चित व्रत और प्रायश्चित्त करने चाहिये[2]। अगर कोई वेश्या या नीच जाति का कोई आदमी मूर्ति को छू ले तो भक्त को उस देवता के मंत्र का सौ बार जप करना चाहिये[3]।

सत्य

मार्कण्डेय पुराण में सत्य और दान की प्रशंसा करते हुये हरिश्चन्द्र की कथा कही है जिसने अपना सब कुछ विश्वामित्र को दे डाला[4]।

कालधर्म

वृहन्नारदीय पुराण कहता है कि सब द्विजों को काल और गांव का धर्म जो श्रुति के प्रतिकूल न हो पालना चाहिये[5]।

स्त्री

जो स्त्री शरीर, मन या आचार से दोषी हो, अथवा पति या पुत्रों पर निर्दय हो उसे त्याग देना चाहिये[6]। श्रीमद्भागवत में कहा है कि

१. अग्नि पुराण १७० । १-१७ ॥
२. अग्नि पुराण १७० । १८-३६ ॥ १७३ । ३७-३८ ॥
३ अग्नि पुराण ७४ ॥
४. मार्कण्डेय पुराण ८ ॥
५. वृहन्नारदीय पुराण २२ ॥
६. वृहन्नारदीय पुराण २४ ॥

भक्ति मनुष्य के सब दुःखों को दूर करती है; भगवान के भजन से मुक्ति होती है; कृष्ण भगवान ही मुक्ति के मार्ग हैं[१]। कृष्ण को यज्ञ की अपेक्षा प्रेम पसंद है[२]। पर एकाग्र भक्ति होनी

भक्ति

चाहिये[३]। तथापि एक स्थान पर यह भी कहा है कि भिन्न २ अर्थों के लिये भिन्न २ देव देवियों की पूजा करनी चाहिये[४]। प्राणायाम प्रारंभ करने के पहिले अहिंसा, सत्य, संयम, संतोष, ब्रह्मचर्य और तप का पालन करना चाहिये[५]।

वायुपुराण में सृष्टि के पहिले समय का बड़ा मनोरंजक वर्णन है। तब न वर्ण थे, न आश्रम थे, न ऊंच नीच

सृष्टि

का कोई भेद था, अवस्था, सौन्दर्य इत्यादि में सब बराबर थे, पूर्ण सुख था, कल्प वृक्ष थे जो मन माने सब पदार्थ देते थे। जब भावनाएं बिगड़ी तब कल्प वृक्ष लोप हो गये; कपड़े, घर, गाँव, नगर, क़िले बनाने पड़े; खेती होने लगी। तब वर्ण बने, सच बोलने वाले ब्राह्मण हो गये, जो कमज़ोर थे और खेती करते थे वह वैश्य हो गये, जो तेजहीन थे और सेवा करते थे वह शूद्र हो गये। ब्रह्मा ने इनके धर्म नियत किये। इसके बाद आश्रम स्थापित किये गये। सब आश्रमों का मूल है गृहस्थ[६]।

वराहपुराण विष्णु की प्रधानता प्रतिपादन

नारायण

करता है। अगर कोई अपने सब काम नारायण को समर्पण कर दे तो वह कर्म में लिप्त

---

१. श्रीमद् भागवत १ ॥

२. श्रीमद् भागवत ७ । १४ । १७ ॥

३. श्रीमद् भागवत ११ । १४ । ४२ ॥

४. श्रीमद् भागवत २ । ३ । २-१२ ॥

५. श्रीमद् भागवत ३ । २८ । ४-८ ॥

६. वायुपुराण १ । ४५-१७३ ॥

नहीं होता[1]। बृहद्धर्मपुराण कहता है कि धर्म ही सब कुछ है— माता पिता, पितामह, भाई, गुरु, शरण, आत्मा, तीर्थ, धन, देवता, इत्यादि सब धर्म ही है[2]।

धर्म

कूर्मपुराण में तथा दूसरे पुराणो में भी प्रकृति और पुरुष को शक्ति और परमात्मा कर के माना है और अनेक बार कहा है कि ब्रह्म ही सत्य है, और सब माया है। कूर्मपुराण भी और पुराणों की तरह कलियुग का भयंकर चित्र खींचता है; कलियुग मे सब धर्म लोप हो जाता है; हर बात उल्टी होती है[3]।

कलियुग

स्मृति और पुराण ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इस काल में बौद्धों ने भी बहुत से साहित्य की रचना की। उदाहरणार्थ, तीसरी चौथी सदी के लगभग हीनयान बौद्ध, ग्रन्थ दिव्यावदान रचा गया जिसमें बुद्ध आनन्द, अशोक आदि की कथाएं हैं। आर्यदेव ने चतुःशतिका में ब्राह्मणों के पाखंड की व्यंगमय आलोचना की है। चौथी सदी के लगभग आर्यशूर ने कुछ जातकों को अपनी जातकमाला में काव्य की शैली से संस्कृत में लिखा है।

बौद्ध साहित्य

संस्कृत काव्य

स्वाभाविक विकास से और गुप्त सम्राटों के प्रोत्साहन से चौथी और छठी ई० सदी के बीच में संस्कृत काव्य की अपूर्व उन्नति हुई। शिला लेखो और ताम्रपत्रों मे भी कभी कभी बहुत अच्छी कविता नज़र आती है। इलाहाबाद अशोकस्तम्भ पर हरिषेण

काव्य

हरिषेण

---

१. वारह पुराण १ ॥ ५ ॥

२. बृहद्धर्म पुराण १। ३०-३५ ॥

३ कूर्मपुराण २९-३० ॥

की लिखी हुई समुद्रगुप्तप्रशस्ति शब्दविन्यास और भाव में बहुत सुन्दर है। इसी समय कालिदास ने रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव और ऋतुसंहार में कविता के सब गुण पूर्ण मात्रा में दिखाये। एक के बाद दूसरी उपमा द्वारा अर्थगौरव बढ़ाने में, दो चार पंक्तियों में आदमी के चरित्र का या आदर्श का चित्र खींच देने में, प्रकृति के दृश्यों का नक्शा बना देने में, तेज़ी से बड़ी बड़ी कथा कह जाने में, गौण को पीछे रख कर प्रधान स्थिति को दृष्टिगोचर कराने में, कालिदास की समता कोई कवि नहीं कर सका है। रघुवंश में रघुकुल की कथा दिलीप के समय से उठाई है, राम का वृत्तान्त विस्तार से दिया है और फिर संक्षेप से उनके वंशजों का चरित्र कहा है। पहिले सर्ग में रघुवंशियों के गुण इस तरह कहे हैं :—

कालिदास

कविता के गुण

रघुवंश

"रघुकुल में उत्पन्न हुये पुरुषों के गर्भाधान आदि सब संस्कार उचित समय में होने के कारण वे जन्म से ही शुद्ध हैं। जिस काम को वे आरंभ करते हैं उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ते। समुद्र के तटों तक सारी पृथ्वी के वे स्वामी हैं। उनके रथों की गति का रोकने वाला त्रैलोक्य में कोई नहीं है। स्वर्गलोक तक वे आनन्द पूर्वक अपने रथों पर बैठे हुये जा सकते हैं। वे यथाशास्त्र अग्नि की सेवा करते हैं; याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं; अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देते हैं; समय का मूल्य जानते हैं; सत्पात्रों को दान करने ही के लिये धन का संग्रह करते हैं। कहीं मुंह से असत्य न निकल जाय, इसी डर से वे थोड़ा बोलते हैं। कीर्ति की प्राप्ति के लिये ही वे दिग्विजय और सन्तान की प्राप्ति के

रघुवंशियों के गुण

लिये ही वे गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य्य का पालन करके वे विद्याभ्यास करते हैं; युवावस्था प्राप्त होने पर विवाह करके विषयों का उपभोग करते हैं; वृद्धावस्था आने पर वन में जाकर वानप्रस्थ हो जाते हैं; और, अन्तकाल उपस्थित होने पर समाधिस्थ होकर योग द्वारा शरीर छोड़ देते हैं।"

आठवें सर्ग में आकाश से गिरती हुई फूलों की माला से इन्दुमती के मर जाने पर राजा अज विलाप करता है:—

अज का विलाप

"शरीर में छू जाने से, हाय हाय! फूल भी यदि प्राण ले सकते हैं तो फिर ऐसी और कौन सी चीज़ संसार में होगी जो मनुष्य को मारने में समर्थ न हो? विधाता जब मारने पर उतारू होता है तब तिनका भी वज्र हो जाता है ... अथवा यह कहना चाहिये कि यमराज कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है। . अच्छा, यदि इस मामले में प्राण ले लेने की शक्ति है तो यह मेरे प्राण क्यों नहीं ले लेती?......इसने पेड़ को तो नहीं गिराया; पर उसकी डालों पर लिपटी हुई लता का नाश कर दिया! . .. प्रिये! बोल, बड़े २ सैकड़ों अपराध करने पर भी तू ने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। सदा ही तू मेरे अपराध क्षमा करती रही है। इस समय तो मुझसे कोई अपराध भी नहीं हुआ। फिर भला क्यों तू मुझ निरपराधी से नहीं बोलती? बोलना क्यों एकाएक बन्द कर दिया? क्या मैं अब तेरे साथ बातचीत करने योग्य भी नहीं रहा? तेरी मन्द और उज्ज्वल मुसकान मुझे नहीं भूलती। मुझे इस समय यह सन्देह हो रहा है कि तूने मुझे सच्चा प्रेमी नहीं, किन्तु छली और शठ समझा। .....इसी से तू बिना मेरी अनुमति लिए ही, अप्रसन्न हो कर परलोक को चली गई..... । मुझे इस बात का बड़ा ही दुःख है कि तुझे निष्प्राण देखकर मेरे भी प्राण, जो कुछ देर के लिए तेरे

पीछे चले गये थे, तुझे छोड़ कर क्यों लौट आये ? क्यों न वे तेरे ही पास रह गये ? अब वे दुःसह दुःख सहते हुये अपनी करनी पर रोवें ।.......हे सुन्दर जंघाओं वाली ! पवन की प्रेरणा से तेरी फूल से गुँथी हुई, बल खाई हुई, भौंरों के समान काली काली ये अलकें, इस समय हिल रही हैं । इन्हें इस तरह हिला डुला कर पवन मुझे इस बात की आशा सी दिला रहा है कि तू अभी, कुछ देर में, फिर उठ बैठेगी—तू मरी नहीं । इस से, प्रिये ! सचेत होकर—रात के समय, एकाएक चमक कर, हिमालय की गुफा के भीतरी अन्धकार को औषधि की तरह—शीघ्र ही तू मेरे दुःख को दूर कर दे... ....। नये निकले हुये लाल लाल पत्तों के बिछौने पर भी लेटने से तेरा मृदुल गात दुखने लगता था । सो वही अब जलती हुई चिता पर कैसे चढ़ेगा . . . .? मेरे घर की तू स्वामिनी थी । सलाह करने की आवश्यकता होने पर मेरी तू सलाहकार थी, एकान्त में मेरी तू सखी थी......... ... .निर्दयी मृत्यु ने तेरा नाश कर के, मेरे सर्वस्व ही का नाश कर दिया...... ......[1] ।

लंका से अयोध्या के मार्ग का वर्णन ; तेरहवें सर्ग में रामचन्द्र रावण को मार कर सीता के साथ विमान पर लंका से अयोध्या की ओर जाते हैं ।

* * * *

समुद्र ।

"चलत मार्ग महं सिन्धु निहारी । कह्यो सीय सन राम मुरारी ॥
देखहु सीय, सेतु बस काटा । फेनिल सिंधु मलय लगि बांटा ॥
जिमि अकास सुचि तारन संगा । शरद माहि काटत नभ गंगा ॥
जब सुरपति मखतुरग चोराई । बांध्यो कपिल पास लै जाई ॥

---

१. अनुवादक—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

खोदत महि हय खोजन वारा। मो पुरखन यहि कीन्ह अपारा ॥
यहि सन भानुकिरन जल पावत। यह दै मणि महि धनहि बढ़ावत ॥
जो सुख देत सुधा बरसाई। यह सोइ चन्द्र जोति उपजाई ॥
जो पानिहि इन्धन सम जारत। सो बाड़व निज महं यह धारत ॥
महासिन्धु हरिरूप समाना। इतना कहि नहिं जात बखाना ॥
नित नित दशा अनेकन पावत। निज महिमा बस दस दिश छावत ॥
बैठे नाभि मूल जल जाता। गावहि नित जस जासु विधाता ॥
सोइ युग अन्त लोक संहारी। सोवत यहि महं पाइ मुरारी ॥
काटत पंख इन्द्रसन भागी। यहि सन सरन गिरिन बहु मांगी ॥
धमिक मध्य भूप ढिग आवत। ज्यों रिपु सन नृप निजहि बचावत ॥"

*　　*　　*　　*

आगे चल कर रामचन्द्र सीता से कहते हैं :—

*　　*　　*　　*

पर्वत

"यह गिरि माल्यवान तब आगे। जाके शृंग प्रकासहि लागे ॥
विरह आँसु नव नीर सुहावा। मैं अरु घन इहं संग बरसावा ॥
यहां मधुर मोरन अलापा। तब बिन मोहि दीन्ह सतापा ॥
परत नीर तरु गंध सुहावन। जहं कदम्ब केसर मन भावन ॥
जह सुन्दरि तव संग विहारा। सुमिरि सुमिरि यहि रुचिर पहारा ॥
परत गुहन प्रतिधुनि कर भारी। सोइ घन धुन कोउ भांति निवारी ॥

*　　*　　*　　*

पम्पासर

"लगे जासु तट बहु वानीरा। सोइ पम्पासर निर्मल नीरा ॥
लखत दूर सन सारस चंचल। पियत खेद सन दृग जनु सोइ जल ॥
इक इक देत कमल रज धूरी। तिनहिं सीय रहि तो सन दूरी ॥"

*　　*　　*

सीता का परित्याग

चौदहवें सर्ग में राजा रामचन्द्र एक जनरव से व्याकुल हो कर गर्भवती निरपराध पत्नी का त्याग करते हैं। लक्ष्मण उसे गंगा पार जङ्गल में छोड़ते हैं।

* * * *

सीता का उलहना

"सियहि लखन बहुविधि समुझाई। बालमीकि घर राह दिखाई॥
पराधीन मैं मातु अभागी। छमा करहु बोले पद लागी॥
तेहि उठाइ बोली सिय बाता। तुम सन अति प्रसन्न मैं ताता॥
सुरपति बस तुम विष्णु समाना। सदा रहहु महिपति—परवाना॥
सब सासुन सन लै मम नामा। क्रम सन कह्यो मोर परनामा॥
मोहि महं अंश पुत्र कर जोई। ताकी कुसल मनावै सोई॥
राजा सन विनती यह मोरी। कह्यो तात कर जोरि बहोरी॥
पैठि अग्नि महं तनहि जराई। जिन निज शुद्धि प्रगट दिखराई॥
तजत तांहि सुनि जन अपवादा। कै यह तव कुल की मरजादा॥
नहिं यह त्याग बुद्धिगुन खानी। मै कहि सकत बात मन मानी॥
पूर्वजन्म पापन कर एहा। प्रबल उदय मम नहिं संदेहा॥
तजि श्रिय तव आई तब पासा। तुम मो सग बन कीन्ह निवासा॥
तव घर आदर सहित विसेखी। रहत मोहिं सोइ सकी न देखी॥
तव प्रसाद मुनि तियन बचावा। जिनके पति निस चरन सतावा॥
तुम आछत अब केहि विधि नाथा। मांगव सरन और के हाथा॥
अवधि हीन तव दुसह वियोगा। व्यर्थ प्रान नहिं राखन जोगा॥
रक्षनीय जो अंश तुम्हारा। होत न मोहित विघ्नअपारा॥
अब यहि सन निवृत्ति प्रभु पाई। करिहौं तप रवि दृष्टि लगाई॥
दूजे जन्म होई फल सोई। तुम पति मिलहु वियोग न होई॥
वर्णाश्रम पालन कर कर्मा। मनु गावत नरपति कर धर्मा॥
तव घर सन प्रभु यदपि दुराई। जान्यो मोहिं तपसिनि की नाईं[1]॥"

---

1. अनुवादक— लाला सीताराम।

इस उलहने में तीक्ष्ण व्यंग, करुणा और भक्ति का विचित्र सामंजस्य है। पति का अपराध सीता को प्रत्यक्ष है पर वह अपने उचित क्रोध को दबा कर भक्ति को स्थिर रखना चाहती है।

कालिदास ने कुमारसम्भव में शिव और पार्वती का ब्याह और स्वामीकार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन किया है। उमा या पार्वती का जन्म और रूप वर्णन कर के कवि दिखाता है कि असुर तारक से परेशान होकर देवता ब्रह्मा की शरण गये। ब्रह्मा बोले—

कुमारसम्भव

ब्रह्मा और देवता

"शंकर अंश छांड़ि को जाना। सम्मुख सहै असुर बलवाना॥

*   *   *   *

अब सब मिलि सोइ करेहु उपाई। उमारूप निज करहु सहाई॥
जेहि विधि चुम्बक खींचत लोहहि। उमारूप शंकर मन मोहहि॥

*   *   *   *

तिमि जौ ता संग शंकर भोगू। सोइ शिव तेज संभारन जोगू॥
गिरिजा भूतनाथ सुत सोई। सुरसेना सेनापति होई॥
करि है तेज जनाय अपारा। सुरवन्दी बेनिन संहारा"॥

*   *   *   *

पर देवताओं के भेजे हुये कामदेव को शिव ने अपनी भृकुटी से ही भस्म कर दिया। उसकी स्त्री रति मूर्च्छित हो गई और होश आने पर विलाप करने लगी:—

रति का विलाप

उपमा देत सकल संसारा। रह्यो रूप जो नाथ, तुम्हारा॥
सो लखि भस्म न दरकत छाती। अहो कठोर नारि की जाती॥

*   *   *   *

तुम जु नाथ परलोक सुधारे। आय सकत मैं पास तुम्हारे ॥
पै, कहु काह करै संसारा। जासु सकल सुख तव आधारा ॥
निज प्रिय बंधु नास अब जानी। शशि निज उदय व्यर्थ अनुमानी ॥
पावत बीतेहु पाख अंधेरे। तजत छीनता दुःख घनेरे ॥
जाकी रुधिर अरुन रंग गासी। जो गति कोयल बैन प्रकासी ॥
सोइ तुम बिना और के बानहि। मधुरि ऋतु पाय कौन संधानहि ॥

*   *   *   *

पार्वती का ब्याह

पर पार्वती ने कठिन तपस्या कर के शिव को बस में कर लिया। तब—

तिथि जामित्र युक्त शुभ बारा। हिमगिरि सुता विवाह संचारा ॥
घर घर करत विवाह तयारी। साजत मङ्गल विधि पुर नारी ॥
तेहि अवसर भूधर अनुरागा। सकल नगर एक कुल सम लागा ॥
पथ मंदार फूल छितराये। घर घर सुन्दर ध्वजा लगाये ॥

*   *   *   *

निज निज अङ्क बंधु बैठारी। दै भूषन आसीस उचारी ॥

*   *   *   *

पहिरि दुकूल स्वेत गिरिबाला। लै दरपन सोही तेहि काला ॥
कुलदेवन तब बंदि भवानी। गहे सतिन के चरन सयानी ॥
"लहु पतिप्रेम अखंड कुमारी"। सुनि असीस लजानि गिरिवारी[1] ॥

*   *   *   *

शिव और पार्वती के कुमार ने तारकासुर को मारकर देवताओं को और संसार को निर्भय किया।

---

1. अनुवादक—लाला सीताराम।

कालिदास की एक अपूर्व कल्पना मेघदूत है। यहां स्वामी कुबेर के बरस भर के शाप से घरबार से दूर चित्रकूट में पड़ा हुआ एक यक्ष असाढ़ के बादल के हाथ अपना संदेसा अपनी स्त्री को भेजता है। कहता है:—

मेघदूत

* * * *

मेघ

पुष्करावर्तक हैं प्रसिद्ध लोक लोकन में,
वंश तिनही के नीके तैंने जन्म पायो है।
इच्छा रूप धारण की गति है दई न दई,
मंत्री सुरराज ने आपनो बनायो है॥
एते गुन जानि तो पै मंगिता भयोहूं मेघ,
बंधुन ने दूर मोहि विधि ने बसायो है।
सज्जन पै मांगनो बिना हू सरैं काज भलो,
नीच पै सरे हू काज आछो ना बतायो है॥

* * * *

गैल बताऊं मेघ अब जिहिं चलि पावै चैन।
फिर सुनियो संदेस मम कानन अति सुख दैन॥
कानन अति सुख दैन थके वा मग में जब तू।
चलियो धरि धरि पांव शिखर ऊंचिन पै तब तू॥
भूख लगे सोत्ता मिलैं उथरे मरु बिन गैल।
पी तिनकौ पानी तुरत लीजो अपनी गैल॥

* * * *

पंथ

थक्यो पंथ चलि गात निकट रहे जब जाय तू।
चित्रकूट विख्यात ऊंचे सिर तुहि धारि है॥

करियो धारासार हरन तासु ग्रीषम—अगिनि ।
सज्जन संग उपकार फलत विलंब न कछु करे ॥
बिलमि तहां कहु बार विहरति जहं बनचर वधू ।
करियो धारासार फिर द्रुतगति मग लाँघियो ॥
लखियो रेवाजाइ विंध्यशिलन पै यों बहे ।
मानहु दई रचाई गज तन रजरेखा बिशद ॥

*   *   *   *

(अलकापुरी पहुँच कर)

यक्षिणी

बिम्बाधर दाड़िम दशन निम्ननाभि कृश गात ।
बसति तहाँ मृगलोचनी युवति छीन कटि तात ॥
श्रोणिभार अलसान गति झुकति कछुक कुचभार ।
मानहु ललना सृष्टि में मुख्य रची करतार ॥
ताहि सजन घन जानियो मेरो आधो जीउ ।
रहति अकेली मो बिना चकई ज्यों बिन पीउ ॥
मितभाषिनि उत्कण्ठिता बिरह कठिन दिन जात ।
शीतहनी जिमि कमलिनी औरहि रूप दिखरात ॥

*   *   *   *

फिर जल शीतल पवन करि दीजो वाहि जगाय ।
मृदुल मालती कलिन संग प्रफुलित चित ह्वै जाय ॥
चमकत बारी मांहि तुहि लखि है दीठि उठाय ।
तब तू बातें मन्द धुनि यों कहियो समुझाय ॥
"सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूं पतिवती ।
संदेसो लै वाको तव निकट आयो सुनि सखी ॥
चलें मेरी मन्दी धुनि सुनि बिदेसी तुरत ही ।
करें वाञ्छा खोलें पहुंचि घर वेनी तियन की" ॥

संदेस

मम बचनन निज बचन मिलाई। यों वासों कहियो समुझाई ॥
"क्षेम सहित भरता तिय तेरो। करत रामगिरि माहिं बसेरो ॥
पूछत है तेरी कुशलाता। कहि बिरहिनि अपनी तू बाता ॥
प्रानी सबहि काल के भोगू। प्रथम कुशल ही पूछन जोगू ॥

मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन में।
मुखाभा चन्दा में चकित हरिणी में दृग मिलें ॥
चलोमीं में भौंहें चिकुर बरही की पुछन में।
न पै हों काहू में मुंहि सकल तो आकृति मिले ॥

"मैं अपनो तन राखि रह्यो धरि के अभिलाष हिये बिच भारी।
धीरज तूहु धरे किनि भामिनि जाइ मरी मति सोच की मारी ॥
काहु पै दुःख सदा न रह्यो न रह्यो सुख काहु के नित्त अगारी।
चक्रनिसी सम दोऊ फिरे तर ऊपर आपनी आपनी बारी ॥
"मम शाप की औधि मिटे तब ही जब शेप की सेज पै जागें हरी।
इन चार महीनन कों अब तू दृग मीचि बिताय दै भागि भरी।
मिलि हैं फिर कातिकी रातिन में हम देखिहैं चाँदनी चारु खरी।
बुझि जायगी हौंस सबै जिय की बिरहा दुख जो दिन दूनी करी"[1] ॥

❀ ❀ ❀ ❀

काव्य और नाटक दोनों की ही पराकाष्ठा कालिदास में है। विक्रमोर्वशी में राजा पुरूरवस् और अप्सरा उर्वशी का प्रेम है। अभिज्ञानशाकुन्तल जिसकी कथा महाभारत से ली गई है सब से बढ़िया संस्कृत नाटक है और संसार की सर्वोत्तम रचनाओं में से है। लक्ष्मणसिंह के अनुवाद से कुछ उदाहरण लीजिये। शिकार खेलता हुआ,

नाटक

विक्रमोर्वशी

1. अनुवाद—राजा लक्ष्मणसिंह।

अभिज्ञानशाकुन्तल — हिरन के पीछे रथ दौड़ाता हुआ राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम के पास पहुँचता है।

(नेपथ्य में) हे राजा, इसे मत मारो, मत मारो—यह आश्रम का मृग है।

आश्रम में राजा — सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ) महाराज, बान के सामने हरिन तो आया, परन्तु, बीच में ये तपस्वी खड़े हैं।

दुष्यन्त—(चकित सा होकर) अच्छा तो घोड़ों को रोको।

सारथी—(रथ को ठहराता है) जो आज्ञा।

(एक तपस्वी दो चेलों समेत आता है)

तपस्वी—(बांह उठाकर) हे क्षत्री! यह मृग आश्रम का है, मारने योग्य नहीं है।

दोहा—

नाहिन या मृग मृदुल तन लगन जोग यह बान।
ज्यों फूलन की राशि में उचित न धरन कृसान॥
कहां दीन हरिनान के अति ही कोमल प्रान।
ये तेरे तीखे कहां सायक वज्र समान॥
लै उतारि याते नृपति भलो चढ़ायो बान।
निरदोषिन मारक नहीं यह तारक दुखियान॥

दुयन्त—लो मैं बान उतारे लेता हूँ।

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुल दीपक तुम्हें ऐसा ही चाहिये।

दोहा—

उचित तोहि भूपति यही, जन्म पौर कुल पाय।
जनमैगो तो घर सुवन, गुनी चक्कवे आय॥

दोनों चेले—(बांह उठा कर) तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र हो।

दुष्यन्त—(प्रणाम कर के)—ब्राह्मण वचन सिर माथे।

आश्रम में शकुन्तला से गन्धर्वब्याह करके राजा के लौट जाने के कुछ दिन बाद शकुन्तला ससुराल जाती है।

शकुन्तला की विदा

दोहा—

कण्व—आज शकुन्तला जायगी मन मेरो अकुलात।
रुकि आंसू गद्‌गद गिरा आँखिन कछु न लखात॥
मोसे बनवासीन जो इतौ सतावत मोह।
तो गेही कैसे सहैं दुहिता प्रथम बिछोह॥

(इधर उधर टहलते हैं)

दोनों सखी—(अनुसूया और प्रियम्वदा)–हे शकुन्तला! तेरा सिंगार हो चुका; अब कपड़े का जोड़ा पहन ले (शकुन्तला उठकर-साड़ी पहनती है)।

गौतमी—हे पुत्री! आनन्द के आंसू भरे नेत्रों से तुझे देखने गुरू जी आते हैं, तू इन्हें आदर से ले।

शकुन्तला—(उठ कर लज्जा से) पिता, मैं नमस्कार करती हूं।

कण्व—हे बेटी।

दोहा—

तू पति की आदरवती हूजो ता घर जाय।
जैसे सरमिष्ठा भई नृप ययाति बर पाय॥

*   *   *   *

अब पुत्री, तू शुभ घड़ी में विदा हो। . . . . (सब चलते हैं)

कण्व—हे तपोवन के सहवासी वृक्षो।

दोहा—

पाछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल पात तोरत नहीं गहने हू चाय॥

जब तुम फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहिं उत्सव करति महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥
*   *   *   *

शकुन्तला—(. . . . प्रियम्वदा से हौले हौले) हे प्रियम्वदा। आर्यपुत्र से फिर मिलने का तौ मुझे बड़ा चाव है; परन्तु आश्रम को छोडते हुये दुःख के मारे पांव आगे नहीं पड़ते।

प्रियम्वदा—अकेली तुझी को दुःख नही है; ज्यों २ तेरे वियोग का समय निकट आता है, तपोवन भी उदास सा दीखता है।

दोहा—

लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आंसू जिमि डारति लता पीरे पीरे पात॥

शकु०—(सुध करती हुई सी) पिता, मैं इस माधवीलता से भी मिल लूँ, इसमें मेरा बहन का सा स्नेह है।

कण्व—बेटी, मैं भी जानता हूँ तेरा इसमें सहोदर का सा प्यार है। माधवी लता यह है दाहिनी ओर।

शकु०—(लता के निकट जाकर) हे बन ज्योत्सना। यद्यपि तू आज से लिपट रही है, तौ भी इन शाखा रूपी बांहों से मुझे मिलले क्योंकि अब मैं तुझसे दूर जा पड़ूंगी।

कण्व—   *   *   *   *

हे बेटी! विलम्ब मत कर, अब विदा हो।

शकु०—(दोनों सखियों से) हे सखियो। इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।

दोनों सखी—(आँसू गिराती हैं) हमें किस के हाथ सौंपती है।

कण्व—हे अनुसूया। अब रोना त्यागो। तुम्हें तो चाहिये कि शकुन्तला को धीरज बंधाओ (सब चलते हैं)।

शकु०—हे पिता। जब यह कुटी के निकट चरनेवाली ग्याभन हरिनी क्षेमकुशल से जने, तुम किसी के हाथों यह मंगल समाचार मुझे कहला भेजना—भूल मत जाना।

कण्व—अच्छा न भूलूंगा।

शकु०—(कुछ चलकर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अंचल नहीं छोड़ता ?

(पीछे फिर कर देखती है)

सवैया

कण्व—कहुं दाभन ते मुख जाको छिद्यो जब तू दुहिता लखि पावति हो।
अपने करते तिन घावन पै तुही तेल हिंगोट लगाबति हो॥
जिहिं पालन के हित धान समानित मूठिहि मूठि खवावति हो।
मृग छौना सो क्यों पग तेरे तजे जाहि पूत लौं लाड़ लड़ावति हो।

शकु०—अरे छौना। मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है। तेरी माँ तुझे जनते ही छोड़ मरी थी, तब मैंने तेरा पालन किया; अब मेरे पीछे पिता जी तुझे पालेंगे; तू लौट जा। (आंसू ढालती हुई चलती हैं)[1]। . . . . . .

मालविकाग्निमित्र में, जो शायद कालिदास का पहिला नाटक है, शुङ्ग सेनापति पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र और विदर्भराजकुमारी मालविका के प्रेम की कथा है। इसमें राजमहल के प्रेम और सौतिया डाह की घटनाएं नाट्यमञ्च पर आती हैं। दूसरे अङ्क में रंगशाला में राजा, धारिनी, योगिनी, विदूषक और नौकर चाकर देख पड़ते हैं। . . . .

मालविकाग्निमित्र

1. अनुवादक—राजा लक्ष्मणसिंह

राजा—(अलग विदूषक से) मित्र,

सो बैठी नेपथ्य तेहि देखन चित घबरात।
परदा खींचन हेत कर आगे खैचो जात॥

विदू०—(अलग राजा से) आप की आंखों का मधु तो आ गया है पर मक्खी भी लसी है। अब सावधान हो के देखिये।

(मालविका आती है और गणदास भी उसके अङ्ग की शोभा देखता हुआ आता है)

विदू०—(अलग राजा से) देखिये, देखिये, इसकी सुन्दरताई चित्र से कम नहीं है।

राजा—(अलग) मित्र!

चित्र देखि मो मन भयो सुन्दरता संदेह।
अब जान्यों धरि ध्यान कछु लखी चितेरन देह॥

गण०—बेटी घबड़ाओ नहीं।

राजा०—(आप ही आप) अरे, इसका रूप कैसा नख सिख से सुन्दर है।

झुके कध सुन्दर दोउ सोहत नैन विसाल।
केस उठे मुख मनहुं शारद ससि निशि काल॥
विपुल जांघ कटि मूठ भरि अति सुडौल दोउ पाँय।
रचे नाच के जोग ही अंग अंग सबै लखाय॥

मालविका—(अलाप के चतुष्पद गीत गाती है)

पिया मिलन है कठिन छांड़ु ताकी आसा हिय।
फरकत बाईं आंखि सगुन केहि कर यहि मानिय॥
अब फिर दरसन होय हाय कब तरसत मों जिय।
हौं परबस मैं परी हियो अरझो तो सन पिय॥

(इसके पीछे उसी रस का भाव बताती है)

विदू०—(अलग) समझे। इसने तो चतुष्पदी गीत गा के अपने को आप के अर्पन कर दिया।

राजा—हम दोनों की प्रीति एक ही है देखो,—

हिय अरुझो तो सन पिया प्रथम जाय यह बाऊ।
निज शरीर दिशि हाथ किय भाव बतावन काल॥
प्रेम जनावन रीति कोउ रानि सौंह नहि पाय।
नायक तोपन मिस कह्यो यहि विधि सेन बताय[1]॥

छठवीं सदी के लगभग भारवि ने किरातार्जुनीय में महाभारत के आधार पर कौरवों को जीतने के लिए शिव से अर्जुन के वर पाने की कथा कही है। पाण्डव और द्रौपदी वन मे पड़े हैं, उनका भेजा हुआ एक दूत लौट कर दुर्योधन के शासन कौशल का वृत्तान्त सुनाता है। जलन के मारे द्रौपदी युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए कहती है—

काव्य, छठवीं सदी के लगभग

किरातार्जुनीय

'. . . . जो लोग हमारे साथ छल कपट करें . उनके साथ साधुता का व्यवहार करना अविवेक के सिवा और कुछ नहीं। मायावियों के साथ मायावी होना ही चाहिये। . . . बिना कवच के शरीर को छेद कर तीखे बाण जैसे मनुष्य के प्राण ले लेते हैं वैसे ही भोले भाले साधु स्वभाव वाले मनुष्यो के हृदय में घुस कर शठ मनुष्य उनका नाश किये बिना नहीं रहते। . . . . . आप के सिवा संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा जो परम्परा से प्राप्त हुई विवाहिता भार्या के सदृश अपनी राज्य-लक्ष्मी को इस तरह निकाल बाहर करे? . . . . हाय! हाय! इस विगर्हणा का कहीं ठिकाना है! भला कहीं मनस्वी महीप ऐसे पथ में भूल कर भी पैर रखते हैं! ऐसा निन्द्य काम आपने कर डाला;

द्रौपदी की झिड़क

---

१. अनुवादक—लाला सीताराम।

फिर भी आप चुपचाप बैठे हुये हैं? सूखे हुये शमी के पेड़ को दावाग्नि जला कर जिस तरह ख़ाक कर देता है उसी तरह अपने शत्रुओं के विषय में उत्पन्न हुआ क्रोधाग्नि आपको क्यों नहीं जला कर ख़ाक कर देता? दुष्टों के अन्याचारों और दुष्कृत्यों का स्मरण करके भी आप को क्रोध न आवेगा तो फिर आवेगा कब? याद रखिये; जो मनुष्य क्रुद्ध होकर दण्ड और प्रसन्न होकर अनुग्रह करने में समर्थ होता है उसकी अनुकूलता सब लोग, आप ही आप, बिना किसी प्रेरणा के, करने लगते हैं। . . . . परन्तु जिसे कभी क्रोध आता ही नहीं उसके स्नेह और सत्कार की कोई परवा नहीं करता। . . . आपका जी न मालूम किस तरह का है। . . . आप तो निरन्तर दुःख उठाने ही को सुख समझ रहे हैं। . . . सम्भव है, आप की बुद्धि दुःख को ही सुख समझती हो परन्तु मैं तो इस प्रकार की चित्तवृत्ति को महा अनर्थ कारिणी समझती हूं . . . आप की जिन विपत्तियों का स्मरण मात्र करने से मुझे मर्म्मकृन्तक व्यथा होती है उन्हीं का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। तिस पर भी आपको कुछ भी दुःख, कष्ट या सन्ताप नहीं होता[१]।" . .

दण्डिन्। सुबन्धु।

इसी समय के लगभग दण्डिन् ने दशकुमारचरित में बड़ी चतुराई से चरित्र खींचे हैं और समाज की, ख़ास कर, दर्बारों की दशा अङ्कित की है। सुबन्धु ने वासवदत्ता में एक प्रेमकथा कही है।

पञ्चतन्त्र

कह चुके हैं कि पञ्चतन्त्र पुरानी पुस्तक है। इसमें पशु पक्षियों की कथाओं द्वारा राजकुमारों को उपदेश दिया है पर साधारण जीवन के सम्बन्ध में भी बहुत सी नीति कही है। पंचतन्त्र के सहारे बहुत से ग्रन्थ लिखे गये—जैसे तन्त्राख्यायिक, पञ्चाख्यानोद्धार, हितोपदेश।

---

१. अनुवाद—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी।

कथासरित्सागर इत्यादि की तरह पञ्चतन्त्र में भी कथाओं के अन्तर्गत कथाओं की तह पर तह लगाई है और गद्य के साथ पद्य मिला हुआ है। शैली का अनुमान पांचवें तन्त्र के एक कथांश से हो जायगा।

(पाटलिपुत्र नगर में) मणिभद्र नाम सेठ रहता था। धर्म्म के लिए काम करते करते दैवसंयोग से उसका धन जाता रहा। संपत्ति नास होने से अपमान पाते पाते बहुत दुखित हो रात को लेटा हुआ वह विचार करने लगा कि हाय इस दरिद्रता को धिक्कार है। कहा भी है—

सेठ की कथा।

दरिद्रता

शील शुद्ध आचार, क्षमा मधुरता कुल जनम।
पर चित वृत्ति विचार, सोह न धन बिन पुरुष के॥
सोभा बुद्धि विचार, मान गर्व अभिमान सब।
बिनसत हैं एक बार, धन विहीन जब होत नर॥
लगत बसन्त बयार, नित्य शिशिर की श्रिय सरिस।
सोचि कुटुम कर भार, नसत बृद्धि मतिमान की॥
बड़ा चतुर अस को न, घटै जासु मति धन घटे।
इन्धन चाउर नोन, तेल वस्त्र घी सोच से॥
बिन तारा आकास, मरघट भीषण सूख सर।
धन बिन कर आवास, होत सुन्दरहु रूक्ष इमि॥
धन बिन लहैं न मान, छोटे आगे हू रहत।
जल बुलबुला समान, जल ही में उपजैं मरैं॥

इस भांति विचार कर उसने फिर सोचा कि ऐसे वृथा जीने से क्या? तो मैं आहार न कर के प्रान छोड़ दूं। ऐसा निश्चय कर के सो गया। तब सपने में बौद्ध सन्यासी का रूप धर पद्मनिधि ने उसे दरसन दे कर कहा कि "हे सेठ! तुम उदास मत हो, मैं पद्मनिधि हूं, तुम्हारे पुरखों ने मुझे मनाया था, सो मैं इसी भेस

से सवेरे तुम्हारे घर आऊंगा। तब तुम मुझको लाठी से सिर पर मारना। इससे मैं सोने का बन कर अक्षयधन हो जऊँगा"। सवेरे वह सेठ जागा और सपने को चेत के चिन्ता के चक्कर में पड़ा कि अरे! यह सपना सच्चा है या झूठा होगा, कुछ जान नही पड़ता। वरन यह झूठा ही होगा क्यों कि मैं धन ह 'सोचा करता हूं। कहा भी है:—

> रोगी चिन्ता सोचयुत बुरी चाह जेहि होइ।
> मत्त पुरुष नित व्यर्थ ही सपना देखैं सोइ॥

इसी बीच में उसकी स्त्री का नंह रंगने एक नाई आया। उस समय वही बौद्ध सन्यासी, जैसा देख पड़ा था, तुरन्त ही प्रगट हुआ। तब सेठ ने उसे देख प्रसन्नमन हो पास से एक लाठी उठा उसके सिर पर मारी और वह सोने का हो कर उसी छन पृथ्वी पर गिर पड़ा। . . . . नाई भी घर जा सोचने लगा कि हो न हो सब नंगे सिर पर डण्डा मारने से सोने के हो जाते हैं। तो मै भी बहुतों को सवेरे बुला के लाठी से सिर पर मारूं तो मेरे बहुत सा सोना हो जाय[1]। . . .

भिन्न भिन्न शास्त्र

साहित्य का विश्लेषण

इस समय के लगभग साहित्य का एक नया अंग प्रारम्भ होता है। साहित्य कभी समालोचना के बिना पूरा नही हो सकता क्योंकि समालोचना से एक तो साहित्य का आदर्श ऊंचा रहता है और दूसरे साहित्य का मर्म समझने में पाठकों को सहायता मिलती है। समालोचना के कारण साहित्य के गुण अवगुण का विश्लेषण अच्छी तरह हो जाता है और लेखकों

---

1. अनुवादक-लाला सीताराम

को भी मदद मिलती है। प्राचीन भारत में सर्वाङ्गीण समालोचना अवश्य रही होगी पर यहां विभाग-उपविभाग करने की और हर एक विषय का अन्त तक विश्लेषण करने की ऐसी परिपाटी थी कि समालोचना ने भी मुख्यतः विश्लेषण का रूप धारण कर लिया। भाव, रस, चरित्र इत्यादि सब विषयों पर विचार किया जाता था पर विश्लेषण की रीति से ही।

अलंकार इत्यादि।

नियम बनाने की परिपाटी के अनुसार लेखकों ने काव्य-रचना की हर एक बात पर नियम बना डाले। उपमा, रूपक, दीपक और यमक, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार इत्यादि पर पहिले ग्रन्थों में बहस की है। फिर इनके बहुतेरे भेद किये गये हैं। काव्य के गुण हैं श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार, कान्ति। छठवीं सदी के लगभग दण्डिन् ने काव्यादर्श में कविता की कई किस्में बताई हैं—सर्गबन्ध या महाकाव्य, मुक्तक, कुलक, कोश, संघात। गद्य में कथा, आख्यायिका और चम्पू के कई प्रकार हैं। विस्तार से इनका वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर इतना कह देना आवश्यक है कि अलंकार पर संस्कृत मे अठारहवीं ईस्वी सदी तक ग्रन्थ बनते रहे हैं और उनकी देखादेखी हिन्दी, बंगला आदि देशभाषाओं में भी ऐसे ग्रन्थों की कमी नहीं है। इन सब की शैली एक सी है, विषय एक सा है, निष्कर्ष एक से हैं।

ध्वनि।

ध्वनियों का भी एक पूरा शास्त्र विद्वानों ने गढ़ दिया। नवीं ई० सदी में आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में, पीछे भट्टनायक ने हृदयदर्पण में, एवं अन्य लेखकों ने ध्वनियों के बहुत से प्रकार बताये है। ११-१२ ई० सदी में मम्मट ने काव्यप्रकाश में; हेमचन्द्र ने काव्यनुशासन में;

क्षेमेन्द्र ने अनुचित्यविचार और कविकण्ठाभरण में; १४ वीं सदी में विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में, सारे अलंकारशास्त्र की विवेचना की है।

साहित्य के अलावा विज्ञान की चर्चा भी देश में प्राचीन समय से हो रही थी। हिन्दू विज्ञानों की उत्पत्ति वैदिक धर्म की कुछ अवश्यकताओं से हुई थी। वैदिक पाठ शुद्ध रखने के लिए व्याकरण बना; यज्ञों का समय ठीक २ निश्चय करने के लिए ज्योतिष् की उत्पत्ति हुई; ठीक ठीक उच्चारण करने के लिए छन्दस् बना।

विज्ञान

जनता की साधारण भाषा न होने से संस्कृत को कोष की बहुत आवश्यकता थी। सब से पुराना कोष है निघन्टवस् जिसमें वैदिक शब्दों के संग्रह हैं। यास्क ने निरुक्त में वैदिक शब्दों के अर्थ बताये हैं और टीका सी की है। कहा जाता है कि लौकिक संस्कृत के कोष बाण, मयूर, मुरारि और श्रीहर्ष ने भी बनाये थे पर इनका पता अभी तक नहीं लगा है। ५-६ ई० के लगभग अमरसिंह ने नामलिङ्गानुशासन रचा जो अमरकोष के नाम से प्रसिद्ध है, जिस के अर्थ बीसों संस्कृत टीकाओं में उद्धृत किये गये हैं, और स्वयं जिस पर क्षीरस्वामी, वंद्यघटीय सर्वानन्द इत्यादि ने टीकाएं लिखी हैं। १०-१२ ई० सदी में हलायुध ने अभिधानरत्नमाला में, यादव-प्रकाश ने वैजयन्ती में, धनञ्जय ने नाममाला में, महेश्वर ने विश्व-प्रकाश में और दूसरे लेखकों ने दूसरे कोषों में शब्दों के संग्रह और अर्थ दिये हैं। १० वीं ई० सदी में धनपाल ने पाइयलच्छी नामक प्राकृत कोष रचा[1]। १२ वी सदी के लगभग मौग्गलायन ने पाली का एक कोष बनाया जो अभिधानप्पदीपिका नाम से प्रसिद्ध है।

कोष

---

१. कीथ, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर पृ० ४१३-४१५॥

साधारण जनता की मातृभाषा न होने से संस्कृत को कोष के साथ साथ सुव्यवस्थित व्याकरण की भी आवश्यकता थी। ई० पू० ६०० या ३०० के लगभग पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्रों के द्वारा संस्कृत के सब रूपों पर नियम बना दिये। पाणिनि ने कुछ वैयाकरणों का उल्लेख किया है जिससे ज़ाहिर है कि उसके पहिले भी कुछ व्याकरण रचे जा चुके थे पर सबसे अधिक व्यापक और वैज्ञानिक होने के कारण पाणिनि का व्याकरण ही सदा के लिए प्रमाण हुआ। तो भी कहीं पाणिनि का मत अग्राह्य था। कुछ दिन के बाद पतञ्जलि ने महाभाष्य मे पाणिनि के कुछ विवादग्रस्त नियम समझाये और कहीं कहीं विपरीत मत प्रकट किया। ३री ई० सदी के लगभग कात्यायन ने वार्त्तिकों में पाणिनि की आलोचना की और कुछ अन्य नियम लिखे। आगे चलकर और भी व्याकरण बने जैसे ६-७ ई० सदी के लगभग जैनेन्द्र व्याकरण, चान्द्र व्याकरण; नवी सदी में शाकटायन व्याकरण, उसके पीछे सिद्धहेमचन्द्र इत्यादि पर इनमें पाणिनि से भेद बहुत कम है। ६-७ ई० सदी के लगभग वररुचि ने प्राकृतप्रकाश नामक व्याकरण रचा। मध्यकाल अर्थात् मुसलमान राज्यकाल में भी संस्कृत और प्राकृत के बहुत से व्याकरण बने और पुराने व्याकरणों पर भाष्य लिखे गये या उनके संक्षेप बनाये गये।

व्याकरण

गणित ज्योतिष् का आरंभ भी वैदिक काल के आस पास हुआ था। धीरे धीरे गणना के कई प्रकार निकले और थोड़ी बहुत उन्नति होती रही। पांचवीं-छठवी ई० सदी में आर्यभट्ट ने आर्यभटीय, दशगीतिकासूत्र, आर्याष्टशत, कालक्रिया आदि में शास्त्र का कथन किया है। उसने माना है कि ज़मीन गोल है और

ज्योतिष्

चारों ओर मानो अपनी कीली पर घूमती है। छठवीं ई० सदी के लगभग बराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में पुराने पांच सिद्धान्तों का ज़िक्र किया है जिनमें से दो रोमक और पौलिश ग्रीक सिद्धान्त के प्रभाव में रचे गये थे। ७ वीं ई० सदी में ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त या स्फुट सिद्धान्त में और खंडखाद्यक में; लल्ल ने शिष्यधीवृद्धितन्त्र में; १२वीं ई० सदी में भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में एवं और विद्वानों ने और समयों पर अन्य ग्रन्थों में ज्योतिष् के सिद्धान्त लिखे हैं।

फलित ज्योतिष्

गणित ज्योतिष् के साथ साथ फलित ज्योतिष् की भी उत्पत्ति हुई। बराहमिहिर ने फलित के कई पुराने आचार्यों का ज़िक्र किया है। आगे चल कर इस पर ग्रीक फलित का बहुत प्रभाव पड़ा। फलित के ग्रन्थ लिखने की परिपाटी आज तक चली आती है। पर इस ओर अधिक ध्यान जाने से हिन्दू गणित ज्योतिष् का विकास रुकगया।

गणित

जिस समय ज्योतिष् का विकास हो रहा था उसी समय गणित का भी विकास हुआ। अङ्कगणित, बीजगणित और रेखागणित पर बहुत से ग्रन्थ रचे गये। भारतीय गणित का प्रभाव अरब गणित पर और उसके द्वारा तमाम यूरोपियन गणित पर पड़ा। रेखागणित की अपेक्षा अङ्कगणित और बीजगणित की ओर हिन्दुस्तानियों ने अधिक ध्यान दिया। वैद्यक के कारण

रसायन

रसायनशास्त्र पर भी कुछ रचनाएं हुईं पर भौतिकशास्त्र—फ़िज़िक्स—की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

कला

गुप्त काल में धर्म और साहित्य के साथ साथ कला का भी बड़ा प्रसार हुआ। इस समय की मूर्तियां और इमारतें प्रायः नष्ट होगई हैं पर जो बची हैं वह साबित करती हैं कि भारतीय प्रतिभा ने कला में भी ख़ूब विकास पाया। कानपुर ज़िले में भीतरगांव के मंदिर में पक्की मिट्टी की मूर्तियां ख़ूब ही बनाई हैं।

गुप्त कला

समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजत्व में बनारस के पास सारनाथ में और दूसरे स्थानों पर पत्थर के विशाल मंदिर बनाये गये थे जिनकी दीवारों, स्तम्भों और छतों पर बहुत सी मूर्तियां थीं। उनमें से कुछ अब तक बची हुई हैं।

पत्थर के अलावा सोने और तांबे से भी काम लिया जाता था। समुद्रगुप्त के समय का दिल्ली का लोहे का स्तम्भ प्रगट करता है कि इस समय लोहे की कारीगरी में बड़ी निपुणता प्राप्त हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की बुद्ध की एक साढ़े सात फ़ीट ऊंची तांबे की मूर्ति सुल्तानगंज में मिली थी। वह आज कल इंग्लिस्तान के बर्मिङ्घम नगर के अजायबख़ाने में है। शरीर के सब अङ्गों का आकार ख़ूब बना है और चहरे से शान्ति, करुणा, संयम और सामञ्जस्य टपकता है। छठी ईस्वी सदी के अन्त में मगध में नालन्द में बुद्ध की एक अस्सी फ़ीट ऊंची मूर्ति तांबे में ढाली गई थी। इसमें शरीर का आकार इत्यादि बहुत सुन्दर है।

स्तम्भ बनाने की प्रथा इस समय भी कुछ कुछ प्रचलित थी। ४५६ ई० के लगभग सम्राट् स्कन्दगुप्त ने हूणों और पुष्यमित्रों पर विजय के स्मरण के लिये वर्तमान ग़ाज़ीपुर ज़िले में भितरी स्तम्भ खड़ा कराया। ४६०—६१ ई० में एक जैन ने वर्तमान गोरखपुर

स्तम्भ

ज़िले के कहावन स्थान पर एक स्तम्भ बनवाया जिसपर पांच जैन सिद्धों की मूर्तियां हैं—एक नीचे और चार चोटी पर। इसी तरह और भी बहुत से स्तम्भ हैं।

गुप्त काल की गुफ़ायें

पांचवीं ईस्वी सदी में अजन्ता की दो गुफ़ायें (न० १६ और १७) बनाई गई जो कार्ली गुफ़ा का मुक़ाबिला करती हैं। पत्थर में गुफ़ा बनाना एक चमत्कार सा है। गुफ़ाओं में बाहर की किसी वस्तु का प्रयोग नहीं किया जाता था। कारीगर चट्टान को ही इस तरह काटते थे कि दर्वाज़े बन जायँ, कमरे बन जायँ, खम्भे खड़े रह जायँ, सुन्दर से सुन्दर मूर्ति भी निकल आये, देवी देवता, स्त्री पुरुष, हाथी इत्यादि सब प्रगट हो जायँ, यहां तक कि छोटे छोटे मोती और जवाहिर भी चट्टान काटते काटते मानों आप ही बन जायँ। गुफ़ाओं के ऊपर पहाड़ की ज़मीन साफ़ कर दी जाती थी और पानी बहने की नालियां इस तरह बनाई जाती थी कि गुफ़ा में एक बूंद भी न टपके। गुफ़ा का मुंह ऐसा रक्खा जाता था कि कुछ प्रकाश आता रहे। इसके अलावा कारीगर शीशे से सूरज की किरणें जमा करके अपने लिये अधिक प्रकाश की सृष्टि कर लेते थे। गुफ़ा बनाने की ऐसी कला आज संसार में कहीं नहीं है और प्राचीन समय में केवल भारत में थी। गुप्तकाल की अजन्ता गुफ़ाओं में चित्र बहुत हैं। यह चित्र सर्वोत्तम भारतीय चित्रों में गिने जाते है। आकार की उत्तमता के अलावा भाव का प्रदर्शन बड़ी उत्कृष्टता से किया है। इस समय के

चित्र

भारतीय चित्रों से सिद्ध होता है कि यहां चित्रकला का प्रधान उद्देश्य आभ्यन्तरिक भावों को प्रगट करना था। मानसिक अवस्था—शृङ्गार या वैराग्य, शान्ति या क्रोध, हर्ष या शोक, आह्लाद या निराशा—हर तरह से ज़ाहिर करने का प्रयत्न है; बाहरी बातों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता।

अजन्ता की गुफ़ा नं० २६ में बुद्ध की मृत्यु समय की एक २३½ फ़ीट लम्बी मूर्ति है। ग्वालियर रियासत की बाग़ गुफ़ाओं में भी अजन्ता की सी मूर्तियां हैं। सातवीं सदी की दक्खिनी औरंगाबाद गुफ़ाओं में भी इसी तरह की कला है। गुफ़ा नं० ३ में शरावी की १६ दशाओं के चित्र मूर्तियों के द्वारा खींचे हैं।

अन्य दृष्टांत

मध्यहिंद में भूपाल रियासत में बेसनगर के पास उदयगिरि पहाड़ी पर ४०१ ई० की चन्द्रगुप्तगुफ़ा में देवियों की बहुत सी गुफ़ाएं हैं। झांसी ज़िले की ललितपुर तहसील में देवगढ़ के मंदिर में महायोगी शिव की एक मूर्ति है। इसके पास एक और योगी है और बहुत से उड़नेवाले गंधर्व किन्नर हैं। योग की अवस्था बहुत अच्छी तरह चित्रित की है। इसी मंदिर के दक्खिन भाग में एक ओर अनन्त सर्प पर विष्णु विराजमान हैं। इलाहाबाद से २५ मील दक्खिन-पच्छिम में गढ़वा के बौद्ध मंदिर में सांची और भरहुत की शैली की मूर्तियां स्वाभाविक रूप की बनी हैं। मथुरा अजायबख़ाने की पांचवीं सदी की, खड़े बुद्ध की ७ फ़ीट २½ इंच लम्बी मूर्ति भी इस समय की कला का अच्छा उदाहरण है।

गुप्त काल के बाद अजन्ता के चित्र

गुप्त काल के बाद भी पुरानी भारतीय चित्रकला के अच्छे उदाहरण अजन्ता की २९ गुफ़ाओं में मिलते हैं। ९ और १० नं० गुफ़ाओं के चित्र तो शायद ईस्वी सन् से पहिले के हैं पर बाक़ी पहिली ईस्वी सदी से लेकर ७वीं सदी तक बनाये गये थे। अधिकांश चित्र ५५०-६४२ ई० के हैं। पक्षियों ने और आदमियों ने इन चित्रों को बहुत नुक़सान पहुँचाया है, और अक्सर अङ्ग भङ्ग कर दिया है पर तो भी इनसे पुरानी कला का अनुमान हो सकता है। चित्र खींचने में सफ़ेद प्लास्टर पर गहरी लाल लकीरें खींच कर फिर तरह तरह के हल्के या

गहरे रंग प्रयोग किये हैं; ज़्यादातर लाल, सफ़ेद और बादामी रंग गहराई के भिन्न २ परिमाणों में प्रयोग किये हैं; हल्के हरे और नीले का भी प्रयोग किया है। अधिकांश चित्र गौतमबुद्ध के जीवन की या जातकों में वर्णित बोधिसत्त्वों के जीवनों की घटनाओं के हैं। गुफ़ा नं० १७ में अवलोकितेश्वर, धर्मचक्र और शायद लंका में विजय के पहुँचने के भी चित्र हैं। गुफ़ा नं० १ में दक्खिनी राजा द्वितीय पुलकेशिन के दर्बार का ६२६ ई० का एक दृश्य है; फ़ारस के नरेश ख़ुशरू पर्वेज़ के एलची आये हैं।

कारीगरी। विषय।

जैसे चित्रों का विषय क्षेत्र विस्तृत है वैसे ही चित्रकारों की प्रतिभा भी बलवान है। प्रायः प्रत्येक विषय को बड़ी अच्छी तरह निभाया है। पहिली गुफ़ा में ऊपर एक प्रेमी और प्रेयसी का चित्र है जिसमें स्नेह की तस्वीर खींच दी है। फूल, पत्ते, हाथी, घोड़े, आदमी—सब ही या तो जीवन के सदृश हैं या कोई विशेष भाव सूचित करते हैं। गुफ़ा नं० १६ में ५०० ई० के लगभग दीवार पर एक ऐसा दृश्य खींचा है कि उसका सामना शायद संसार का कोई चित्र नहीं कर सकता। एक राजकुमारी के अन्त समय का दृश्य है। शायद उसे कोई ऐसा दुखद समाचार मिला है कि शोक से विह्वल होने के बाद वह संसार से कूच कर रही है। राजकुमारी चारपाई पर बैठी है, तकिये पर बांया हाथ रक्खे हुये है; एक सेविका पीछे से उसे सहारा दे रही है। चारपाई के कुछ पीछे एक लड़की छाती पर हाथ रक्खे राजकुमारी की ओर देख रही है। एक दूसरी लड़की अंगिया पहिने पंखा लिए है। एक बूढ़ा आदमी सफ़ेद टोपी पहिने दर्वाज़े पर झांक रहा है।

प्रतिभा

एक दूसरा बूढ़ा स्तम्भ के नीचे बैठा है। चारपाई के आगे दो स्त्रियां बैठी हैं। एक दूसरे कमरे में एक आदमी फ़ारसी टोपी पहिने कलश और प्याला लिए खड़ा है; एक दूसरा काले बाल वाला आदमी उससे कुछ मांग रहा है। दाहिनी ओर अलग कमरे में दो कन्चुकिनियां बैठी हैं। नीचे फ़र्श पर कुछ और लोग बड़े रंज में बैठे हैं, एक स्त्री हाथ से मुंह ढक कर आंसू बहा रही है इस तरह राजकुमारी संसार से विदा हो रही है। चित्रकार की प्रतिभा ने चारों ओर स्नेह, चिन्ता, निराशा, और शोक की वर्षा कर दी है। राजकुमारी का सिर गिरा जाता है, आंखे आधी बन्द हो गई हैं, अंग शिथिल हो गये हैं। उसकी परिचर्या करने वालियों के चहरे मानों चिन्ता के रूप ही बन गये हैं। इधर उधर खड़े या बैठे लोग शोक से विह्वल हैं। केवल एक ही विचार उनके मन में आता है—राजकुमारी ने अब आख़िरी सांस ली, अब आख़िरी सांस ली। वह सब भाव जैसे कवि शब्दों में प्रगट करता है वैसे ही चित्रकार ने अपनी पेंसिल से प्रगट किये हैं।

राजकुमारी का अन्त समय।

गुफ़ा नं० १७ और १६ में एक माता अपने छोटे बच्चे से गौतम-बुद्ध को आहार दिला रही है। गुफ़ा नं० २ में एक स्त्री एक पैर से खड़ी है, दूसरा पैर उठाये हुये एक स्तम्भ पर सम्हाले हैं, कुछ सोच रही है। ध्यान का भाव चित्रकार ने बड़ी सफ़ाई से दिखाया है। सारे चित्र ऐसे बनाये हैं कि देखते ही सारा रहस्य समझ में आ जाता है, किसी को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। देखते २ आदमी घटनाओं के रस में डूब जाता है, आपे को भूल जाता है और सौन्दर्य के संसार में लीन हो जाता है। चित्रों में जो बात है वही चट्टान से निकाली हुई मूर्तियों में है। कला में मानवी प्रतिभा किस

अन्य दृष्टांत =

सीमा तक पहुँच सकती है—इसका पता अजन्ता इत्यादि से ही लग सकता है।

सातवीं ई० सदी के बाद पुरानी भारतीय चित्रकला के कोई नमूने नही मिले हैं। पर साहित्य के ग्रन्थों पर से साफ़ ज़ाहिर है कि चित्रकारी बराबर होती रही।

पुरानी इमारतों और मूर्तियों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी कला बहुधा धर्म से संयुक्त थी और धर्म की सेवा करती थी। पर यह न समझना चाहिये कि सारी कला धार्मिक ही थी। मथुरा में और आस पास बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। एक मूर्ति है जिसमें एक आदमी बाँए हाथ से एक शेर को पकड़े हैं। मूर्ति का दाहिना हाथ टूट गया है, शायद उसमें शेर को मारने के लिये गदा रही होगी। बहुत सी मूर्तियों में शराब पीने के दृश्य अंकित किये हैं। एक जगह फूले हुये अशोक वृक्ष के नीचे शराब पीने के बर्तन पड़े हैं और चार आदमी खड़े हैं—दो पुरुष और दो स्त्री। एक आदमी सिर्फ़ एक लंगोट पहिने है, शराब में मस्त है, एक हाथ एक स्त्री की कमर पर डाले है, स्त्री ने दूसरा हाथ स्वयं पकड़ लिया है कि कहीं यह नशे में गिर न जाय। बाक़ी दो आदमी—एक स्त्री और एक पुरुष—ठीक कपड़े पहिने खड़े हैं पर यहां मूर्ति इतनी विकृत हो गई है कि उनका भाव अच्छी तरह नहीं जान पड़ता। दोनों स्त्रियां भारी हसुली, पहुँची, कड़े वग़ैरह पहिने हैं। इसके पीछे मूर्तिसमूह में पांच प्राणी हैं। इनमें से एक अधेड़ मोटा पुरुष ढीली धोती पहिने शराब में चूर पत्थर पर बांया पैर उठाये बैठा है। बांई ओर एक पुरुष और एक लड़का

कला और धर्म

धर्महीन कला

शराब पीने के दृश्य

और दाहिनी ओर एक स्त्री उसे पकड़े है कि कहीं यह लोटपोट न हो जाय। सारा दृश्य बड़े कौशल से खीचा है; जीवन से पूरा सादृश्य है। एक और जगह फिर अशोक के नीचे पांच आदमी नज़र आते हैं। एक मोटा नंगा आदमी पत्थर की छोटी चौकी पर बांया पैर उठाये बैठा है और काठ के प्याले से शराब पी रहा है। एक सेवक प्याला भरने के वास्ते शराब लिये खड़ा है। एक पुरुष, एक स्त्री और एक छोटा लड़का इस दृश्य को देख रहे हैं। एक और मूर्ति में फिर एक मोटा नंगा गंवार बैठा है, दाहिने हाथ में शराब का प्याला है जिसमें एक स्त्री सुराही से शराब भरने जा रही है। इसी तरह शराब पीने वाले नागों की बहुत सी मूर्तियां हैं। सम्भव है कि यह यक्ष पूजा करने वालों की या पुराने वाममार्गियों की हों पर शायद यह यों ही आनन्द विनोद के लिये बनाई गई थीं। कुछ भी हो इनकी स्वाभाविकता और जीवनसादृश्य ऊंचे दर्जे के हैं।

बारहवां अध्याय ।

सातवीं ईस्वी सदी

थानेसर ।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, सातवीं सदी के लगभग फिर संयोजक शक्तियों का प्राबल्य हुआ और विशाल साम्राज्यों का उदय हुआ। हिन्दुस्तान के पहिले साम्राज्य, मौर्यसाम्राज्य, का केन्द्र मगध में पाटलिपुत्र था; दूसरे साम्राज्य, गुप्तसाम्राज्य, का केन्द्र पच्छिम की ओर हट कर अयोध्या नगर हुआ; तीसरे साम्राज्य का केन्द्र और भी पच्छिम में स्थाण्वीश्वर या स्थानेश्वर अर्थात् वर्तमान थानेसर हुआ। थानेसर जमुना नदी के पच्छिम में है। पच्छिम की ओर साम्राज्य के केन्द्र के हटने का रहस्य यह मालूम होता है कि उत्तर-पच्छिम से बहुत हमले हो रहे थे और उनका सामना करने के लिये सम्राट् को अपनी राजधानी पच्छिम की ओर रखना आवश्यक था।

स्थाण्वीश्वर में छठवीं सदी के अन्त में प्रभाकरवर्धन नामक एक राजा राज्य करता था। उसकी मा गुप्त वंश की राजकुमारी थी।

प्रभाकरवर्धन

उसने चारों ओर के बहुत से राजाओं पर अपनी प्रभुता जमाई, और कुछ प्रदेश अपने ही शासन में मिला लिये। उसके पूर्वज, नरवर्धन, राज्यवर्धन, और आदित्यवर्धन महाराजा कहलाते रहे थे; अब तक प्रभाकरवर्धन भी महाराज कहलाता था पर प्रभुता बढ़ने पर उसने महाराजाधिराज की पदव

पदवी

धारण की। उसे हूणों से युद्ध करना पड़ा। मिहिरगुल के बाद हूणों की शक्ति मिट सी गई थी पर सातवीं ईस्वी सदी के आरम्भ के लगभग उत्तर-पच्छिम से कुछ और हूण आ गये। उनको भगाने के लिए ६०४ ई० में महाराजाधिराज ने अपने बड़े लड़के राज्यवर्धन को सेनानायक बना कर पच्छिम की ओर भेजा और छोटे लड़के हर्ष-वर्धन को भी कुछ घुड़सवार देकर भाई के पीछे रवाना किया। राज्यवर्धन ने विजय पाई पर इसके पहिले ही प्रभाकरवर्धन एक भयंकर रोग से पीड़ित होकर चारपाई पर पड़ चुका था। समाचार पाते ही हर्षवर्धन पिता के पास दौड़ गया था पर उसकी अवस्था बहुत शोचनीय थी। बाणभट्ट ने अपने हर्ष-चरित में राजकुमार की चिन्ता का विशद वर्णन किया है। राज्यवर्धन के लौटने के पहिले ही प्रभाकर का देहान्त हो गया।

हूणों से युद्ध

देहान्त

इस प्रकार ६०५ ई० में राज्यवर्धन महाराजाधिराज की पदवी धारण करके स्थाण्वीश्वर के सिंहासन पर बैठा। पर उसे कोई शान्ति नही मिली। उसकी बहिन राज्यश्री ग्रहवर्मन् मौखरि को ब्याही थी। ब्याह की धूमधाम के वर्णन में हर्षचरित के लेखक ने क़लम तोड़ दी है पर यह ब्याह राजकुमारी के लिए बहुत दुखदायी निकला। ग्रहवर्मन् शायद क़न्नौज का राजा था; मालवा नामक किसी प्रदेश के राजा से उसका युद्ध हुआ। ग्रहवर्मन् मारा गया और राज्यश्री पैरों में बेड़ी पहिना के क़ैदख़ाने में पटक दी गई।

राज्यवर्धन

यह समाचार पाते ही राज्यवर्धन ने १०,००० घुड़सवार लेकर धावा किया; मालवा के राजा को हरा दिया पर इसके बाद

राज्यश्री की विपत्ति

जो घटनाचक्र प्रारम्भ हुआ उसमें एक बड़ी दुर्घटना हो गई। मध्य बंगाल के राजा शशांक ने जो मालवा के राजा का मित्र था राज्यवर्धन को सभा के लिए बुलाया और धोखा देकर उसकी हत्या करा दी। इस बीच में राज्यश्री भी किसी तरह क़ैदख़ाने से निकल भागी और विन्ध्या पर्वत के जंगल में जा छिपी।

हत्या

इन विपत्तियों के समाचार से व्याकुल मंत्रियों ने स्थाण्वीश्वर में सभा की। सब से आवश्यक बात यह थी कि सिंहासन पर कोई राजा बैठे। भंडी ने जो प्रधान मंत्री मालूम होता है प्रस्ताव किया कि हर्षवर्धन गद्दी पर बैठे। सबको उसकी वीरता और योग्यता में विश्वास था। शायद राज्यवर्धन के कोई लड़का न था; या अगर था तो बहुत छोटा था। हर तरह से हर्षवर्धन का सिंहासन पर बैठना ठीक था। पर स्वयं उसे किसी कारण से संकोच था। युआन च्वांग लिखता है कि अन्त में अवलोकितेश्वर के मन्दिर में राज्य के लिये दैवी अनुज्ञा पा कर हर्ष ने सिंहासन स्वीकार किया। कुछ भी हो, ६०६ ई० में महाराजाधिराज होने पर हर्ष ने सब से पहिले अपनी बहिन राज्यश्री की चिन्ता की। विन्ध्या पर्वतों की घाटियों में चारों ओर खोज आरंभ हुई। अन्त में भील सर्दारों की सहायता से हर्षवर्धन बहिन के पास जा पहुँचा। वह तो इस समय निराश हो चुकी थी और अग्नि में प्रवेश करने वाली ही थी कि भाई उसके सामने आ खड़ा हुआ।

हर्षवर्धन

राज्य श्री।

इसके बाद राज्यश्री हर्षवर्धन के साथ ही रही। जान पड़ता है कि किसी तरह उसके पति का राज्य भी हर्षवर्धन के साम्राज्य में मिल गया। राजकुमारी बहुत पढ़ी लिखी थी, बौद्ध धर्म की पंडित थी, राजकार्य में कुशल थी। शासन में वह भाई की बहुत सहायता करती रही।

बाणभट्ट ने लिखा है कि आरोहण के बाद हर्ष ने दिग्विजय की। इस समय उसके पास ५,००० हाथी २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल थे। शायद अब रथों से युद्ध करने की परिपाटी कम हो गई थी। बहुत से राजाओं ने यों ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उत्तर भारत के कुछ अन्य राजाओं से युद्ध करके उसने अपना लोहा मनवाया। कोई साढ़े पांच बरस में उत्तर का अधिकांश भाग हर्ष की प्रभुता में आ गया।

दिग्विजय

बंगाल में शशांक ने कुछ दिन तक विरोध किया पर अन्त में उसने भी शायद हर्ष का आधिपत्य स्वीकार किया। तथापि जान पड़ता है कि मध्य बंगाल पर हर्ष का पूरा अधिकार न हो सका। ६१९-२० ई० के एक ताम्रपत्र लेख में शशांक को महाराजाधिराज कहा है जिससे उसकी स्वतंत्रता प्रमाणित होती है। शायद ६१९ ई० के लगभग वह फिर स्वतंत्र हो गया था।

बंगाल

बंगाल के पूरब में वर्तमान आसाम में कामरूप का ब्राह्मण राजा भास्करवर्मन् या कुमार हर्ष का अनुयायी हो गया, शायद इस लिये कि उसे अपने पड़ोसी शशांक के विरुद्ध सहायता की आवश्यकता थी।

कामरूप

वलभी के राजा ध्रुवभट्ट ने एक युद्ध मे हार खा कर हर्ष की प्रधानता मान ली। सोरठ अर्थात् दक्खिन काठियावाड़ में भी वर्धन आधिपत्य की पताका फहराई। पच्छिम में चम्बल नदी तक हर्ष का राज्य था और उस पार के सीमाप्रान्त तक के राजा उस का थोड़ा बहुत प्रभाव मानते थे। नैपाल को भी उसने विजय कर लिया। दक्खिन-पूरब की ओर बङ्गाल की खाड़ी के किनारे गंजाम पर भी उसने ६४३ ई० के लगभग अपनी

वलभी इत्यादि

प्रभुता जमा ली। पर नर्मदा नदी के नीचे दक्खिन में उसकी कुछ न चली।

तीसरी ईस्वी सदी के आरंभ तक दक्खिन में आंध्रों की प्रभुता रही थी। उसके बाद कई सदियों तक दक्खिन का राजनैतिक इतिहास बहुत कम मिलता है। कुछ ताम्रपत्रों से हाल में इतना पता लगा है कि तीसरी ई० सदी से छठवीं ई० सदी तक कदम्बवंश के ब्राह्मण राजाओं ने कनारा पर और उत्तर मैसूर पर राज्य किया। महाराष्ट्र में राष्ट्रकूट वंश का राज्य था। छठवीं सदी में चालुक्य वंश का उदय हुआ। यह लोग अपने को राजपूत कहते थे और उन की धारणा थी कि उनके पूर्वज पहिले अयोध्या में रहते थे। इतिहास से इसका पूरा समर्थन नहीं होता पर सम्भव है कि चालुक्यों के पूर्वज किसी उत्तरी प्रदेश से दक्खिन में आये हों। इस तरह का आना जाना प्राचीन समय में भी यहां बहुधा हुआ करता था। ५५० ई० के लगभग चालुक्य पुलकेशिन् प्रथम ने एक राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी बातापि या बादामी वर्तमान बीजापुर ज़िले में थी। जान पड़ता है कि पुलकेशिन् प्रथम ने इधर उधर के राजाओं पर अपनी प्रभुता जमाई और अपने आधिपत्य को प्रकाश करने के लिये अश्वमेध यज्ञ किया। उसके बाद उसके लड़के कीर्तिवर्मन् और मंगलेश ने चारो ओर अपनी प्रभुता फैलाई। उनके बाद सिंहासन की आकांक्षा करनेवाले राजकुमारों में लड़ाई हुई। परिवार के इस युद्ध में कीर्तिवर्मन् के पुत्र की जीत हुई और उसने ६०८ ई० के लगभग पुलकेशिन् द्वितीय की पदवी ग्रहण करके बातापि से शासन करना आरंभ किया। वंश की नीति के अनुसार उसने अपना साम्राज्य बढ़ाने

दक्खिन

पुलकेशिन् प्रथम

पुलकेशिन् द्वितीय

का घोर प्रयत्न किया और अन्त में सारे दक्खिन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ६११ ई० के लगभग उसने गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच का प्रदेश जीता। वहां उसके भाई विष्णुवर्धन ने वह पूर्वी चालुक्य राजवंश स्थापित किया जो १०७० ई० तक अर्थात् धुर दक्खिन के चोल साम्राज्य में मिलने के समय तक स्थिर रहा। स्वयं पुलकेशिन् द्वितीय ने धुर दक्खिन के चोल, पाण्ड्य, केरल और पल्लव राजवंशों से घमासान युद्ध किये पर धुर दक्खिन को विजय करने में वह सर्वथा असमर्थ रहा। तथापि उत्तर में नर्मदा और दक्खिन में कृष्णा नदी तक सारा देश उसके शासन या आधिपत्य में था। पूरब में बङ्गाल की खाड़ी और पच्छिम में अरब सागर उसके साम्राज्य की सीमा थे। समुद्री राह से पुलकेशिन् द्वितीय ने ईरान से सम्बन्ध स्थापित किये थे। ६२५-२६ ई० में ईरान के शाह ख़ुशरू द्वितीय के दर्बार में पुलकेशिन् के एलची पहुँचे और उसके बाद ख़ुशरू के एलची हिन्दू सम्राट् के दर्बार में आये। उनके स्वागत का चित्र अजन्ता की गुफ़ा नम्बर १ में आज तक बना हुआ है।

पूर्वी चालुक्य

ईरान से सम्बन्ध

इस प्रकार सातवीं ई० सदी के पूर्व भाग में हिमालय पर्वत और कृष्णा नदी के बीच का देश वर्धन और चालुक्य नाम के दो विशाल साम्राज्यों में विभाजित था। दोनों की सीमाएं मिल चुकी थीं और दोनों सम्राट् अपना आधिपत्य जमाने की आकांक्षा में व्यग्र थे। अतएव उन दोनों का संघर्षण अवश्यम्भावी था। ६१६ ई० के लगभग युद्ध छिड़ा। चारों ओर से पैदल, घुड़सवार और हाथी जमा करके और बहुत से अधीन राजा महाराजाओं को साथ लेकर हर्षवर्धन ने दक्खिन की ओर धावा किया। पर पुलकेशिन्

हर्षवर्धन और पुलकेशिन्

युद्ध

ने नर्मदा के तट की ओर मार्गों की रक्षा ऐसे कौशल से की कि उसरी सम्राट् को पीछे हटाना पड़ा। प्रत्येक सम्राट् ने समझ लिया कि दूसरे को जीतना असम्भव है। ६२० ई० के लगभग संधि हो गई।

संधि

हर्षवर्धन ने ६४७ ई० तक राज्य किया और हिन्दू परम्परा के अनुसार हर तरह से प्रजा का हित करने का प्रयत्न किया। वह स्वयं बौद्ध धर्म का पक्ष लेता था; उसका झुकाव पहिले तो हीनयान की ओर और फिर महायान की ओर था। पर वह सब धर्मों के अनुयायियों पर कृपा करता था, सबको दान देता था और किसी को पीड़ा न पहुँचाता था। जैसे पुलकेशिन् ने ईरान से सम्बन्ध स्थापित किये थे वैसे ही हर्ष वर्धन ने चीन से सम्पर्क पैदा किया। ६४१ ई० में उसने एक ब्राह्मण दूत को कुछ और आदमियों के साथ चीन सम्राट् के दर्बार में भेजा। वह लोग ६४३ ई० में एक चीनी दूत और कुछ अन्य चीनियों के साथ लौटे। चीनी दूत हर्ष-वर्धन के दर्बार में ६४५ तक रहा। उसके लौटने पर एक दूसरा चीनी दूत तीस घुड़सवारों के साथ ६४६ ई० में फिर हिन्दुस्तान आया। पर इन चीनियों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। ४१ बरस राज करने के बाद ६६७ ई० में हर्षवर्धन का देहान्त हुआ। उसके किसी पुत्र या स्त्री का उल्लेख न तो बाणभट्ट ने, न युआन च्वांग ने और न किसी ताम्रपत्र ने किया है। शायद उसने ब्याह न किया था। कुछ भी हो, वर्धन वंश का कोई उपयुक्त राजकुमार न होने से हर्ष के मंत्री अर्जुन या अरुणाश्व ने गद्दी दबा ली। उसने चीनियों को लूट लिया और उनमें से अधिकांश को मार डाला। जो बचे वह नैपाल की राह से तिब्बत भाग गये।

चीन से सम्बन्ध

अर्जुन

तिब्बत का राजा स्रोंगसन गम्पो चीन सम्राट् का और नेपाल के राजा का सम्बन्धी था। वह हिन्दू सभ्यता का भक्त था। उसने तिब्बत में बौद्ध धर्म फैलाया, हिन्दू विद्वानों की सहायता से तिब्बती लिपि की रचना की। पर अर्जुन के हत्याकांड पर उसे बड़ा क्रोध आया। उसने १२०० तिब्बती और ७००० नैपाली सिपाहियों की सेना चीनी दूत वंगह्वन्‌त्सी की अध्यक्षता में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने को भेजी। इन लोगों ने तिरहुत जीतकर दीवारों से घिरे हुये ५३८ क़स्बों पर अधिकार कर लिया, हज़ारों हिन्दुओं का वध किया और अर्जुन को क़ैद कर के चीन भेज दिया। चीनियों का बदला चुक गया, शायद कुछ दिन तिरहुत में तिब्बती शासन रहा पर विदेशी सेना वापिस लौट गई।

तिब्बत से हमला

हर्ष के मरते ही वर्धन साम्राज्य का अन्त हो गया था और उत्तर भारत फिर छोटे २ अनेक राज्यों में बट गया था। कामरूप का राजा कुमार तुरन्त ही स्वतंत्र हो गया था। उसने तो उस तिब्बती सेना की सहायता की जो हर्ष के उत्तराधिकारी के नाक में दम कर रही थी। उत्तर-पच्छिम के सब राजा बिल्कुल स्वतंत्र हो गये। सिंध के राजा जो बौद्ध थे और शूद्र थे अपनी राह पर चलते रहे। मालवा और सुराष्ट्र में स्वतंत्र राजा प्रगट हुये।

वर्धन साम्राज्य का अन्त

उधर दक्खिन में भी बहुत से परिवर्तन हो गये थे। पुलकेशिन् द्वितीय ने अभिषेक के बाद ही धुर दक्खिन से लड़ाई छेड़ दी थी। ६२० ई० में हर्षवर्धन की ओर से एक संधि के द्वारा निश्चिन्त हो जाने पर उसने अपनी सारी शक्ति दक्खिन की ओर लगा दी। कांची के पल्लव राजाओं को उसने कई बार हराया पर अन्त में ६४२

पुलकेशिन् का अन्त

ई० में पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् ने उसके दाँत खट्टे कर दिये, उसकी राजधानी छीन ली और शायद स्वयं उसे मार डाला। इस तरह पुलकेशिन् का अन्त होने पर कुछ दिन दक्खिन में पल्लवों का ही दौर दौरा रहा। पर ६५५ ई० में पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने घटनाचक्र को एक बार फिर पलट दिया। बड़ी नीति और चतुराई से उसने चालुक्यों की टूटी शक्ति को ठीक किया, पल्लवों का सामना किया और ६७४ ई० में पल्लव राजधानी कांची पर अधिकार कर के बत्तीस बरस पुरानी क्षति का बदला लिया। इसी समय के लगभग चालुक्य वंश की एक शाखा ने गुजरात में अपना राज्य स्थापित किया। चालुक्यों और पल्लवों की बराबर की लड़ाई थी; वह बहुत बरसों तक जारी रही; कभी इनकी, कभी उनकी जीत रही। इस संग्राम का तत्व यह है कि दक्खिन और धुर दक्खिन एक दूसरे पर अधिकार जमा कर विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य बनाना चाहते थे; बार बार ऐसा प्रतीत हुआ कि इधर का या उधर का प्रयत्न सफल हो रहा है; पर प्राकृतिक रुकावटें ऐसी विकट थीं कि दोनों प्रदेशों का संयोग बहुत दिन तक सम्भव न था।

पल्लवों की प्रधानता

चालुक्यों का पुनरुत्थान

धुर दक्खिन की राजनीति का इतिहास उत्तर से कम पुराना न रहा होगा। यह तामिल सभ्यता का केन्द्र था जो प्राचीन संसार की बड़ी सभ्यताओं में थी। पर अभाग्यवश यहां का प्रामाणिक राजनैतिक इतिहास बहुत पीछे प्रारंभ होता है। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि ईस्वी पूर्व ८-७ वीं सदी के लगभग या शायद उससे भी बहुत पहिले आर्य सभ्यता ने दक्खिन में प्रवेश किया, ब्राह्मण धर्म फैला, संस्कृत का पठन पाठन प्रारंभ हुआ। ई० पू०

धुर दक्खिन

चौथी सदी में जैन धर्म और बौद्ध धर्म भी आये। उत्तर की तरह यहाँ भी यह तीनों धर्म हज़ार बरस तक साथ साथ प्रचलित रहे। तामिलकम् प्रदेश में तामिल भाषा और साहित्य सदा प्रचलित रहे हैं। सारे दक्खिन में शासन और कला उत्तर से कुछ भिन्न थे। राजनैतिक इतिहास में धुर दक्खिन का सम्पर्क उत्तर से कई बार हुआ जैसे मौर्य और गुप्त कालों में, और दक्खिन से तो बराबर ही रहा। पर इनके अलावा धुर दक्खिन के राजनैतिक इतिहास का अपना अलग चक्र है। यहां प्राचीन समय में तीन बड़े राज्य स्थापित हुये थे—

तीन बड़े राज्य

चोल, पाँड्य और चेर या केरल। चोल राज्य पेनार और दक्खिनी वेलरू नदी के बीच में था। इसके दक्खिन में पांड्य राज्य था जो कन्याकुमारी तक फैला हुआ था और पच्छिम में अर्थात् मलाबार तट पर चेर या केरल राज्य था। इनकी सीमाएं बदलती रहती थीं। इनके अलावा बहुत से छोटे राज्य थे, संख्या में कोई १२० थे,

छोटे राज्य

जो कभी स्वतंत्र हो जाते थे और कभी इस बड़े राज्य की और कभी उस बड़े राज्य की अधीनता में रहते थे।

चोल

चोल राज्य का पहिला उल्लेख ई० पू० चौथी सदी के लगभग वैयाकरण कात्यायन में मिलता है। अशोक के समय में चोल राज्य स्वतंत्र था। तामिल ग्रन्थों से तथा ग्रीक और रोमन लेखकों से मालूम होता है कि ईस्वी सन् की पहिली दो सदियों में चोल राज्य के व्यापारी एक ओर तो बंगाल की खाड़ी पार करके बंगाल और बर्मा के बन्दरों से और महासागर पार करके पूर्वी द्वीपों से व्यापार करते थे और दूसरी ओर केरल के द्वारा मिस्र तक से माल मंगाते थे। कावेरी नदी के मुहाने पर कावेरिपत्तिनम् कुछ दिन तक मुख्य

बन्दरगाह था जहां बहुत से देशी और विदेशी व्यापारी रहते थे पर दूसरी तीसरी ई० सदी में समुद्र की लहरों ने इसे नष्ट कर दिया। यह नगर राजा करिकाल ने बसाया था जो चोल इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। शायद वह ईस्वी सन् की पहिली या दूसरी सदी में हुआ था। पांड्य और केरल राज्यों से उसने बड़े युद्ध किये यद्यपि वह उनको जीत न सका। दक्खिन की ओर उसने लंका पर आक्रमण किया और कई युद्ध जीते। तामिल कवियों ने लिखा है कि करिकाल लंका से हज़ारों आदमियों को क़ैद कर के लाया और उन से कावेरी नदी पर सौ मील का बांध बनवाया। तीसरी ई० सदी के लगभग चोलवंश का प्रभाव कुछ समय के लिये कम हो गया और केरल राज्य का दौर दौरा शुरू हुआ।

केरल

केरल राज्य का उल्लेख भी अशोक के शिलालेखों में आया है। यह भी सिद्ध है कि ईस्वी सन् के प्रारंभ में यह प्रदेश अरब, मिस्र, और रोमन साम्राज्य से समुद्री व्यापार करता था। तीसरी बात यह भी मालूम है कि चोल और पांड्य राज्यों से केरल के युद्ध हुआ करते थे। पर इसके सिवाय बारहवीं ई० सदी के पहिले केरल इतिहास की बहुत कम बातें मालूम हैं।

पाण्ड्य।

पाण्ड्य राज्य भी बहुत पुराना था। ई० पू० चौथी सदी के लगभग कात्यायन ने इसका उल्लेख किया था और ग्रीक राजदूत मेगस्थेनीज़ ने वर्णन किया था। ग्रीक वर्णन की दन्तकथाओं से यह भी अनुमान होता है कि पाण्ड्य राजाओं के पास हाथी घोड़े और पैदलों की बड़ी भारी सेना थी और सिंहासन पर स्त्रियां भी बैठी थीं। ई० पू० २० में पाण्ड्य राजा ने रोमन सम्राट् आगस्टस के पास एक दूत भेजा था। दूसरी ई० सदी में रोमन लेखकों ने पाण्ड्य राज्य के

बन्दरगाहों का वर्णन किया। यहां से भी दूर दूर के देशों के साथ व्यापार होता था। इसी शताब्दी में नेडुमचेलियन नामक प्रतापी राजा हुआ। राजधानी मदूरा या मजूरा नगर में थी जो धर्म और साहित्य का केन्द्र था। यहां पर तामिलसङ्गम् था जिसने तामिल में बड़े बड़े ग्रन्थ निकाले और साहित्य का आदर्श बहुत ऊंचा रक्खा। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाण्ड्य राजा केरल और चोल राज्यों से बराबर लड़ाई किया करते थे।

पल्लव

चौथी ई० सदी के लगभग धुर दक्खिन में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। चोल साम्राज्य के अधीन एक राजाने, जो कांची में राज्य करता था, पल्लव वंश को बढ़ाया। थोड़े ही दिन में पल्लव राजा स्वतंत्र हो गये और अनेक प्रदेशों के अधिकारी हो गये। सातवीं सदी में पल्लवों का प्रभाव खूब बढ़ा और उन्होंने चालुक्य साम्राज्य से बराबरी का संग्राम किया। सातवीं ई० सदी तक राजनैतिक इतिहास का यह क्रम रहा। दक्खिनी राज्यों की शासनव्यवस्था का पता आगामी काल के लेखकों से लगता है और इस लिये उसका वर्णन आगामी अध्याय में किया जायगा[1]। यहां पर अब सातवीं सदी के उत्तरी शासन का और देश की साधारण सभ्यता का दिग्दर्शन कराना है।

---

१. सातवीं ईस्वी सदी के राजनैतिक इतिहास के लिये देखिये, बाणभट्ट, हर्ष-चरित, युआन च्वांग, बील, सीयूकी, और वाटर्स का अनुवाद, युआन च्वांग का आत्मचरित, कल्हण, राजतरंगिणी ॥ शिलालेख और ताम्रपत्रों के लिये, फ्लीट, कोर्पस इन्स्क्रप्शनम्, इन्डिकेरम्, भाग ३, एपिग्राफिया इन्डिका; इन्डियन एंटिक्वेरी ॥ सुसम्बद्ध इतिहास विंसेंट ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया में है। रामकृष्ण गोपाल भंडारकर कृत अर्ली हिस्ट्री आफ़ दि दक्खिन भी देखिये। राधा कुमुद मुकर्जी का "हर्ष" भी देखिये ॥

शासन

वर्धन साम्राज्य ।

वर्धन साम्राज्य का शासन उन्हीं सिद्धान्तों पर स्थिर था जो गुप्त साम्राज्य के थे। ताम्रपत्रों से, चीनी यात्री युआन च्वांग (६३०-४५ ई०) के यात्रावर्णन से और बाणभट्ट के हर्षचरित एवं उपन्यास कादम्बरी से राजप्रबन्ध की बहुत सी बातों का पता लगता है। सातवीं सदी में ज़मीन्दारी संघशासन प्रथा और भी गहरी हो गई है। महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक के चारों ओर बहुतेरे महराजे, महासामन्त इत्यादि हैं और इनमें से बहुतों के चारों ओर आधीन राजा और सामन्त हैं। छोटे छोटे राजा और सामन्त सैकड़ों क्या हज़ारों नज़र आते हैं। यह लोग घरेलू मामलों बहुधा स्वतन्त्र थे पर अपने प्रभुओं के दरबार में जाते थे, उनकी सैनिक सहायता करते थे, उनका सम्मान करते थे, उनसे पदवी पाते थे। महाराजाधिराज हर्षवर्धन के सबसे बड़े आधीन राजा महाराजा १८ थे जिनमें कामरूप का राजा सब से बड़ा था। हर्ष ने भी दिग्विजय की थी पर राजाओं की जड़ नहीं उखाड़ी थी[1]। इस समय बहुत से अक्षत्रिय राजा थे। स्वयं हर्षवर्धन को युआन च्वांग ने एक जगह वैश्य और दूसरी जगह वैश्य राजपूत कहा है। कामरूप के राजा बहुत पीढ़ियों से ब्राह्मण

संघशासन

१, फ्लीट नं० ५२ ॥ ई० आई० ७ । नं० २२ ॥ ११,नं० २ ॥ युआन च्वांग (वाटर्स) १ । पृ० ३४०-४१, १२२, ३४९-५०, २९६ ॥ २ । २४५-४७ ॥ युआन च्वांग (जीवन चरित्र, बील) पृ० १८३, १८५ ६, १८९-९० ॥ बील सि-यू-की, १ । पृ० १४३-४७ ॥ २ । २८६, २६८ ॥ बाणभट्ट, हर्षचरित, पृ० १५४-५८, १७०, १८८, २१८, २३१, २४०, २५३, ६८, ७८, १९०-९१, ,१९३, १६६ ।

जाति के थे । पार्यात्र (वैरात) का राजा वैश्य और सिंध का शूद्र था[1]।

सम्राट् अपनी विधवा बहिन राज्यश्री के सहयोग से शासन करता था जिससे प्रगट है कि उन दिनों कम से कम कुछ स्त्रियां बहुत पढ़ी लिखी और होशियार हुआ करती थीं । हर्षवर्द्धन अक्सर दौरा किया करता था और दिन रात प्रजा की सेवा में लगा देता था । यों तो बड़ी शान शौकत से रहता था पर हर पांचवें बरस प्रयाग में मोक्षपरिषद् पर सब कुछ दान में लुटा देता था ।

सम्राट्

बौद्ध होने पर भी ब्राह्मण और दूसरे धर्मवालों की बहुत मदद करता था; हां, बौद्धों को दान ज़्यादा मिलता था जिससे नाराज़ हो कर एक बार ब्राह्मणों ने उसे मार डालने का षड्यंत्र रचा । युआंन च्वांग कहता है कि और बहुत से हिन्दू शासक भी साधू, विद्वान्, अनाथ, विधवा, और ग़रीब आदमियों को बहुत दान दिया करते थे और कोई कोई तो हर्ष की तरह मोक्षपरिषद् भी किया करते थे । हर्ष की आमदनी का कोई आधा हिस्सा विद्या और धर्म के कामों में ख़र्च होता था । इस समय हिन्दुस्तान में राज्य की सहायता से बड़े बड़े विद्यापीठ चलते थे ।

परोपकार ।

विद्यापीठ

नालन्द के संघाराम को १०० गावों का कर मिलता था । इसकी ऊँची बुर्जें पहाड़ी सी मालूम होती थीं और आसमान से बातें करती थीं । हिन्दुस्तान भर से आकार यहाँ १,५१० अध्यापक और १०,००० विद्यार्थी जमा थे जिनके लिये रहने, खाने पीने, दवा इत्यादि का पूरा प्रबन्ध था । संघाराम का

नालन्द

[1] पूर्ववत् ।

प्रधान शीलभद्र सर्वज्ञ सा था और बहुत से अन्य अध्यापकों ने विद्या के दस दस अङ्गों पर प्रभुता पाई थी। युआन च्वांग से ज़ाहिर है कि इस तरह के छोटे छोटे विद्यापीठ देश में बहुत से थे। हर्षचरित में बाणभट्ट ने भी इनका उल्लेख किया है। विद्या की उन्नति का एक और उपाय इस समय प्रचलित था। राजा महाराजा विद्वानों की सभाएं करते थे, शास्त्रार्थ कराते थे और इनाम देते थे। क़न्नौज में हर्षवर्धन ने एक बड़ी सभा की थी जिसमें दूर दूर से ३००० महायान और हीनयान बौद्ध, नालन्द के १००० बौद्ध विद्वान् और ३००० ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ मौजूद थे। कभी कभी स्त्रियां भी इन विशाल सभाओं में शास्त्रार्थ करती थीं। एक बार माधव नामक विद्वान की अकस्मात् मौत के बाद उस की विधवा ने उसका स्थान तुरन्त ग्रहण किया और .खूब शास्त्रार्थ किया। कभी कभी इन सभाओं में मनमुटाव बढ़ जाता था; एक बार युआन च्वांग का जीवन ख़तरे में आगया। पर इन सभाओं से विद्या की उन्नति अवश्य होती थी। ७ वीं ई० सदी के अन्त में चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा कि बहुत से युवक विद्वानों को राजा की नौकरी मिल जाती थी। इससे भी विद्या-व्यसन बढ़ता था। कहते हैं कि स्वयं हर्ष ने तीन नाटक लिखे,—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। बाणभट्ट ने लिखा है कि हर्ष के दर्बार में भी बौद्ध, ब्राह्मण, जैन, आर्हत, पाशुपत, पाराशर इत्यादि पन्थों के विद्वान् रहते थे। इस समय बंगाल के राजा शशांक ने बौद्धों पर अत्याचार किया, गया में बोधिवृक्ष को कटा दिया पर साधारणतः देश में पूरी सहनशीलता थी। शासन पद्धति लगभग वैसी ही थी जैसी गुप्त साम्राज्य में देख चुके हैं, वैसे ही अधिकारी थे, वैसे ही कर थे, न्याय भी वैसा ही था।

शास्त्रार्थ

सहनशीलता।

युआन च्वांग ने पानी, गर्म लोहा और विष की परीक्षाओं का विस्तार के वर्णन किया है[1]। हर्ष ने सारे राज्य में हिंसा और मांसभक्षण की मनाही कर दी थी; गंगा के किनारे कई हज़ार स्तूप बनवाये थे, बौद्ध तीर्थों पर संघाराम बनवाये थे। रास्तों पर राज्य की ओर से सरायें थी और अस्पताल थे जहां खाना पीना, दवा—सब मुफ़्त मिलती थी। युआन कहता है कि कर हल्के थे। दूसरों पर अत्याचार के अपराध में नाक, कान, हाथ या पैर काट लिया जाता था या अपराधी देश से निकाल दिया जाता था या जंगल में भगा दिया जाता था। जेल-ख़ानों की हालत बड़ी ख़राब थी; क़ैदी यों ही जीने मरने के लिये छोड़ दिये जाते थे। साधारण अपराधों के लिये जुर्माना किया जाता था। देश की रक्षा के लिये हर्ष के पास १,००,००० घुड़सवार, ६०,००० हाथी, और ५०,००० से ज़्यादा पैदल थे। घोड़े सिंध, अफ़ग़ानिस्तान या फ़ारस से लाये जाते थे। नगरों के चारों ओर अक्सर दीवाल होती थी[1]। व्यवसायियों की श्रेणियां इस समय और भी बढ़ गई थीं। कुमारी राज्यश्री के ब्याह पर बढ़ई, चित्र-कार इत्यादि की श्रेणियां सामान ठीक करने को बुलाई गई थीं। शिलालेखों और ताम्रपत्रों

न्याय

रक्षा

श्रेणी

---

1. फ्लीट न० १२ ॥ हर्षचरित, ८५, १००, १०२, २२७, २३७, ८०, ८३, १७७, ७८, १४२, १८१, २२०, ७०, ६८, ९८, १६१, १७१, १७८, २००, १८६, १५१, १५४, १६६, ८७-९०, २३०, २४३, २८६ ॥ आई० ४ न० २२ ॥ १ न० ११, १३, ॥ १५ न० १९ ॥ ८ । न० २० ॥ आई० ए० २६ पृ० ३२ ॥ युआन च्वांग (वाटर्स) १ । पृ० १२२-२३, १५४, १७१-२, १७६, १६१ ॥ २ । ३४४, १६४-६५ ॥ बील, सि-यू-की १ । २१८, २१०-१५, २२०-२१ २३३, २२, ८३, ८७-८८ ॥ २ । १७०-७१ युआन च्वांग, जीवन चरित्र (बील) १९०-९१, १७०-७१, १८७, ११०-१२ ॥ इत्सिंग (अनु० टकाकुसू) पृ० १७७-७८ ॥

में श्रेणियों के मन्दिर इत्यादि बनवाने का ज़िक्र है। याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति ने श्रेणियों के लिये बहुत से नियम बनाये हैं जिनसे मालूम होता है कि प्रत्येक श्रेणी में विचार के लिये सदस्यों की एक सभा होती थी, साधारणतः श्रेणी के लोग जैसा चाहते अपना प्रबन्ध करते रहते थे पर झगड़ा फ़साद होने पर सरकार हस्तक्षेप करके मामले ठीक कर देती थी। प्रत्येक श्रेणी में बहुत से नवसेवक या उम्मेदवार रहते थे जो काम सीखने पर पूरे सदस्य होते थे। आर्थिक मामलों के अलावा कुछ सामाजिक सेवा भी श्रेणियां करती थीं और अक्सर आपस के छोटे छोटे झगड़े तै कर दिया करती थी[1]।

दक्खिन

दक्खिन के ताम्रपत्रों में भी इस समय वैसी ही शासन पद्धति नज़र आती है जैसी उत्तर में थी। पर कहीं २ सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक की उपाधि नहीं रखता और कहीं कहीं महासामन्त एक नई उपाधि पञ्चमहाशब्द रखते थे जिसका अर्थ यह मालूम पड़ता है कि वह पांच ख़ास बाजे बजाने के अधिकारी थे[2]। बाणभट्ट के कादम्बरी उपन्यास से ऊपर की राजनैतिक बातों का समर्थन होता है।

साधारण जीवन

सामाजिक अवस्था

इस काल की ऐतिहासिक सामग्री से जान पड़ता है कि कम से कम कुछ वर्गों में अब भी युवक युवतियों को प्रेम और गन्धर्व ब्याह के अवसर थे, युवक

---

१ हर्षचरित १५८ ॥ ई० आई० ९ नं० २५ ॥ याज्ञवल्क्य २। १८६-९२ ॥ नारद १०। २-६ ॥५। १६-२१ ॥ बृहस्पति १। २८, ३० ॥ १७। ५-२१ ॥

२. ई० आई० ६। नं० २९, १ ॥ ५। नं० ५, २ ॥ १४। नं० ८ ॥ ३। नं० ८ ॥ ९। नं० ५३ ॥ २। नं० ४ ॥ ८। नं० २२, २४ ॥ ११। नं० १७ ॥ एपिग्राफ़िया कर्नाटिका ८ पृ० १६८ ॥ आई० ए० १८ पृ० २७५ ॥ १२। पृ० ९५ ॥

युवतियों को प्रसन्न करने की बड़ी चेष्टाएं करते थे। दोनों एक दूसरे के पास तुहफ़े भेजते थे। इस वर्ग की स्त्रियां अनेक—व्याहप्रथा को स्त्री जाति का अपमान और सबसे बड़ा दुख समझती थीं। एक बार चन्द्रापीड़ कादम्बरी से कहता है कि अगर पति दूसरा व्याह करे तो स्त्री उसे एक दम त्याग दे; अगर न त्यागे तो स्त्री पर लानत है। इस उपन्यास से मालूम होता है कि-सुख, भोग विलास, ऐश्वर्य की सामग्री बड़े घरानों में अपरम्पार थी। कादम्बरी में चण्डाल कन्या बिना रोक टोक के राजा के पास जाती है, कथा सुनाती है और यह भी कहती है कि आवश्यकता पड़ने पर ऊंचे वर्ण वाले चण्डालों से भोजन और पानी ले सकते हैं। बहुत से स्थानों में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की पूजा होती थी; श्राद्ध और यज्ञों के नियम पढ़ाये जाते थे। बहुत से नंगे और परिव्राजक साधु भी थे। कभी २ साधुओं का गृहस्थ कन्याओं से प्रेम हो जाता था। सुबन्धु के वासवदत्ता से भी यही नतीजे निकलते हैं। यहां प्रेमियों के बीच में दूतियां दौड़ती हैं। इधर उधर वेश्याएं भी हैं जो दर्बारों में आती जाती हैं। नागानन्द से मालूम होता है कि रानियों की दासियों पर भी कभी २ राजा मुग्ध हो जाते थे। राजकुमारियों को पढ़ना, गाना बजाना इत्यादि सब कुछ सिखाया जाता था।

धर्म

बाणभट्ट के हर्षचरित से मालूम होता है कि साधारण गृहस्थ भी बहुत से यज्ञ करते थे, शिव इत्यादि देवों की पूजा करते थे। जैन, आर्हत पाशुपत, पाराशर्य, ब्राह्मण, बौद्ध इत्यादि बहुत तरह के साधू होते थे। यात्रा के पहिले स्त्रियां बहुत से नेग करती थीं।

नौकरी

कुछ लोग नौकरी को बुरा समझते थे पर राजदर्बारियों का मान सब जगह होता था। जहां कोई विद्वान् थे वहाँ देहात

में भी व्याकरण, मीमांसा, न्याय इत्यादि की ख़ूब पढ़ाई और बहस होती थी। शहरों में उत्सवों पर जैसे राजकुमारों के जन्म पर, राजकुमारियों के ब्याह पर, बहुत प्रमोद होता था; स्त्री पुरुष, बच्चे बूढ़े ग़रीब अमीर सब नाचते गाते थे[१]।

विद्या

उत्सव

रत्नावली नाटक से मालूम होता है कि होली ख़ूब मनाई जाती थी; लाल अशोक पीछे कामदेव की पूजा होती थी। नाट्यमंच पर स्त्रियां भी आती थीं। भवभूति के मालतिमाधव और उत्तररामचरित में पति और पत्नी का अटूट, घनिष्ट, आध्यात्मिक सम्बन्ध बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है। दूसरे देशों से व्यापार ख़ूब होता था। युआन च्वांग लिखता है कि अकेले वलभी नगर में कोई सौ घर थे जो एक एक करोड़ की दौलत रखते थे। दूर दूर के देशों से क़ीमती जवाहिरात यहां जमा थे।

होली

व्यापार

इस समय विद्या और शास्त्र में मालवा और मगध सब प्रान्तों से बढ़ कर थे। यहां बौद्धों में और दूसरे लोगों में ख़ूब शास्त्रार्थ होते थे पर सब जगह सहिष्णुता थी[२]। नगरों के चारो ओर ऊंची और मोटी दीवालें थीं पर अन्दर गलियां तंग और टेढ़ी थीं। क़साई, मछुए, नट, जल्लाद और मेहतर शहर के बाहर रहते थे और बस्ती में चुपके २ बाईं ओर चलते थे। मकानों के अन्दर बीच में एक बड़ा कमरा होता

चीनी यात्रियों के वर्णन

नगर

---

१. बाणभट्ट, हर्षचरित, (कावेल और टामस), १४, ४९, ५८-५९, ६२, ६७, ९२, १०२, १०७, १११-१३, ११७, १२९, १४२-४४, १४७, १५७, १६३, २८९॥
२. युआन च्वांग, वाटर्स, २। पृ० २४२॥

था और छोटे छोटे कमरे होते थे। बड़े आदमी अपनी कुर्सी वग़ैरह ख़ूब सजाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय सफ़ाई और सादगी से रहते थे। ख़ास कर ब्राह्मण स्नान इत्यादि का बहुत ख़याल करते थे। वैश्य लोग व्यापार करते थे और शूद्र खेती। इनके अलावा बहुत सी मिश्रित जातियां थीं जो हर तरह के व्यवसाय करती थीं। ऊंचे वर्णों में बालकों की शिक्षा बहुत जल्दी शुरू होती थी। पहिले धर्म की कुछ पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। फिर सात बरस की अवस्था होने पर व्याकरण, शिल्प, ज्योतिष्, आयुर्वेद, न्याय, और अध्यात्मविद्या पढ़ाई जाती थी। ब्राह्मण चारों वेद भी पढ़ते थे। तीस बरस की उम्र पर अध्ययन पूरा करके युवक अपना व्यवसाय शुरू करता था और सबसे पहिले गुरुओं को दीक्षा देता था। बहुत से परिव्राजक गुरु थे।

मकान

शिक्षा

हिन्दुस्तानियों के बारे में युआन ने यह राय क़ायम की कि इनका चाल चलन पवित्र है यह ईमानदार हैं पर बड़े जल्दबाज़ हैं और इरादे के कच्चे हैं। युआन कहता है कि ग़रीब और अमीर एक दूसरे से शादी नही करते, स्त्रियां दुबारा ब्याह नहीं करतीं। घर के बरतन ज़्यादातर मिट्टी के होते थे, पीतल के कम थे। कश्मीर के लोग जादू टोना बहुत करते थे[1]। एक दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग कहता है कि ब्राह्मण हाथ पैर धो कर छोटी छोटी चौकियों पर बैठ कर भोजन करते थे। छात्र लोग नौकरों की तरह गुरुओं की सेवा करते थे और हर छोटी बड़ी बात के लिए उनकी इजाज़त लेते थे। खाने या

चरित्र

भोजन

---

१. युआन च्वांग वाटर्स, १। पृ० १४७, १५१, १५४-५५, १५९-६०, १६८, १७१, १७५, २२४॥

व्याख्यान के कमरों में बड़े २ गद्दे नहीं होते थे लकड़ी की ही मेज़, कुर्सी रहती थी[1]।

साधु सन्यासी

युआन च्वांग ने इस समय बौद्ध भिक्खुओं के अलावा और बहुत तरह के साधु सन्यासी देखे थे जो मोरपंख पहिनते थे, या खोपड़ियों की माला डालते थे, या घास पहिनते थे, या नंगे रहते थे, या केशलोंच करते थे या बालों की बड़ी चुटिया बनाते थे। वस्त्रधारियों के कपड़े तरह २ के रंग के होते थे। बौद्ध श्रमणों के कपड़े पन्थों के अनुसार तीन रंग के होते थे।

श्रमण

श्रमणों की प्रत्येक मंडली छोटे बड़े के नियम अपने आप बनाती थी। जो एक शास्त्र की व्याख्या करता था वह मुखिया की सेवा करने से मुक्त कर दिया जाता था; जो तीन शास्त्रों की व्याख्या करता था उसकी सहायता के लिये बौद्ध भिक्खु नियत किये जाते थे; जो चार की व्याख्या करता था उसे बौद्ध गृहस्थ सेवा के लिये मिलते थे; जो पांच की व्याख्या करता था वह हाथी को सवारी करता था; जो ६ की व्याख्या करता था वह जलूस के साथ हाथी की सवारी करता था। जो इससे बढ़ कर था उसे और भी अधिक प्रतिष्ठा मिलती थी। शास्त्रार्थों में जो भिक्खु सब से अच्छे साबित होते थे वह हाथियों पर बड़े जलूसों के साथ निकाले जाते थे। जो बिलकुल निकम्मे और पाखंडी सिद्ध होते थे उनके चेहरे लाल और सफ़ेद मिट्टी से पोते जाते थे, उनके शरीर धूल से भर दिये जाते थे और वह जंगल या खाई में फेंक दिये जाते थे। जो विनय (शास्त्र) के विरुद्ध भिन्न २ अपराधों के दोषी ठहरते थे वह भिक्खु डांटे जाते थे, या उनसे बोल चाल बन्द कर दी जाती थी या बिलकुल उनका बहिष्कार कर दिया जाता था।

---

१. इतसिंग (अनु० टकाकुसू), पृ० २२, ११६, १२३-२४ ॥

बहिष्कार के बाद भिक्खु या तो क्लेश से आवारा घूमता था या फिर संसार में प्रवेश करता था। भिक्खुओं के संघ बहुत से थे और सारे देश में फैले हुये थे[1]।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में सातवीं ईस्वी सदी में पूर्व काल की प्रवृत्तियां जारी हैं। कालिदास की सी प्रतिभा का कोई कवि नहीं हुआ पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये जो संस्कृत साहित्य में ऊंचा स्थान रखते हैं।

साहित्य

सातवीं सदी के लगभग भट्टि ने रावण वध या भट्टि काव्य में राम की कथा ऐसी भाषा में कही है कि व्याकरण के सब मुख्य नियमों के ब्योरेवार उदाहरण आगये हैं। कुमारदास ने जानकी-हरण में रामकथा विशुद्ध काव्य की शैली से वर्णन की है। सातवीं सदी के लगभग माघ ने शिशुपाल वध में कृष्ण के हाथों से फुफेरे भाई चेदि राजा के मारे जाने की कथा भारवि की शैली के अनुसार, अर्थात्, महाकाव्य के ढंग पर कही है। दूसरे सर्ग में सभा के अधिवेशन में कृष्ण से हलधर कहते हैं:—

भट्टि इत्यादि

माघ

*   *   *   *

राजहि उचित नाहिं संतोषा। नृपन माँहि मानत तेहि दोषा॥
सदा बारिनिधि पूरन रहई। वृद्धि हेत पूरन ससि चहई॥
धे रेहि धन जो रहै अवाना। तेहि नहिं देत और भगवाना॥

*   *   *   *

जब लगि होइ न रिपु कर नासा। रहे न सुचित होन की आसा॥

---

1. युआन च्वांग, वाटर्स, १, पृ० १४४, १५८-६२, १६२, २०२-२०३, २१४-१५, २१८ ॥ २। २१, १९१ ॥

मग धूरहि जब कीच बनावत । तब जल लखहु और मग धावत ॥
एकहु रिपु जाके जग रहई । सो संकित रहि सुख नहिं लहई ॥

*   *   *   *

जब सन भीम मगध नृप मारा । रहे दुखी अति शत्रु तुम्हारा ॥
दुखी शत्रु पर करब चढ़ाई । यदपि उचित अति नीति बताई ॥
झिझकत करत काज सोइ सूरा । ग्रहै राहु ज्यों हिम कर पूरा ॥
यह बिचारि शंका जनि करहू । निगम नीति निज चित मंह धरहू ॥

*   *   *   *

यहि विधि हली बचन जब कहे । चकित चित्र से सुर जनु रहे ॥
सभा भीति सुनि गूंज सुनाई । अनुमोदन जनु कीन्ह डेराई ॥
हरि सोइ सुनि कछु उतर न दीन्हा । उद्धव ओर सैन तब कीन्हा ॥
अर्थ युक्त हित बचन गंभीरा । लगे कहन तब उद्धव धीरा ॥

*   *   *   *

"जानत शास्त्र भेद तुम ताता । तुम सन कहब नीति की बाता ॥
ज्ञान दिखावन हित जनि जानहु । पाठ गुनन सब मम बच जानहु ॥
प्रिय रावन चाहत अनुकूला । है द्वय तासु सिद्ध के मूला ॥
मंत्र शक्ति इक, इक उत्साहा । धरै सो दोउ निज मह नरनाहा ॥
राखै युक्ति सहित जो दृढ़ मति । लहै न खेद परेहु संकट अति ॥

*   *   *   *

बारह नृप आदित्य समाना । तिन महं जय ज्यों चहत सुजाना ॥
उत्साही इक ज्यौं दिन नायक । रहि है उदय होन के लायक[1] ॥

*   *   *   *

काव्यों के अलावा बहुत से स्वतंत्र श्लोक भी लिखे गये जिन में से प्रत्येक में नीति, शृंगार या वैराग्य की कोई बात है । ७ वीं ई० सदी के लगभग भर्तृहरि ने नीति, शृंगार और वैराग्य पर एक २ शतक लिखा । इनकी शैली कुछ दृष्टान्तों से प्रगट होगी:—

शतक

भर्तृहरि

---

1. डा० सीताराम के अप्रकाशित अनुवाद से ।

निकसत बारू तेल, जतन कर काढ़त कोऊ ।
मृगतृष्णा को नीर, पिये प्यासौ है सोऊ ।
लहत शशा को शृङ्ग, ग्राह मुखतें मणि काढ़त ।
होत जलधि के पार, लहर वाकी जब बाढ़त ॥
रिस भरे सर्प कों पुहुप ज्यों, अपने सिर पै धर सकत ।
हठभरे महामठ नरन कों, कोऊ बस नहिं कर सकत ॥ ४ ॥ ५ ॥

*　　*　　*　　*

जब हों समझो नेक तबहि सर्वज्ञ भयो हैा ।
जैसे गज मदमत्त अंधता छाय गयौ हैा ॥
जब सतसंगति पाय कछुक हों समझन लाग्यो ।
तबपि भयो अति मूढ गर्वगण कौ सब भाग्यौ ॥
ज्वर चढ़त चढ़त अति ताप ज्यों उतरत सीतल होत तन ।
त्यों ही मन कौ मद उतरिगौ लियो शील सन्तोष पन ॥ ८ ॥

*　　*　　*　　*

मांगै नाहि जो दुष्ट सों लेत मित्र कौं नाहिं ।
प्रीति निबाहत विपद में न्याय वृत्ति मन माहिं ॥
न्याय वृत्ति मन माहिं उच्च पद प्यारौ जिनको ।
प्राणन हूं के जात अकृत नहिं भावत तिन को ॥
खड्गधारव्रत धार रहै केहूं नहिं त्यागें ।
सन्तन को यह मंत्र दियौ कौने बिन मांगे ॥ २८ ॥

*　　*　　*　　*

सत पुरुषन की रीति, सम्पत् में कोमलहि मन ।
दुखहू में यह नीति, बज्र समानहि होत तन ॥ ६६ ॥

*　　*　　*　　*

पुत्र चरित तिय हित करन, सुख दुख मित्र समान ।
मनरञ्जन तीनों मिलें, पूरब पुण्यहि जान ॥ ६८ ॥

*　　*　　*　　*

भूमि शयन कहुं पलंग पै, शाकाहार कहुं मिष्ट ।
कहुं कन्था सिर पाव कहुं, अर्थी सुख इष्ट[1] ॥ ८२ ॥

* * * *

नाट्य शास्त्र

हिन्दुओं की रीति थी कि संसार में जो कुछ हो उसके नियम बना देते थे । जैसे धर्म, आचार, अर्थ, काम के नियम बना दिये थे वैसे ही काव्यों और नाटकों का प्रचार बढ़ने पर इनके भी नियम बना दिये,—वैसे ही ब्योरेवार, हर चीज़ के बारे में । ई० चौथी सदी के लगभग वह नाट्यशास्त्र बना जिसके रचयिता भरत माने जाते हैं और जिसमें नाटकगृह, मंच, पर्दे, पात्र, वस्त्र, आभूषण, कविता, भाव, रस, गाना, नाच आदि पर बहस की है । आगे चलकर दसवीं ई० सदी में धनञ्जय ने दशरूप में इस शास्त्र की पूरी व्यवस्था कर दी । यहां नाटक से सम्बन्ध रखने वाली हर एक बात पर कड़े नियम बनाये हैं जिनसे साधारण लेखकों को ज़रूर बहुत मदद मिली होगी पर जिनकी कड़ाई ने प्रतिभा का विकास, जो स्वतंत्रता पर निर्भर है, बहुत कुछ रोक दिया । नाट्यशास्त्र के और बहुतेरे लेखकों ने भरत और धनञ्जय का अनुकरण किया है ।

नाटक

भवभूति

कालिदास के बाद चन्द्र या चन्द्रक नाटककार हुआ पर उसके समय और रचना का ठीक ठीक पता नहीं है । सातवी आठवीं सदी में भवभूति ने मालतिमाधव, महावीरचरित और उत्तर-रामचरित लिखे । पहिले नाटक में पेचीदा प्रेमकथा है । महावीरचरित में राम की कथा ब्याह के समय से रावणवध के बाद

---

1. अनुवादक—बाबू हरिदास वैद्य ॥

अयोध्या में अभिषेक तक है। उत्तररामचरित में सीता के निर्वासन की कथा बड़ी करुणा से कही है। चरित्र-चित्रण में ही नहीं किन्तु प्रकृति के वर्णन में भी भवभूति ने बडा चमत्कार दिखाया है।

उत्तररामचरित

पर बहुत से श्लोक बड़े क्लिष्ट हैं, समास बहुत लम्बे हैं, नाटक मंच की अपेक्षा पाठशाला के अधिक योग्य हैं। लंका से लौट कर राज्याभिषेक के बाद दुर्मुख नामक दूत से प्रजा में प्रचलित अपवाद को जान कर राम अपनी बांह पर सिर रक्खे सोती हुई गर्भवती सीता को वन में त्या ने का इरादा करते हैं। पर तो भी कहते हैं:—

"हाय हाय मै भी कैसा कठोर हो गया।
हाय मेरी इस चाल को लोग बुरा कहेंगे।

सीता का त्याग

बालपने सन पोषी प्यारी। जानी कबहुं न हिय सों न्यारी॥
मैना सम तेहि बिन अपराधा। सौंपत मृत्यु हाथ जिमि व्याधा॥

हाय, मै पापी अब रानी को क्यों छुऊँ। (सीता का सिर उठा के अपना हाथ खींच के)

ए भोरी मोहि छांड़ि दे मै पापी चडार।
चन्दन के धोखे लसी तू विषतरु की डार॥

(उठ कर) हाय! संसार उलट गया, हाय! आज मेरे जीने का कुछ काम न रहा हाय! संसार सूना उजाड़ जंगल सा हो गया। मैं तो समझता हूँ कि—

मिली चेतना राम को दुख भोगन के काज।
वज्र कील सन जनु जड़े निसरत प्रान न आज॥

हाय! माता अरुन्धती! हाय! महात्मा वसिष्ठ! विश्वामित्र! हाय! अग्नि देवता! हाय धरती देवी! हाय! जनक जी! हाय पिता! हाय माता! हाय प्यारे मित्र महाराज सुग्रीव! हाय हनुमान जी! हाय! परम उपकार करने वाले लङ्का के राजा विभीषण!

हाय सखी त्रिजटा ! आज राम पापी ने तुम सब का अनादर किया, आज सब को राम ने धोखा दिया। हाय ! मैं उनका अब कैसे नाम लूं।

ते सज्जन गुनधाम, उन कहं लगि है दोष जो।
तिन सब के सुभ नाम, मैं कृतघ्न पापी लिये॥

हा बेचारी इन्हें इसका कभी ध्यान भी न होगा।

सोई बांह सीस निज धारी। सोमा निज घर की प्रिय नारी॥
बाढ़ो गर्भ होत दिन पूरा। देहुं पशुन तेहि बलि मै क्रूरा॥"
(रोता है)।

* * * *

बन में त्यागी हुई सीता को ऋषि वाल्मीकि ने अपने आश्रम में शरण दी। यहां पर, नाटक के चौथे अङ्क में, जनक जी आते हैं।

जनक—परी हाय मम सीय पर ऐसी विपति गंभीर।
बेध्यो सोइ मेरो हियो दूखत सकल शरीर॥
भे दिन बहु तउ नव सरिस बहत मनहु जलधार।
खैंचत सो प्रानहिं तऊ घटै न सोक अपार॥

हाय हाय बुढ़ापा आ गया, ऐसी गाढ़ी विपत्ति पड़ी, पराक सान्तपन आदि तप करने से शरीर का लोहू सूख गया अब भी मुझको मौत नही आती। ऋषि लोग तो कहते हैं कि जो लोग आत्महिंसा करते हैं वह घोर अंधेरे नरक में पड़ते हैं। बरसों हो गये तौ भी हर घड़ी सोचने से मेरा दुख और भी बढ़ता हुआ नया ही देख पड़ता है। हाय सीता देवी, तुम्हारा जन्म यज्ञभूमि से हुआ तो भी तुम्हारा ऐसा परिणाम हुआ कि लाज के मारे मै रो भी नही सकता। हाय बेटी !

रोवत हसत बालपन तोरे। दांत लखात कली सम थोरे।
कहत मनोहरि तोतरि बाता। सुमिरिहु आज बदन जल जाता॥

भगवती धरती महारानी तुम बड़ी कठोर हो।

* * * *

उधर राम के यज्ञ के घोड़े को सीता के पुत्र लव और कुश ने पकड़ लिया और राम की सेना से लड़ाई छेड़ दी। लव ने बहुत से सिपाही मार डाले। कुमार चन्द्रकेतु सुमन्त से कहता है:—

'गिरि कुंजन में नाग यूथ जो सोर मचावत।
तिनहू के यह शब्द कान में पीर उठावत॥
उपजत धुनि गंभीर वीर दुन्दुभी बजावत।
मिलि धनु के टंकार गूंजि आकास चढ़ावत।

सुमन्त—(आप ही आप) हम इसके साथ चन्द्रकेतु को कैसे लड़ने दें (सोच के) क्या करें हम लोग इक्ष्वाकु के घर में पले हैं। जब काम पड़ जायगा तो क्या करेंगे?

चन्द्रकेतु—(आश्चर्य और लाज से) हाय, क्या मेरे सिपाही सब तितर बितर हो गये?

सुमन्त—(रथ दौड़ा कर) भैया, देखो वह वीर अब तुम्हारी बात सुन सकता है।

— — — —

चन्द्रकेतु—सुनो, वीर लव।

का मिलि है तुम को भला सैनिक नीच हराइ।
इत आओ मो सन भिरो तेजहिं तेज बुझाइ[1]॥

* * * *

तीन नाटक—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका—सम्राट् हर्षवर्द्धन के कहे जाते हैं। नागानन्द में विचित्र परोपकार का कथानक है। दूसरे की जान बचाने के लिये एक राजा अपने को गरुड़ के अर्पण कर देता है। पांचवें अङ्क में राजा को आगे रक्खे हुये भूमि पर बैठा गरुड़ दिखाई देता है।

नागानन्द

---

1. अनुवादक—लाला सीताराम।

गरुड़—जन्म से आज तक मैंने सापों का ही अहार किया है पर ऐसा आश्चर्य कभी नहीं देखा। यह कि मरने के समय सभी को भय और दुःख होता है। यह महात्मा जिसका अब मरण निकट आ गया है केवल व्यथा को ही सहन नहीं किये है किन्तु कुछ प्रसन्न सा भी दीखता है। देखो :—

नहिं गलानि मन मांहि भई जिहि रुधिर पिये ते।
करत मांस की व्यथा रोकि सुख सुखी भये ते॥
चित उदार अति रोम हर्ष पुनि प्रगट लखाता।
ताते केवल छीन भयो बलहीन न गाता॥
जो मैं अपकारी हौं न तरु उपकारी सम अजहुं इत।
है परत दीठि जाकी सरल सदानन्द धरि धीर चित[1]॥

सो इसके ऐसे धैर्य्य से आश्चर्य ही होता है। हो, पर इसे अब नहीं खाऊंगा। अच्छा भला पूछूं तो यह कौन है?

राजा—नाड़ी मुख ते रुधिर हू स्त्रवत अहै बनि धार।
अजहुं मांस मम देह विच कत नहिं करत अहार॥
महाराज देखत अहौं तृप्ति न भई तुम्हारि।
ह्वै निवृत्त किमि रमि रहो भक्षण ते मुख मारि॥

गरुड़—(आप ही आप) अहह!! क्या ऐसी दशा में भी अपने प्राणों को रखे हुये हैं? (प्रगट) मैने अपनी चोंच से तेरे हृदय से खींच कर रुधिर पान किया सही, परन्तु अब तू अपनी धीरता से मानों मेरा रक्त पी रहा है, सो तू कौन है मै भी सुनना चाहता हूँ।

राजा—तू भूख से ऐसा बिकल हो रहा है कि अभी सुनाने योग्य नहीं है इस लिये मेरे मांस और रक्त से अपनी तृप्ति कर।

* * * *

---

1. अनुवादक—पंडित सदानन्द अवस्थी।

अधिकांश हिन्दू साहित्य—यहां तक कि वैज्ञानिक साहित्य भी—पद्य में है पर कुछ उपन्यास तथा अन्य ग्रन्थ गद्य में भी लिखे गये।

हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट ने कादम्बरी उपन्यास रचा जिसमें प्रधान चरित्रों के कई जन्म होते हैं। कथाकहने वाले तोते को लाने वाली चंडाल लड़की का वर्णन इस तरह किया है। "वह कन्या गमन-शक्तिवाली इन्द्रनीलमणि की पुतली सी लगती थी, उसका श्याम रंग था, इस कारण वह दैत्यों से लिये गये अमृत को हरण करने के लिये माया से मोहनी रूप धारण करने वाले—विष्णु का मानो अनुकरण करती थी। पैर की गांठ तक पहुँचते हुये नीले अधोवस्त्र से उसका शरीर ढका हुआ था और ऊपर उसने लाल दुपट्टा ओढ़ लिया था। इनसे वह ऐसी लगती थी मानो—सूर्य की किरणें जिस पर पड़ी हों ऐसी—नील कमलों की एक भूमि हो। एक कान में पहने हुये कर्णभूषण की प्रभा से उसके गाल गोरे दिखाई देते थे, इस कारण वह—उदय होते हुये चन्द्र-बिम्ब की किरणों से व्याप्त मुख वाली—मानो रात्रि थी। कुछ कुछ पीले रंग के गोरोचन से उसने तिलक रूपी तीसरा नेत्र बना लिया था, जिससे मानो वह—महादेव के वेष के समान ही भीलनी का वेष धारण करने वाली—पार्वती थी। नारायण के वक्षःस्थल में निवास करने से लगी हुई उनकी देह प्रभा के कारण काली पड़ी हुई मानो वह साक्षात् लक्ष्मी थी। कुपित हुये महादेव की अग्नि से जलते हुये कामदेव के धुएं से मलिन हुई मानो वह रति थी। कामावेश में आये हुये बलराम के हल से खिंच जाने के भय के कारण भागी हुई मानो वह यमुना थी। उसके चरणकमलों पर बहुत गाढ़ी लाल लाख के रंग से फूल पत्ते

कादम्बरी

चंडाल लड़की

बनाये गये थे। इनसे वह—तत्काल मारे हुये महिषासुर के रुधिर से लाल चरणवाली—दुर्गा के समान लगती थी। लाल उँगलियों की प्रभा से उसकी नखकिरणें लाल हो गई थीं। उसके चरणों में जो फूल पत्ते कढ़ रहे थे उनकी परछाईं ज़मीन पर पड़ती थी। इससे ऐसा लगता था मानों बहुत कठिन मणिमय भूमि का स्पर्श असह्य होने के कारण वह फूल पत्ते बिछाती हुई उनपर चलती है। नूपुर मणि में से निकलते हुये अच्छे पीले रंग के प्रकाश से उसका शरीर रंग गया था—जिससे ऐसा लगता था मानो भगवान् अग्नि ने, केवल उसकी कान्ति का पक्षपात कर और प्रजापति की आज्ञा को लोप कर, उस जाति को पवित्र करने के लिये, उसके शरीर को आलिंगन किया है। उसकी कमर में तागड़ी की लड़ पड़ी थी। वह कामदेव रूपी हाथी के मस्तक के ऊपर की मोतियों की माला और रोमावली रूपलता की क्यारी के समान लगती थी। बड़े बड़े मोतियों की स्वच्छ माला उसने गले में पहन रक्खी थी। वह ऐसी लगती थी मानों उसे यमुना जान कर गंगा मिलने के लिये आई हो। शरद् के समान उसके कमलनयन प्रफुल्ल थे; वर्षा ऋतु की भांति उसके केश घन थे; मलयाचल के मध्यभाग के समान वह चंदनपल्लवों से भूषित थी; नक्षत्रमाला के समान वह चित्र श्रवणाभरण से अलंकृत थी; लक्ष्मी की भांति वह हस्त-स्थित कमल-शोभा थी; मूर्छा के समान वह मन को हर लेती थी; बन भूमि के समान वह अक्षत रूप सम्पन्न थी; देवाङ्गना के समान अकुलीन थी; निद्रा की भांति वह नेत्रग्राहिणी थी; वन-कमलिनी की भांति वह मातंगकुल से दूषित थी; उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता था, इस कारण वह मानो निराकार थी; उसका केवल दर्शन ही हो सकता था, इस कारण वह मानो तसवीर थी; चैत्र मास की पुष्प-समृद्धि की तरह वह विजाति थी; कामदेव के पुष्पधनुष की डोरी

के समान उसकी कमर मुट्ठी में आने के योग्य थी और कुवेर की लक्ष्मी के समान वह अलकोद्भासिनी थी॥"

शिकारियों के हमले के बाद जाबालि ऋषि के जिस आश्रम में शरण पाई थी उसका चित्रण तोता करता है। 'वह मानों दूसरा ब्रह्मलोक था। उसके चारों ओर वन थे। उनमें बहुत से वृक्ष लग रहे थे। वे फूल फलों से लद रहे थे। वहां ताड़, तिलक, तमाल, हिंताल और मोलसिरी के वृक्ष बहुत थे। नारियलों पर इलायची की बेल चढ़ी हुई थी। लोध्र, लवलो और लोंग के पत्ते हिल रहे थे। आम की मंजरी की रज ऊंची उड़ रही थी। भ्रमरों की भनकार से आम के वृक्षों में शब्द हो रहा था। उन्मत्त कोकिलाओं का समूह कोलाहल कर रहा था। फूले हुये केवड़े की रज के ढेर से वहां के वन पीले दीखते थे। सुपारी के लतारूपी हिंडोले में वन देवियां झूलती थीं। . . . . बालक स्वर से पाठ पढ़ते थे। बार बार सुने हुये वषट्कार शब्द का उच्चारण करने से तोते वाचाल हो रहे थे। असंख्य मैना वेद का घोष कर रही थीं। जंगली मुर्गे वैश्वदेव में दिया हुआ बलि खाते थे। . . . . . . वहाँ मलिनता केवल यज्ञ-धूम में थी, चरित्र में नहीं; मुखराग तोतों ही में था, कोप में नहीं; तीक्ष्णता दर्भाग्र में ही थी, स्वभाव में नहीं; चंचलता केले के पत्तों में ही थी, मन में नहीं; चक्षूराग कोकिलों में ही था, परस्त्रियों में नहीं; कंठग्रह कमंडल ही में था, रतिविलास में नहीं; मेखलाबंध व्रत ही में था, ईर्षाकलह में नहीं; होम की गायों के स्तन का ही स्पर्श होता था, स्त्रियों के नहीं; मुर्गों का ही पक्षपात होता था, विद्या-विवाद में नहीं; अग्नि की प्रदक्षिणा में ही भ्रान्ति होती थी, शास्त्रार्थ में नहीं; दिव्यकथाओं में ही वस्तुसंकीर्तन होता था, धन-तृष्णा में नहीं; रुद्राक्ष की माला की

गणना होती थी, शरीर की नहीं, मुनि-बालों का नाश यज्ञ-दीक्षा में ही होता था, मृत्यु से नहीं; रामानुराग रामायण से होता था, यौवन से नहीं; मुख पर भंगविकार बुढ़ापे में ही होता था, धनाभिमान से नहीं; इसी प्रकार शकुनिवध महाभारत ही में था; वायु प्रलाप पुराणों में ही था; द्विजपतन बुढ़ापे में ही होता था; जाड्य उपवन के चन्दन वृक्षों में ही था; भूति अग्नि में ही थी; गति सुनने का शौक मृगों ही को था; नृत्यपक्षपात मोरों ही का था; भोग सांप ही को था; श्रीफल का प्रेम बंदरों ही को था; और अधोगति केवल वृक्षों के मूल की ही थी"।

अपने प्रेमी चन्द्रापीड़ को देख मरा समझ कर कादम्बरी धीरज दिलानेवाली सखी मदलेखा से कहती है "... अपने को केवल आंसू बहाने से हलका बना कर क्यों मैं पतित करूं? रुदन से मैं स्वर्ग में जाते हुये देव का अमंगल क्यों करूं! चरणों की धूल के समान, उनके चरणों का अनुगमन करने को तत्पर हुई मैं हर्ष के स्थान पर भी रुदन करूं—ऐसा मुझे क्या दुख है! .... जिसके लिये कुल की मर्यादा नहीं गिनी, गुरुजनों की अपेक्षा नहीं की, धर्म का अनुरोध न किया, जनापवाद का भय न किया, लज्जा का त्याग किया, मदनोपचार करा करा कर सखीजनों को खेद दिया; अपनी प्रिय सखी महाश्वेता को दुःखित किया और उसके साथ जो प्रतिज्ञा की थी उसके अन्यथा होने का भी मैंने विचार न किया उस मेरे प्राणनाथ ने मेरे लिये ही प्राण त्याग किये। .... प्रियसखी, तुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि पिता-माता कोई मेरे शोक से प्राणों का त्याग न करें और मुझसे वांछित मनोरथ तुझसे पूर्ण करें जिससे मेरे परलोक जाने पर भी तेरे अंजलि देने वाला पुत्र उत्पन्न हो। मेरी सखियां या मेरे परिजन जिसमें मेरी याद न करें या महल शून्य देखकर भाग न जायं वैसा ही करियो।

कादम्बरी का निवेदन

महल के आंगन में लगे हुये—मेरे पुत्र के समान—छोटे से आम के पौधे का जैसा मैंने विचारा था वैसा ही मालती लता के साथ तू स्वयं विवाह करियो। मेरे चरण के तल के स्पर्श से बढ़े हुये अशोक वृक्ष में से कर्णपूर के लिये भी पत्ता मत तोड़ियो। . . . मेरे महल में सिरहाने की तरफ़ रक्खा हुआ मेरा कामदेव-पट फाड़ डालियो। . . . . बिचारी कालिंदी मैना तथा परिहास तोते को पिंजरे में रहने के दुःख से छुड़ा दीजियो। मेरी गोद में सोनेवाली नकुलिका को तू अपनी ही गोद मे सुलाइयो। मेरे पुत्र-बाल हिरन—तरलक को किसी तपोवन में भिजवा दीजो। मेरे हाथों से पाला हुआ चकोरों का जोड़ा क्रीड़ा पर्वत पर जिसमें मर न जायं ऐसा कीजियो। . . . जिसे घर में रहने की आदत नही है ऐसी ज़बरदस्ती लाई गई बिचारी बनमानुषी को बन में ही छुड़वा दीजियो। क्रीड़ा पर्वत किसी शान्त तपस्वी को दे दीजियो। मेरे वस्त्र तथा भूषण आदि का ब्राह्मणों को दान कर दीजियो, परन्तु वीणा को तो अपने ही उत्संग में प्रेम से रखियो और जो कुछ तुझे अच्छा लगे ले लीजियो[1]।"

कला

निर्माणकला

निर्माणकला में भी यह युग बड़े मार्के का है। मत्स्य, स्कन्द, अग्नि, नारद, लिङ्ग और भविष्य पुराणों में एक या अधिक अध्याय भवननिर्माण, मूर्तिनिर्माण, नगरव्यवस्था इत्यादि पर दिये हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीति में भी निर्माण की बहुत सी बातें लिखी हैं। संस्कृत मे शिल्प-शास्त्र, वास्तुशास्त्र और चित्रशास्त्र कई सौ हैं। इस सारे शास्त्र को ६ ७ ई० सदी के लगभग मानसार

1. अनुवादक—पं० ऋषीश्वरनाथ भट्ट।

में ब्योरेवार लिखा है। मानसार (अध्याय १) कहता है कि यह विद्या ऋषियों को इन्द्र, बृहस्पति, नारद इत्यादि के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव से मिली थी। अध्याय ६ में कहा है कि गाँव के चारों ओर लकड़ी या पत्थर की दीवाल होनी चाहिये, चार सदर फाटक और उनको मिलाने के लिये सड़कें होनी चाहिये। जहां जहां बस्ती हो वहां वहां तालाब चाहिये। ढाल की तरफ नालियां होनी चाहिये। सब से अच्छे स्थान ब्राह्मणों को रहने के लिये मिलने चाहिये। चण्डालों के स्थान और मरघट गांव के बाहर होने चाहिये, ख़ास कर उत्तर-पच्छिम की तरफ़। भयंकर देवताओं के मंदिर भी दीवाल के उस पार होने चाहिये। शहर आठ तरह के होते है—राजधानी, नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वाट, कुब्जक, पट्टन। मानसार ने क्षेत्रफल के हिसाब से कुल ४० तरह के शहर और गाँव माने हैं। शहर के चारो तरफ़ दीवाल और खाईं होनी चाहिये, सदर दर्वाज़े, सड़क नाली, चरागाह उसी ढंग से होनी चाहिये जैसे गांव में। बाज़ार, दूकान, मंदिर, सराय और पाठशाला सब तरतीब से नियमानुसार होने चाहिए (अध्याय १०)। मानसार ने चक्रवर्ती, महाराज, नरेन्द्र, मण्डलेश इत्यादि के महलों के नौ प्रकार बताये हैं। राजसिंहासन और मुकुट भी नौ तरह के थे (४१-४२)। नाट्यगृह और मंच भी नौ तरह के होते थे जिनके लिए ब्योरेवार नियम दिये हैं (४७)।

इलूरा

दक्खिन में वर्तमान निज़ाम राज्य में इलूरा की गुफ़ाओं में मूर्तियों की बहुत सी पट्टियाँ हैं। ७०० ई० के लगभग यहां दशावतार की और बहुत से देवी देवताओं की मूर्तियां बनाई गईं है। कैलाश मंदिर के लंकेश्वर विभाग में शिव का ताण्डव नृत्य दिखाया है। भावप्रदर्शन के लिहाज़ से यह मूर्ति बड़े मार्के की है। नृत्य में

शिव इतने मस्त हैं, इतने ग़र्क़ हैं कि अपने को भूल गये हैं, नृत्य ही नृत्य रह गया है। एक दूसरी मूर्ति में शिव सात लोकों को तीन क़दमों से नाप रहे हैं।

अन्य दृष्टान्त

आठवीं सदी के लगभग बम्बई बन्दर के पास वर्तमान पेली फ़ेन्टा टापू में भी कुछ देवताओं की बड़ी मूर्तियाँ हैं पर उनमें कलाका चातुर्य बहुत नहीं है। बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले में अमरनाथ या अम्बरनाथ के ११ वीं ई० सदी के ब्राह्मण मंदिर में चारों ओर स्तम्भों पर ब्रह्मा, सरस्वती आदि देवी देवताओं की मूर्तियां अच्छी हैं। इसी तरह काठियावाड़ में थान के सूर्यमंदिर में लगभग ७ वीं ई० सदी की मूर्तियां गुफ़ाओं की सी हैं और बहुत अच्छी बनी हैं॥

तेरहवाँ अध्याय

अन्तिम काल

८-१२ ई० सदी।

अन्तिम काल।

सातवीं सदी के उत्तर भाग से हिन्दू राजनैतिक इतिहास में फिर विभाजक शक्तियों की प्रबलता हो गई थी। उत्तर-पच्छिम से आनेवाले मुसलमानों की विजय तक अधिकतर यही हालत रही अथवा यों कहिए कि राजनैतिक विच्छेद के कारण बारहवीं सदी में उत्तर भारत को मुसलमानों ने विजय कर लिया और तेरहवीं सदी में दक्खिन पर भी छापा मारा। सामान्यतः आठवीं सदी से बारहवीं सदी तक हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास का अन्तिम काल माना जा सकता है। इस काल के राजनैतिक इतिहास में कोई एकता नहीं है अर्थात् घटनाचक्र का कोई एक केन्द्र नहीं है। केवल मुख्य मुख्य राज्यों की प्रधान घटनाओं का संकेत किया जा सकता है। स्मरण रखना चाहिए कि इन राज्यों में आपस की लड़ाई बहुत हुआ करती थी।

कन्नौज

आठवीं ई० सदी में कन्नौज एक विस्तृत राज्य की राजधानी था पर ७४० ई० के लगभग कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ ने कन्नौजनरेश को हरा कर और गद्दी से उतार कर मार डाला। कन्नौज को अपने राज्य में मिलाना कश्मीरराजाओं की शक्ति के बाहर था पर कुछ दिन बाद ललितादित्य के लड़के जयापीड़ ने कन्नौज के दूसरे

राजा वज्रायुध को फिर हरा कर गद्दी से उतारा। उसके बाद इन्द्रा-युध सिंहासन पर बैठा पर ८१० ई० के लगभग उसे मगध के राजा धर्मपाल से हार खानी पड़ी। तथापि मगधराज ने भी कन्नौज को अपने शासन में नहीं मिलाया। चक्रायुध कन्नौज की गद्दी पर बैठा पर अब के तीसरी दिशा से विपत्ति आई। गुर्जर प्रतीहार राजा नाग भट्ट ने जिसका राज्य राजपूताना में था और जिसकी राजधानी भिन्माल थी कन्नौज पर धावा किया और चक्रायुध को गद्दी से उतार दिया। जान पड़ता है कि इस बार कन्नौज गुर्जर प्रतीहार राज्य मे मिला लिया गया और उसकी राजधानी हो गया। इस प्रकार फिर एक साम्राज्य की सृष्टि हुई। यद्यपि इस नये साम्राज्य को एक बार दक्खिन के राष्ट्रकूटों के सामने सिर झुकाना पड़ा तथापि यह कुछ दिन तक और बढ़ता ही गया। नागभट्ट के बाद रामभद्र गद्दी पर बैठा और ८३४ ई० के लगभग से ८४० ई० तक राज्य करता रहा। उसका लड़का हुआ मिहिरभोज जिसने लगभग ८४० ई० से ८९० ई० तक शासन किया। उसका राज्य पूरबी पंजाब से लेकर मगध, काठिया-वाड़, गुजरात और मालवा तक था। उसके लड़के महेन्द्रपाल ने लगभग ८९०-९०८ ई० तक राज्य किया। उसके लड़के भोज द्वितीय ने कोई दो बरस राज्य किया। तत्पश्चात् महीपाल लगभग ९१० से ९४० तक गद्दी पर बैठा पर अब साम्राज्य का ह्रास होने लगा।

साम्राज्य।

राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने ९१६ ई० में कन्नौज पर अधिकार कर लिया। कुछ दिन बाद महीपाल ने कन्नौज तो ले लिया पर साम्राज्य के कुछ सीमाप्रान्त स्वतन्त्र हो गये। देवपाल (लगभग ९४० ई०-९५५) और विजयपाल (लगभग ९६० ई०-९९०) के समय में भी साम्राज्य का कुछ ह्रास हुआ।

ह्रास।

विजयपाल के उत्तराधिकारी राज्यपाल के समय में बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हुये।

मुसलमान आक्रमण।

पञ्जाब के राजा जयपाल के अनुरोध से कन्नौज के राजा, चन्देल राजा और कुछ अन्य राजाओं ने मिलकर लगभग ९९१ ई० में ग़ज़नी के अमीर सबुक्तिगीन का सामना किया पर वह हार गये। ९९७ ई० में सबुक्तिगीन का लड़का सुल्तान महमूद ग़ज़नी के तख़्त पर बैठा। उसने हिन्दुस्तान के ऐश्वर्यशाली मंदिर और नगरों को लूटने के लिये कोई १७ हमले किये। १०१९ ई० में उसने कन्नौज पर धावा किया। राज्यपाल

महमूद ग़ज़नवी।

के छक्के छूट गये, कुछ करते धरते न बना, तुरन्त ही घुटने टेक दिये। कन्नौज के सातों क़िले एक ही दिन में महमूद के हाथ में आगये। जब ख़ूब लूट मार कर के महमूद ग़ज़नी लौट गया तब और हिन्दू राजाओं ने कायर राज्यपाल पर अपना क्रोध उतारा और उसे मार कर त्रिलोचनपाल को गद्दी पर बैठाया। महमूद ने तुरन्त ही इसका बदला लिया पर १०३० ई० में उसके मरने पर पच्छिमी पंजाब को छोड़कर बाक़ी हिन्दुस्तान फिर अपने पुराने चक्र पर घूमने लगा। कोई साठ बरस तक कन्नौज में पुराने वंश के राजा राज करते रहे पर लगभग १०९० ई० में गहरवार राजा चन्द्रदेव ने कन्नौज पर अधिकार किया। इस

गहरवार

का शासन वर्तमान युक्तप्रदेश के अधिकांश भाग पर और शायद दिल्ली पर भी था। यही वंश कुछ दिन बाद राठौर कहलाया। सदा की भांति इनके राज्य की सीमा में परिवर्तन होते रहे पर बारहवीं सदी के लगभग अन्त तक उत्तर भारत में इनका पद बहुत ऊंचा रहा। अन्तिम राजा जयचन्द्र की अजमेर के चौहान रायपिथौरा

पृथ्वीराज से ऐसी खटपट हुई कि वह कन्नौज को और अपने साथ और हिन्दू राज्यों को भी ले डूबा। अपनी लड़की संयोगिता के स्वयंवर में जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को न बुलाया वरन् उसकी प्रतिमा बना कर द्वारपाल की जगह खड़ी कर दी। अपमान सहना पृथ्वीराज को स्वीकार न था; छल बल से वह राजकुमारी को ले भागा। उधर अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नवी वंश के बाद ग़ोरी वंश की प्रभुता जम गई थी। शहाबुद्दीन ग़ोरी ने जिसे मुहम्मद ग़ोरी भी कहते हैं हिन्दुस्तान जीतने की ठानी। पृथ्वीराज ने उसका सामना किया पर जयचन्द्र ने साथ न दिया वरन् ग़ोरी का रास्ता साफ़ कर दिया। ११६१ ई० में पृथ्वीराज ने ग़ोरी को परास्त किया पर ११६२ में वह ऐसा हारा कि उसका सारा राज्य ग़ोरी के हाथों में चला गया। जयचन्द्र के भी दिन आ गये थे। ११६४ ई० में ग़ोरी ने कन्नौज भी जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया[1]।

मगध

राजनैतिक महत्त्व में कन्नौज के बाद दूसरा नम्बर मगध का है। हर्षवर्धन के बाद मगध और बंगाल में बहुत से छोटे छोटे राजा राज करते रहे जिससे बड़ी गड़बड़ हुई और जनता को बहुत हानि पहुँची। ७३०—७४० ई० के लगभग बहुत से लोगों ने मिलकर गोपाल को महाराज बनाया जो बौद्ध था और जिसने बहुत

---

[1] कन्नौज के इतिहास के लिये ताम्रपत्र और सिक्के ऐतिहासिक पत्रिकाओं में मिलेंगे। जयचन्द्र और पृथ्वीराज की कथा बहुत नमक मिर्च मिला कर चन्द-बरदाई ने हिन्दी अथवा यों कहिये हिन्दी के डिंगल रूप में पृथ्वीराजरासो में लिखी है। ब्योरेवार इतिहास के लिये देखिये विंसेन्ट ए स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया, (चौथा संस्करण) पृ० ३९०—४०१। मुसलमान आक्रमणों के लिये इलियट और डाउसन, हिस्ट्री आफ़ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग २ भी देखिये।

से मठ बनवाये। गोपाल के बाद धर्मपाल ने ८०० ई० के लगभग अपनी प्रभुता बंगाल से कन्नौज और दिल्ली तक फैलाई। इस समय के लगभग इस साम्राज्य की राजधानी मगध में पाटलिपुत्र थी। धर्मपाल ने गंगा किनारे विक्रमशिला में बौद्ध मठ और विद्यापीठ की स्थापना की जिसमें १०७ मंदिर थे और छः बड़ी बड़ी पाठशालाएं थीं, सैकड़ों शिक्षक और हज़ारों विद्यार्थी थे। पाल राजाओं ने धर्म और विद्या को पूरा आश्रय दिया और मूर्तिकला एवं चित्रकला को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया। संग्रामों के कारण इनके राज्य की सीमा समय समय पर बदलती रही, ६ वीं ई० सदी के बीच में तो कुछ बरस के लिये कन्नौज के महेन्द्रपाल ने मगध को अपने ही शासन में मिला लिया पर साधारणतः बारहवीं सदी के लगभग अन्त तक इनकी प्रभुता मगध और कुछ अन्य प्रान्तों पर बनी रही। नवीं सदी में इस वंश के महाराजाधिराज देवपाल के सेनापति लवसेन ने आसाम और कलिंग को जीता। १०२३ ई० के लगभग मगध के महीपाल और कांची के चोल राजा राजेन्द्र का संघर्ष हुआ पर कोई भी दूसरे को जीत न सका। १०१३ ई० में महीपाल ने कुछ बौद्ध गुरु भेज कर तिब्बत में बौद्धधर्म का पुनरुद्धार किया। ११ वीं सदी के बुरे शासन और राजद्रोह से राज्य का बल बहुत घट गया। जब ११६७ में शहाबुद्दीन गोरी के सेनापति बख़्तियार ख़िलजी ने २०० घुड़सवार लेकर विहार नगर पर छापा मारा तो राज की सेना से कुछ करते धरते न बना। बख़्तियार ने क़िले पर अधिकार जमा कर सारा नगर लूटा और मठ के सारे बौद्ध भिक्षुओं की हत्या की। थोड़े दिन बाद ही और मठ भी

पाल वंश

धर्म, विद्या इत्यादि

बख़्तियार ख़िलजी का हमला

तहस नहस कर दिये गये और अपनी जन्मभूमि से बौद्धधर्म सदा के लिये मिट गया[1]।

बंगाल

सेन वंश

वल्लालसेन

पाल राजाओं ने बंगाल पर भी कुछ दिन राज्य किया था पर ११ वीं सदी में एक नया सेन वंश उत्पन्न हुआ जिस ने बंगाल पर प्रभुता जमाई। यह लोग ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। ११०८ ई० के लगभग वल्लालसेन गद्दी पर बैठा। उसने शायद वर्णव्यवस्था का फिर से संगठन किया; ब्राह्मण, वैद्यों और कायस्थों में कुलीन प्रथा चलाई; एक ओर अराकान तक और दूसरी ओर नैपाल तक ब्राह्मण धर्म के उपदेशक भेजे और हर तरह से ब्राह्मणधर्म को प्रोत्साहन दिया। इसी समय के लगभग बंगाल में तंत्रवाद का दौर दौरा हुआ जिसमें मंत्रों से सिद्धियां की जाती थी, अनेक देवी देवता पूजे जाते थे और तरह तरह की अनोखी रस्में होती थी। तांत्रिक ग्रन्थ भी बड़ी संख्या में बने और उनकी परिपाटी अब तक मिटी नहीं है। वल्लाल-सेन के बाद १११९ ई० में लक्ष्मणसेन गद्दी पर बैठा। उसने न्याय और उदारता के लिये देश भर में यश पाया और संस्कृत साहित्य की बड़ी सेवा की। इसी समय जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की। पर अन्य हिन्दू राजाओं की तरह सेन भी सैन्यसंगठन और कौशल में अन्य देशो से पीछे पड़ गये थे। यहां भी धार्मिक पन्थ और जाति के भेदों और बन्धनों ने देशभक्ति और देशसेवा

तंत्र

लक्ष्मण सेन

---

१. मगध के लिये पत्रिका, इलियट और डाउसन पूर्ववत् देखिये। विंसेंट स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४१२-२० ॥

का भाव बिल्कुल दबा दिया था। परलोक की तयारी में इस लोक की अवहेलना हो रही थी। जिस सुगमता से मुहम्मद गोरी के सेनापति बख़्तियार ख़िलजी ने बंगाल पर विजय पाई उसका दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं न मिलेगा। बिहार को जीत कर लगभग ११९९ ई० में बख़्तियार ने बंगाल में प्रवेश किया।

मुसलमान विजय

सेना को ज़रा पीछे छोड़ कर वह अठारह घुड़सवारों के साथ नदिया नगर में घुसा। नदिया के लोग इतने भोले भाले और बेख़बर थे कि समझे कि यह घोड़े बेचने आये हैं। किसी ने कोई रोक थाम न की। घुड़सवार तेज़ी से राजा के महल पर जा पहुँचे। यहां भी किसी के कान में आक्रमण की भनक न पड़ी थी। किसी की समझ में न आया कि यह परदेसी कौन हो सकते हैं? बख़्तियार ने तलवार खींच कर महल वालों पर वार किया। राजा इस समय भोजन कर रहा था। तलवार चलने पर हक्का बक्का रह गया, नंगे पांव महल के पिछले फाटक से अपनी जान बचा कर भागा। महल की स्त्रियां, बच्चे, नौकर चाकर, धन दौलत—सब बख़्तियार के हाथ आये। इस बीच में उसकी सेना भी आ पहुँची। नदिया के बाद शेष बंगाल तुरन्त ही मुसलमानों के शासन में आ गया[1]।

मालवा में हिन्दुओं की स्वतंत्रता कुछ ज़्यादा दिन तक रही। नवीं ईस्वी सदी में यहां परमार वंश का राज्य स्थापित हुआ था जिसकी राजधानी धारा थी। परमार वंश के दो राजा बड़े नामी हुये। ९७४ ई० से ९९५ ई० तक मुंज ने राज्य किया और संस्कृत साहित्य की बड़ी उन्नति की। बहुत से कवि और लेखक उसके दर्बार में

मालवा

मुंज

१. बंगाल के लिये पूर्ववत् ग्रन्थ और पत्रिका देखिये।

थे और वह स्वयं कवि था। ६ बार उसने चालुक्य राजा को हराया पर अन्त में वह स्वयं हारा और मार डाला गया। मुंज से भी अधिक यशस्वी है राजा भोज जो मुंज का भतीजा था और जिसने १०१८ ई० से लगभग १०५६ ई० तक राज्य किया। संस्कृत लेखकों ने उसे दूसरे विक्रमादित्य की उपाधि दी है। परम्परा के अनुसार, उसने योग, दर्शन, ज्योतिष्, वैद्यक, अलंकार इत्यादि पर बहुत से ग्रन्थ लिखे। राजनीति पर उसने युक्तिकल्पतरु की रचना की जिसमें न्याय, शासन, सेना, जहाज़, भवन, इत्यादि इत्यादि की विवेचना विस्तार से की है। भोज के दर्बार में बहुत से कवि थे जिनमें से एक का नाम कालिदास था। भोज ने बहुत सी पाठशालाएं खोलीं और हर तरह से विद्या का प्रचार किया। उसके मरने पर एक कवि ने श्लोक बनाया कि आज धारा निराधार हो गई, सरस्वती निरावलम्ब हो गई और सब पंडित खण्डित हो गये। विद्या के अलावा भोज ने खेतीबारी में भी प्रजा की बड़ी सेवा की। २५० वर्गमील से अधिक भोजपुर नामक एक झील बनवाई जिसका घेरा और बांध ऐसा था कि पहाड़ियों से आनेवाला सारा पानी जमा हो जाय। खेतों की सिंचाई में इससे बहुत मदद मिलती थी और वर्षा न होने पर तो मानो यह अमृत की झील थी। और राजाओं की तरह भोज को भी पड़ोसी राज्यों से बहुत युद्ध करने पड़े। अन्त में वह गुजरात और चेदि के राजाओं से हार गया और उसके राज्य की सीमा संकुचित हो गई। तेरहवीं सदी के आरंभ में सिंहासन तोमर वंश के हाथ में चला गया और उनके बाद चौहान आये। १४०१ ई० में मुसलमानों ने मालवा जीत लिया[1]।

भोज

---

[1] पूर्ववत्। विंसेंट स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४१०-१२। युक्तिकल्पतरु का संस्करण कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज़ में है।

चेदि राज्य जिसका संघर्षण मालवा से हुआ था वर्तमान मध्य प्रदेश में था। यहां कलचुरि वंश का शासन था। ११वीं ई० से गांगेयदेव कलचुरि (लगभग १०१५-४० ई०) ने साम्राज्य बनाया, १०१६ में तिरहुत पर प्रभुता जमाई, १०३५ में मगध पर हमला किया और आसपास के राजाओं पर आधिपत्य जमाया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी कर्णदेव (लगभग १०४०-१०७० ई०) ने गुजरात के राजा से मिल कर भोज को हराया पर कुछ ही दिन पीछे स्वयं उसे जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मन् चन्देल से मुँह की खानी पड़ी। कलचूरि वंश का प्रभाव बहुत कम हो गया और बारहवीं सदी के अन्त के लगभग राज्य रीवा के बघेलों के हाथ में चला गया। तेरहवीं सदी के बाद मुसलमानों का प्रभाव प्रारम्भ हुआ पर पहाड़ों, घाटियों और जंगलों की ओट में बहुत से हिन्दू राजा बहुत दिन तक बिल्कुल स्वतंत्र या आधे स्वतंत्र बने रहे[1]।

चेदि

बारहवीं सदी तक चेदि राजाओं ने जेजाकभुक्ति अर्थात् वर्तमान बुंदेलखंड के चंदेल राजाओं से घनिष्ट सम्बन्ध रक्खा था। इस वंश की प्रभुता भी नवीं सदी में प्रारम्भ हुई थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि चंदेल राजा अपने पड़ोसियों से बराबर लड़ा करते थे, कभी हारते थे और कभी जीतते थे। दसवीं सदी के पूर्वभाग में यशोवर्मन् ने कालिंजर का मज़बूत क़िला अपने अधिकार में कर लिया और दूर दूर तक अपना यश फैलाया। उसने खजुराहे में एक मंदिर बनवाया। यशोवर्मन् के लड़के धंग ने ९५० ई०

जेजाकभुक्ति

मंदिर

---

1. पूर्ववत्। विंसेंट स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४०५-४०९॥

से ६६६ ई० तक राज्य किया और खजुराहे में बहुत से मंदिर बनवाये जो अब तक मौजूद हैं। चंदेल राजाओं ने महोबा, कालिंजर इत्यादि नगरों में भी बहुत से मंदिर बनवाये एवं अन्य हिन्दू राजवंशों की तरह सिचाई का यथोचित प्रबन्ध किया। पहाड़ियों को काट कर या घेर कर पत्थर के ऐसे लम्बे और मज़बूत बांध बनाये कि बहुत सा पानी आप से आप जमा हो जाता था और बड़ी बड़ी झीलें बन जाती थीं। यह झीलें सिचाई के लिये जितनी उपयोगी थी उतनी ही देखने में भी सुन्दर थीं। छोटे छोटे तालाबों की तो कोई गिनती ही न थी। आज भी उनमें से बहुत से मौजूद हैं या कम से कम उनके खंडहर देखे जा सकते हैं। धंग ने पञ्जाब के राजा जयपाल के साथ ग़ज़नी के अमीर सबुक्तिगीन का सामना किया था और हार खाई थी। उसके लड़के गंड (६६६ ई० १०२५ ई०) को कुछ युद्धों के बाद महमूद ग़ज़नवी के सामने सिर झुकाना पड़ा। पर ११ वीं सदी के उत्तर भाग में कीर्तिवर्मन् चदेल (१०४६-११०० ई०) ने फिर वंश का उद्धार किया, और जेजाकभुक्ति के अनेक प्रदेशों पर अपना झंडा फहराया। चंदेल राजा भी आसपास के और दूर दूर के राज्यों से लड़ाइयां किया करते थे, कभी उनकी जय होती थी और कभी पराजय। १२०३ ई० में मुहम्मद ग़ोरी के सेनापति क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने चंदेलों को हराया और कालिंजर छीन लिया। पर बुंदेलखंड में हिन्दू राजा थोड़ी बहुत स्वतंत्रता के साथ बराबर राज्य करते रहे और अब भी राज कर रहे हैं[1]।

झील

कीर्तिवर्मन्

मुसलमान विजय

---

१. पूर्ववत्।

उत्तर की ओर एक नया राज्य दिल्ली में स्थापित हो चुका था।

दिल्ली

दिल्ली नगर ६६३, ६४ ई० में बसाया गया था। यहां १०५२ ई० में तोमर वंश के राजा अनंग-पाल ने मथुरा या और किसी स्थान से चौथी ई० सदी की एक लोहे की कीली ला कर गाड़ी थी। यह कीली अपने ढंग की निराली है और अब तक क़ुतुबमीनार की बग़ल में मौजूद है। इससे प्रगट होता है कि सोलह सौ बरस पहिले हिन्दुओं ने लोहे की चीज़ें बनाने में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। १२ वीं सदी के

अजमेर

लगभग दिल्ली प्रदेश अजमेर के चौहान राज्य में मिल गया। अजमेर का पृथ्वीराज राय-पिथौरा दिल्ली का भी शासक था। उसने चंदेलों को और गहरवारों को नीचा दिखाया और ११६१ ई० में तराइन के युद्ध में मुहम्मद ग़ोरी को ऐसा हराया कि वह सीधा

पृथ्वीराज

अफ़ग़ानिस्तान भाग गया। हिन्दू राजनैतिक काव्यों में माना है कि पृथ्वीराज ने ग़ोरी को सात बार हराया और .क़ैद कर कर के छोड़ दिया पर इतिहास से इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। एक बार उसने अवश्य ग़ोरी को भारी शिकस्त दी पर ११६२ ई० में ग़ोरी फिर एक बड़ी भारी सेना लेकर लौटा। अब के हिन्दुओं की हार हुई, पृथ्वीराज .क़ैद हो गया और मार डाला गया, और अजमेर तथा दिल्ली मुसलमानों के वश में आ गये। चन्दबरदाई के

पराजय

पृथ्वीराजरासो से और मुसलमान इतिहासकारों से प्रगट है कि चौहान राजा के पास ग़ोरी से भी ज़्यादा फ़ौज थी। यह भी सिद्ध है कि उसके सिपाही वीरता में किसी से कम न थे; सदा हथेली पर जान लेकर लड़ते थे। तो उनकी हार

क्यों हुई ? रासो से तो नहीं पर मुसलमान इतिहासकारों के युद्धवर्णनों से यह समस्या हल हो जाती है। हिन्दू सेना में शूरता थी पर उनकी सैनिक शिक्षा पुराने ढंग की थी और सैन्य संगठन बहुत दोषपूर्ण था। हिन्दुस्तान के बाहर सैनिक विद्याओं में बहुत उन्नति हो चुकी थी, नये नये व्यूहों का आविष्कार हो चुका था, सैन्यविन्यास के नये ढंग प्रयोग में आ रहे थे, नई तरह की क़वायद हो रही थी और इन उपायों से सेनाओं का बल बढ़ रहा था। पर हिन्दुओं को इनकी ख़बर न थी। वह अभी तक पुरानी लकीर पीट रहे थे। एक बात में तो वह ख़ास कर कमज़ोर थे। १३ वीं १४ वीं सदी के फ़ारसी इतिहासों से यह नतीजा निकलता है कि मुसलमान सेना की विजय बहुधा घुड़सवारों की विजय थी। उत्तर-पच्छिम देशों के घोड़े यों ही अच्छे होते हैं; फिर खिला पिला के उनको ख़ूब तैयार करते थे और ख़ूब सिखाते थे। हिन्दुओं के घोड़े उतने अच्छे नहीं थे और वह उनको यथेष्ट शिक्षा भी न देते थे। अगर उनको ज़माने की रफ़्तार का पता होता तो वह उत्तर-पच्छिम से घोड़े मोल ले सकते थे, उनकी ठीक देखरेख कर सकते और शिक्षा का भी ठीक २ प्रबंध कर सकते थे। पर पूर्वजों की रीति के वह ऐसे दास हो गये थे कि उन्होंने अपने को परिवर्तनशील समय के अनुकूल न बनाया और अपनी स्वतंत्रता खो बैठे[1]।

कारण

घुड़सवार

---

१ पृथ्वीराज के लिये देखिये चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो। पर यह प्रचलित विश्वास भ्रममूलक है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था। रासो की रचना कई सदियों में हुई थी और सोलहवीं ईस्वी सदी तक भी पूरी न हुई थी। इसमें सत्रहवीं ई० सदी के प्रारंभ तक की घटनाओं का उल्लेख है। बहुत सी रचना मेवाड़ के आसपास हुई थी। समय के लिये कविराज श्यामलदास,

दिल्ली के पच्छिम में पंजाब में एक और हिन्दू राज्य था जिसकी राजधानी भटिंडा में थी। सब से पहिले इसी राज्य पर ग़ज़नी के अमीर सबुक्तिगीन ने ९८६-८७ ई० में लूटमार के हमले शुरू किये थे।

पंजाब

भटिंडा के राजा जयपाल को स्वभावतः क्रोध आया। यह भी सम्भव है कि पंजाब के हिन्दू राजाओं को पास ही ग़ज़नी में प्रभावशाली मुसलमान राज्य की स्थापना अच्छी न लगती थी। ९८९ में जयपाल ने अफ़ग़ानिस्तान पर हमला किया और लगमान में डेरा डाला। सबुक्तिगीन अपनी सेना लेकर युद्ध करने को आया। दोनों

अफ़ग़ानिस्तान पर हमला

जर्नल आफ़ दि एशियाटिक सुसायटी आफ़ बंगाल १८८६ भाग १ पृ० ५-६५। श्यामलदास के मत को खंडन करने की चेष्टा मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने "ए डिफेन्स आफ़ पृथ्वीराजरासो" (बनारस, १८८७) में की है। रासो का संस्करण काशीनागरीप्रचारिणीसभा ने प्रकाशित किया है। रासोसार नाम से एक सुपाठ्य संक्षेप श्यामसुन्दरदास का है। संक्षिप्त परिचय के लिये मिश्रबन्धु कृत हिन्दी नवरत्न अध्याय १ और मिश्रबन्धुविनोद भाग १ पृ० २२७-३३ भी देखिये। पृथ्वीराज के सम्बन्ध में और भी वीरकाव्य हैं पर रासो के टक्कर का कोई नहीं है। मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन इलियट और डाउसन के संकलित अनुवाद हिस्ट्री आफ़ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स भाग २ में मिलेंगे। फ़ारसी इतिहास तबक़ातनासिरी विशेष कर देखिये। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद रैवर्टी ने किया है। कश्मीर से बुहूर ने पृथ्वीराजविजय नामक एक संस्कृत ग्रन्थ का पता लगाया है। यह पृथ्वीराज का समकालीन मालूम होता है। इसका संक्षेप हरविलास सार्डा ने जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी १९१३ पृ० २५९-८१ में दिया है। मुख्य घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन के लिये देखिये विंसेंट ए स्मिथ पूर्ववत् पृ० ४००-४०५। एल्फ़िन्सटन, हिस्ट्री आफ़ इंडिया, पृ० ३६२-६५॥

फ़ौजें संग्राम का अवसर देख रही थीं कि आँधी पानी और बिजली के भयंकर तूफ़ान ने पठानियों के छक्के छुड़ा दिये। समझे कि दैव हमारे प्रतिकूल है और हताश हो गये। शायद लड़ाई हुई और जयपाल हार गया। कुछ भी हो, जयपाल ने संधि का प्रस्ताव किया, ५० हाथी सबुक्तिगीन को दिये और चार किले और बहुत सा रुपया देने का वादा किया। पर हिन्दुस्तान लौट कर उसने अपना वादा तोड़ दिया। सबुक्तिगीन ने चढ़ाई की और जयपाल को नीचा दिखाया। ६६१ ई० के लगभग जयपाल ने कन्नौज, जेजाकभुक्ति आदि के राजाओं के साथ मिल कर सबुक्तिगीन का मुक़ाबिला किया पर फिर सब हार गये। १००१ ई० में सबुक्तिगीन के लड़के सुल्तान महमूद ने फिर जयपाल को हराया। इन अपमानों से खिन्न होकर जयपाल ने अग्नि के द्वारा आत्मघात कर लिया। उसके लड़के आनन्दपाल ने गद्दी पर बैठकर अन्य हिन्दू राजाओं की सहायता से महमूद को रोकने का प्रयत्न जारी रक्खा पर फिर मुँह की खाई। थोड़े दिन में महमूद ने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया[1]।

पराजय

आनन्दपाल

प्राचीन समय के अन्तिम युग में सबसे अधिक ब्योरेवार राजनैतिक इतिहास कश्मीर का मिलता है। सौभाग्य से यहां कल्हण नामक एक लेखक ने बहुत जांच पड़ताल करके १२ वीं सदी

कश्मीर

---

1. इलियट और डाउसन, पूर्ववत्। एल्फ़िन्सटन, हिस्ट्री आफ़ इंडिया, ई० बी कावेल द्वारा सम्पादित संस्करण) पृ० ३२१-२७। विंसेन्ट स्मिथ पूर्ववत् पृ० ३९६-९७ रैवर्टी कृत नोट्स आन अफ़ग़ानिस्तान भी देखिये। मुहम्मद हबीब कृत महमूद आफ़ ग़ज़नी भी उपयोगी है।

में एक बड़ा इतिहास संस्कृत पद्य में लिखा जो राजतरंगिणी के नाम से प्रसिद्ध है। बहुत प्राचीन काल के विषय में कल्हण ने जो लिखा है वह तो मुख्यतः किम्वदन्ती है पर आठवीं ईस्वी सदी से वह सुसम्बद्ध इतिहास देता है। इस सदी में राजा चन्द्रापीड़ और मुक्तापीड़ ललितादित्य नाम के लिये चीन सम्राट् को मानते थे पर वास्तव में स्वतंत्र थे। ललितादित्य कश्मीर का सब से प्रतापी राजा हुआ। उसने साहित्य, कला और गानविद्या को प्रोत्साहन दिया, और मार्तण्ड का अनुपम मंदिर बनवाया जिसका अधिकांश भाग अब तक मौजूद है। उसने चारों ओर लड़ाइयां की, भूटियों को नीचा दिखाया, तिब्बत को हराया और सिंध के किनारे तुर्कों को परास्त किया। हिन्दुस्तान के मैदानों में उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को जीता। उसके बाद जयापीड़ ने भी कश्मीर को हिन्दुस्तान की एक बड़ी शक्ति बनाये रक्खा। पर उसका आन्तरिक शासन बड़ी निर्दयता और अत्याचार का था। अवन्तिवर्मन् (८५५, ८३ ई०) ने सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध कया। उस के बाद बहुत से राजा हुये जिनमें से कुछ ने प्रजा का बहुत उपकार किया और कुछ अत्याचार की मूर्ति थे। ९५० ई० से १००३ ई० तक एक रानी दिद्दा ने शासन किया पर वह भी अत्याचार से बाज़ न आई। १३३९ ई० में मुसलमानों ने कश्मीर पर अधिकार जमा लिया[२]।

कल्हण।

ललितादित्य

उत्तराधिकारी

---

१. राजतरंगिणी का सब से अच्छा संस्करण ओरल स्टाइन का है।

२. कश्मीर के लिये राजतरंगिणी देखिये। संक्षिप्त इतिहास विंसेन्ट एस्मिथ, पूर्ववत् पृ० ३८६-८९ में है।

हिन्दू राज्यों पर अधिकार करनेवाले जिन मुसलमानों का उल्लेख अब तक हुआ है वह सब उत्तर-पच्छिम से आये थे और अफ़ग़ान या तुर्क थे। पर उन से कई सदी पहिले अरब मुसलमानों ने एक प्रदेश को जीता था और कुछ दिन उस पर शासन किया था। सातवीं ईस्वी सदी में पैग़म्बर मुहम्मद ने अरबों को संसार की एक बड़ी धार्मिक और राजनैतिक शक्ति बना दिया था। ६३२ ई० में पैग़म्बर के मरने के बाद अरबों ने अपने ख़लीफ़ाओं की अध्यक्षता में एशिया कोचक, इराक़, फ़ारस, काबुल, मिस्र और उत्तर अफ़्रीक़ा जीते। ७१२ में एक ओर यूरोपियन देश स्पेन पर और दूसरी ओर हिन्दुस्तान में सिंध पर उन्होंने हमला किया। ख़लीफ़ा वलीद के समय में इराक़ के हाकिम हज्जाज ने अपने भतीजे मुहम्मद बिन क़ासिम की अध्यक्षता में कोई सात हज़ार फ़ौज सिंध के राजा दहिर के विरुद्ध कुछ डूबे हुये अरब जहाज़ों का बदला लेने के लिये भेजी। इस समय दहिर की प्रभुता सारे सिंध पर, और वर्तमान दक्खिनी पंजाब पर थी पर उसके अधीन बहुत से राजा थे जो अनेक बातों में स्वतंत्र थे। यह संघशासन जो

सिंध

अरब

देश भर में उत्तर वैदिक काल से प्रचलित था कुछ बातों में बहुत अच्छा था; स्थानिक स्वराज्य का एक रूप था, स्वतंत्र विकास के लिये सदा अवसर देता था, साहित्य और कला की वृद्धि के लिए उपयोगी था, सभ्यता की प्रगति में सहायक था। पर इस से राजनैतिक और सामरिक शक्ति कम हो जाती थी केन्द्रिक अधिकार की निर्बलता से नेतृत्व में बाधा होती थी, किसी भी असंतोषी अधीन राजा को शत्रु से मिल जाने का अवसर रहता था, देश तथा प्रान्त की एकता का भाव भी निर्बल हो जाता था। ८ वीं सदी में

संघशासन

और फिर ११ वीं सदी से जब हिन्दुओं को विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा तब संघशासन विपत्तिजनक सिद्ध हुआ। एक तो धार्मिकता और वर्णव्यवस्था ने सैनिक और राजनैतिक शक्ति, सामाजिक दृढ़ता और देशभक्ति का भाव पहिले ही कम कर दिया था दूसरे, देश में नाम के लिए भी राजनैतिक एकता तीन ही अवसरों पर हुई और सातवीं ई० सदी के बाद तो कभी नज़र ही न आई। तीसरे सैन्य संगठन और शिक्षण मे हिन्दू राज्य संसार के पीछे रह गये थे। चौथे, संघशासन प्रथा ने सामरिक बल और भी घटा दिया। इन कारणों से हिन्दू राजा बहुत बड़ी २ सेनाएं रखते हुये भी छोटी २ विदेशी सेनाओं से अपने ही देश में बराबर हारते रहे।

क़ासिम का हमला

मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध के देवल नगर को घेर कर यंत्रों से पत्थर बरसाने की तैयारी की। नगर के भीतर एक बड़ा भारी मंदिर था जिस का झंडा दीवालों से बहुत ऊंचा फहराता था। क़ासिम को पता लगा कि हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार नगर का दारमदार इसी झंडे पर है। पत्थर फेंक २ कर उसने झंडे को नीचे गिरा दिया। मंदिर के पवित्र झंडे के गिरते ही साधारण लोग क्या, राजपूत सिपाही भी निराश हो गये। जल्द ही देवल पर

देवल

अधिकार कर के क़ासिम ने ख़ूब लूट मार की, बहुत से ब्राह्मणों को मुसलमान बनाया और फिर बहुत से लोगों का वध किया। आगे बढ़कर उसने कुछ और क़िले और नगर लिए और फिर राजधानी अलोर के पास स्वयं राजा का सामना किया। राजा के पास ५०,००० सिपाही थे पर लड़ाई के बीच में राजा का हाथी चौंक कर भागा और पास की नदी में जा कूदा। हिन्दू सेना में खलबली मच गई। राजा ने हाथी से और नदी से छुटते ही

फिर युद्ध प्रारम्भ किया पर इस बीच में क़ासिम ने उसकी सेना का बल तोड़ दिया था। राजा और उसके हज़ारों सिपाही खेत रहे, बहुत से क़ैद में आये और बाक़ी भाग गये। इस लड़ाई के वृत्तान्त से प्रगट है कि जो लोग ऐसे अवसरों पर घोड़े छोड़ कर हाथी की सवारी करते थे या जो सैनिक शिक्षा और नियम से इतने कोरे थे कि एक राजा के ओझल होते ही घबड़ा जायँ उनके लिए विदेशियों पर विजय पाना टेढ़ी खीर थी। संख्या में वह बहुत ज़्यादा थे, वीरता में संसार में किसी से कम न थे पर शिक्षण, नियमन और संगठन के सामने न तो संख्या काम आती है और न वीरता। युद्ध के बाद ही शूरता और त्याग का रोमांचकारी दृश्य आँखों के सामने आया। परलोकगत राजा दाहिर का लड़का तो कायरों की तरह भाग गया पर रानी ने राज्य का नेतृत्व तुरन्त ही अंगीकार किया, पराजित सेना के बचे कुचे सिपाहियों को इकट्ठा कर के ढांढस दिया, नगर की रक्षा का सब प्रबन्ध किया। विजय के उत्साह से भरी हुई सेना को लेकर क़ासिम ने शहर को जा घेरा। रानी की अध्यक्षता में सिपाहियों ने क़ासिम के सब प्रबन्ध निष्फल कर दिये। पर शहर की आमदरफ़्त सब टूट गई थी, बाहर से कोई चीज़ अन्दर न जाने पाती थी, भोजन की सामग्री समाप्त हो रही थी। कष्ट बढ़ रहा था पर हार मानने को कोई तैयार न था। जब खाने को कुछ न रहा और भूखों मरने की नौबत आ गई तब रानी ने और राजपूतों ने आत्मसमर्पण के बजाय आत्ममरण का निश्चय किया। उन्होंने उस जौहर का एक दृष्टांत दिखाया जो भविष्य के राजपूत इतिहास में अनेक बार प्रयोग में आने को था। ढेर की ढेर लकड़ियां जमा

युद्ध

रानी का नेतृत्व

जौहर

की गई; घी और चन्दन और दूसरे पदार्थ आये; हंसने २ रानी ने और दूसरी स्त्रियों ने आग सुलगा दी और बच्चों के साथ सब प्रसन्नता से जल मरीं। इधर पुरुषों ने केसरिया बाना पहिन कर एक दूसरे से विदा ली और फिर सब शत्रुओं पर टूट पड़े। एक एक कर के सब मारे गये पर किसी को आत्मसमर्पण की ज़रा कल्पना भी न हुई। जौहर के भीषण घटनाचक्र के सामने ऐतिहासिक समालोचना भी चुप रह जाती है पर यह बताना आवश्यक है कि जौहर से देश की रक्षा नहीं हो सकती थी। क़ासिम की फ़ौज आगे बढ़ती गई और एक के बाद दूसरे शहर और ज़िले पर अधिकार जमाती गई। कुछ हिन्दू राजा उससे जा मिले। शीघ्र ही अर्थात् ७१४ ई० में सारे सिंध और दक्खिन पंजाब पर अरबों का शासन स्थापित हो गया। जैसा कि साधारणतः विजय में होता है, अब तक अरबों ने बड़ी निर्दयता से काम लिया था। पर विजय के बाद अपने शासन में उन्होंने बड़ी सहनशीलता दिखाई। बहुत से हिन्दू राजाओं से केवल ख़राज लेकर वह सन्तुष्ट हो गये। उद्योगियों और व्यापारियों को उन्होंने कोई क्षति न पहुँचाई और न हिन्दुओं के धर्म पर बलात्कार किया। क़ासिम के पूछने पर ख़लीफ़ा ने परवाना भेजा कि हिन्दू अपने टूटे हुये मंदिरों को फिर से बना सकते हैं; अपनी सब रीति रिवाजों का पालन कर सकते हैं; ब्राह्मणों की ज़मीन और रुपया वापिस कर दिया जाय और पहिले की तरह तीन फ़ी सदी कर उनको पूजा पाठ के लिये दिया जाय। इस तरह आठवीं सदी में अरबों ने सिंध पर हुकूमत की पर पच्छिम में आपसी झगड़ों से ख़लीफ़ाओं का बल कम होने से वह सिंध में भी निर्बल हो गये। हिन्दुओं ने आसानी

क़ासिम की प्रगति

अरब शासन

अरब राज्य का अन्त

से उनको बाहर निकाल दिया। नवीं सदी से बारहवीं सदी तक फिर उसी तरह का हिन्दू राज्य सिंध में जारी रहा जैसा कि सातवीं सदी तक था। जिन कारणों से ८वीं सदी में हिन्दू राजाओं का पराजय हुआ था उन्हीं कारणों से १२वीं सदी के अन्त में वह फिर हारे और सिंध छः सौ बरसों के लिये मुसलमानों के अधिकार में चला गया। पहिली पराजय से हिन्दुओं ने कोई सबक़ न सीखा था; बारहवीं सदी तक तो वह उसे बिल्कुल भूल गये होंगे। किसी हिन्दू ग्रन्थ में अरब विजय का संकेत तक नहीं है; ऊपर जो वर्णन किया है वह सब अरब लेखकों के आधार पर है[1]।

दूसरी मुसलमान विजय

यह तो हुआ उत्तर भारत के इस समय के राजनैतिक इतिहास का दिग्दर्शन। अब दक्खिन के अर्थात् नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच के प्रदेशों के इतिहास पर एक नज़र डालनी है। ७ वीं ईस्वी सदी तक की घटनाओं का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। आठवीं सदी के मध्य में राष्ट्रकूटों का प्राबल्य हुआ और दसवीं सदी के लगभग अन्त तक उनका ही दौर दौरा रहा। चारो ओर के राजाओं से वह युद्ध करते रहे और अधिकतर जीतते रहे। ९१४-१६ ई० में तो इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर छापा मारा। राष्ट्रकूटों के राजत्व में बौद्ध धर्म का बहुत ह्रास हुआ, जैन धर्म की कहीं कहीं वृद्धि हुई और कहीं कहीं घटी हुई, ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य हुआ। विष्णु, शिव और दूसरे देवताओं के बहुत से मंदिर बने। ७६० ई० के लगभग

दक्खिन

राष्ट्रकूट

धर्म

---

1. अरब विजय के लिये देखिये, इलियट और डाउसन, पूर्ववत् भाग १। संक्षिप्त वर्णन के लिये एल्फिन्स्टन, हिस्ट्री आफ् इंडिया, पृ० ३०६-१७॥

कृष्ण प्रथम ने इलूरा में कैलाश मंदिर बनवाया अथवा यों कहना चाहिये कि चट्टान काट कर निकाला। साहित्य की भी बहुत बढ़ती हुई। ब्राह्मणों और जैनों ने, विशेष कर दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनों ने, बहुत से संस्कृत ग्रन्थ रचे जिनमें से बहुतेरे अबतक मौजूद हैं। ९७३ ई० में राष्ट्रकूट वंश के स्थान पर एक नया चालुक्य वंश बैठा जो कल्यानी के चालुक्य नाम से प्रसिद्ध है। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने चोल राजाओं से बहुत से युद्ध किये और कभी कभी बेतरह हार खाई। बारहवीं सदी के अन्त में इस चालुक्य वंश का अन्त हुआ और साम्राज्य टूट गया। कुछ बरसों तक पच्छिमी प्रदेशों पर यादव-वंश ने देवगिरि राजधानी से और दक्खिनी प्रदेशों पर होयसल वंश ने द्वारसमुद्र राजधानी से शासन किया। १२९४ ई० में देहली सुल्तान के भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने दक्खिन पर हमला किया और बेख़बर राजाओं को नीचा दिखाते हुये धुर दक्खिन तक ख़ूब लूट मार की। देहली के तख़्त पर बैठने के बाद अला-उद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफ़ूर को १३०९ ई० में फिर दक्खिन जीतने को भेजा। मलिक काफ़ूर भी समुद्र तक आ पहुंचा। चौदहवीं सदी में दक्खिन में मुसलमान राज्य स्थापित हो गये। केवल पहाड़ों और घाटियों में थोड़ी स्वतंन्त्रता से कुछ हिन्दू सर्दार राज करते रहे[1]। उत्तर

साहित्य

कल्यानी के चालुक्य

आगामी वंश

मुसलमान विजय

---

1. दक्खिनी राज्यों के लिये ताम्रपत्र लेख एपिग्राफ़िया इंडिका, इंडियन ऐन्टि-क्वेरी इत्यादि में है। संक्षिप्त इतिहास विंसेंट स्मिथ कृत अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण) पृ० ४४३—५५ में देखिये। मुसलमान विजय के लिये इलियट और डाउसन पूर्ववत्, भाग ३ देखिये।

की तरह दक्खिन को भी मुसलमानों ने बहुत जल्दी और बहुत सुगमता से जीता। कारण वही थे जिनका उल्लेख पहिले कर चुके हैं। १२९४ में एक छोटी सी सेना लेकर अलाउद्दीन खिलजी का धुर दक्खिन तक पहुँच जाना यही प्रमाणित करता है कि बीच के राज्य संसार की प्रगति से बेख़बर थे, एक दूसरे की सहायता न करते थे, शासन और सैन्यसंगठन में निर्बल थे।

धुर दक्खिन

धुर दक्खिन में सातवीं सदी के बाद भी पाण्ड्य, चोल, केरल और पल्लव राज आपस में पहिले की तरह ख़ूब लड़ते रहे। कभी इसकी जीत हुई, कभी उसकी, कभी इस राज्य की सीमा घटी, कभी उसकी। ७५० ई० के लगभग जब पल्लव राजा चालुक्यों से हार कर निर्बल हो गया तब चोल वंश का प्रभाव ख़ूब बढ़ा। आदित्य चोल (लगभग ८८०—९०७ ई०) ने पल्लव राजा अपराजित को पराजित किया और चोल वंश को धुर दक्खिन में प्रधान बना दिया।

चोल

९८१ ई० के लगभग चोल राजराजदेव गद्दी पर बैठा। उसने कृष्णा नदी के दक्खिन में लगभग सारे देश पर अपनी प्रभुता जमाई। उसने उत्तर में चालुक्यों को हराया और समुद्र पार १००५ ई० के लगभग लंका को, और १०१४ ई० के लगभग अरब सागर के लकडिव, मालडिव आदि टापुओं पर भी विजय पताका फहराई। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि राजराज के पास बड़ी भारी नौसेना थी और लड़ाई के जहाज़ों का बहुत अच्छा प्रबन्ध था। अन्य हिन्दू नरेशों की तरह राजराज ने बहुत से मंदिर बनवाये। सब से बड़ा मंदिर तंजोर का था जो आज तक

राजराज

मौजूद हैं। मदूरा, रामेश्वरम् कांची आदि के मंदिरों की तरह तंजोर मंदिर भी बहुत बड़े घेरे में है, नगर सा मालूम होता है। दक्खिनी मंदिरों के चारो ओर ऊंची दीवाल होती थी; अन्दर तालाब होते थे; बहुत से देवी देवताओं के लिये बहुत से देवालय होते थे; प्रधान देवता के लिये मुख्य देवालय होता था और चारों ओर सब दीवालों और छतों पर, गोपुरम् पर और छतों के नीचे पत्थर की अनगिनित मूर्तियां होती थीं। इन सब लक्षणों का बहुत अच्छा और ऊंचे दर्जे का उदाहरण राजराज का तंजोर मंदिर है।

तंजोर मंदिर

१०१८ ई० के लगभग राजराज का देहान्त हुआ और उसका लड़का राजेन्द्र प्रथम गद्दी पर बैठा। राजेन्द्र ने अपनी थल सेना और जल सेना के बल से अपना प्रभाव दूर दूर के देशों पर फैलाया। १०२३ ई० के लगभग बंगाल के राजा महीपाल को नीचा दिखाया, १०२५-२७ में बर्मा देश के विशाल पीगू प्रदेश को जीता और तत्पश्चात् बंगाल की खाड़ी के अन्डमान और निकोबर द्वीपसमूहों को अपने साम्राज्य में मिलाया। अपनी राजधानी के लिये उसने गंगैकोंड चोलपुरम् नामक एक नया नगर बसाया जो धन, ऐश्वर्य और सौन्दर्य में उस समय संसार के किसी भी नगर का सामना कर सकता था। नगर का प्रधान मंदिर बड़े घेरे का था और सुन्दर से सुन्दर मूर्तियों का आकर था। राजा ने नगर के पास ही एक बड़ी झील बनाई जिसका बांध सोलह मील लम्बा था और जिस से चारों ओर के प्रदेश की खेती की सिंचाई होती थी। दक्खिन में तालाब बनाने की प्रथा बहुत थी; सब ही राजाओं ने सिंचाई के लिये छोटे छोटे और बड़े बड़े तालाब बनवाये जिनके खंडहर आज भी हर तरफ़ नज़र आते हैं।

राजेन्द्र प्रथम

१०३५ ई० में राजेन्द्र के मरने पर उसका लड़का राजाधिराज गद्दी पर बैठा। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने चालुक्यों से तथा और राजवंशों से बहुतेरे युद्ध किये। ११ वीं ईस्वी सदी में

उत्तराधिकारी

सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक रामानुज हुये जिन्होंने वेदान्त में विशिष्टाद्वैत मत का उपदेश दिया और वैष्णव धर्म की वृद्धि की। रामानुज का प्रभाव जल्द ही दक्खिन से सारे देश में फैल गया और हिन्दू धर्म तथा तत्त्वज्ञान में अब तक दृष्टिगोचर है। साधारण साहित्य और कला की भी वृद्धि इस समय दक्खिन में बहुत हुई। ११ वीं सदी से तेरहवीं सदी तक धुर दक्खिन का राजनैतिक इतिहास पुराने क्रम के अनुसार चलता रहा। चौदहवीं सदी में मुसलमानों से मुक़ाबिला हुआ। देहली के ख़िलजी और तुग़लक़ सुल्तानों ने दक्खिनी राजाओं को आसानी से हरा दिया पर दूरी के कारण और स्वयं आपस के झगड़ों के कारण निर्बल होने से वह धुर दक्खिन पर अपनी पूरी सत्ता कभी नहीं जमा सके। चौदहवीं सदी के उत्तर भाग में हरिहर और बुक्का ने एक नये विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की जो कृष्णा नदी से समुद्र तक फैल गया और जिसका शासन पुराने हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार होता रहा। विजयनगर साम्राज्य दक्खिन में मुसलमान बहमनी राज्य से और १६ वीं सदी के प्रारंभ में उसके टूटने पर बीजापुर और गोलकुंडा के सुल्तानों से बराबर की टक्कर लेता रहा। पर १५६५ ई० में दक्खिनी सुल्तानों की संयुक्त सेना ने तालीकोट की लड़ाई में विजयनगर सम्राट् को ऐसा हराया कि साम्राज्य सदा के लिये टूट गया। धुर दक्खिन का बहुत सा भाग सुल्तानों ने अपने राज्यों में मिला लिया और शेष भाग पर छोटे

विजयनगर

ध्वंस

मोटे हिन्दू राजा राज करते रहे। स्पष्ट है कि धुर दक्खिन पर मुसलमानों का प्रभाव सब से कम रहा। दक्खिन-पच्छिम में ट्रावनकोर राज्य सदा हिन्दुओं के ही हाथ में रहा[1]।

राजनैतिक विचार और संगठन

प्राचीन समय के अन्तिम युग में राजनैतिक इतिहास का यह क्रम रहा। अब इस युग की अर्थात् आठवीं सदी से बारहवीं ईस्वी सदी तक की सभ्यता की कुछ बातों का उल्लेख करना है।

अंतिम युग की सभ्यता

सब से पहिले राजनैतिक संगठन और राजनैतिक विचार के सम्बन्ध में दो चार बातें कहनी हैं। इस समय उत्तर के राजनैतिक संगठन में कोई नये ढंग नहीं निकले और न कोई ख़ास तरक्क़ी हुई। इधर उधर थोड़ा अन्तर अवश्य है पर वह बहुत महत्त्व का नहीं है। भवभूति के मालतिमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित से मालूम होता है कि राजा यज्ञ किया करते थे, कोई यज्ञ रानी के बिना पूरा नहीं था, शायद कहीं कहीं शूद्रों को वेद पढ़ने या तप करने की मनाही थी। आठवीं सदी के लगभग माघ के शिशुपालवध में मंडल, साम्राज्य और गुप्त दूत भेजने का सिद्धान्त है।

राजनैतिक संगठन और विचार

---

1 धुर दक्खिन के इतिहास के लिये शिलालेख और ताम्रपत्र लेख इंडियन एंटिक्वेरी, एपिग्राफ़िया इंडिका, साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, मद्रास एपिग्राफ़िस्ट्स रिपोर्ट, एपिग्राफ़िया कर्नाटिका इत्यादि में है। कृष्णस्वामी आइयंगार कृत एशेंट इंडिया, साउथ इंडिया एंड हर मुसलमान इन्वेडर्स, सोर्सेज़ आफ़ विजयनगर हिस्ट्री इत्यादि देखिये। आर० स्युएल, ए फ़ार्गाटन एम्पायर, और मेजर, इंडिया इन् दि फ़िफ़्टीन्थ सेंचुरी भी उपयोगी हैं। संक्षिप्त इतिहास विंसेंट ए स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४७८-९९ में है।

इसी समय के लगभग विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में कुटिलनीति का अच्छा चित्र खींचा है। आठवीं और नवीं सदी में जैन कवि जिनसेनाचार्य ने और उसके मरने पर गुणभद्राचार्य ने आदिपुराण और उत्तरपुराण में जैन मत के अनुसार कुलकरों और तीर्थंकरों के चरित लिखे हैं। कुलकरों ने लोगों को प्रकृति के बदलते हुये दृश्यों को समझाया और उनके अनुसार अपना जीवन पलटने का आदेश किया। पहिले तीर्थंकर ऋषभदेव ने तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्थापित किये और उनके कर्तव्य बताये। कुछ दिन बाद उनके समय में ही उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत ने तीन वर्णों में से योग्य आदमियों को ले कर ब्राह्मण जाति बनाई और उनको कर और दंड से मुक्त करके प्रजा के सम्मान का पात्र बनाया। कहा है कि जैन ब्राह्मण ही सच्चे ब्राह्मण हैं; ब्राह्मण कहलाने वाले और लोग कोरे पाखंडी हैं। जैन आदिपुराण से बराबर ध्वनि निकलती है कि राजा को आर्थिक, मानसिक और अध्यात्मिक बातों में प्रजा का नेता होना चाहिये[1]।

आदिपुराण

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति

राजा के कर्तव्य

जैन हरिवंशपुराण में राजा श्रेणिक (बौद्धग्रंथों का बिम्बिसार) बहुत से जैन मंदिर बनवाता है और उसकी देखा देखी सामन्त, मंत्री और प्रजा भी मंदिर

अन्य जैन ग्रन्थ

---

१. आदिपुराण की राजनैतिक झलकों के लिये देखिये पर्व १६। २४१-४६, २११,२२५-३२ २७१-७५, १९७-२०८ ॥ १७। ७६-७७, १, २१६ ॥ ३९। १३-१४, २०-२२, १०८-२४, १२७-४२, १५४ ५७, २३० ॥ ४०। ४०, ६३, ६७, १३९, १९२-९३ ॥ ४१। ४५-५५ ॥ ४२। १८१-९२ ॥ ३७। २-६, ११, १३-१४ ॥ ४३। २५६, २७६-७८ ॥ २६। ५८ ॥ ४। १४१-५६ ॥ उत्तर पुराण, ४८। ९-१०, २६ २७, ३२-३३, ९०-६१ ॥ ५४। ८०-८२ ॥ ६७। १४-१७ ॥

बनवाते हैं[1]। इससे भी ज़ाहिर है कि हिन्दू राजा प्रजा की धार्मिक उन्नति का प्रयत्न किया करते थे। सुधर्मस्वामिगणभृथ के श्रीप्रश्नव्याकरणाङ्गम् से मालूम होता है कि ज़मीन्दारी संग्र-शासन सब तरफ़ प्रचलित था; सामन्त माण्डलिक भी कहलाते थे; राजा, सेनापति, पुलिस और कर वसूल करने वाले कभी कभी प्रजा पर बहुत अत्याचार करते थे[2]। चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावकचरित में और वाड़िमसिंहसूरि के गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि में भी इसी तरह की राजनैतिक झलकें हैं। अनुयोग-द्वारसूत्रम् में और हरिभद्र के धर्मविन्दु में राजभक्ति पर ज़ोर दिया है।

दसवीं ई० सदी में जैन सोमदेवसूरि ने महाभारत, मनु, वसिष्ठ और ख़ास कर कौटल्य के आधार पर नीतिवाक्यामृतम् में राजनीति का पूरा वर्णन सूत्रों में किया। वह कहता है कि राजाओं और मंत्रियों में सब से ज़्यादा ज़रूरत ज्ञान की है। मंत्री ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य होने चाहियें। पर विदेशियों को कभी मंत्री न बनाना चाहिये; सेनापतियों को नीति पर कभी अधिकार न देना चाहिये क्योंकि वह लड़ाई पर हमेशा कमर बांधे रहते हैं। राजा को खेती बढ़ानी चाहिये, बाज़ार की देख रेख करनी चाहिये, चीज़ों के दाम मुक़र्रर करने चाहिये, अधिका-रियों और प्रजा के तथा दूसरे राजाओं के भाव और कर्म का पता लगाने के लिये दूतों को यति, ब्रह्मचारी, ज्योतिषी, वैद्य, सिपाही, सौदा-गर, गायक, नट, जादूगर, इत्यादि के भेष में चारो ओर भेजना चाहिये[3]।

सोमदेव सूरि

---

१. जैन हरिवंशपुराण, १ पृ० ४८-४९॥

२. श्रीप्रश्नव्याकरणांगम् १। ७॥ ३। ११-१२॥

३. नीतिवाक्यामृतम् के राजनैतिक विचारों के लिये ख़ास कर देखिये सूत्र, ६२-६६, ७६-८०, ८४-९०, ९३-९५, ९८-१००, १०२-१०४ १०६-२५, १२७-३७, ४९-१६०-६३, १७०-८४, १९०-९७, २४६-५०, २९५-३०५॥

सामदेव के दूसरे ग्रन्थ यशास्तिलकचम्पू में भी, विशेष कर तीसरे आश्वास में, इसी तरह की कुछ बातें हैं।

अन्य साहित्य

साहित्य के कुछ और ग्रन्थ हैं जिनसे थोड़ी सी राजनैतिक बातें मालूम होती हैं और केवल ऊपर के कथनों का समर्थन होता है जैसे भोज का युक्तिकल्पतरु, वैशम्पायन की नीतिप्रकाशिका, चाणक्य के सूत्र, पद्मगुप्त का नवसाहसांङ्कचरित, मेरुतुङ्गाचार्य का प्रबन्धचिन्तामणि, सोम देव का कथासरित्‌सागर, विद्यापति ठाकुर की पुरुषपरीक्षा, श्रीहर्ष का नैषध, वल्लालसेन का भोजप्रबन्ध, धनपाल की (अपभ्रंश) भविसत्तकहा इत्यादि। इस काल में स्मृतियों के टीकाकार बहुत हुये—जैसे मेधातिथि, विज्ञानेश्वर। इन्होंने पुराने धर्म की व्याख्या तो की है पर उस धर्म को नई परिस्थितियों के अनुकूल भी बनाया है।

भिन्न भिन्न प्रदेशों के प्रकृत शासन के बारे में भिन्न भिन्न पुस्तकों और ताम्रपत्रों से कुछ बातें मालूम पड़ती हैं।

सिंध

सिंध के बारे में अरब लेखक सुलेमान ने सिल्सलतुत्तवारीख़ में और इब्न ख़ुर्दवा ने किताबुलमसालिक वलममालिक में, अलमसूदी ने मुरूजुल् ज़हब में, अल् इद्रीसी ने नुज़्हतुल्मुश्तक में लिखा है कि हिन्दुस्तान में अर्थात् सिंध और चारो ओर के प्रदेश में बहुत से राजा थे पर वह सब बल्हरा अर्थात् बल्लभीराय की सत्ता मानते थे। चाचनामा या तारीख़ हिन्द व सिन्ध में लिखा है कि इस

संघशासन

समय सिंध में सत्तर राजा थे जिनको एक आगामी लेखक मीर मुहम्मद मासूम ने तारीख़ु-सिन्ध में ज़मीन्दार कहा है। इन अरब वर्णनों से उसी ज़मीन्दारी संघशासन प्रथा की ध्वनि निकलती है जो हिन्दू ताम्रपत्रों और

पुस्तकों से देश भर में व्यापक मालूम होती है। चाचनामा से मालूम होता है कि राज्य में एक सब से बड़ा मंत्री या वज़ीर होता था जो अफ़सरों को मुक़र्रर करता था। राजधानी अलोर में बहुत से महल और हवेली, बाग़ और कुञ्ज, तालाब और नहर, और बेलों और फूलों की क्यारियां थी। राज्य चार सूबों मे बटा हुआ था जिनमें से प्रत्येक के ऊपर एक अध्यक्ष था। न्याय के लिये न्यायाधीश थे जिनको मुसलमान इतिहासकारों ने क़ाज़ी कहा है। लड़ाई की सेना हमेशा तय्यार रहती थी, सिपाहियों को वेतन ठीक समय पर दिया जाता था [1]।

मंत्री

राजधानी

कश्मीर के बारे में राजतरंगिणी से सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के बारे में बहुत सी बातें मालूम होती हैं। राजतरंगिणी संस्कृत साहित्य के इने गिने इतिहास ग्रन्थों में से है और जैसा कि कह चुके हैं बारहवीं सदी में कल्हण के द्वारा इस की रचना हुई थी। कश्मीर में मुख्यतः दो ही वर्ण थे—ब्राह्मण और शूद्र। कुछ अस्पृश्य जातियां भी थीं। बहुत से ब्राह्मण पुरोहित थे जिन्हों ने अपनी श्रेणियां बना रक्खी थीं और जो पूजा पाठ और व्रत कराते थे। रोटी बेटी के सम्बन्ध में राजा, पुरोहित और जनता कभी कभी जाति पात की अवहेलना स्वतंत्रता से करते थे। राजा से रोज़ दान लेना ब्राह्मण अपना हक़ समझते थे। डामर इत्यादि कुछ नीच जातियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था। अनेक राजा

कश्मीर

वर्ण

१. अरब इतिहासकारों के लिये देखिये इलियट और डाउसन, पूर्ववत्, भाग १, पृ० १, ६-७, १३, २०-२१, ७५, १२८ ४०, २११-१२॥

और दर्बारियों के चरित्र बहुत गिरे हुये थे। भूत प्रेत में बहुत विश्वास था[1]।

शासन

ज़मीन्दारी संघशासन प्रथा कश्मीर में भी थी पर उतनी नहीं थी जितनी कि मैदानों में[2]। कोई कोई राजा ब्राह्मणों और बौद्धों को बहुत ज़मीन, द्रव्य, भोजन, वस्त्र इत्यादि देते थे, मंदिर या विहार बनवाते थे; अकाल या और किसी आपत्ति के आने पर अपने सारे ख़ज़ाने से प्रजा की मदद करते थे, और यों भी सदाव्रत अस्पताल, इत्यादि बनवाते थे; मंदिरों की देख रेख करते थे. विद्या की वृद्धि करते थे; सिंचाई का प्रबन्ध करते थे और धर्म का प्रचार करते थे[3]। जयापीड़ ने बहुत दूर दूर से विद्वान् बुला कर अपने दर्बार में रक्खे; राजाओं से ज़्यादा उनका आदर किया और उनको माला माल कर दिया। पर कोई कोई राजा बड़े अत्याचारी और व्यसनी थे, मंदिरों और विहारों को लूटते थे, प्रजा को कष्ट देते थे[4]।

---

१ कल्हण, राजतरंगिणी, ७। ३६०, ३६८, १६१७, ११, ३८, २०७ ॥ ८। ७१०, ९०५, २३८३, ११०१ ॥ ४। ९६, ६७८ ॥ ५। ७३, ३८९ ॥ १। १३२, १४८, १६२ ॥

२, राजतरंगिणी, ३। २७, २९ ॥ ४। १४३, ४४७ ॥ ४। १३९, १४०, २५० ४५१-५२ ॥ ७। ४८ ॥

३. राजतरंगिणी १। ९९, १२१, १४५-४८ ॥ २। २७-३३, १३२ ॥ ३। ५, २७, २९, ८, ११-१४, ४६१ ॥ ४, १८१, २१२, ४८४, ४८९-९४, ६०३ ॥ ५। ३२, ३३, १२४, १५८, १६९ ॥ ६। ८९ ॥ ७। १०९६-९८ ॥ ८। २४३-४६, २३९१, २४१९, २४३३, ३३१६-१७, ३३४३-४४ ॥

४. राजतरंगिणी २। १३२ ॥ ४। १८९, ३४७, ३९५, ६२८, ६३९ ॥ ५। ५२, १७०, १६-६९, २०६ ॥ ६। १७५, ॥ ७। ४३, १०६, ५७०, ६९६, १३४४, १०९०, १०८१, १०९८, १२१९-२७, २८५, ११०९-१४ ॥ ८। २७५६, ८६८, १८६६, ६७६-८० ॥

राज को गड़बड़ों से तंग आकर ब्राह्मण बहुधा अनशन व्रत करते हुये धरना देते थे। इन उपवासों से बड़ी हलचल मचती थी और राजा महाराजाओं के आसन डोल जाते थे। अक्सर प्रजा के उद्देश्य इस तरह पूरे हो जाते थे।[1] जब इन से भी काम नहीं चलता था तब प्रजा कभी २ बग़ावत करती थी या अत्याचारियों की हत्या करती थी[2]।

अनशन

सरकारी काम के लिये बहुत पहिले ही राजा जलौक ने अठारह कर्मस्थान या दफ़्तर क़ायम किये थे जो न्याय, कर, सेना, पुलिस, परराष्ट्र, धर्म इत्यादि का प्रबन्ध करते थे। ललितादित्य ने पांच और अफ़सर क़ायम किये—जिनके नाम थे महाप्रतिपीड़, महासंधिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार, और महासाधनभाग जो पञ्चमहाशब्द के नाम से प्रसिद्ध हुये। गृहकृत्य का महकमा महल के ख़र्च का और देवता, ब्राह्मण, परदेसी, ग़रीब वग़ैरह के लिये दान का प्रबन्ध करता था।

राजकर्मचारी

राज की सेवा में बहुत से दिविर या लेखक थे जो बहुधा कायस्थ कहलाते थे और जिनको कल्हण ने अत्याचारी कह कर गालियां सुनाई हैं। गांव के मुखिया को ग्रामकायस्थ कहते थे। इसी तरह हर एक शहर का भी एक अधिकारी होता था। राज की आमदनी ज़मीन के अलावा सरहद, गढ़ी, पुल और बाज़ार में

कायस्थ

---

१. राजतरंगिणी, ५। १७४॥ ६। ४३॥ ७। १०८८, १३, ४००–४०१,॥ ८। २५१३, ७१०, ८९८-९००, ९०३—९०७, ९३९—४०॥

२. राजतरंगिणी १। १७३॥ २। ११६, ५२८॥ ७। ६०२॥

माल पर कर से भी होती थी। ग़रीब आदमियों से बेगार भी ली जाती थी[1]। ११ वीं ई० सदी के कश्मीरी कवि विद्यापति बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित से इतनी ही नई बात मालूम होती है कि कोई कोई राजा बड़े दानी और उदार होते थे और यह तो प्रगट ही है कि कश्मीर के राजाओं से विद्या और साहित्य को प्रोत्साहन मिला। राजकुमारियां ऊंची शिक्षा पाती थीं। इसी समय के लगभग क्षेमेन्द्र ने भारतमंजरी, रामायणमंजरी, बृहत्कथामंजरी, बोधिसत्त्वावदानकल्पलता इत्यदि ग्रन्थ लिखे जिनमें पुरानी रचनाओं का सरस मनोहर पद्य में संक्षेप है।

बिल्हण

कश्मीर के पास चम्बा रियासत में जो बहुत दिन तक कश्मीर की सत्ता मानती थी शिलालेख और ताम्रपत्र बहुतायत से मिले हैं। इनमे मंत्री को अमात्य और प्रधान मंत्री को राजामात्य या महामात्य कहा है। राजस्थानीय न्याय करता था, प्रमातार शायद सिर्फ़ दीवानी मुक़द्दमे फ़ैसल करता था। दण्डिक और दण्डवासिक भी न्याय के अफ़सर मालूम होते हैं। क्षेत्रप खेती की रक्षा करता था। उपरिक, शौल्किक, गौल्मिक, चौरोद्धरणिक, अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक और कायस्थ यहां भी वही काम करते थे जो और

चम्बा

न्याय

---

१. राजतरंगिणी १। ११८-२० ॥ ४। १३७, १४०-४३, ३५६-५८, ६८० ३४७, ६२८, ६३९, ॥ ५। १२७-३०, २४८, २३२. १७१-७७, १८०-१, १८, १७०, १६७ ॥ ६। ११७, ३०, ३८, ७०, ४१ ॥ ७। ३६४, ४१-४३, ५७०, ११०५-११०७ ॥ ८। २९४, ५७३, ७१३, ८१४, ८५-१०६, १३१, ५३, ४६, ५५, ७४, १३६, २०१०, ३३३६, २५८-५९, २७६ ॥

राज्यों में। महल के अफ़्सरों में खण्डरक्ष, छत्रछायिक और वेतकलि उल्लेख योग्य हैं। सैनिक विभाग में हस्त्य-

राजकर्मचारी

प्रश्वोष्ट्रबलव्यापृतक हाथी, घोड़े, ऊंट और पैदल का प्रबन्ध करते थे। वरियात्रिक भी एक फ़ौजी अफ़्सर था। सेना में कुछ पहाड़ी जातियों के लोग भी थे जिनके अफ़्सर अपनी ही जाति के होते थे। प्रादेशिक शासन में भोगिक या भोगपति और विषयपति के अलावा निहेलपति और नरपति का भी ज़िक्र है जो ज़िलों के हिस्सों के अधिकारी मालूम होते हैं। यहां ग्रामसमूह अर्थात् परगना के

प्रादेशिक शासन

अधिकारी को चाट कहते थे और उसके अधीन सहायक को भट। भोगिकों और विषय-पतियों के सहायक विनियुक्तक कहलाते थे। दूत, गमागमिक और अभित्वरमाण इधर उधर संदेशा ले जाते थे। कर और न्याय का प्रबन्ध देश के और हिस्सों का सा ही था[१]।

उत्तरी मैदानों के शासन पर ताम्रपत्रों से बहुत प्रकाश पड़ता है। इस समय के मगध के ताम्रपत्रों से सिद्ध

मगध

होता है कि कभी कभी महाराजाधिराज प्रसन्न होकर योग्य पुरुषों को दो एक गाँव देकर राजा बना देते थे। कभी मात्स्यन्याय अर्थात् राजनैतिक गड़बड़ से तंग आकर राजा महाराजा किसी बहुत योग्य

उपाधि

शासक को सम्राट् मान कर महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक की उपाधियाँ देते थे[२]।

---

१. फ़ोगल, एंटिक्विटीज़ आफ़ चम्बा स्टेट, नं० १३, १५, २५, ३२॥ आर्कियोला-जिकल सर्वेरिपोर्ट, १९०२-१९०३ पृ० २३९-७१॥ आई० ए० १८८८ ई० पृ० ७ इत्यादि।

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, २। नं० २७॥ ४। नं० ३४॥ ५ नं० २४॥

ज़मीन्दारी संघशासन की प्रथा इस समय पहिले से भी ज़्यादा प्रचलित मालूम होती है। बड़े सामन्तों के लिए और उपाधियां--महासामन्ताधिपति और राजराजानक--इस समय जारी हुईं। राजकर्मचारियों में राजानक और राजपुत्र भी अक्सर गिनाये हैं जिससे मालूम होता है कि महाराजाधिराज या महाराज या राजा के पुत्र बहुधा ऊंचे पदों पर नियुक्त किये जाते थे। मंत्रियों को बहुधा राजामात्य कभी कभी और महाकार्त्ताकृतिक कहते थे। मगध के ताम्रपत्रों में दौःसाधसाधनिक और चौरोद्धरणिक पुलिस अफ़सर हैं। दण्डशक्ति और दण्डपाशिक भी पुलिस अफ़सर हो सकते हैं पर बहुत कर के शायद न्यायाधीश हैं। शौल्किक और गौल्मिक चुंगी और जंगल का प्रबन्ध करते थे। दूत, खोल, गमागमिक और अभित्वरमाण इधर उधर खबरें ले जाते थे। सरकारी क़ागज पत्र लिखने के लिए बहुत से लेखक थे जिनको कायस्थ कहते थे। मुख्य लेखक ज्येष्ठ कायस्थ कहलाता था। कर वसूल करने वालों में षष्ठाधिकृत भी था जो ज़मीन की पैदावार का षष्ठांश या षड्भाग जमा करता था। तरिक घाटों की देख रेख करते थे और घाट की चुंगी जमा करते थे। तदायुक्तक और विनियुक्तक छोटे कर्मचारी थे। भट शायद सिपाही थे, चाट पुलिस कर्मचारी। मगध के अन्य लेखों में कुछ और अधिकारियों के नाम हैं, जैसे क्षेत्रप--खेतों की रक्षा करने वाला; प्रान्तपाल--सरहद की रक्षा करने वाला; कोट्टपाल या खण्डरक्षक--सैनिक या पुलिस अफ़सर। राज के हाथी, ऊंट, गाय बैल, भैंस, घोड़ा, घोड़ी, भेड़ बकरे इत्यादि के प्रबन्ध के लिये भी कर्मचारी नियुक्त थे। प्रादेशिक

अमात्य

राज्यकार्य

कर

प्रादेशिक शासन

शासन पहिले का सा ही रहा। भुक्ति और विषय के अलावा मंडल का भी ज़िक्र आता है जो ज़िले का हिस्सा मालूम होता है। दशग्रामिक शब्द से मालूम होता है कि दस दस गांवों के समूह पर एक अधिकारी रहता था। गांव में महत्तर, महत्तम, या महामहत्तर अर्थात् बड़े आदमियों की सलाह से प्रबन्ध होता था। करणिक कागज़ रखता था। कहीं कहीं गुप्त समय के नाम राजस्थानीय और उपरिक भी आये हैं। दाशापराधिक भी एक तरह का न्यायाधीश था[1]।

कन्नौज

११ वीं सदी के कन्नौज ताम्रपत्रों में अन्य अधिकारियों के अलावा प्रतीहार, अक्षपटलिक (कागज़ पत्र रखने वाले), भिषज्, नैमित्तिक (ज्योतिषी), अन्तःपुरिक भी हैं। पट्टन (नगर), आकर (खान), स्थान (पुलिस के थाने), गोकुल (गोशाला), और अपर (दूसरे) स्थानों के अफ़सरों का भी उल्लेख है। करों में भागभोगकर साधारण कर हैं, विषयदान जिले का कोई ख़ास कर है, तुरुष्कदण्ड शायद उत्तर-पच्छिम के शत्रुओं लिए कोई कर है[2]।

राजकर्मचारी

१२ वीं ई० सदी के कन्नौज लेखों में जातकर और गोकर भी आये हैं। यहां और दूसरे आस पास के ताम्रपत्रों में सरकारी लेखक जो कायस्थ कहलाते थे, बहुत से हैं[3]। १२ वीं सदी के कीर्तिपाल के

---

१. एपिग्रफ़िया इंडिका २। नं० २७ ॥ ४। नं० २४ ॥ ५ नं० २४ ॥ ३। नं० २६ ॥ १२ न० २० ॥ इंडियन एन्टिक्वेरी ११ पृ० ३३ ॥ १५ पृ० ३०६ ॥ १७। पृ० ११ ॥

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, १४ नं० १५ ॥

३. एपिग्राफ़िया इंडिका ४। नं० ११ ॥ ७ नं० ११ ॥ ८ नं० १४ ॥ ११ नं० ३ ॥ २ नं० २३ ॥ इण्डियन एन्टिक्वेरी १५ पृ० ६ ॥ १८ पृ० ९ ॥ जे० आर० ए० एस० १९०९ ई० पृ० १०६६ ॥

ताम्रपत्र में महापुरोहित, धर्माधिकरणिक, दैवागारिक, शंखधारि, पंडित, उपाध्याय, दैवज्ञ, वठक्कुर, महाक्षपटलिक, आष्टवर्गिक, करण-कायस्थ, महाष्ठाशासनिक और महासाधनिक—यह अधिकारी भी लिखे हैं[1]। बगाल के लेखों में और सब साधारण अधिकारियों के अलावा महाधर्माध्यक्ष (न्यायाधीश), महामुद्राधिकृत (टकसाल या मुहर का अफ़सर) महाव्यूहपति, महापीलुपति (हाथियों का अफ़सर) महागणस्थ (फ़ौजीगणों का अफ़सर भी) हैं [2]।

दूसरे राज्यों में भी बहुत कुछ ऐसी ही शासनप्रणाली थी। यहां केवल कुछ विशेषताएं बताने की आवश्यकता है। उड़ीसा में महल के अफ़सर अन्तरंग कहलाते थे। राज के कागज़पत्रों की देख

उड़ीसा

रेख महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत के हाथ में थी। महाक्षपटलिक-भोगिक शब्द से अनुमान होता है कि यह अधिकारी कभी २ कर प्रबन्ध करने के साथ साथ किसी प्रान्त का शासक भी हो सकता था। बड़े प्रान्तों के शासक बृहद्भोगिक कहलाते थे [3]। कामरूप (आसाम) के वैद्यदेव के १२वीं सदी के ताम्रपत्र से मालूम होता है कि कभी २ मंत्रियों के पद मौरूसी से हो जाते थे [4]।

आसाम

मालवा में दक्खिन की तरह बारह २ गांवों के समूह पर एक एक शासक रहता था। ११ वीं सदी के जयसिंह के ताम्रपत्र में गांव के मुखिया को पट्टकील कहा है। इस

मालवा

१. एपिग्राफ़िया इंडिका ७ नं० १०

२. एपिग्राफ़िया इंडिका १२ नं० ३, १८॥ १५ नं० १५॥ १२ नं० ८॥

३. ई० आई० १४ नं० १॥ ३ नं० ४७॥

४. ई० आई० २। नं० २८॥

ताम्रपत्र में एक पट्टशाला—बहुत कर के पाठशाला—को दान दिया है[1]।

अन्य प्रान्त

अल्मोड़ा, मारवाड़, बुन्देलखंड, छत्तीसगढ़ और बस्तर (मध्यप्रदेश) के ताम्रपत्रों में अधिकारियों की संख्या कम है जिससे प्रगट होता है कि यहां शासन का विकास कम हुआ था। अल्मोड़ा की ओर कुलचारिक अर्थात् कुलों के मुखिया भी कुछ अधिकार रखते थे[2]।

मारवाड़

१२वीं सदी के मारवाड़ लेखों से जान पड़ता है कि वहां गांवों और कस्बों के आदमी अपना शासन पञ्चायतों द्वारा आप ही कर लेते थे[3]।

श्रेणी

इस काल के लेखों में भी व्यवसायियों की श्रेणियां अच्छा स्थान रखती हैं। कभी २ दूर २ के गांवों के एक ही व्यवसाय वाले लोग श्रेणी संगठित करते थे और मंदिर इत्यादि बनवाने के लिये अपने ऊपर कर लगाते थे[4]।

दान

यह सब ताम्रपत्र दान के हैं जिससे स्पष्ट है कि हिन्दू राजा ज़मीन, रुपया, भोजन वस्त्र इत्यादि बहुत दान करते थे। सातवीं सदी की तरह अब भी बड़े २ विद्यापीठ थे। उदाहरणार्थ, नवीं

---

१. आई० ए० १४ पृ० १५९ ॥ ३ नं० ७

२. ई० आई० १३ । नं० ७ ॥ १० । नं० ५, ६, ११, १७ ॥ ९ नं० २२ ॥ १ नं० ५, २५, ३८ । आई० ए० १६ पृ० ३० १ ॥

३. ई० आई० ११ नं० ४ (९, २१) ॥

एपिग्रफ़िया इंडिका, १ नं० २३॥

सदी के धर्मपाल के स्थापित किये हुये विक्रमशिला विहार में १०७ मंदिर थे, ६ बड़ी २ पाठशालाएं थीं, १०८ शिक्षक थे और कुल मिला कर ८००० आदमी रह सकते थे। कहावत थी कि विक्रमशिला के दर्बान भी पंडित थे और बिना शास्त्रार्थ किये किसी को अन्दर नहीं जाने देते थे[1]। राज दर्बारों में वैद्य, ज्योतिषी, पहलवान वगैरह बहुत रहते थे[1]।

विद्यापीठ

प्राकृत जैनग्रन्थ अन्तगड्दसाओ में कहा है कि चम्पा में शहर और देहात के सभी लोग आनन्द से रहते थे। कथा कहने वाले, पद कहने वाले, नाटक करने वाले, नाचने गाने वाले, विदूषक, पहलवान, नट, रस्सी पर खेल करने वाले बहुत थे। कूए, तालाब, झील, बाग़ बगीचे बहुतायत से थे। बाज़ार और रास्तों में हमेशा बड़ी भीड़ रहती थी। यहां राजा के स्नान का वर्णन बाणभट्ट का सा किया है। राजकुमार ७२ विद्या सीखता है, जैसे लिखना, पढ़ना हिसाब, गाना, नाचना, बजाना, पक्षियों की बोली, रसायन, भूत, ज़ेवर कपड़ा वगैरह पहिनना, कुश्ती, तीरंदाज़ी, हथियार चलाना, हाथी घोड़ों की विद्या।

जीवन

११ वीं सदी में संस्कृत के मुसलमान पंडित अल्बेरूनी ने हिन्दू सभ्यता का विस्तृत वर्णन लिखा जो साधारण अवस्था के लिये बहुत उपयोगी है। वह कहता है कि वैश्यों और शूद्रों में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था; शासन क्षत्रियों के हाथ में था; अदालत में जहां तक हो सके चार गवाह होने चाहिये; लोक परलोक की क़समें खाई

अल्बेरूनी

वर्ण

न्याय

१. नन्दो लाल दे, जे० बी० ए० एस० १९०९ ई० पृ० १ ॥

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, १४ नं० १५ ॥

जाती थीं और पानी, आग, तराज़ू वग़ैरह की परीक्षाएं भी होती थीं। अपराधों के लिये ब्राह्मण क्षत्रियों के बनिस्बत वैश्य और शूद्रों को ज़्यादा सज़ा दी जाती थी। शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नहीं था[1]। पर मनु के टीकाकार मेधातिथि से और याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेश्वर से अनुमान होता है कि सातवीं सदी की तरह इस काल में भी कुछ अक्षत्रिय राजा थे।

न्याय के सम्बन्ध में पुरानी बंगला के मानससंगल और चण्डिकाव्य के कवियों ने भी आठ परीक्षाएं लिखी हैं—धर्म, अग्नि, पानी, स्थान, अंगूठी, सांप, लोहा और तराज़ू।

दक्खिन का संगठन

दक्खिन की सभ्यता

उत्तर और दक्खिन की सभ्यता में कोई बड़ा अन्तर नहीं था। देश के धर्म, साहित्य, कला और आचार के विकास में दक्खिन का भाग बहुत महत्वपूर्ण था। हिन्दू सभ्यता में जो परिवर्तन हुये वह उत्तर की तरह दक्खिन में भी दृष्टिगोचर हैं। यहां केवल दक्खिन की दो एक विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

दक्खिनी शासन

दक्खिन में केन्द्रिक और प्रान्तीय शासन वैसा ही था जैसा कि उत्तर में[2]। दक्खिन के राजदर्बारों में भी सैकड़ों पण्डित रहते थे; वहां भी राजा पाठशालाएं

---

1. अल्बेरूनी [अनु० जेकाऊ] १ पृ० ९९-१७०, १२५ ॥ २ ॥ पृ० १३६, १५८-६२ ॥

2. एपिग्राफ़िया इंडिका, ७। नं० ६, २८, १२, २२, १८, १९, २५, ३३, ६। नं० १६, ६, २, २४, ११, ८, ३१, ४, २१, १०, २६, १२ ॥ ५। नं० १८, ३, २५, १०, १५ ॥ ८। नं० ३३, ३१ ३। नं० ९, ३, १०, २७, ३७, ४०, १५ ॥

बनवाते थे, विशेष पन्थों के लिये व्याख्यानशाला स्थापित करते थे; कूप, सराय वग़ैरह निर्माण कराते थे[1]। वीर-

इनाम

चोल के पिथरपुरम् ताम्रपत्रों में गांव का एक हिस्सा वैयाकरण को, दो मीमांसक को, एक वेदान्ती को, एक एक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के शिक्षकों को, एक पौराणिक को, एक एक वैद्य, नाई, विषवैद्य, ज्योतिषी इत्यादि को दिये हैं। विष्णु, कैलाशदेव और दूसरे देवताओं के मंदिरों को भी हिस्से दिये हैं[2]। चालुक्य

विद्या

राजा कुमारपाल ने जैन धर्म ग्रहण करने पर हेमचन्द्र के उपदेश के अनुसार शिकार खेलना, मांस खाना इत्यादि अपने राज्य में बन्द करा दिया था।

दक्खिन की महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रादेशिक शासन में है। नगर ग्राम और ग्राम समूहों के शासन में पञ्चायतों का अथवा यों कहिये जनता का भाग बहुत

प्रादेशिक शासन

ज़्यादा था। दक्खिन के पुराने स्थानिक स्वराज्य का मुक़ाबिला दुनिया के किसी भी देश या प्रान्त के स्थानिक स्वराज्य से किया जाय तो वह घटिया न ठहरेगा। एपिग्राफ़िया इन्डिका, इंडियन एन्टिक्वेरी, एपिग्राफ़िया कर्नाटिका, साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, मद्रास एपिग्रैफ़िस्ट्स् रिपोर्ट इत्यादि में जो हज़ारों शिला-लेख और ताम्रपत्र प्रकाशित हुये हैं उनसे सिद्ध होता है कि नगर,

---

४ नं० ३०, ५०, ६, २४, २६ ११। नं० १ ॥ १३ नं० १४, २१३॥ १५ नं० २१, ॥ १७ नं० १० १६। नं० ८, ९, ११. ॥ १२। नं० ३१, १९ ॥ ९ नं० ३५ इंडियन एंटिक्वेटी ११पृ०२७३ ॥ १८ पृ० ३०९. ॥ ४। पृ० १२ ॥ ७पृ० १५, १८३, १८९ ॥ १२। पृ०९३ ॥ १३पृ०१३८ ॥ २०पृ०१७, १०३, ४१७ ॥

१. एपिग्राफ़िया इंडिका, १५ नं० २४ ॥

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, ५ नं० १० ॥

ग्राम या ग्रामसमूह के लोग प्रतिनिधि सभाओं के सदस्य चुनते थे और यह सभाएं सारा प्रबन्ध करती थीं।

प्रतिनिधि सभा

जिन लोगों ने कोई बुरा काम किया हो, शासन का रुपया हज़म किया हो या अपनी अयोग्यता सिद्ध कर दी हो वह सभा के सदस्य नहीं हो सकते थे। चरित्र का निर्णय जनता स्वयं कर लेती थी। छोटी बस्तियों में लोग एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे और एक दूसरे के चरित्र से खूब परिचित थे। चरित्र के अलावा एक और बात प्रतिनिधियों में होनी चाहिये थी। या तो उनके पास लगभग डेढ़ एकड़ ज़मीन हो या उनको इतनी शिक्षा हो कि वेद या ब्राह्मण का पाठ सुना सकें। निर्वाचन के लिये प्रत्येक नगर या गांव के कई हिस्से किये जाते थे और हर एक हिस्से में निर्वाचन के योग्य आदमियों की एक फ़ेहरिस्त बनाई जाती थी। इनमें से कुछ लोगों का निर्वाचन सम्मति से और कुछ लोगों का चिट्ठी डाल कर होता था। इस तरह एक बड़ी समिति बनती थी। इसमें से पांच पांच छः छः सदस्यों की उपसमितियां बनती थीं जिनमें से हर एक को कोई ख़ास काम सुपुर्द कर दिया जाता था और अधिकार नियत कर दिये जाते थे।

निर्वाचन

जैसे एक उपसमिति तालाबों की देखभाल करती थी, उनकी मरम्मत कराती थी, सफ़ाई रखती थी। दूसरी उपसमिति इसी तरह मंदिरों का प्रबन्ध करती थी। इन सब उपसमितियों में पञ्चवारवारियम् अर्थात् पञ्चायत उपसमिति प्रधान थी जिसमें शायद पांच सदस्य होते थे और जो सब मामलों की अध्यक्षता करती थी। यह उपसमितियां और समितियां सब स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करती थीं। गांव या क़स्बे की ज़मीन इनके हाथ में रहती थी; यह

उपसमिति

निकम्मी ज़मीन को उपजाऊ बनाती थीं और ऐसा ज़मीन को थाडे लगान पर किसानों को देती थीं। जब कोई ब्राह्मणों को या मंदिरों को दान देने के लिये ज़मीन ख़रीदना चाहता था तो स्थानीय उपसमिति जांच पड़ताल कर के ज़मीन का दाम तै करती थी। बहुधा गांव या क़स्बे की समिति स्वयं कुछ दान करती थी। बहुधा वह दूसरों के दानों का प्रबन्ध करती थी। मंदिरों में दीप जलाने के लिये लोग रुपया या ज़मीन ज़्यादातर समिति के पास जमा कर देते थे।

कर्त्तव्य

समितियों को आमदनी कर से होती थी जो वह अपने दायरे में लगाती थीं। यह कर कई तरह के होते थे जैसे ज़मीन पर या माल पर और कभी कभी इनसे गांववालों को तकलीफ़ भी होती थी। उदाहरणार्थ, एक बार ब्याह पर कर लगा दिया गया और एक बार नाइयों पर। करों के अलावा गांववालों को कभी तालाब, मन्दिर, सड़क इत्यादि बनाने के लिये मुफ़्त मेहनत करनी पड़ती थी।

आमदनी

यह समितियां पुलिस और न्याय का काम भी करती थीं। इनके कुछ कर्मचारी अपराधों का पता लगाते थे, अपराधियों की खोज करते थे और मुक़द्दमे के लिये उन्हे समिति के सामने पेश करते थे। यदि जांच पड़ताल के बाद अपराध साबित हो गया तो समिति के न्यायाधीश या राज्य के न्यायाधीश निर्णय करके दण्ड का फ़ैसला सुनाते थे। दण्ड देने में नीयत का ख़याल रक्खा जाता था, जैसे अगर किसी से अनजान में हत्या हो जाय तो प्राणदण्ड नहीं दिया जाता

पुलिस

न्याय

था। अगर कभी बहुत ज़्यादा जुर्म होते थे जैसे अगर कभी डाकुओं के दल जनता को परेशान करते थे तो समिति राज्य से पुलिस या सेना की सहायता मांगती थी। यों भी समितियों पर राज्य के अधिकारी एक नज़र रखते थे। यदि समितियां अच्छा प्रबन्ध न करें या किसी आदमी या वर्ग पर अत्याचार करें तो राज्य के अधिकारी हस्तक्षेप कर सकते थे।

सिंचाई

दक्खिन के राज्य प्रबन्ध में दो एक और बातें विशेष उल्लेख योग्य हैं। खेती के लिये सिंचाई पर बहुत ध्यान दिया जाता था। नहर, तालाब, बांध— सैकड़ों क्या हज़ारों की तादाद में बनाये गये। इनके अवशेष अब तक मौजूद हैं। जैसा कि कह चुके हैं, राजाओं ने मंदिर भी बहुत से बनवाये जिनमें से कुछ तो संसार की अनोखी इमारतों में हैं। मदूरा, तंजौर, रामेश्वरम्, त्रिचनापली, चिदम्बरम्, कुम्बेकोनम्, श्रीरङ्गम् इत्यादि के मंदिर बहुत लम्बे चौड़े हैं. प्रत्येक मन्दिर मन्दिरों का एक समूह सा है, मन्दिरों का एक शहर सा है। ऊंचे विशाल दर्वाजों पर और चारो ओर दीवालों पर देवी

कला

देवता, मनुष्यों और जानवरों की पत्थर की मूर्तियां बहुत घनी बनाई हैं। मूर्त्तियों के द्वारा ही कहीं कहीं रामायण, महाभारत या पुराणों की कथाएं बयान की हैं। कला के अलावा साहित्य को भी दक्खिनी

साहित्य

राजाओं से बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वयं बहुत से राजा संस्कृत या तामिल या तेलेगू साहित्य के मर्मज्ञ पंडित थे, विद्वानों को अपनी सभाओं में बुलाते थे, शास्त्रार्थ कराते थे, विद्वानों का आदर करते थे, उन्हें रुपया या ज़मीन देते थे। जो राजा स्वयं पण्डित न थे, उनमें से भी बहुत से इसी तरह विद्वानों का सत्कार

करते थे। पाठशालाओं को भी रुपये या ज़मीन की मदद दी जाती थी[1]।

सामाजिक अवस्था

प्राचीन भारत के अंतिम काल की सामाजिक अवस्था का पता अरब लेखक अल्बेरुनी से और संस्कृत साहित्य से लगता है। अल्बेरुनी कहता है कि चारों वर्ण के लोग गांव और शहर में पास ही पास मिले हुये रहते थे। क्षत्रिय वेद पढ़ते थे पर पढ़ाते न थे। शूद्र, अगर चाहें तो, सूत का जनेऊ पहिन लेते थे। वह यज्ञ नहीं कर सकते थे। एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के साथ भोजन नहीं करते थे और दूसरे वर्ण वालों को बेवक़ूफ़ समझते थे। शूद्रों से नीचे अन्त्यज थे जैसे मोची, जुलाहे, बाज़ीगर, केवट, मछुये जिन्हों ने अपनी श्रेणियां अलग बना रक्खी थीं पर जिनमें से ज़्यादातर लोग एक दूसरे से ब्याह कर सकते थे। उनसे भी नीचे हाड़ी, डोम चण्डाल इत्यादि थे जो गांव का गन्दा काम करते थे। ऊंचे वर्ण के और पढ़े लिखे आदमियों की भाषा साधारण लोगों की भाषा से अलग थी। बाल ब्याह प्रचलित था, सगाई माता पिता तै करते थे, रस्में ब्राह्मण कराते थे, न दहेज था और न तलाक़। पुरुष एक से लेकर चार तक शादी कर सकता था। घर के सब मामलों में स्त्रियों की राय ली जाती थी। राजाओं की विधवाएं अक्सर

सामाजिक अवस्था

वर्ण

ब्याह

---

1. दक्खिनी शासन के लिये ऊपर उल्लेख किये हुये शिलालेखों और ताम्रपत्रों के संग्रहों के अलावा देखिये कृष्णस्वामी आय्यंगर, एन्शेन्ट इन्डिया, एवं सम कन्ट्रिब्यूशन्स आफ़ साउथ इन्डिया टु इन्डियन कल्चर।

सती हो जाती थीं पर बूढ़ी या पुत्रवती विधवाएं सती न होती थीं। स्वामी के मरने पर वारिस का धर्म था कि विधवा की पालना करे। पर बहुधा विधवाओं के साथ अच्छा बर्ताव न होता था। बहुत से लोग अपनी आमदनी के चार हिस्से करते थे—एक हिस्से से मामूली ख़र्च चलता था, दूसरा हिस्सा जमा कर दिया जाता था, तीसरा दान में दिया जाता था, चौथा अन्य श्रेष्ठ कामों में लगाया जाता था। कुछ और लोग थे जो कर देने के बाद आमदनी के तीन हिस्से करते थे; एक हिस्सा ख़र्च किया जाता था, दूसरा जमा किया जाता था, तीसरे के तीन हिस्से फिर किये जाते थे जिनमें से एक दान में दिया जाता था, और बाक़ी दो शेष धन की तरह ख़र्च किये जाते थे। हिन्दू लोग आपस में तो बहुत कम झगड़ा करते थे पर विदेशियों से बड़ी घृणा करते थे। वह समझते थे कि हमारा देश सबसे अच्छा है, हमारा धर्म, हमारी सभ्यता, हमारा विज्ञान, हमारी रीति रिवाज सबसे अच्छे हैं। अपने देश का इतना गर्व था कि और सब को नीचा, तुच्छ, और हेय मानते थे। विदेशियों से अलग रहते थे। अल्बेरूनी कहता है कि हिन्दुओं के बहुतेरे रीति रिवाज हमारे रीति रिवाजों से इतने भिन्न हैं कि मानो जान बूझ कर उल्टे बनाये हैं[1]।

स्त्री

दान

देश का अभिमान

कथासरित्सागर की कथाओं से मालूम होता है कि विद्या की प्यास छात्रों को दूर दूर नामी गुरुओं के पास ले जाती थी[2]। उत्सवों में या और

कथासरित्सागर

१. अल्बेरूनी अनु० ज़ैकऊ, भाग १ पृ० १०१-१३२, १०७, १३६ १३७, १४९, १८-२२, २७, ५१, ६१, १७९, १८१ ॥ भाग २। पृ० १४२, १५४-५५, १६४॥

२. कथासरित्सागर १। ३।

अवसरों पर कभी कभी युवक युवतियों में प्रेम हो जाता था और गन्धर्व ब्याह होता था[१]। पर ज़्यादातर सगाई माता पिता ही करते थे[२]। बहुत से समुदायों में लड़कियां पुरुष गुरुओं से पढ़ती थीं, संस्कृत का अध्ययन करती थीं[३]। कहीं कहीं जवान लड़कियां अतिथियों की ख़ातिर करती थीं। सोमप्रभा की कथा में लड़की अपने बाप से कहती है कि अभी मेरी शादी न करो[४]।

ब्याह

स्त्री

कभी २ बहुत दहेज दिया जाता था[५]। कभी कभी किसी किसी समुदाय में जाति पात का विचार किये बिना ही शादी होती थीं[६]। कभी कभी पिता और पुत्र भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे जिससे आपस में कुछ मनमुटाव की सम्भावना रहती थी[७]। एक कथा में एक राजा कन्या की पैदाइश पर रंज करता है। एक बूढ़ा ब्राह्मण समझाता है कि यह तो ख़ुशी की बात है[८]। एक दूसरी कथा में भी एक राजा अपनी रानी से कहता है कि कन्या बड़े दुख की चीज़ है क्योंकि ब्याह करने में बड़ी कठिनाई होती है[९]। कीर्तिसेना और उसकी सास की कथा से मालूम होता है कि सम्मिलित कुटुम्बों

---

१. कथासरित्सागर १ । ४,६ ॥ २ । ११ ॥ ७ । ३६ ॥ १२ । ६८ ॥

२. कथासरित्सागर ५२ । १३ ॥

३. कथासरित्सागर १ । ६ ॥ २ । १३ ॥

४. कथासरित्सागर ३ । १६ ॥

५. कथासरित्सागर ४ । २१ ॥

६. कथासरित्सागर ३ । १८ ॥ ५ । २४ ॥

७. कथासरित्सागर ६ । १८ ॥

८. कथासरित्सागर ६ । २८ ॥

९. कथासरित्सागर ७ । ३५ ॥

में कभी कभी सास पतोहू में बड़े झगड़े होते थे। इसके प्रेम ने मेरा बेटा लूट लिया—यह समझ कर कभी कभी सास पतोहू पर बहुत अत्याचार करती थी[1]। एक कथा में एक स्त्री के सती होने का हाल है[2]। कोई कोई लड़कियां जन्म भर कुमारी रहना पसन्द करती थी[3]। एक कथा में एक जवान मछुआ एक राजकुमारी से ब्याह करता है[4]। यह भी मालूम होता है कि कभी बड़े बड़े आदमी—मंत्री आदि भी—नाचना सीखते थे[5]। नाटक मंडलियां जिनमें स्त्रियाँ भी पात्र होती थी इधर उधर घूमा करती थीं[6]। श्राद्ध इत्यादि के लिये बहुत से राजा प्रयाग, काशी आदि तीर्थों को जाया करते थे[7]। कथा सरित्सागर में बहुत सी कथाएं हैं जिनमें राजा पुत्रों को गद्दी दे कर वानप्रस्थ हो के वन को जाते हैं।

तापसवत्सराज

रामकृष्णकवि के तापसवत्सराज नाटक से भी मालूम होता है कि नाटक मण्डलियां बहुत थी जो इधर उधर दौरा किया करती थीं। तपस्वी स्त्रियों के मठ थे जिनमें संसार से तंग आकर राजकुमारियां तक शरण लेती थी। मेरुतुङ्गाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि में राजकुमारियां पण्डितों से शिक्षा पाती है; कभी कभी अपनी मर्ज़ी के अनुसार जिससे चाहे ब्याह करती हैं। राजा कवियों और विद्वानों का आदर करते हैं; सब लोग दान और तीर्थ की महिमा

---

१. कथासरित्सागर ६। २९॥

२. कथासरित्सागर १०। ५८॥

३. कथासरित्सागर १२। ६९॥

४. कथासरित्सागर १६। १०२॥

५. कथासरित्सागर ९। ४९॥

६. कथासरित्सागर १२। ७४॥

७. कथासरित्सागर १२। १०३॥

मानते हैं। एक मंत्री ज्योतिष् के सब ग्रन्थ जलाना चाहता है क्योंकि उनसे धोखा हुआ था।

ताम्रपत्रों से भी कुछ समाजिक परिस्थितियों का पता लगता है। जोधपुर के प्रतीहार बाउक लेख से सिद्ध

अनुलोम व्याह

होता है कि अनुलोम अन्तर्जातीय व्याह कम से कम नवीं सदी तक कभी कभी होता था[1]। मुसलमान लेखक इब्न खुर्दबा का भी बयान है कि ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से ब्याह कर सकता था पर क्षत्रिय ब्राह्मण कन्या से नहीं[2]।

कई ताम्रपत्रों में कायस्थों को ब्राह्मण या ठाकुर कहा है[3]। कायस्थ शब्द शुद्ध संस्कृत नहीं है। कायथ

कायस्थ

से बनाया गया है। कायथ का मूल ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता पर शायद स्किथियोज़ या स्क्युथीज़ हो जिससे हिन्दुस्तान में किथियो या क्युथि बनेगा और जो बाहर से आनेवाली एक जाति का नाम था। इनमें कुछ लिखने वाले थे। ग्रीस में स्किथियन लोग लेखक का काम करते थे। इनसे शायद किथियो=कायथ शब्द लेखक के अर्थ में प्रयोग होने लगा। शायद कुछ कायस्थ समुदाय स्किथियन जाति के रहे हों पर धीरे धीरे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जो कोई भी लेखक का काम करते थे कायथ=कायस्थ कहलाने लगे। धीरे धीरे इनकी कई जातियाँ बन गईं। १२ कायस्थ जातियाँ आज तक मौजूद हैं[4]।

---

१ एपिग्राफ़िया इंडिका १८ नं० १२ ॥

२. इलियट और डाउसन पूर्ववत १ पृ०१६ ॥

३. एपिग्राफ़िया इण्डिका १ नं० ५, ३८ ॥

४. यह धारणा लेखक को डा० ताराचन्द, प्रिंसिपल कायस्थ पाठशाला यूनीवर्सिटी कालिज इलाहाबाद ने सुझाई थी।

ताम्रपत्रों में ऐसे बहुत से राजाओं का ज़िक्र है जो मंदिर विहार वग़ैरह बनवाते थे, परिषद्, पाठशाला स्थापित करते थे[1], और विद्वानों की सभाएं शास्त्रार्थ और वार्तालाप के लिए कराते थे[1]। बारहवीं ई० सदी में एक राजा आलणदेव ने अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को जीवहत्या की मनाही की थी, जो हत्या करे या कराये उसे प्राणदण्ड दिया जाय[2]। ११ वीं सदी में जैन लेखक अमितगतिसूरि ने सुभाषितरत्नसंदोह और धर्म-परीक्षा में ब्राह्मण वर्णव्यवस्था की कड़ी आलोचना की है।

राजा और समाज

पुराने बंगला काव्यों से समाजिक अवस्था के बारे में दो एक मनोरंजक बातें मालूम होती है। एक ऐसी बरात का ज़िक्र है जिस में ७४०० बनिये, ३०० भाट, ७००० आतिशबाज़ीवाले और सैकड़ों माली, नाई, जुलाहे और गाने बजाने वाले थे। सैकड़ों मशालची थे। सोने चाँदी की ७७७ पालकियाँ थीं। दहेज भी बेतरह दिया गया। मैमनसिंह के कवियों में युवक युवतियों के प्रेम के उदाहरण हैं पर ज़्यादातर शादियां मां बाप ही कराते थे। ऊंची जातियों से विधवाओं के ब्याह की प्रथा उठ गयी थी, विधवाएं व्रत उपवास बहुत किया करती थीं। घर के और समाज के जीवन में स्त्रियों का प्रभाव अब भी बहुत था। हिंदुस्तान के पूर्वी भागों में तन्त्रों का प्रचार बहुत बढ़ रहा था। कामरूप तान्त्रिक पंथ के केन्द्रों में से था[3]।

बंगला साहित्य

---

१. उदाहरणार्थ, एपिग्राफ़िया इंडिका १ नं० २५, ३९ ॥ २ नं० १० ॥

२. एपिग्राफ़िया इंडिका ११ नं० ४ (१२) ॥

३. दासगुप्त, जर्नल आफ़ दि डिपार्टमेंट आफ़ लेटर्स, कलकत्ता यूनीवर्सिटी भाग १४। १९२७ ई० पृ० १-१४६॥

धार्मिक विचार और साहित्य

इस काल में धार्मिक विचारों का केन्द्र दक्खिन में था। आठवीं सदी में शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का खंडन कर के ब्राह्मण धर्म को बहुत बढ़ाया पर उन्होंने बौद्धों के बहुत से सिद्धान्त और रिवाज अङ्गीकार कर लिये। मूर्तिपूजा, अहिंसा, मठ, तन्त्र—यह बातें ब्राह्मण धर्म में बौद्धों से आई हैं। सन्यासियों की व्यवस्था में भी शंकर ने बौद्धों का अनुकरण किया है। बौद्ध धर्म को आखिरी धक्का मुसलमानों के हमलों से लगा। हर जगह मुसलमानों ने मठ तोड़े जो बौद्ध धर्म के केन्द्र थे।

धर्म

कह चुके हैं कि आठवीं ई० सदी के लगभग दक्खिन में जिनसेनाचार्य ने और उसके मरने पर गुणभद्राचार्य ने, जैन महापुराण लिखा जिसके दो भाग हैं आदिपुराण और उत्तरपुराण। जिनसेन कहता है कि जैन पुराण बहुत दिन से लिखे जारहे थे: प्रत्येक पुराण में लोक, देश, तीर्थ, गति और फल का वर्णन होता है; पुराने लेखों के ही आधार पर उसने अपना इतिहास लिखा है। जैन लोग छः छः कालों की दो महान् शृङ्खलाएं मानते हैं—अनुसर्पिणी और अवसर्पिणी। अनुसर्पिणी में सुखम सुखम, सुखम, सुखम दुखम, दुखम सुखम, दुखम और दुखम दुखम—यह छः काल होते हैं। अवसर्पिणी में यही काल दुखम दुखम से प्रारम्भ होकर उल्टे क्रम से चलते हैं। सुखम सुखम में आदमी मीलों लम्बे होते थे और करोड़ों बरस जीते थे। रंग सोने का सा था, रूप बड़ा ही सुन्दर, और सुख परिपूर्ण था। कल्पवृक्षों से प्रकाश होता था और मन की अभिलाषा के अनुसार भोजन, वस्त्र, ज़ेवर, फूल, बाजे, मकान इत्यादि मिलते थे। स्त्री के

जैन महापुराण

सुखम-सुखम

एक साथ ही दो संतान होती थी—एक लड़का और एक लड़की जिनके जन्म के ज़रा बाद ही माता पिता मर जाते थे और जो आगे पतिपत्नी की तरह रहते थे। सुखम सुखम काल मानो अनगिनित बरसों तक रहा। इसके बाद सुखम काल आया और कुछ परिवर्तन हुये। कल्पवृक्षों की ज्योति कुछ मन्द हो जाने से दो सूरज और दो चन्द्रमा बारी बारी से नज़र आये और फिर बहुत दिन के बाद तारे दिखाई देने लगे। इन परिवर्तनों से डरे हुये लोगों को प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने ढाढ़स दिलाई और सब भेद समझाया। फिर करोड़ों बरस पीछे कल्पवृक्षों के कम होने पर और लोगों में झगड़ा होने पर पांचवें और छठे कुलकर सीमन्तक और सीमन्धर ने वृक्षों पर निशान लगा कर सीमाएं नियत कर दीं। ११ वें कुलकर नाभि के समय में कल्पवृक्ष बिल्कुल लोप हो गये और बादल, मेह, साधारण वृक्ष, वनस्पति, फल फूल पैदा होने लगे। पशु भयंकर होने लगे। नाभि ने व्याख्यानों के द्वारा यह सब भेद बताया और पैदावार का प्रयोग सिखाया। अब तो सारा जीवन ही बदल गया।

सुखम

कुलकर

जीवन का विधान

अन्तिम कुलकर और पहिले तीर्थंकर ऋषभदेव ने गांव और नगर बसाये, दो सौ, चार सौ आठ सौ गावों के समूह शासन के लिये स्थिर किये; चार बड़े राजा और उनके नीचे एक हज़ार छोटे छोटे राजा स्थापित किये; दण्ड और जेलख़ाने का विधान किया; असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन छः उद्योगों की व्यवस्था की; लोगों को गुणों के अनुसार क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र जातियों में बांटा; शूद्रों के दो भाग किये, एक तो काढ जैसे नाई, धोबी, इत्यादि और दूसरे अकाढ।

वर्ण

कारु शूद्रों के फिर दो भाग किये एक तो स्पृश्य और दूसरे अस्पृश्य। पुरानी भोगभूमि अब बिल्कुल कर्मभूमि हो गई। ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत ने तीनों जातियों से कुछ कुछ लोग लेकर ब्राह्मण जाति बनाई और उसे सब से बड़ा ठहराया। पर उसी समय ऋषभ को स्वप्न हुआ कि यह ब्राह्मण आगे जैन धर्म से पतित हो कर हिंसा और पाखंड में गिर जायंगे[1]। उत्तरपुराण में बाक़ी तेईस तीर्थंकर और

उत्तरपुराण

राम, कृष्ण, जीवंधर, श्रेणिक आदि महापुरुषों के चरित्र हैं। यहां एवं अन्य जैन ग्रन्थों में भी धर्म की बड़ी महिमा गाई है; अर्थ, काम, सुख सब का आधार धर्म है। धर्म ही आत्मा को मुक्ति में धरता है।

धर्म

अहिंसा और वैराग्य की बड़ी प्रशंसा है। महापुराण के बहुत सी कथाओं से मालूम होता है कि उस समय पर्दे का रिवाज नहीं था, पति पत्नी साथ २ मंदिर, बाग़ वग़ैरह जाते थे। कुछ जगह माता

सामाजिक अवस्था

पिता अपने लड़कों का ब्याह इस लिये जल्दी करते थे कि कहीं वह वैरागी न हो जांय। नाचने गाने वाले बहुत थे और इधर से उधर घूमा करते थे। चक्रवर्ती भरत के राज्य में ३२,००० नाट्यगृह बताए हैं। बाग़ बग़ीचे भी बहुत थे। आश्रमों और विद्याओं का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों के ढंग का ही है। ब्याह, स्वयंवर इत्यादि भी उसी ढंग के हैं। विद्याधर, अप्सरा, गंधर्व इत्यादि का जीवन पूर्ण आनन्द प्रमोद का है[2]। हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में

---

१ आदिपुराण ३ ॥ १६ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

२. आदिपुराण ४ ॥ ५ ॥ ७ ॥ ८ ॥ १२ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १९-२२ ॥ २३-४५ ॥

ऋषभदेव के पूर्व भवों का भी वर्णन है जो एक तरह के जैन जातक हैं।

इस समय के विश्वास के अनुसार जैन साहित्य के चार भाग थे

जैन साहित्य

(१) प्रथमानुयोग जो २५५४४२३१०७५०० श्लोकों में तीर्थंकरों के जीवन का वर्णन करता है, (२) करणानुयोग जिसमें विश्व का वर्णन है, (३) चरणानुयोग जिसमें मुनियों और श्रावकों (गृहस्थों) के चरित्र का वर्णन है, और (४) द्रव्यानुयोग जिसमें द्रव्यों का वर्णन है अर्थात् भौतिक शास्त्र हैं। प्रत्येक अनुयोग में बहुत से ग्रन्थ थे। एक और जैन पुराण का उल्लेख यहां उचित है। हरिवंशपुराण में महाभारत की कथा का कुछ परिवर्तन कर के

जैन हरिवंशपुराण इत्यादि

जैन रूपान्तर किया है। यहां कौरव, पाण्डव और प्रजा सब जैन हैं। यहां भी स्वयंवर है। द्रौपदी केवल अर्जुन से ब्याह करती है, पाँचों पाण्डवों से नहीं। यहां भी सौतों में ख़ूब झगड़े होते हैं। महापुराण की तरह हरिवंशपुराण में भी सुखम सुखम इत्यादि कालों का वर्णन है [1]। पद्मपुराण इत्यादि अन्य जैन पुराणों में रामायण की कथा का तथा और बहुत सी कथाओं का जैन रूपान्तर और, कुछ बातों में, नया संस्करण है। उदाहरणार्थ, जैन कथा में रामचंद्र के बन जाने पर दशरथ का देहान्त नहीं होता; वह संसार त्याग कर बन को चले जाते हैं।

इस काल में बीसों कवि हुये पर कालिदास क्या भारवि के

काव्य

टक्कर का भी कोई नहीं है। पुराने कवियों की नक़ल करते २, काव्य के नियमों की ज़ंजीरों को ज़ेवर मानते २, वह अपनी थोड़ी

१. हरिवंशपुराण ९॥

बहुत प्रतिभा से भी हाथ धो बैठे। उनमें जहां तहां अच्छा शब्द-विन्यास है, प्रकृति का वर्णन कहीं २ बुरा नहीं है, शृङ्गार की दो चार अच्छी चोट हैं पर कविता में स्वाभाविकता न होने से सच्चाई नहीं है। केवल कुछ मुख्य ग्रन्थों का उल्लेख करने की यहां आवश्यकता है। भौमक ने रावणार्जुनीय या आर्जुनरावणीय में रावण और आर्जुन कार्तवीर्य का संग्राम रामायण के आधार पर बयान करते हुये व्याकरण के उदाहरण दिये हैं। कश्मीर में शिव-स्वामी ने अवदानशतक से एक कथा लेकर कप्फणाभ्युदय नामक एक बौद्ध काव्य किरातार्जुनीय और शिशुपालवध की शैली पर लिखा। कश्मीर में ही अभिनन्द ने कादम्बरीकथासार, क्षेमेन्द्र ने ११ वीं सदी में रामायणमञ्जरी, भारतमञ्जरी, दशावतार-चरित और मेख ने श्रीकण्ठचरित लिखा। ११-१२ वीं ई० सदी में सन्ध्याकर नन्दी ने रामपालचरित में ऐसी भाषा लिखी है कि एक साथ ही रामकथा भी और बंगाल के राजा रामपाल की कथा भी बयान हो गई है। इसी तरह कविराज ने राघवपाण्डवीय में रामायण और महाभारत की कथाएं एक साथ कही हैं। जैन श्रुतिकीर्ति ने भी एक ऐसा ही राघवपाण्डवीय काव्य लिखा है। भाषा पर यह अधिकार प्रशंसा के योग्य है पर इस जंजाल में कविता को फाँसी हो गई। जैन कवियों में दक्खिनी कनकसेन-वादिराज ने यशोधरचरित, माणिक्यसूरि ने उसी नाम का दूसरा काव्य, हरिचन्द्र ने धर्माभ्युदय, देवप्रभसूरि ने पाण्डवचरित और मृगावतीचरित, सुन्दरगणिन् ने महीपालचरित, लोलिम्बराज ने हरिविलास और अमरचन्द्र ने बालभारत काव्य की शैली पर रचे। १२वीं सदी के लगभग श्रीहर्ष ने भारवि और माघ के ढंग पर नैषधीय या नैषधचरित लिखा जो पांच महा-

गुण दोष

कुछ अन्य ग्रन्थ

काव्यों में गिना जाता है और जिसमें महाभारत के नलदमयंती उपाख्यान को काव्य का रूप दिया है।

नैषधचरित — आठवें सर्ग में नल के अकस्मात् प्रगट होने पर दमयन्ती कहती है:—

आप को देखते ही उठ कर मैं ने अपना आसन जो आप की ओर कर दिया, वह यद्यपि आप के योग्य नहीं है, तथापि उसको—आप और ही कहीं जाने की इच्छा भले ही क्यों न रखते हो—क्षण भर के लिये तो अलंकृत कीजिये (२३)।

कहिये तो सही, शिरीष की कलियों की कोमलता के भी

दमयन्ती के प्रश्न — अभिमान को हरण करने वाले, अत्यन्त कोमल, इस चरणद्वय को आपका निर्दयी मन और कहां तक कष्ट देना चाहता है? (२४) . . . . यदि आप मनुष्य हैं तो पृथ्वी कृतार्थ है; यदि आप देवता हैं तो देवलोक धन्य है; यदि आपने नागकुल को अलंकृत किया है तो नीचे हो कर भी नागलोक किसके ऊपर नहीं? (४७) इस महीतल में इतना अधिक पुण्य किसने किया है जिसके उद्देश से आप के भी पद गलियों की धूल में कमल की सी माला बिछाते चले जाते हैं? (४८)। संदेह की दोला का अवलम्ब कर के, मैं नहीं जानती, कितने कितने प्रकार की कल्पना मेरी बुद्धि कर रही है। अच्छा बहुत हुआ। अब इस प्रकार की सम्भावनाओं से कोई लाभ नहीं। आप ही कृपापूर्वक स्पष्ट कहिये कि किस धन्य के आप अतिथि होने आये हैं? (४९)।

नल ने अपना नाम तो न बताया पर कहा:—

अपने स्वामिवर्ग के संदेश को प्राणों के समान अन्तःकरण में

नल का उत्तर — बड़े आदर से धारण कर के दिक्पाल देवताओं की सभा से मैं तुम्हारा ही अतिथि होने आया हूँ (५५)। बस, रहने दीजिये; मेरा आदर

हो चुका। बैठिये, आसन क्यों छोड़ दिया ? मैं जिस काम के लिये तुम्हारे पास आया हूँ उस काम को यदि तुम सफल कर दोगी तो उसी सफलता को मैं अपना सर्वोत्तम आतिथ्य समझूंगा (५६)।

नवें सर्ग में भेष बदले हुये नल के समझाने पर कि देवता उसे चाहते हैं पर वह अपने चाहे हुये नल को नहीं पा सकती दमयन्ती घबड़ाती है, रोती है और विलाप करती है:—

दमयन्ती का विलाप

हे कामाग्ने ! तू शीघ्र ही मेरे शरीर को भस्म कर के अपने यशः समूह का विस्तार कर। हे विधाता ! दूसरे की कामना भङ्ग करना ही तेरा कुलव्रत है ! तू भी मेरे इन दुष्ट प्राणों से तृप्त हो कर पतित हो जा ! (८८) हे अन्तःकरण ! वियोग रूपी ज्वाला से प्रज्वलित हो कर भी तू क्यों नहीं विलय को प्राप्त होता ? यदि तू लोहे का है तो भी तप्त होने से तुझे गल जाना चाहिये ! . . . . तू कामबाणों से विंध रहा है। अतएव तू वज्र का भी नहीं। फिर तू ही कह, तू किस वस्तु से बना है ? क्यों नहीं तू विदीर्ण हो जाता ? (८६)। हे जीवित ! तू देरी क्यों कर रहा है ? क्यों नहीं झटपट निकल खड़ा होता ? क्या तुझको सूझ नहीं पड़ता कि तेरा घर अर्थात् मेरा हृदय, जहाँ तू बैठा है, जल रहा है ? तेरा आलस्य देख कर आश्चर्य होता है (६०)। इस समय मेरा एक एक क्षण एक एक युग के समान जा रहा है। कहां तक सहन करूं ! मुझे मृत्यु भी नहीं आती। मेरा प्रियतम मेरे अन्तः करण को नहीं छोड़ता और मेरा प्राण मेरे मन को नहीं छोड़ता। हाय हाय ! अपार दुखपरम्परा है ! (६४) हे प्रियतम ! तुम्हारे लिये दमयन्ती कथाविशेष हो गई—यह तुम पीछे से क्या न सुनोगे ? अतः हे नाथ ! यदि इस समय तुमको मुझ पर दया नहीं आती तो उस (समय) . . . . तो

अपनी दया के दो एक कणों से मुझे अनुगृहीत करना (११)[१] ।

*   *   *   *

७-८ वीं सदी के लगभग अमरु ने भी एक शतक रचा जिसमें मुख्यतः शृंगार का विषय है। बिल्हण ने चोरपञ्चाशिका में प्रेम पर ५० पद बनाये हैं। बंगाल में लक्ष्मणसेन के राज्य में जयदेव ने राधाकृष्ण के प्रेम में गीतगोविन्द रचा जो सर्वोत्तम संस्कृत कविताओं में गिना जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण के गुण, रास, चरित्र और विरह गाये हैं और प्रार्थनाएं की हैं। दो चार पदों के उदाहरण लीजिये :—

अमरु
बिल्हण

जयदेव

गीतगोविंद

अहिग्राम के त्रास बयार भले मलयाचलवासी प्रवास लियो।
तनताप मिटावनआस चल्यो तुहिनाचल जाय नहाय जियो॥
लखि फूले रसाल के मौलि पै मौल ह्वै मोदित कोकिल कूकियो।
तिन की कल कोपल मन्दमहा मधुरी धुनि बानी में कानदियो॥

*   *   *   *

रस वासना बन्धन मांझरि राधिका धारि हिये ब्रजनारि बिसारी।
ढूंढ़ि इतै उत हारे हरी हिये आतुरता उमड़ी अतिभारी॥
तापतचे शर मैनके घाव मिल्यो चित चाव करै दृग चारी।
ऐसे कलिन्दसुतातट व्याकुल गोकुल चन्द चकोर तृपारी॥

*   *   *   *

ऊंचे उसासन आस बंध्यो मग ताकत बीतत सांझ सवारो।
कुञ्ज में जाइ सुहाइ कहूं न फिरै फिरि देखि कै दौरि दुवारो॥
सेज संवारि बिहारि के हेतु निहारि अचेत ह्वै जात बिचारो।
कामक बान ते कातर ऐसो निहारयो पियारी तिहारो पियारो॥

*   *   *   *

---

१. भावानुवाद—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी।

भौंह कमान समान बनी अलकैं भ्रमरैं गुनलौं अनुमानौं ।
बहुविलोकनि बानन सों अपमान कियो अभिमान हिरानौं ॥
अङ्गन की छवि राधिका जीत्यो अनङ्ग धरयो नहिं जात पलानौं ।
जीतनहार उदार हिये जगके हरके हरि हारिकैं मानौं ॥

* * * *

पूजित है मनहार मजनिमें मानो महा जयराज शिरी के ।
कैधौं त्रिकूटक अङ्कित अङ्कित कीन्हें निशङ्क है युद्ध करी के ॥
पीठ हत्यो कुरङ्ग गजपीठ लगी कण शोणितधार झरी के ।
होहु अखण्ड सहाय तुम्हैं हरिनौं भुजदण्ड प्रचण्ड हरी के ॥ १

* * * *

फुटकर कविता

इस काल में फुटकर कविता के बहुत से संग्रह भी बनाये गये। उदाहरणार्थ, कवीन्द्रवचनसमुच्चय में बहुत से कवियों के पद्यों का संग्रह है जिनमें से कुछ बहुत ऊंचे दर्जे के हैं। राजनीतिसमुच्चय, चाणक्यनीति, वृद्धचाणक्य इत्यादि में सांसारिक मामलों पर बहुत सी नीति कही है। चातकशतक में जीवन के सिद्धान्त हैं।

कथाग्रन्थ

इस समय के साहित्य में कथाओं के ग्रन्थ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। कथा लिखने की प्रणाली देश में बौद्ध जातकों के समय से चली आती थी। इसमें हिन्दुओं ने इतनी उन्नति की कि संसार में कोई साहित्य उनकी बराबरी न कर सका और स्वयं उनकी कथाएं अनेक देशों में फैल गईं।

बृहत्कथा

गुणाढ्य की पैशाची बृहत्कथा खो गई है पर बहुत से लेखकों ने उसका ज़िक्र किया है। बुद्धस्वामी ने श्लोक-संग्रह में बृहत्कथा का संक्षेप किया है। दूसरा संक्षेप है क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामञ्जरी।

१. अनुवादक—प० रायचन्द नागर।

सोमदेव के कथासरित्सागर पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा। इस बड़े ग्रन्थ में कथाओं के भीतर कथाएं हैं और फिर उनके अंतर्गत कथाएं हैं, यहां तक कि तह पर तह जमती चली गई है। कथा की कला—परिमाण, प्रसाद, रोचकता, सरलता —बड़े ऊंचे दर्जे की है। शैली का अनुमान पहिले लम्बक की तीसरी तरङ्ग के इन वाक्यों से कुछ कुछ हो जायगा। एक कठिन दुर्भिक्ष के समय ब्राह्मण यज्ञदत्त राजा पुत्रक से कहता है:—

कथासरित्सागर

श्री काशीपुरी में ब्रह्मदत्त नाम एक राजा हुये हैं। उन्होंने रात्रि के समय देखा कि हंस का एक जोड़ आकाश में उड़ा जाता है जिसके शरीर में सोने की सी झलक है और सैकड़ों राजहंस उस जोड़े को चारों ओर से यों घेरे हैं मानो श्वेत बादलों का समूह विद्युत्पुंज के चारों ओर मण्डल बांधे हों। राजा को उस जोड़े के पुनः देखने की ऐसी उत्कण्ठा बढ़ी कि उनका मन महल के सुखों में किसी प्रकार न लगता था। मंत्रियों की सलाह से उन्होंने एक परम सुन्दर स्वच्छ तलाव वहां बनवाया और इस बात की डुग्गी फिरवा दी कि हमारे राज्य में प्राणीमात्र को अभयदान दिया गया। कुछ दिनों के उपरांत हंसों का वह जोड़ा लौट आया। राजा उन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुये और जब उन हंसों को भी अभय का विश्वास हो गया तो समीप आकर बैठ गये। राजा ने पूछा कि आप लोगों का शरीर सोने का क्यों कर हुआ? तो वे दोनों मनुष्य-बाणी से यों कहने लगे कि हे राजन्! हम दोनों पूर्व जन्म के कौवे हैं, बलि (भोजन) के निमित्त लड़ते लड़ते एक पवित्र शिवालय के शिखर पर गिर के मर गये। इसी कारण इस जन्म में हंस हुये और शिवालय में मरने के कारण हमारे शरीर में सुवर्ण की सी चमक हो गई और हमें अपने पूर्व जन्म की कथा भी स्मरण रही। ऐसी उनकी बात सुन राजा बहुत प्रसन्न हो गये और चिरकाल तक उन्हें देख कर

परम सन्तुष्ट हुए। इसी लिये कहता हूं कि अन्न और धन का सदाव्रत खोल देने से आप अपने खोये हुये पिता तथा ताया चाचा (जो दुर्भिक्ष के मारे कहीं चले गये थे) को पा जावेंगे। यज्ञदत्त का ऐसा उपदेश सुन पुत्रक राजा ने सदाव्रत खोलने की आज्ञा उसी क्षण दे दी। इस दान की चारों ओर धूम मच गई जिसे सुन कर वे ब्राह्मण लोग भी लौट आये और निज भार्य्याओं द्वारा पहिचाने जाकर धन धान्य से सुखी हो रहने लगे। . . . . कुछ दिनों के उपरान्त उन सभों की ऐसी इच्छा हुई कि पुत्रक को मार कर स्वयं राज्य छीन लेवें . . . . १."

नाटक

मुद्राराक्षस

यह युग नाटकों के लिये बहुत प्रसिद्ध नहीं है पर दो एक अच्छी रचना अवश्य हुई। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस बड़ा ज़ोरदार ऐतिहासिक और राजनैतिक नाटक है जिसमें पाटलिपुत्र के नन्दवंश के पतन और चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्तमौर्य के उत्थान के बाद कुछ राजकीय कूटनीति की घटनाएं हैं। पहिले अंक में अपने ही घर पर चाणक्य अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ आता है।

चाणक्य—बता! कौन है जो मेरे जीते चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है?

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै।
ललाई नए चन्द सी जौन धारै॥
जंभाई समै काल सो जौन बाढ़ै।
भलो सिंह को दांत सो कौन काढ़ै॥

---

१. अनुवादक—श्री रामकृष्ण वर्म्मा।

और भी

कालसर्पिणी नन्दकुल, क्रोध धूम सी जौन ।
अब हूं बांधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन ॥
दहन नन्दकुल वन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप ।
को मम क्रोधानल पतँग, भयो चहत अब पाप ॥

शारंगरव ! शारंगरव !!

(शिष्य आता है)

शिष्य—गुरु जी ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! मैं बैठना चाहता हूँ।

शिष्य—महाराज ! इस दालान में बेंत की चटाई पहिले ही से बिछी है, आप विराजिये ।

चाणक्य—बेटा ! केवल कार्य में तत्परता मुझे व्याकुल करती है न कि और उपाध्यायों के तुल्य शिष्य जन से दुःशीलता । (बैठ कर आप ही आप) क्या सब लोग यह बात जान गये कि मेरे नन्दवंश के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस, पितावध से दुखी मलयकेतु से मिल कर यवनराज की सहायता लेकर चन्द्रगुप्त पर चढ़ाई किया चाहता है। (कुछ सोच कर) क्या हुआ जब मैं नन्दवंश की बड़ी प्रतिज्ञा रूपी नदी से पार उतर चुका, तब यह बात प्रकाशित होने ही से क्या मैं इस को न पूरी कर सकूँगा ? क्योंकि . . . .

नवनन्दन कौं मूल सहित खोद्यो छन भर में ।
चन्द्रगुप्त मैं श्री राखी नलिनी जिमि सर में ॥
क्रोध प्रीति सो एक नासि कै एक बसायो ।
सत्रु मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायो ॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नन्दों के मारने से क्या और चन्द्रगुप्त को राज्य मिलने से ही क्या ?

. . . .

(यम का चित्र हाथ में लिये योगी का वेश धारण किये दूत आता है)

दूत—अरे,

और देव को काम नहिं, जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को, प्रान हरत परिनाम।।

और

उलटे ते हूं बनत हैं, काज किये अति हेत।
जो जम जी सब को हरत, सोई जीविका देत।।

तो इस घर में चलकर जमपट दिखा कर गावें।

(घूमता है)

शिष्य—रावल जी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण! यह किस का घर है?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्य जी का।

दूत—(हंस कर) अरे ब्राह्मण, तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है, मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूँगा।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख! क्या तू गुरुजी से भी धर्म विशेष जानता है?

दूत—अरे ब्राह्मण! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी?

दूत—भला ब्राह्मण! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चन्द्र किस को अच्छा नहीं लगता?

शिष्य—मूर्ख! इसको जानने से गुरु को क्या काम?

दूत—यही तो कहता हूं कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चन्द्र प्यारा नहीं है।

देख—

जदपि होत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चन्द सों, करत विरोध बनाव॥ [१]

❀ ✲ ✲ ✲

भट्टनारायण ने वेणीसंहार में द्रौपदी के अपमान के बाद महाभारत की कथा कही है। अनंगहर्ष मात्रराज के तापसवत्सराजचरित में यौगन्धरायण द्वारा वत्स और पद्मावती के ब्याह कराने की

अन्य साहित्य

पुरानी कथा है। पर इसमें भास का चातुर्य और चमत्कार नही है। ८-९ ई० सदी के लगभग मुरारि के अनर्घराघव में फिर वही रामकथा है। ९-१० ई० सदी में राजशेखर ने दस अङ्कों के महानाटक बालरामायण में राम की अथवा यों कहिये रावण की कथा कही है। अधूरे बालभारत में द्रौपदी की कथा का ब्याह और द्यूतक्रीड़ा का अंश है। कर्पूरमञ्जरी नाटिका बिल्कुल प्राकृत में है। विद्धशालभञ्जिका नाटिका में एक प्रेमकथा है। पर इन नाटकों में चरित्रचित्रण न तो स्पष्ट है और न ऊंचा है; भाषा क्लिष्ट है; कविता भी बहुत सरस नही है। क्षेमीश्वर के नैषधानन्द में महाभारत उपाख्यान की नलकथा है और चण्डकौशिक में सत्यहरिश्चन्द्र की कथा बिना किसी चातुर्य के दी है। इसके बाद के नाटक जैसे कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय, जयदेव का प्रसन्नराघव, जयसिंहसूरि का हम्मरीमदमर्दन, जैन रामचन्द्र का कौमुदीमित्राणन्द, जैन रामभद्रमुनि का प्रबुद्धरौहिणेय, प्रल्हादनदेव का पार्थपराक्रम इत्यादि २ बहुत साधारण कोटि के हैं। मुसलमान विजय के बाद भी बहुत से तरह तरह के नाटक—जैसे नाटक, नाटिका, प्रकरण, प्रहसन, भाण, डिम, व्यायोग—लिखे गये पर सब प्रतिभा से शून्य हैं, यद्यपि इधर उधर कुछ अच्छा पद्य और चरित्रचित्रण मिलता है।

---

१. अनुवादक—भारतेन्दु श्री हरिश्चंद्र।

कला

गुप्त काल के बाद भारतीय निर्माणकला में नई २ शैलियां निकलीं और बहुत सी इमारतें बनीं। आबू पर्वत पर सफ़ेद संगमरमर के जैन मंदिर वर्णनातीत हैं। इनमें से विमलसाह का बनवाया हुआ आदिनाथ का मंदिर १०३१ ई० का है; तेजपाल का बनवाया हुआ दूसरा मंदिर १२३० ई० का है; पर दोनों की शैली एक ही है और दोनों संसार की सब से सुन्दर इमारतों में से हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों पर शान्ति और वैराग्य का भाव ख़ूब दिखाया है। प्रत्येक मंदिर के दर्वाज़े पर एक कमरा है जिसमें दस २ हाथी और सवार हैं। राजपूताना की सिरोही रियासत में वसन्तगढ़ के सूर्यमन्दिर में, जो शायद ७ ई० सदी का है, एक खिड़की से कोई झांक रहा है। यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक है।

गुप्त काल के बाद भारतीय कला

आबू के जैन मंदिर

वसन्तगढ़

उड़ीसा में पुरी, भुवनेश्वर और कोनारक के मंदिर बहुत बड़े हैं। उनमें भी मूर्तियों और चित्रों की बहुतायत है। भुवनेश्वर में कोई पांच छ सौ मंदिर हैं और मूर्तियां हज़ारों हैं पर बहुत सी अश्लील हैं और केवल कामशास्त्र के दृष्टान्त देती हैं। भुवनेश्वर का बड़ा मंदिर दसवीं ई० सदी में बना था। जगन्नाथ पुरी के मंदिर में जो ११०० ई० के लगभग बना था एक माता और बच्चे की मूर्ति बड़ी सुन्दर और भाव प्रदर्शक है। कोनारक के १३ वीं सदी के सूर्य मंदिर में कुर्सी के ऊपर आठ पहिये हैं जिनमें से प्रत्येक ६ फ़ीट ८ इंच ऊंचा है। बाहर, सात विशाल घोड़े हैं। यह सूर्य के रथ के पहिये और घोड़े समझे जाते हैं। यहां पर हाथियों की भी विशाल मूर्तियां हैं।

भुवनेश्वर

चंदेलों ने भी बहुत से मन्दिर बनाये। बुंदेलखण्ड की वर्तमान छतरपुर रियासत में खजुराहो में ९०० ११०० ई० के बीस से अधिक मन्दिर अब तक मौजूद हैं। इनका कड़ा पत्थर ऐसा है कि उसकी मूर्तियां अच्छी तरह नही बन सकतीं। मूर्तियों के लिए रेतीले पत्थर से काम लिया है।

खजुराहो

११ वीं ईस्वी सदी में महमूद ग़ज़नवी के सेवक अलउत्बी ने मथुरा के मन्दिर का हाल इस तरह लिखा है। "शहर के बीच में एक मन्दिर है जो औरों से बड़ा और सुन्दर है, जिसका न वर्णन हो सकता है, न चित्र खींचा जा सकता है। सुल्तान (महमूद ग़ज़नवी) ने इसके बारे में लिखा कि 'अगर कोई इसके मुक़ाबिले इमारत बनाना चाहे तो एक अरब सोने के दीनार ख़र्च किये बिना न बना सकेगा; योग्य से योग्य और तजरुबेकार से तजरुबेकार कारीगर लगाये जांय तो भी बनाने में २०० बरस लगेंगे।' मूर्तियों में पाँच ऐसी थीं जो लाल सोने की बनी थीं, पांच २ गज़ लम्बी थी और हवा में लटक रही थीं। एक मूर्ति की आँखों में दो ऐसे लाल थे कि अगर उन्हें कोई बेचे तो पचास हज़ार दीनार पाए। दूसरी मूर्ति में एक माणिक था जो पानी से भी ज़्यादा साफ़ था और शीशे से भी ज़्यादा चमकदार था; तौल में ४५० मिस्क़ाल था। एक दूसरी मूर्ति के दो पैर तौल में ४४०० मिस्क़ाल थे। इन मूर्तियों से ९८३०० मिस्क़ाल सोना मिला। चाँदी की मूर्तियाँ २०० थीं। बिना तोड़े हुये इनका तौलना नामुमकिन था।" मथुरा के मन्दिर इतने मज़बूत थे कि महमूद ग़ज़नवी बड़ी कठिनता से उन्हें नष्ट कर सका।

मथुरा का मंदिर

कश्मीर शैली के मंदिर जो बहुधा ७५०-१२०० ई० में बनाये गये थे ज़रा छोटे हैं। कहीं २ इनके चारों ओर भी दीवारें हैं। मार्तण्ड का मन्दिर जो ललितादित्य (७२४-७६० ई०) ने बनवाया था ६० फ़ीट लम्बा और ३८ फ़ीट चौड़ा है। इसके चारों ओर जो दीवारों का घेरा है वह २२० फ़ीट लम्बा और १४२ फ़ीट चौड़ा है। दीवारों के पास ८४ स्तम्भों का एक घेरा है जिनके बीच में मेहराब वगैरह बने हुये हैं। मन्दिर की सब छतें नष्ट हो गई हैं। इस लिये उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। राजा अवन्तिवर्मन् (८५५-८८३ ई०) के बनवाये हुये वान्तपुर या अवन्तिपुर मंदिर में नक़्क़ाशी ज़्यादा है पर कहीं उतनी नहीं है जितनी कि कश्मीर के दक्खिन प्रदेशों में।

कश्मीर शैली

नैपाल में इस समय भी लगभग २००० मन्दिर मौजूद हैं। यहाँ की शैली चीन की शैली से मिलती जुलती है पर हिन्दू शैली के भी कुछ तत्त्व सम्मिलित हैं। नैपाल के मन्दिरों में छत ख़ास चीज़ है, दीवारों पर बहुत ध्यान नहीं दिया जाता; वह तो मानों स्तम्भों के बीच के पर्दे हैं। कुछ मन्दिरों में चबूतरे पर चबूतरे हैं जिनको सीढ़ियों पर हाथी, शेर, और वीरों की मूर्तियां हैं। सब से ऊंचे चबूतरे पर मन्दिर है जिसके कई खन हैं जो छोटे होते गये हैं।

नैपाल

उत्तर और धुर-दक्खिन की शैलियों के बीच की शैली बीच के देश की है। इस तीसरी शैली के बहुत से मंदिर दक्खिनी राजाओं ने बनवाये। चालुक्यों ने पट्टदकल और बादामी में मंदिर बनवाये। राष्ट्रकूटों ने भी बहुत इमारतें बनवाईं। इनमें इलूरा का कैलाश मंदिर सब से प्रसिद्ध है। पहाड़ी पर एक चट्टान लम्बाई में १६० फ़ीट और चौड़ाई में २८० फ़ीट काट कर यह बनाया गया है।

दक्खिन की कला।

इलूरा

यह भी गुफ़ा मंदिर है। इसके भीतर बड़े २ कमरे हैं और मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर बनाई हैं।

मैसूर मैसूर में हलबीद, बेलूर इत्यादि स्थानों पर होयसल राजाओं के बहुत से मंदिर हैं। यह मन्दिर तारे के आकार के से हैं और इनकी ज़मीन पर बहुत से चित्र बने हैं। बेलूर का मंदिर ११९७ ई० में होयसल राजा बेत्तिग ने, जिसने जैनधर्म छोड़ कर वैष्णव धर्म अङ्गीकार किया था, बनवाया था। कुछ दिन पीछे हलबीद का मंदिर बना। इस की ५-६ फ़ीट ऊँची कुर्सी बड़े २ पत्थरों से पटी हुई है। इस पर मूर्तियों की बहुत सी पट्टियाँ हैं। एक पट्टी में जो ७१० फ़ीट लम्बी है हाथियों की कोई दो हज़ार मूर्तियाँ हैं। हाथियों पर सवार बैठे हैं और हौदे, ज़ंजीर, ज़ेवर वग़ैरह सब बने हुये हैं। हाथियों की पट्टी के ऊपर शार्दूल अर्थात् शेरों की एक ऐसी ही पट्टी है। इस के ऊपर एक पट्टी पत्थर की नक़्क़ाशी की है जिसमें तरह २ के अपूर्व सौन्दर्य के बेल बूटे हैं। इसके ऊपर घुड़सवारों की पट्टी है और फिर नक़्क़ाशी के बेल बूटों की पट्टी है। इसके बाद ७०० फ़ीट की पट्टी पर रामायण के दृश्य अंकित हैं; लंका विजय हो रही है एवं राम के जीवन की अन्य घटनाएं हो रहा है। उसके बाद स्वर्ग के जन्तु और पक्षियों की और मानवी जीवन के दृश्यों की पट्टियाँ हैं। इनके ऊपर पत्थर की जालियों की खिड़कियाँ हैं।

बिलारी मंदिर मद्रास प्रान्त के बिलारी ज़िले के पच्छिमी हिस्से में तुङ्गभद्रा नदी के किनारे कुछ पुराने मंदिर हैं जिनकी शैली द्राविड़ शैली का एक रूपान्तर है। इनकी ख़ास बात है स्तम्भों की सुन्दरता और नक़्क़ाशी की निपुणता। पत्थर में ऐसे कौशल से काम किया है कि आज

भी सुनार इस के नमूने पर सोने चांदी की चीज़ें बनाते हैं। मांगला के सूर्यनारायणस्वामी मन्दिर की छत पर बेल बूटे और रेखा-गणित के आकार प्रचुरता से बनाये हैं।

जैन स्तम्भ

बौद्धों की तरह जैनियों ने भी बहुत से स्तम्भ बनाये थे पर अब थोड़े से ही शेष रह गये हैं। दक्खिन कनारा ज़िले में मंगलोर से कुछ दूर मूलबद्री में दस ग्यारह ईस्वी सदी के लगभग जैन मंदिर के सामने ५२½ फ़ीट ऊंचा एक चिकने पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया गया। दक्खिन कनारा में इस तरह के लगभग २० स्तम्भ और हैं। प्रत्येक स्तम्भ पर पत्थर की नक़्क़ाशी है, एक टोपी है और उसके ऊपर चोटी है। स्तम्भ की शोभा अपूर्व है। भारतीय कला में इन स्तम्भों का दर्जा बहुत ऊंचा है।

धुर दक्खिन की कला

धुर दक्खिन में निर्माणशैली उत्तर से भिन्न थी। यहां गुम्बज सीधी होती है पर उसके बहुत से खन होते हैं जो बहुधा नीचे से ऊपर की ओर छोटे होते जाते हैं। ऊपर एक छोटी सी चोटी होती है। प्रधान मंदिर के चारो ओर ऊंची दीवारों से घिरा हुआ एक विशाल दायरा होता है जिसमें बहुत से छोटे छोटे मंदिर, तालाब और कमरे होते हैं। चार गोपुरम् या दर्वाज़े होते हैं जो कभी कभी बहुत ऊंचे होते हैं। इन दर्वाज़ों, मन्दिरों और गुम्बजों पर प्रारंभ से ही मूर्तियां होती थीं पर धीरे धीरे मूर्तियां बढ़ती गईं यहां तक कि पिछले मंदिरों में मुश्किल से कोई जगह ख़ाली है। दक्खिन में मंदिर सातवीं ईस्वी सदी से पाये जाते हैं। पल्लव राजाओं ने वर्तमान मद्रास से ३५ मील दक्खिन मामल्लपुरम् में सात रथ या पेगोडा बनवाये और कांजीवरम् में भी कई मंदिर बनवाये। पल्लवों के बाद चोल राजाओं ने तंजौर, त्रिचनापली इत्यादि स्थानों में विशाल मंदिरों की रचना कराई।

चौदहवाँ अध्याय

हिन्दू सभ्यता पर एक दृष्टिपात

बारहवीं ईस्वी सदी के बाद हिन्दू सभ्यता

हिन्दू सभ्यता की प्राचीन प्रगति

हिन्दुस्तान के इतिहास का प्राचीन काल बारहवीं-तेरहवी सदी में अर्थात् मुसलमान विजय के समय समाप्त होता है। इधर तीन चार हज़ार बरस से हिन्दू सभ्यता स्वतंत्रतापूर्वक विकसित हो रही थी, चारो ओर देश देशान्तर में फैल रही थी, विदेशी आगन्तुकों को हिन्दू बना रही थी। इसमें संदेह नहीं कि उसका सम्पर्क दूसरी सभ्यताओं से रहा था और दूसरों का असर भी उस पर पड़ा था पर मुख्यतः वह अपने निराले मार्ग पर ही चलती रही और अपने ही ढग पर विकसित होती रही। अपने देश की सीमा के भीतर उसे अभी तक किसी ऐसी विपत्ति या कठिनाई का सामना न करना पड़ा था जिसे वह जीत न सके। विदेशी आक्रमणों के सामने उसे कभी कभी सिर झुकाना पड़ा था पर थोड़े ही दिन में या तो उसने विदेशियों को, उदाहरणार्थ, ग्रीक, हूण और अरब लोगों को निकाल दिया था या उनको, जैसे सिथियन, यूची, कुशान आदि को बिल्कुल हज़म कर लिया था।

समावेश

सच है कि वर्णव्यवस्था के कारण हिन्दू समाज दूसरे समुदायों का पूरा पूरा हेलमेल न कर सका पर हिन्दू सभ्यता की—धर्म, भाषा, साहित्य, रीति रिवाज,

कला, विज्ञान की—अमिट छाप उन पर शीघ्र ही लग गई और वह पुराने समुदायों की तरह बिल्कुल उसी सभ्यता के भाग हो गये।

बारहवीं सदी के बाद

पर बारहवीं तेरहवी सदी में हिन्दू सभ्यता का मुक़ाबिला पच्छिम एशिया की ऐसी प्रबल शक्तियों से हुआ कि सदा के लिये उसकी प्रगति बदल गई, उसका विकास उलट पुलट हो गया और उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। पैग़म्बर मुहम्मद के समय से ही मुसलमानों में ऐसा धार्मिक जोश था कि फ़ारस, ग्रीस, स्पेन, हिन्दुस्तान, चीन आदि किसी देश की सभ्यता उनको अपने में न मिला सकी। इस्लाम ने ख़ुदा की एकता, मुहम्मद की पैग़म्बरी, क़ुरान की सच्चाई, बेहिश्त और दोज़ख़, वग़ैरह के ऐसे कड़े और साफ़ सिद्धान्त रक्खे थे और लोक परलोक के लिये ऐसा निश्चित सुसम्बद्ध तत्वज्ञान बना लिया था कि वह किसी भी सभ्यता का मुक़ाबिला कर सकता था। दूसरे, हिन्दुस्तान में आ कर भी मुसलमानों ने दूसरे मुसलमान देशों से राजनैतिक और मानसिक सम्बन्ध क़ायम रक्खे। अगर इस्लाम

इस्लाम का बल

संसारव्यापी या एशियाई धर्म न रहता और केवल भारतीय धर्म हो जाता तो शायद कई सदियों के बाद धीरे धीरे हिन्दू धर्म में समा जाता। पर पच्छिम एशिया के सम्पर्कों की बदौलत इस्लाम ने, हिन्दू धर्म का कुछ प्रभाव ग्रहण करने पर भी, अपना व्यक्तित्व न छोड़ा। तीसरे, मुसलमानों की राजनैतिक प्रधानता के कारण भी हिन्दू सभ्यता के लिये असम्भव था कि इस्लाम को अपने में मिला सके। अस्तु, अब अपने इतिहास में पहिली बार हिन्दू सभ्यता के सामने यह स्थिति प्रगट हुई कि वह देश के कुछ निवासियों को हिन्दू बनाने में असमर्थ थी। दूसरों को हिन्दू बनाना तो दूर रहा, अब तो राज-नैतिक प्रभुता खो जाने पर हिन्दू सभ्यता को आत्मरक्षा के नये नये

उपाय ढूंढने पड़े। अब तक ऐसी समस्या हिन्दुओं के सामने न आई थी। इसको हल करने के लिये हिन्दू समाज ने कुछ पुराने जाति पाँत और छुआछूत के नियम बहुत कड़े कर दिये, पुरोहितों का प्रभाव और भी बढ़ा दिया; डर के मारे वह कुछ पुराने सिद्धान्तों से ऐसा चिपट गया कि मानों वह जीवन के एकमात्र सार थे। इसके अलावा विदेशयात्रा इत्यादि का निषेध कर के, अहिन्दुओं को हिन्दू बनाने की बहुत पुरानी परिपाटी का निराकरण कर के, उसने अपनी रक्षा के लिये अपने को अपने में ही समेट लिया। यह आग्रह उस अनुकूलन शक्ति का नया निराला रूप था जिसका प्रयोग हिन्दू समाज ने नई परिस्थितियों के समय किया था। इसका मूलमंत्र आक्रमण करना नहीं था जैसा कि अब तक हिन्दू सभ्यता ने बार बार, यद्यपि धीरे धीरे, किया था किन्तु इसका मूलमंत्र दूसरों के आक्रमण से अपनी रक्षा करना था। नये अनुकूलन में बहुत ज़ोर नहीं था पर ज़िद बहुत कड़ी थी। यहाँ दृष्टि भविष्य की अपेक्षा भूतकाल पर अधिक थी। आशावाद की जगह भाग्य पर विश्वास था।

आत्म-रक्षा के प्रयत्न

यह ज़रा और स्पष्ट होना चाहिये कि बारहवीं-तेरहवीं सदी से हिन्दुओं के विदेशी सम्बन्ध प्रायः टूट गये। नये उपनिवेश बसाना अब उनकी शक्ति के बाहर था; अपने ही बसाये हुये उपनिवेशों से सम्बन्ध रखना भी असम्भव था; विदेशी राजाओं से वैसे सम्पर्क रखने का प्रश्न ही न था जैसे कि चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार या अशोक, हर्षवर्धन या पुलकेशिन् ने स्थापित किये थे। दूसरे देशों में अपनी सभ्यता फैलाने का उद्योग बिल्कुल बन्द हो गया। विदेशी व्यापार भी बहुधा हिन्दुओं के हाथ से निकल गया और साधारण विदेश-

विदेशी सम्पर्कों का टूटना

यात्रा भी लगभग बन्द हो गई। शायद कई सौ बरस तक किसी हिन्दू ने हिन्दुस्तान के बाहर क़दम नहीं रक्खा। जातियों और सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क से जो नये २ विचार और भाव पैदा होते हैं, ज्ञान या संगठन में जो नये आविष्कार होते हैं, विद्या और जीवन की जो स्वाभाविक समालोचना होती है उससे हिन्दू समाज वंचित हो गया। जो कुछ परिवर्तन हुये वह देश के भीतर की मुसलमान सभ्यता के सम्पर्क से ही हुये पर जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं यह सम्पर्क भी पूरा २ नहीं हुआ। इस परिस्थिति में हिन्दू सभ्यता की कूपमण्डूक की गति हो गई; स्वतंत्र विकास और प्रसार रुक गये, बल और प्रभाव कम हो गये।

मध्य युग

पर कोई यह न समझे कि मुसलमान विजय के बाद हिन्दू सभ्यता मर गई। हिन्दू सभ्यता का अन्त तो कभी हुआ ही नहीं; वह आज भी जीती जागती मौजूद है। तेरहवीं ई० सदी से हिन्दुस्तान के इतिहास का मध्य काल प्रारंभ होता है जो लगभग १८ वीं ई० सदी तक रहा। इस युग की हिन्दू सभ्यता की विवेचना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है पर उस की समीक्षा के प्रयोजन से यह बताना ज़रूरी है कि बारहवीं-तेरहवीं सदी की राज्य-क्रान्ति, पराजय और संकोच के बाद भी देश में हिन्दू प्रभाव बहुत कुछ स्थिर रहा।

राजनीति में हिन्दू प्रभाव

सबसे पहिले राजनीति के क्षेत्र पर एक दृष्टि डालिये। जैसा कि पिछले अध्याय में कह चुके हैं, धुर दक्खिन में मुसलमान आक्रमणों के बाद १४ वीं सदी के प्रारंभ में शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य स्थापित हुआ जो १५६५ ई० तक क़ायम रहा। उसके पतन के बाद भी इधर उधर के प्रदेशों में भिन्न २ हिन्दू राजा राज करते रहे। १७-१८ वीं

सदियों में कुछ हिन्दू नरेशों का सम्पर्क अंग्रेज़ों से और फ़रासीसियों से हुआ। अठारहवीं सदी की कूटनीतियों का और लड़ाइयों का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है। १८ वीं सदी के अन्त में वर्तमान मद्रास प्रान्त अँग्रेज़ों के हाथ में आया पर उन्होंने पुराने हिन्दू शासन की बहुत सी बातें अंगीकार कर ली। उदाहरणार्थ, ज़मीन का जो बन्दोबस्त आज मद्रास प्रान्त में प्रचलित है वह चोल और विजयनगर साम्राज्यों के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। अनेक परिवर्तन हो जाने पर भी प्रादेशिक शासन में आज तक हिन्दू चिन्ह मौजूद हैं। धुर दक्खिन में ट्रावनकोर के अलावा मैसूर का एक बड़ा हिन्दू राज्य और कोचीन, पुडूकोटा आदि छोटे छोटे हिन्दू राज्य आज तक मौजूद हैं।

धुर दक्खिन

कृष्णा नदी के उत्तर में चौदहवीं ईस्वी सदी में दक्खिनी मुसलमान शासकों ने देहली की अधीनता का निराकरण करते हुये स्वाधीनता का अवलम्बन किया। हसन गंगू की अध्यक्षता में बहमनी साम्राज्य स्थापित हुआ जो १५१८ या यों कहिये १५२६ ई० तक क़ायम रहा। जब वह भीतरी फूट के कारण टूट गया तब पांच मुसलमान सल्तनतें प्रगट हुईं—बिदार, बरार, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा,—जो सत्रहवीं सदी के भिन्न २ बरसों तक अर्थात् उत्तर के मुग़ल साम्राज्य में मिल जाने के समय तक स्थिर रहीं। इनके अलावा कुछ उत्तर की ओर नर्मदा नदी के पास ख़ानदेश का मुसलमान राज्य था। इन तमाम राज्यों के इतिहास में हिन्दू प्रभाव पग पग पर दृष्टिगोचर है। हिन्दू शासन के सिद्धान्त यहाँ से कभी न मिटने पाये। ज़मीन का बन्दोबस्त, कर,

दक्खिन

मुसलमान राज्य

प्रादेशिक नियम,—जहां देखिये कुछ न कुछ हिन्दू लक्षण मौजूद हैं। धार्मिक सहनशीलता की नीति जिसकी गणना हिन्दू संगठन के प्रधान और सर्वोत्तम सिद्धान्तों में है यहाँ अधिकतर मानी गई। हिन्दू राज्यों की तरह मुसलमान राज्यों से भी साहित्य और कला को बहुत प्रोत्साहन मिला जिसके प्रमाण और परिणाम आज तक मौजूद हैं। यह भी याद रखना चाहिये कि इन मुसलमान राज्यों की हज़ारों छोटी २ नौकरियों पर और बहुतेरे ऊंचे पदों पर हिन्दू मुक़र्रर थे। उन्होंने बहुतेरी पुरानी सरकारी रीतियाँ क़ायम रक्खीं और साधारणतः हिन्दू प्रभाव को स्थिर रक्खा।

कोंकन

दक्खिन में एक प्रान्त ऐसा भी था जहाँ हिन्दू सदा थोड़े बहुत स्वतंत्र बने रहे और जहां से फिर सत्रहवीं सदी में हिन्दू विद्रोह और स्वाधीनता का झंडा उठा। अरब सागर और पच्छिमी घाटों के बीच में जो लम्बा और तंग पहाड़ी प्रदेश है वह कोंकन कहलाता है। यहां के रहने वाले मराठा आधे स्वतंत्र और आधे परतंत्र थे। उनको पूरी तरह जीतने का उद्योग मुसलमान नरेशों ने नहीं किया था; वरन् सोलहवीं सदी में उनसे मेल कर लिया था। कुछ मराठों ने दक्खिनी सल्तनतों में नौकरी की, सेना और शासन में ऊंचे पद पाये और कभी कभी जैसे अहमदनगर की निज़ामशाही सल्तनत में सिंहासन तक का बार बार निपटारा किया।

मराठा

मुग़ल हमले

जब १६ वी सदी के अन्त में और सत्रहवीं सदी में आगरा और देहली के मुग़ल बादशाहों ने अर्थात् अकबर (१५५६–१६०५ ई०) जहांगीर (१६०५–२७ ई०) शाहजहां (१६२७—१६५८ ई०), और औरंगज़ेब (१६५८—१७०७ ई०), ने दक्खिन को विजय करने के लिये अपनी पूरी

शक्ति से हमले किये और बड़ी बड़ी सेनाएं भेजीं तब मराठों ने सल्तनतों की ओर से युद्ध कर के शत्रु को ख़ूब छकाया। स्वयं बादशाह जहांगीर ने अपने तुज़ुक अर्थात् रोज़नामचे में मराठों के बल और कौशल की दाद दी है। पर मुग़ल साम्राज्य के पास इतना रुपया था और इतने सिपाही थे और इधर दक्खिन में आपसी फूट इतनी थी कि एक एक कर के दक्खिनी मुसलमान रियासतें जीत ली गईं। मराठों की जो पुरानी थोड़ी बहुत स्वतंत्रता थी वह भी अब संकट में आगई। इस भयंकर परिस्थिति में मराठों ने अपने बल को बढ़ा कर संगठित किया और क्रान्तियों की गड़बड़ से लाभ उठा कर मुग़ल साम्राज्य को चिनौती दी। अनेक पराक्रमों के बाद शिवाजी ने मराठा साम्राज्य की नींव

शिवाजी

डाली, १६७४ ई० में रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक पुरानी हिन्दू रीति के अनुसार कराया और १६८० ई० तक राज्य किया। शिवाजी की शासनव्यवस्था में कुछ बातें दक्खिनी सल्तनतों से और उनके द्वारा मुग़ल साम्राज्य तक से ली गई थीं। पर बहुत सी बातें पुरानी हिन्दू परम्परा की ही थीं। शिवाजी का अष्टप्रधान रामायण और महाभारत की याद दिलाता है। अमात्य, मंत्री, सचिव, सेनापति इत्यादि उपाधियां जो पुराने हिन्दू ग्रन्थों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिलती हैं एक बार फिर प्रचलित

मराठा शासन

हुईं। मराठा सभासद में अठारह कारख़ानों का वर्णन पढ़ते समय कौटल्य के अर्थशास्त्र का स्मरण होता है। प्रादेशिक शासन में भी गांव का पाटिल पुराने अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक का रूपान्तर है और कुलकर्णि करणिक का रूपान्तर है। शासन के सिद्धान्त भी पुराने हिन्दू सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं। गुरु रामदास

(१६०८-१६८२ ई०) ने शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को उपदेश दिया था कि महाराष्ट्र के धर्म का प्रतिपादन करो। धर्म की वृद्धि का ही उपदेश पुराने आचार्य हिन्दू राजाओं को दिया करते थे। मराठा शासकों ने मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब, बांध इत्यादि बनवाने में और कविता, गायन, कला, शिक्षा आदि को प्रोत्साहन देने में भी पुराने हिन्दू राजाओं का अनुकरण किया। प्राचीन शासन प्रणाली की निर्बलता भी मराठा संगठन में दृष्टि-गोचर है। शिवाजी के बाद मराठों ने दक्खिन के अलावा मध्य भारत में, उत्तर भारत में और धुर दक्खिन में भी कई प्रदेश जीते और एक विशाल साम्राज्य की सृष्टि की। इस साम्राज्य का आधार पुराने ढंग का संघ सिद्धान्त ही था। बड़ौदा में गायकवाड़, ग्वा-लियर में सिंधिया, इन्दौर में होल्कर, नागपुर में भोंसला और पूना में पेशवा बहुत कुछ स्वतंत्र थे पर एक साम्राज्य में संयुक्त थे।

संघ सिद्धान्त

आपस में लड़ते भिड़ते थे और मेल भी करते थे। संघ प्रथा से अठारहवीं सदी में भी कुछ लाभ अवश्य हुये पर राजनैतिक और सैनिक नेतृत्व और शक्ति बिखर जाने से बल भी कम होगया। १७६१ ई० में पानीपत की लड़ाई में मराठों की विशाल सेना अफ़ग़ानिस्तान के अहमद-शाह अब्दाली से हार गई और मराठों की आधिपत्य की आशायें सदा के लिये मुर्झा गई। इसी कारण अठाहरवीं सदी के अन्त में और उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में मराठा रियासतें एक एक कर के अंग्रेज़ों से हार गईं और या तो मिट गईं या अंग्रेज़ी साम्राज्य के अधीन हो गईं। तथापि उनका इतिहास यह सिद्ध करता है कि हिन्दू सभ्यता का राजनैतिक अंश भी बारहवीं सदी के बाद अनेक शताब्दियों तक स्थिर

मराठों का ह्रास

रहा [१]। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गायकवाड़, होलकर और सिंधिया की रियासतें अब तक मौजूद हैं।

मध्यहिंद

मध्यहिंद में भी बहुत से हिन्दू राजा बराबर राज करते रहे और उनके वंशज अब तक मौजूद हैं। बुंदेलखंड और बघेलखंड को देहली या आगरे के कोई मुसलमान सम्राट् पूरी तरह न जीत सके। यहां के शासन में परिस्थति के अनुसार परिवर्तन अवश्य हुये पर हिन्दू संगठन के बहुत से सिद्धान्त स्थिर रहे [२]। सोलहवीं सदी के अन्त में और सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में ओरछा के राजा वीरसिंह बुंदेला ने पंडितों से बहुतेरे संस्कृत ग्रन्थ जैसे वीरमित्रोदय रचवाये। इस युग के राजाओं के बनवाये हुये मंदिर,

---

१ मराठा इतिहास के लिए मराठा चिटणिस विशेष कर सभासद देखिये। राजवाड़े, पारसनिस, सरदेसाई आदि मराठा विद्वानों ने बहुत सी मौलिक सामग्री इकट्ठी की है। सुसम्बद्ध इतिहास के लिए सरदेसाई कृत मराठी ग्रन्थ 'मराठा रियासत' देखिये। आदर्शों के लिए विशेष कर रामदास, दास बोध, दशक १०, सभास ६॥ फ़ारसी में तुज़ुक जहांगीरी, मोतमद ख़ां कृत इक़बालनामा, अब्दुल हमीद लाहौरी कृत बादशाहनामा, मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम कृत आलमगीरनामा, मुहम्मद साक़ी मुस्तईद ख़ां कृत मासिर आलमगीरी, ख़फ़ी ख़ां कृत मुन्तख़बुल्लुबाब, सैरुलमुताख़िरीन आदि में मराठों का कुछ हाल है। अंग्रेज़ी में देखिये ग्रांट डफ़, हिस्ट्री आफ़ दि मराठाज़, महादेव गोविन्द रानाडे, राइज़ आफ़ दि मराठा पावर, किनकेड और पारसनिस, हिस्ट्री आफ़ दि मराठा पीपुल, यदुनाथ सरकार, शिवाजी, सरदेसाई, मेन करेन्ट्स आफ़ मराठा हिस्ट्री। मराठा इतिहास का अनुसंधान इधर बहुत से विद्वानों के द्वारा हो रहा है।

२. ऊपर के उल्लिखित फ़ारसी ग्रन्थ देखिये। छतरपुर आदि के राजनगरों में बुंदेल, बघेल, इत्यादि के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ हैं।। अंग्रेज़ी में देखिये पःगसन, हिस्ट्री आफ़ दि बुंदेलज़।

तालाव, झील, पुल वग़ैरह अब भी मौजूद हैं या कमसे कम उनके खंडहर दृष्टिगोचर हैं।

उत्तर में

उत्तर में भी कुछ छोटी २ हिन्दू रियासतें बहुत दिन तक स्वतंत्र रहीं। उड़ीसा में ऐसे अनेक राज्य थे। उड़ीसा और गोलकुंडा की सीमा पर खुर्दा नामक एक राज्य सत्रहवीं सदी के प्रारंभ तक स्वतंत्र रहा और पुराने ढंग की सी सेना से संतोष करता रहा[1]। कश्मीर के दक्खिन में पंजाब की सीमा के पास किष्टवाड़ भी सोलहवीं सदी तक स्वतंत्र रहा[2]। उत्तर-पच्छिम पंजाब में कांगड़ा ५२ घेरों के बाद १६२० ई० में ही मुसलमानों के हाथ आया[3]।

उत्तर पूरब में

उत्तर-पूरब में बंगाल के एक छोटे से प्रदेश में कुछ हिन्दू ज़मीन्दारों ने अपना प्रभाव जमाया और सत्रहवीं सदी तक द्वन्द मचाते रहे। यह बारह भुईंया कहलाते थे और इनका संगठन पुराने हिन्दू संघ का ही रूपान्तर था, वरन् उससे भी ढीला था। इनके नेता प्रतापादित्य का उल्लेख बंगला साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता

१, तुज़ुक जहांगीरी (राजर्स और बेवरिज) १ पृ० ४३३ ॥ बहारिस्तान ग़ैबी (पेरिस की हस्तलिपि) देखिये, यदुनाथ सरकार, जर्नल आफ़ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सुसायटी, जिल्द २ भाग १ पृ० ५३-५६ ॥

२. मोतमद खां, इक़बालनामा, पृ० १४३-४६ ॥ तुज़ुक जहांगीरी (राजर्स और बेवरिज) २ पृ० १३७-३९ ॥ शाहनवाज़ ख़ां, मासिर उल उमरा (अनु० बेवरिज) १ पृ० ४९० ॥

३. तुज़ुक जहांगीरी पूर्ववत् २ पृ० १८४ ॥ फ़तहकांगड़ा (रामपुर हस्तप्रति)। इलियट और डाउसन पूर्ववत् २। पृ० ३४, ४४४-४५ ॥ ३। पृ० ४०३- ४०७, ५१५, ५७० ॥ ४। पृ० ६७, ४१५, ४४५ ॥

है[1]। आसाम और कूचविहार में हिन्दू राजाओं का शासन मुग़ल सम्राट् शाहजहां और औरंगज़ेब के समय तक अर्थात् १७ वीं ईस्वी सदी तक रहा[2]। नेपाल तो सदा ही स्वतंत्र रहा और उसकी शासन पद्धति में बहुत सी प्राचीन हिन्दू रीतियां प्रचलित रहीं[3]। उन्नीसवीं ईस्वी सदी में जो क़ानून, न्याय पद्धति और दण्डविधान नेपाल मे प्रचलित थे वह प्राचीन हिन्दू परम्परा के ही थे। राज्य ने जो बहुत से भार अपने ऊपर ले रक्खे थे वह भी हिन्दू परम्परा के साक्षी हैं।

नैपाल

मध्य काल में उत्तर में हिन्दू स्वतंत्रता या अर्धस्वतंत्रता का केन्द्र था राजपूताना। बारहवीं-तेरहवीं सदी में मुसलमानों से हारने पर बहुतेरे राजपूत उस प्रदेश में चले आये जिसका नाम उनके कारण राजपूताना हो गया। यहां उन्होंने आमेर, मारवाड़, मेवाड़, बूंदी, इत्यादि बहुत से राज्य स्थापित किये जो किसी न किसी रूप में अब तक मौजूद हैं। इनके इतिहास में पुरानी हिन्दू

राजपूताना

---

1. निखिलनाथ राय और सत्य चरन शास्त्री कृत प्रतापादित्य के जीवनचरित्र देखिये। निखिलनाथ राय कृत मुर्शिदाबाद का इतिहास भी देखिये। रखालदास बनर्जी कृत बाङ्गालार इतिहास बहुत उपयोगी है। अंग्रेजी में देखिये जेम्स वाइज़, जर्नल आफ़ द एशियाटिक सुसायटी आफ़ बंगाल १८७४ पृ० १९४-२१४॥ १८७५ पृ० १८१-८३॥

2. देखिये गेट, हिस्ट्री आफ़, आसाम। सुधीन्द्र नाथ भट्टाचार्य कृत हिस्ट्री आफ़ मुग़ल नार्थ ईस्टर्न फ़्रंटियर पालिसी में आसाम और कूच बिहार के भाषा ग्रन्थों और किम्वदन्तियों का सविस्तर उल्लेख है।

3. राइट, हिस्ट्री आफ़ नैपाल। नैपाल का पूरा और प्रमाणिक इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है। जब लिखा जायगा तब उससे उत्तर की सभ्यता के इतिहास में बहुत सहायता मिलेगी।

राजनैतिक प्रथा के बहुत से लक्षण पाये जाते हैं। यहां छोटे बड़े बहुत से राज्य थे; संघ और ज़मीन्दारी के सिद्धान्तों पर राजनैतिक संगठन अवलम्बित था; आपस में खूब लड़ाइयां होती थीं; धर्म में सहनशीलता थी; विद्वानों का मान था; राज्य की ओर से मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब इत्यादि बहुत बनाये जाते थे; साहित्य, कला, गायन आदि को बहुत प्रोत्साहन मिलता था। यहां भी सैन्यसंचालन में पुरानी नीति का अवलम्बन करने से कभी २ बहुत हानि उठानी पड़ी। कुछ राजपूत रियासतों ने तो जल्द ही देहली या आगरे की प्रधानता स्वीकार कर ली पर मेवाड़ ने अनुपम. वीरता से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की। १५वीं सदी में और फिर १६वीं सदी के प्रारंभ में मेवाड़ के रानाओं ने राजपूताने के बाहर भी अनेक प्रदेशों पर अपनी प्रभुता जमाई। राना सांगा ने तो सीकरी की लड़ाई में पहिले मुग़ल सम्राट् बाबर से १५२७ ई० में टक्कर ली। अकबर बादशाह के समय में राना प्रताप ने जो साहस और शौर्य दिखाये वह संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। मेवाड़ का पतन १६१४ ई० के पहिले नहीं हुआ और तत्पश्चात् भी घरेलू मामलों में वह अन्य राजपूत रियासतों से अधिक स्वतंत्र रहा[1]।

मेवाड़

---

1. राजपूताना के लिये नैणसी ख्यात आदि मौलिक ग्रंथ देखिये। कविराज श्यामलदास कृत वीरविनोद बहुत उपयोगी है। इसकी एक प्रति काशी-नागरीप्रचारिणीसभा के पुस्तकालय में है। राजपूताना में भी कहीं २ प्रतियां मिल जाती हैं। टाड कृत एनेल्स एंड एन्टिक्विटीज़ आफ़ राजस्थान प्रसिद्ध है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत राजस्थान में बहुत सी नई बातें हैं। देवी प्रसाद मुंसिफ़ और विश्वेश्वरनाथ रेउ के अनेक लेख भी उपयोगी हैं। फ़ारसी में वह ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख मराठों के सम्बन्ध

स्वतंत्र या अर्धस्वतंत्र हिन्दू राज्यों के अलावा हिन्दू राजनैतिक प्रभाव उत्तर के मुसलमान राज्यों पर भी मध्य काल में दृष्टिगोचर है। एक तो मुसलमानों ने पुराने हिन्दू राजनैतिक शासन की बहुत सी बातों को अंगीकार कर लिया। उन्होंने भी वैसे ही प्रान्त और ज़िले बनाये और कुछ २ वैसे ही अधिकारी नियुक्त किये; गावों को वैसे ही प्रबन्ध के अधिकार दिये; ज़मीन पर और आने जाने वाले माल पर वैसे ही कर लगाये। सोलहवीं सदी में उन्होंने धार्मिक सहनशीलता भी सीख ली यद्यपि औरंगज़ेब आदि कुछ बादशाहों ने आगे चल कर इस नीति को छोड़ दिया। ज़मीन्दारी संघशासन की प्रथा भी मध्य काल में कुछ २ मौजूद रही। बहुत से हिन्दू राजा या मुसलमान शासक भीतरी मामलों में स्वतंत्र रहे। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन हिन्दू शासन में और मध्यकालीन मुसलमान शासन में बहुत से अन्तर थे पर यहां हिन्दू सभ्यता के इतिहास के सम्बन्ध में इस बात पर ज़ोर देना है कि उस सभ्यता के राजनैतिक अंशों का लोप राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ नहीं हुआ। बादशाह अकबर के समय की पुस्तक आईन अकबरी के मुग़ल शासन के वर्णन की तुलना प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों से कीजिये तो कहीं २ विचित्र सामंजस्य दिखाई देता है। दूसरी बात यह है कि १६वीं सदी में शेरशाह के समय में और विशेष कर अकबर, जहांगीर और शाहजहां के समय में बहुत से हिन्दू राजा और बहुत से अन्य योग्य हिन्दू मुग़ल शासन में बहुत

मुसलमान राज्यों पर हिन्दू प्रभाव

प्रधान लक्षण

में किया है। फारसी इतिहासों के बहुत से अंशों के अनुवाद इलियट और डाउसन में हैं। परलोकगत इटैलियन टैसीटोरी का हिस्टारिकल एंड बार्डिक सर्वे आफ़ राजपूताना अधूरा रह गया। अभी बहुत सी मौलिक ऐतिहासिक सामग्री अप्रकाशित पड़ी है।

ऊंचे २ पदों पर नियुक्त हुये। उनसे भी हिन्दू राजनैतिक सिद्धान्तो की स्थिरता में बहुत सहायता मिली [१]। मुग़ल साम्राज्य के द्वारा हिन्दू संगठन के कुछ तत्त्व अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी को भी अठारहवीं सदी के अन्त में और उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में मान्य हुये और अब तक मौजूद हैं।

स्वतंत्र और अर्धस्वतंत्र हिन्दू राज्यों में संस्कृत साहित्य का पठन पाठन पहिले की तरह जारी रहा और काव्य, अलंकार, ध्वनि, व्याकरण, तत्त्वज्ञान, गणित, ज्योतिष् इत्यादि के बहुत से नये ग्रन्थ भी लिखे गये। मुसलमान राज्यों में भी हिन्दुओं ने संस्कृत लिखना पढ़ना जारी रक्खा। इस मानसिक जीवन का ब्योरेवार इतिहास यहां स्थानाभाव के कारण नहीं लिखा जा सकता पर यह स्पष्ट है कि मध्य काल का संस्कृत साहित्य बहुत विशाल है। इस के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और बहुतेरे हस्तप्रतियों के रूप में देश के लगभग प्रत्येक प्रान्त के पुस्तकभंडारों में देखे जा सकते हैं। इस साहित्य में मौलिकता बहुत नहीं है, प्रतिभा यत्र तत्र ही मिलती

साहित्य

---

२. इस विषय पर उन्हीं ग्रन्थों में सामग्री है जिनका हवाला राजपूत और मराठा इतिहास के सम्बन्ध में दिया है। मुग़ल शासन के लिये बेनीप्रसाद, हिस्ट्री आफ़ जहांगीर, अध्याय ५ और यदुनाथ सरकार, मुग़ल ऐडमिनिस्ट्रेशन भी देखिये। क़ानूनगो कृत शेरशाह भी देखिये। मौलिक सामग्री में अबुलफ़ज़्ल कृत आईन अकबरी, जहांगीर कृत तुज़ुक और सुजान राय कृत ख़ुलासतुत्तवारीख़ विशेष कर उपयोगी हैं। अन्य फ़ारसी ग्रन्थ भी जिनके अंश इलियट और डाउसन ने उद्धृत किये हैं देखिये। शाहनवाज़ ख़ां के फ़ारसी ग्रन्थ मासिर-उल-उमरा में हिन्दू राजाओं और अफ़सरों के जीवन की भी बहुत सी बातें लिखी हैं।

है पर टीका, टिप्पणी, संक्षेप और संकलन में इसने बहुत विद्वत्ता और चातुर्य दिखाया है।

नाटकों में वामनभट्टबाण का पार्वती परिणय जो १४०० ई० के लगभग लिखा गया था और गंगाधर का गंगादासप्रतापविलास जो १५वीं सदी के बीच में लिखा गया था विशेष उल्लेख के योग्य हैं। मिथिला में पद्मभट्ट ने एक नया व्याकरण रचा और भावदत्त मिश्र ने नैषध की टीका के अलावा अलंकार और रस पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा। स्मृतियों पर बहुत सी टीकाएं लिखी गईं जिनमें समय के अनुसार कुछ परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।

देशभाषा

तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य का सहारा बहुत कुछ उठ जाने से, अनेक पंडितों और कवियों के निराश्रय हो जाने से और अनेक ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मठों या पाठशालाओं के नष्ट हो जाने या टूट जाने से संस्कृत का प्रचार कम होने लगा। १४-१५ वीं ईस्वी सदी में देशी भाषाएं जिनके विकास का निर्देश दसवें अध्याय में कर चुके हैं साहित्य का माध्यम होने लगीं। १५-१६ वीं सदी में बंगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो गईं और अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने उनमें रचना की। अनेक मुसलमान सुलतानों और बादशाहों से इन भाषाओं को आश्रय मिला और हिन्दू राजाओं तथा जनता ने भी प्रोत्साहन दिया। उदाहरणार्थ, अकबर, जहांगीर और शाहजहां ने बहुत से हिन्दी कवियों को दर्बार में बुलाया और सत्कारपूर्वक द्रव्य दिया[1]। नई सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में देशी भाषाओं

१. देखिये मिश्रबन्धुविनोद; शिवसिंहसरोज, ग्रियर्सन, वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान, रिपोर्ट आन दि सर्च आफ हिन्दी मैनस्क्रिप्ट्स, बेनी प्रसाद, प्रोसीडिंग्स आफ़ दि इंडियन हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन १९२२॥

की उन्नति अनिवार्य थी। एक तो संस्कृत का प्रचार घटने पर हिन्दुओं को ही देशी भाषा के साहित्य की आवश्यकता थी। दूसरे,

हिन्दू-मुसलमान सम्पर्क

हिन्दू मुसलमानों में तत्त्वज्ञान और साहित्य का सम्पर्क अवश्यंभावी थी पर यह संस्कृत के द्वारा नहीं होसकता था। संस्कृत बोलचाल की भाषा न थी; उसका व्याकरण भी बहुत क्लिष्ट है। हिन्दू विद्यार्थी बरसों के निरन्तर परिश्रम केबाद कहीं संस्कृत के पंडित हो सकते थे। मुसलमानों के लिये संस्कृत टेढ़ी खीर थी। ११ वीं सदी में अलबेरूनी और सोलहवीं सदी में फ़ैज़ी और अब्दुलक़ादिर बदायूनी को छोड़ कर कोई मुसलमान संस्कृत के पंडित नहीं हुये। इस के विपरीत देशभाषाएं आसान थीं, मुसलमान स्वभावतः उन्हें सीख लेते थे। अमीर ख़ुशरू, मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर रहीम ख़ानख़ाना, ताज इत्यादि इत्यादि बहुत से मुसलमानों ने हिन्दी में अच्छी कविता की[1]। स्वयं कबीर जिसकी वाणी और बीजक हिन्दी की सर्वोत्तम रचनाओं में हैं और कुछ अंशों में तो अनुपम हैं शायद मुसलमान जुलाहा था। मुसलमानस शासक, अमीर और विद्वान् देशी भाषा की रचनाओं का आनन्द उठा सकते थे। अस्तु, हिन्दू-मुसलमान सम्पर्क का एक यह अवश्यक परिणाम हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत का स्थान देशी भाषाओं ने बहुत कुछ ग्रहण किया। सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य, नानक, दादू, मीराबाई, तुकाराम, रामदास इत्यादि की प्रतिभा संस्कृत कोछोड़ कर देशी भाषा के द्वारा प्रगट हुई।

संस्कृत का प्रभाव

पर यह न समझना चहिये कि पुराने संस्कृत साहित्य, दर्शन और धर्म का प्रभाव जाता रहा। देशी भाषाओं की कविता पुराने विचारों

---

1. मिश्रबन्धुविनोद में हिन्दी के बहुत से मुसलमान कवियों के नाम और उनकी रचना के उदाहरण मिलेंगे।

और भावों से भरी हुई है। कृत्तिवास की (बंगला रामायण पुरानी कथाओं का रूपान्तर है। तुलसीदास का रामचरितमानस, केशव-की रामचन्द्रिका, इत्यादि इत्यादि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण और अध्यात्मरामायण के आधार पर लिखे गये हैं। सूरदास के सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। नन्ददास इत्यादि की कविता भी पुराने भक्तिकाव्य का स्मरण दिलाती है। कबीर ने प्रचलित हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना की है और पुरोहितों को बहुत जली कटी सुनाई है पर उसकी रचना में उपनिषदों के कुछ सिद्धान्त ज्यों के त्यों रक्खे हैं। सम्भव है कि उसने उपनिषद स्वयं न पढ़े हों पर उनके सिद्धान्त कहीं न कहीं से उसके पास आ गये थे[1]। रैदास, नानक, पीपा, सेन, इत्यादि में भी पुराने तत्वज्ञान और भक्तिसिद्धान्त की मात्रा कम नहीं है[2]। इसी तरह बंगला साहित्य ने भी पुराने साहित्य के क्रम को

---

१. कबीर का एक संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से निकला है, बीजक का सम्पादन अहमद शाह ने किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय का संकलन उपयोगी है। बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद ने कबीर की साखी प्रकाशित की है। सिक्खों के आदिग्रन्थ में कबीर के बहुत से पद हैं। एक नया संस्करण काशीनागरीप्रचारिणीसभा से प्रकाशित होने वाला है। कबीर के तत्त्वज्ञान और भक्तिरहस्य के लिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संकलन की भूमिका देखिये। ऐतिहासिक समालोचना के लिये देखिये बेनीप्रसाद, कबीर ए स्टडी, कबीर, हिज़ सांग, टुमारो, अहमदाबाद १९२४। बेनीप्रसाद, संक्षिप्त सूरसागर, (इंडियनप्रेस, इलाहाबाद) भूमिका, भी देखिये।

२ इन कवियों की रचना सन्तबानीसंग्रह में देखिये। नानक के लिये आदि-ग्रन्थ सब से उपयोगी है। जोधपुर, जैपुर इत्यादि के राजपुस्तकालयों में और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में सन्त कवियों की रचनाओं की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियां हैं। साधारण हिन्दी साहित्य के लिये मिश्रबन्धु-विनोद और हिन्दी नवरत्न के अलावा शिवसिंहसरोज, काशीनागरी-प्रचारिणी सभा की हस्तप्रतियों की खोज की रिपोर्टें, ग्रियर्सन कृत हिस्ट्री आफ़ वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान और के कृत हिस्ट्री आफ़ हिन्दी लिटरेचर भी देखिये।

उल्लंघन नहीं किया है[1]। गुजराती, मराठी, उड़िया इत्यादि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इन सब भाषाओं में १५ वीं सदी से लेकर आज तक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी बहुतायत से होते रहे हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं में जैनों ने सैकड़ों क्या हज़ारों ग्रन्थ रचे जिनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं और अधिकांश मंदिरों और भंडारों में हस्तप्रतियों के रूप में ही रक्खे हैं। इनमें से बहुत से तो प्राचीन पाली और संस्कृत जैन ग्रन्थों के भावानुवाद या छायानुवाद हैं और शेष ग्रन्थों पर भी पुराने जैन साहित्य की छाप लगी हुई है। स्पष्ट है कि भाषा की शृंखला टूट जाने पर भी हिन्दू मानसिक जीवन की शृंखला मध्य काल में नहीं टूटी।

जैन ग्रन्थ

हिन्दू भाषा, साहित्य और दर्शन ने अपनी रक्षा की सामर्थ्य दिखाने के अलावा मुसलमानों पर भी बहुत प्रभाव डाला। कह चुके हैं कि हिन्दू-मुसलमान सम्पर्क की आवश्यकताओं के कारण मुसलमान स्वभावतः लोक भाषायें सीख रहे थे। हिन्दी में कुछ फ़ारसी और थोड़े से अरबी शब्दों की मिलावट से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हिन्दी ने वह रूप धारण किया जिसे उर्दू कहते हैं। सच पूछिये तो बहुत दिन तक नाम का भी भेद न था। जिस बोली को आज कल लोग उर्दू कहते हैं वह प्रारंभ में हिन्दी ही कहलाती थी। उर्दू का ऐतिहासिक अनुसंधान हाल में ही प्रारम्भ हुआ है पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि इसके पहिले कवि हिन्दी नाम से ही कविता रचते थे।

उर्दू

---

1. देखिये दीनेशचन्द्र सेन, हिस्ट्री आफ़ बंगाली लंग्वेज एंड लिटरेचर।

वह यही समझते थे कि हम हिन्दी काव्य लिख रहे हैं। उत्तर में ही नही किन्तु दक्खिन में भी यही अवस्था थी। हिन्दी और उर्दू का पार्थक्य जो आज कल दिखाई देता है पीछे प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों की इस हिन्दी या उर्दू कविता में हिन्दू विचार और भाव, पौराणिक और ऐतिहासिक उल्लेख भी भरे हैं। कवि का नाम न मालूम हो तो सहसा कोई नहीं कह सकता कि रचयिता हिन्दू था या मुसलमान? हिन्दी उर्दू का पार्थक्य हो जाने पर भी दोनों का व्याकरण एक ही रहा है और साधारण शब्द भी समान रहे हैं[1]। उर्दू के रूप में हिन्दी सारे देश के मुसलमानों में फैल रही है।

मुसलमान धर्म और दर्शन

हिन्दू धर्म और दर्शन ने मध्य काल के मुसलमानों के जीवन पर बहुत असर किया—यह स्वाभाविक ही था। हिन्दुस्तान के बाहर उपनिषद्, गीता और वेदान्त के मूल सिद्धान्त पहुंच गये थे। ब्रह्म की सर्वव्यापकता, परमेश्वर की एकाग्र भक्ति, ब्रह्म में तल्लीनता, "तत्त्वमसि", त्याग और तप—यह सिद्धान्त कुछ मुसलमान सिद्धान्तों से जा मिले। यहाँ अन्य सिद्धान्तों का भी संघर्षण हुआ जो पारसी और ईसाई धर्मों के प्रभाव से और ग्रीक तत्त्वज्ञान की कुछ विचित्र शाखाओं के प्रभाव से पच्छिम एशिया में इधर उधर प्रचलित थे। इस घनिष्ट सम्पर्क से मुसलमान संसार में सूफ़ी मत की उत्पत्ति हुई जिसने सारे मुसलमान तत्त्वज्ञान और साहित्य

---

१. इस विषय पर अब्दुल हक़ के व्याख्यान जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी यू० पी० से प्रकाशित होने वाले हैं उपयोगी होंगे। उर्दू साहित्य के इतिहास के लिये देखिये रामबाबू सक्सेना, हिस्ट्री आफ़ उर्दू लिटरेचर। इसका उर्दू अनुवाद भी हो गया है।

पर अपनी छाप लगा दी। सूफ़ी कवियों के उद्गार हिन्दू भक्तों के से ही है—वही ईश्वरप्रेम है, वही एकाग्रता है, वही आत्मसमर्पण है, वही भाव, वही उपमाएं हैं। हिन्दुस्तान में भी सूफ़ी मत ने बहुत प्रसिद्धि पाई। इस के अलावा साधारण मुसलमान विचार भी हिन्दू तत्त्वज्ञान से अछूता न बचा। हिन्दुस्तान में जो फ़ारसी और अरबी साहित्य रचा गया और जिसकी वैज्ञानिक आलोचना अब प्रारम्भ हो रही है हिन्दू प्रभाव का साक्षी है। बहुत से मुसलमानों ने हिन्दू सिद्धान्तों को पसन्द किया। बादशाह अकबर आदि कुछ मुसलमान नरेश उनके पक्षपाती थे। शेख़ मुबारक, अबुल फ़ैज़ी, अबुल फ़ज़्ल आदि बहुतेरे विद्वान् मुक्त कंठ से हिन्दू धर्म और वेदान्त की प्रशंसा करते थे और तदनुसार अपने जीवन को चलाते थे। बादशाह शाहजहां कट्टर मुसलमान था पर उसका बड़ा लड़का दाराशिकोह वेदान्ती था। उसने अल्लोपनिषद् की रचना कराई जिसमें इस्लाम और हिन्दू तत्त्वज्ञान का मिश्रण है[1]। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मुसलमान विजय के बाद जिन हिन्दुओं ने इस्लाम अङ्गीकार किया था वह अपनी विचारपद्धति को और अपने पैतृक विश्वासों को

सूफ़ी मत

साधारण प्रभाव

1. इसकी प्रति ख़ुदाबख़्श ओरियंटल लाइब्रेरी, पटना, में है। हिन्दुस्तान के फ़ारसी और अरबी साहित्य के संग्रह हैदराबाद (दक्खिन), रामपुर, टोंक आदि रियासतों के राजपुस्तकालयों में और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में भी हैं। बंगाल एशियाटिक सुसायटी, कलकत्ता और ख़ुदाबख़्श ओरियंटल लाइब्रेरी, पटना, में भी बहुत सी हस्तप्रतियां हैं। लन्दन के ब्रिटिश-म्यूज़ियम और इंडिया आफ़िस के पुस्तकालयों में और भी ज़्यादा सामग्री हैं।

बिल्कुल छोड़ नहीं सकते थे। उनके द्वारा भी मुसलमान समाज में हिन्दू विचार फैलते रहे।

मूर्तिकला

इस वर्णन से स्पष्ट है कि अनेक अंशों में हिन्दू और मुसलमान सभ्यताएं एक हो गईं या कम से कम एक दूसरे के बहुत निकट आ गईं। मध्य काल की भारतीय कला के इतिहास से भी यही ध्वनि निकलती है। यह मानना पड़ेगा कि इस युग में हिन्दू कला का ह्रास अवश्य हुआ। इस्लाम में मूर्तिपूजा का विरोध मूर्ति का ही विरोध हो गया था। मुसलमानों ने बहुत सी मूर्तियां तोड़ डाली, स्वयं उनके मूर्ति बनाने की तो कोई बात ही नहीं थी। जब सहनशीलता का युग प्रारम्भ हुआ जब हिन्दू फिर स्वतंत्रतापूर्वक मूर्ति बनाने लगे पर विजयनगर साम्राज्य को छोड़ कर और कहीं उन्होंने इस कला में कोई उन्नति नहीं की। वरन् इसके आदर्श गिरते ही रहे। अस्तु, मध्य काल की हिन्दू मूर्तिकला में कोई विशेष बात नहीं है

चित्रकला

पर भवननिर्माण, चित्रण और गायन में हिन्दू प्रतिभा और सिद्धान्त ने नये नये पंथों पर पग रक्खा। सोलहवीं—सत्रहवीं सदी में चित्रकला के क्षेत्र में हिन्दू और फ़ारसी तत्वों के सम्मिश्रण के नये चमत्कार प्रगट हुये। मुग़ल बादशाह अकबर, जहांगीर और शाहजहां चित्रकला के शौक़ीन थे, चित्रकारों को आश्रय देते थे और प्रतिभाशाली कृतियों पर बड़ी उदारता से इनाम देते थे। उनके समय के बहुतेरे चित्र अब तक मौजूद हैं और अपने कौशल पर आश्चर्य दिलाते हैं। मध्यकाल में राजपूत चित्रकला ने भी बहुत उन्नति की और आमेर, जोधपुर, इत्यादि रियासतों में सैकड़ों हृदयग्राही चित्र अंकित किये गये।

इस युग में रचनात्मक प्रतिभा का सब से अधिक विकास भवन-निर्माण के क्षेत्र में हुआ। मुसलमान नरेशों को इमारत बनाने का शौक़ हमेशा से था। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आने के थोड़े दिन बाद ही हिन्दू और मुसलमान निर्माणसिद्धान्तों का सम्पर्क और मिश्रण प्रारंभ हुआ और नई नई रीतियों का आविष्कार हुआ। मध्य काल की हिन्दुस्तानी इमारतें आज भी दर्शकों को चकित करती हैं और सदा संसार की सर्वोत्तम इमारतों में गिनी जायगी। पुरानी हिन्दू इमारतों से और हिन्दू निर्माणसिद्धान्तों से इनकी तुलना करने पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट प्रगट होता है। उदाहरणार्थ, आगरे के पास सिकन्दरे में अकबर की क़ब्र की इमारत हिन्दू रीति की याद दिलाती है। देहली और आगरे के क़िले की इमारतें, फ़तहपुर सीकरी के महल, लाहौर के मक़बरे और आगरे का ताज महल भी हिन्दू प्रभाव से ख़ाली नहीं हैं। राजपूताना में आमेर आदि के महल भी बहुत करके उसी प्रथा का अनुकरण करते हैं जो उत्तर भारत के और प्रदेशों में प्रचलित थी[1]। अस्तु, हिन्दू कला का इतिहास मध्य काल में पलट ज़रूर गया पर समाप्त नहीं हुआ।

भवननिर्माण

---

१. मध्य काल की कला के लिये फर्गुसन, हेवेल और विंसेंट ए. स्मिथ के वही ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख पहिले कर चुके हैं। आर्कियोलाजिकल सर्वे की रिपोर्टें और जर्नल आफ़ इंडियन आर्ट एंड इन्डस्ट्री बहुत उपयोगी है ब्राउन, मुग़ल पेंटिंग भी देखिये।

चित्रों के नमूने ख़ुदाबख़्श ओरियंटल लाइब्रेरी, पटना, कलकत्ता। एशियाटिक सुसायटी आफ़ बंगाल के पुस्तकालय में, महाराजा बनारस, नवाब रामपुर इत्यादि के पुस्तकालयों में एवं जयपुर, जोधपुर आदि के अजायबख़ानों में हैं। देहली, लाहौर इत्यादि में व्यक्तियों के पास भी बहुत से चित्र हैं।

उसके तत्व नष्ट नहीं हुये, वरन् और तत्वों से मिल कर नये नये रूपों में प्रगट हुये।

अब सामाजिक जीवन पर एक नज़र डालिये। मध्य काल में पुराना हिन्दू संगठन कई अंशों में अवश्य बदल गया। कह चुके हैं कि अन्य धर्मों और जातियों से अपनी विलक्षण सभ्यता की रक्षा करने के लिये हिन्दू समाज ने जाति पांत के, खाने पीने के, बंधन और भी कड़े कर लिये, पुरोहितों की महिमा और भी बढ़ा दी। स्वतंत्रता के समय में हिन्दू समाज का नेतृत्व राजा और पुरोहित दोनों के हाथ में था; मुसलमान विजय के बाद वह नेतृत्व केवल पुरोहितों के हाथ में आ गया। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि पुरोहितों के नेतृत्व में सामाजिक जीवन को संकुचित करने वाली शक्तियां बहुत प्रबल हो गईं। विदेशों से सम्पर्क बहुत कम हो गया था। जिन हिन्दुओं ने एशिया, यूरुप और अफ्रीका में अपने धर्म, तत्त्वज्ञान और साहित्य, कला का प्रचार किया था और समुद्र पार करके बहुत से देश और टापू आबाद किये थे वह अब विदेशयात्रा को ही पाप समझने लगे। छूआछूत का भेद तो पहिले भी था पर अब वह बहुत बढ़ गया। अन्तर्जातीय अनुलोम ब्याह पहिले ही कम हो गया था; अब वह क़रीब २ बिल्कुल मिट गया। स्त्रियों का पद हिन्दू स्वतंत्रता के अन्तिम काल तक बहुत गिर चुका था; पर्दा शुरू हो गया था। १२ वीं सदी से जो राजनैतिक खलबल मची उसमें स्त्रियों की जोखिम बढ़ गई और पर्दा बहुत कड़ा हो गया। स्वयं मुसलमानों में पर्दा बहुत होता था; उनके अनुकरण से भी उत्तर भारत के हिन्दुओं में

सामाजिक जीवन

नेतृत्व

स्त्रियों का पद

यह प्रथा बलवान हो गई। पर्दे से स्त्री शिक्षा को गहरा धक्का लगा—यह स्वाभाविक ही था। हिन्दुओं के बहुत से समुदायों में बालव्याह पहिले ही प्रारंभ हो गया था। स्मृतियों में उसका विधान है और पुराणों से भी उसकी ध्वनि निकलती है। १३वीं सदी के बाद स्त्रियों के पद के ह्रास से, वर्णव्यवस्था की कठोरता से, और राजनैतिक गड़गड़ से बालव्याह और भी बढ़ गया और नन्हे २ बच्चों तक की शादियां होने लगी। इस प्रकार हिन्दू समाज की निर्बलताएं बढ़ गई पर संगठन के मूल सिद्धान्त प्राचीन समय के से ही रहे। मध्य काल में वर्णव्यवस्था को एक धक्का ज़रूर लगा। अब तक हिन्दू न्याय में वर्णभेद का थोड़ा बहुत विचार अवश्य किया जाता था; स्मृतियों में एक ही अपराध के लिये भिन्न २ वर्णों के लिये भिन्न २ दण्डों का विधान है। पर मुसलमान न्यायाधीश इस भेद को न मानते थे। उनकी दृष्टि में सब हिन्दू बराबर थे। सो, जहां वर्णव्यवस्था के और नियम कड़े हो गये वहां न्यायसम्बन्धी नियम मिट गये।

बाल व्याह

न्याय

मध्य काल में हिन्दुओं के जीवन का साधारण भाव कहां तक बदल गया—इस आवश्यक प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन युग में भी हिन्दू जीवन का भाव सदा एक सा नहीं रहा था। कह चुके हैं कि ऋग्वेद के पहिले नौ मंडलों के युग में जीवन का जैसा आनन्द और आह्लाद था वैसा आगामी काल में नहीं रहा। तत्पश्चात् बौद्ध और जैन धर्मों की प्रधानता ने कुछ और परिवर्तन किये। अन्त में बाहर से आने वाली जातियों की उथल पुथल ने आशावाद को निर्बल कर दिया।

जीवन का भाव

मध्य काल में राजनैतिक स्वतंत्रता मिट जाने से, राजनैतिक गड़-बड़ से, सामाजिक कुरीतियों के दृढ़ हो जाने से, विदेशी सम्पर्क टूटने पर साधारण संकुचन से और पुरोहितों की प्रधानता से भाग्य-वाद की मात्रा बहुत बढ़ गई और आन्तरिक सामाजिक निराशा प्रबल हो उठी। हिन्दुओं ने कर्म और संसार का जो सिद्धान्त निकाला था और जो उपनिषदों के बाद सब को मान्य हुआ वह मानो दुधारी तलवार थी। जिस समाज में आत्मविश्वास हो उसके लिये यह आशावाद और स्वावलम्बन का सिद्धान्त है। साहसी व्यक्तियों के चित्त में कर्मसिद्धान्त यह भाव उत्पन्न करता है कि हम ही अपने भाग्य के विधाता हैं; हम अपने कर्मों के बल से सब कुछ कर दिखायेंगे; जो कुछ हमारा हक़ है वह हमें ज़रूर मिलेगा; हमारा पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं हो सकता। पर यदि आत्म-विश्वास नहीं है और साहस नहीं है तो कर्म सिद्धान्त से विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। तब यह धारणा होती है कि जो होना है वह होगा; भाग्य में जो लिखा लाये हैं वह भुगतना ही होगा; सुख दुख जो कुछ पड़े सब सहना होगा; हाथ पैर पटकना व्यर्थ है। दैव पर निर्भर रहने का यह भाव मध्य काल में बहुत प्रबल मालूम होता है। रामचरित-मानस में रामचन्द्र के वनवास और दशरथ के मरण के बाद

निराशा

कर्म सिद्धान्त

> हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ।
> सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ॥

सूरदास भी कहते हैं कि कर्म की गति टाले नहीं टलती। ऐसे वाक्यों से मध्य काल का हिन्दी या बंगला साहित्य भरा पड़ा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कहीं २ विपरीत भाव भी हैं

भाग्यवाद

जैसे कि" दैव २ आलसी पुकारा" । इसमें भी कोई संदेह नहीं कि संस्कृत साहित्य से भी भाग्यवाद के सैकड़ों वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं । पर एक ओर समस्त मध्यकालीन साहित्य को रखिये और दूसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्य को, विशेष कर, सातवीं ई० सदी तक के संस्कृत साहित्य को रखिये, तो मानना पड़ेगा कि मध्य काल में भाग्यवाद और निराशा की मात्रा अधिक है । एक संस्कृत कवि का श्लोक है कि उद्योगी पुरुषसिंह के पास लक्ष्मी आती है, "दैव देता है" यह तो डरपोक आदमी कहते हैं, दैव को छोड़ कर अपनी शक्ति से पौरुष करो, यत्न करने पर सिद्धि न हो तो क्या दोष है ? आत्मावलम्बन के ऐसे ओजस्वी कथन देशभाषाओं के मध्यकालीन साहित्य में बहुत नहीं मिलते ।

मध्य काल में भगवद्-गीता

मध्यकाल में भगवद्गीता की जो गति हुई उससे यह निष्कर्ष बहुत स्पष्ट हो जायगा । गीता का उपदेश रणभूमि में दिया गया था और अर्जुन से कठोर युद्ध कराने के प्रयोजन से दिया गया था । श्रीकृष्ण की गर्जना है कि उठो, जागो और भूतिकर्मों में लगो । कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फलों में नहीं; परमेश्वर को समर्पण करते हुये कर्म करो; निष्काम कर्म करो—यह गीता का सार है । गीता के सारे तत्त्वज्ञान, योग और भक्ति का परिणाम वही होता है जो श्रीकृष्ण का ध्येय था अर्थात् अर्जुन फिर गाण्डीव धनुष को उठाता है और पूर्ण जय तक घमासान युद्ध करता है । गीता में यों तो बहुत सी बातें हैं किन्तु उपर्युक्त ऐतिहासिक सम्बन्ध में पढ़िये तो प्रधान सिद्धान्त अनवरत कर्म का है । पर मध्य काल का वायुमंडल ऐसा था कि लोग गीता के तात्त्विक प्रयोजन को भूल गये । मध्यकाल के साहित्य में गीता की चर्चा बहुत है और बहुत सी टीकाएं भी

मिलती हैं पर यहां धारणा है कि गीता योगध्यान और तत्त्वज्ञान की पुस्तक है । गीता के आधार पर कर्मयोग की दुंदुभी बजाना मध्य-काल का काम नहीं था । बात यह है कि जिस युग की जैसी भावना होती है उसे शास्त्रीय सिद्धान्तों के रूप भी वैसे ही दिखाई देते हैं । हज़ार बरस तक हिन्दू गीता के मर्म को भूले रहे । गीता के रहस्य को समझाना वर्तमान बीसवीं सदी के नेताओं और लेखकों का काम था ।

मध्य काल में साधारणतः हिन्दू भावना इस तरह की थी । पर याद रखना चाहिये कि यह तमाम युग एक सा नहीं था । १३ वीं ईस्वी सदी से १५ वीं ईस्वी सदी तक जो अवस्था थी वह १६ वीं सदी में कुछ बदल गई एवं फिर सत्रहवी सदी में कुछ और परिवर्तन हुये । जब मुसलमान राज्यों ने धार्मिक सहनशीलता की नीति अंगीकार की, जब उन्होंने हिन्दुओं के लिए शासन के द्वार खोल दिये और उसके बाद जब हिन्दुओं ने विप्लव कर के नये नये स्वतंत्र राज्य स्थापित किये तब जीवन का भाव भी बदलने लगा । तथापि सामान्यतः प्राचीन हिन्दू युग में और मध्य काल में वह अन्तर था जिसका निर्देश अभी ऊपर किया है ।

परिवर्तन

पर कोई यह न समझे कि मध्य काल में देश ने किसी तरह की उन्नति न की और मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दुओं को किसी तरह का लाभ न हुआ । प्रत्येक युग में बड़ी २ घटनाओं से तरह २ की लहरें पैदा होती हैं और तरह तरह के परिणाम निकलते हैं । जैसे प्राचीन काल में जीवन और आन्दोलन की बहुत सी धाराएं थीं और कोई कोई एक दूसरे के प्रतिकूल थीं वैसे ही मध्य काल में भी प्रगति के मार्ग तरह तरह के थे । ऊपर दिखा चुके हैं कि मुसल-

मध्य काल में उन्नति

मानों के सम्पर्क से भाषा, चित्रकला और निर्माणकला में नये नये विकास हुये। देशी भाषाएं प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो गईं और बहुतेरे प्रतिभाशाली कवियों ने उनमें रचना की। इसका अधिकांश श्रेय उन प्रभावों को है जो मुसलमानों के आने पर प्रगट हुये थे। अगर बारहवीं-तेरहवीं सदी में राजनैतिक क्रान्ति न होती तो शायद लोक भाषा और साहित्यिक भाषा का पुराना भेद ज़रा भी कम न होता। लोक भाषाओं का मध्यकालीन साहित्य उत्पत्ति के लिए ही नहीं किन्तु विषय के लिए भी मुसलमानों का ऋणी है। मुसलमान धर्म का प्रधान सिद्धान्त है परमेश्वर की एकता। हिन्दू तत्त्वज्ञान इस सिद्धान्त तक बहुत प्राचीन समय में ही पहुँच गया था पर ब्राह्मण धर्म में इस पर उतना ज़ोर नहीं दिया गया था जितना कि इस्लाम में। मुसलमान विद्वानों और तत्त्वज्ञानियों के सम्पर्क से हिन्दूओं ने भी परमेश्वर की एकता पर ज़्यादा ज़ोर दिया। इस परिवर्तन का प्रतिबिम्ब मध्यकालीन साहित्य में है। एक परमेश्वर की भावना दृढ़ होने से एवं वेदान्त और सूफ़ी मत के संघर्षण से भक्तिमार्ग के प्रचार में सहायता मिली। हिन्दी, बंगला, मराठी, इत्यादि के मध्यकालीन साहित्य में सब से अच्छे ग्रन्थ भक्ति के ही हैं। हिन्दू मुसलमान धर्मों के सन्निकर्ष से कुछ नये धार्मिक आन्दोलन भी उत्पन्न हुये। उदाहरणार्थ, १५ वीं—१६ वीं ईस्वी सदी में गुरु नानक ने सिक्ख धर्म चलाया जिसमें दोनों धर्मों के तत्त्वों का समावेश है[१]।

भक्तिवाद

---

१. गुरु नानक के लिये आदिग्रन्थ देखिये। इसका संस्करण बहुधा गुरुमुखी में है। देवनागरी अक्षरों मे एक संस्करण लखनऊ से प्रकाशित हुआ था पर अब वह दुष्प्राप्य है। अंग्रेज़ी में फ़ान ट्रम्प का अनुवाद बहुत ग़लत है। मेकालिफ़ का सिक्ख रिलीजन बेहतर है। हिन्दी में गुरु नानक की वाणियों का एक संकलन "संतबानी संग्रह" में भी प्रकाशित हुआ है।

अन्य धार्मिक कवियों और उपदेशकों में भी मुसलमान प्रभाव नज़र आता है।

राजनीति में भी मुसलमानों ने एक बड़ा भारी परिवर्तन किया जिस से देश को असीम लाभ हुआ। पिछले अध्यायों से सिद्ध हुआ होगा कि हिन्दुस्तान का राजनैतिक इतिहास संयोजक और विभाजक शक्तियों के संग्राम का चक्र है। जब संयोजक शक्तियां अधिक प्रबल हुईं तब मौर्य, गुप्त, वर्धन इत्यादि साम्राज्य बने, जब विभाजक शक्तियों ने ज़ोर पकड़ा तब देश छोटे २ स्वतंत्र राज्यों में बट गया। प्राचीन काल के तमाम राजनैतिक इतिहास पर विचार कीजिये तो प्रधानता विभाजक शक्तियों की ही मालूम होती हैं। मध्य काल में भी संयोग और विभाग का पुराना चक्र चलता रहा; देहली या आगरा के सुलतानों या बादशाहों का झंडा कभी २ तो लगभग सारे देश पर फहराया और कभी २ एक दो प्रदेशों पर ही जैसे तैसे हिलता रहा। पर इस काल में पहिले की अपेक्षा संयोजक शक्तियां अधिक प्रबल हैं; साम्राज्यों का जीवन अधिक है, बल अधिक है। साम्राज्य का होना अब एक स्वाभाविक बात मालूम होती है। राजनैतिक एकता की पुरानी रुकावटें निर्बल हो रही हैं। अस्तु, मुसलमान नरेशों की राजनैतिक आकांक्षाओं ने और सामरिक बल ने देश की एकता बढ़ाने में बड़ा काम किया और राष्ट्रीयता के उस भाव के लिये ज़मीन तय्यार की जो उन्नीसवीं सदी में पैदा हुआ।

राजनैतिक संयोजक शक्ति

राजनैतिक एकता को दृढ़ करने के साथ २ मुसलमानों ने हिन्दू-पने का भाव भी बढ़ाया। जब तक देश में केवल हिन्दू ही रहते थे तब तक उनको कभी अपनी एकता का ध्यान न आया। वह जानते

हिन्दूपने का भाव

थे कि हम दूसरे देशों के निवासियों से भिन्न हैं और बढ़ कर हैं। ग्यारहवीं ईस्वी सदी में अल्बेरूनी ने देखा कि हिन्दुओं को अपने ऊपर बड़ा गर्व है और दूसरी जातियों के लिये बड़ा अपमान है। तथापि हिन्दुत्व का भाव बहुत निर्बल था। कुछ प्रादेशिक भाव थे, मत मतान्तर के भाव थे, वर्ण के भाव थे, जातियों के, उपजातियों के, उनकी भी शाखाओं के, भाव थे पर हिन्दुत्व की धारणा बहुत कमज़ोर थी। जब मुसलमान आ कर बस गये तब तारतम्य के द्वारा हिन्दूपने की वृद्धि हुई और हिन्दुओं ने समझा कि हमारी भी कोई एकता हो सकती है। स्वयं हिन्दू शब्द जो सिन्ध नदी के नाम से निकला है और जो मूल अर्थ में सिन्धु के आस पास रहने वालों का द्योतक है मध्य काल में प्रचलित हुआ। प्राचीन सभ्यता के सम्बन्ध में हमने इस शब्द का प्रयोग केवल इस कारण किया है कि और कोई शब्द ही नहीं है जो धर्म और वर्ण के भेदों को छोड़ कर देश के सब निवासियों का द्योतक हो। प्राचीन समय में हमारे देश में विचार ही वर्ण और धर्म के भेदों के अनुसार चलता था। पुराने स्मृतिकारों की कल्पना ने चीन और यूनान आदि देशों के निवासियों की उत्पत्ति वर्णसंकरता के आधार पर लिख मारी। वर्ण के अनुसार सब कुछ सोचने और लिखने की इस परिपाटी को उस समय धक्का लगा जब देश में बहुत से ऐसे लोग आ बसे जिनके लिये वर्ण कोई चीज़ ही न था। उनसे अपना भेद देख कर हिन्दुओं ने हिन्दुत्व का भाव ग्रहण किया।

साधारण जीवन

मुसलमानों के आने पर हिन्दुस्तान का सम्पर्क पच्छिमी देशों से बहुत हो गया; मध्य काल में बराबर आमद-रफ्त होती रही और व्यापार भी ख़ूब हुआ। हिन्दुस्तान में बहुत से नये फलों का चलन

हुआ; नई तरह की मिठाइयां और पकान बनने लगे। इन सब के विदेशी नाम आज तक प्रचलित हैं और इतने साधारण हो गये हैं कि इनको कोई विदेशी नहीं समझता। कई तरह के नये वस्त्र भी प्रचलित हुये जो अब सारे देश में और विशेष कर उत्तरी मैदानों में साधारण हो गये हैं। बाग़ बनाने की विद्या में भी बहुत उन्नति हुई।

यह स्पष्ट है कि मध्य काल में हिन्दुओं ने अपने जीवन को नई परिस्थिति के बहुत कुछ अनुकूल बनाया। तथापि उनकी सभ्यता के पुराने सिद्धान्त पुराने रूप में या परिवर्तित रूप में बराबर प्रचलित रहे। पुरानी शृंखला कभी टूटने न पाई।

निष्कर्ष

अर्वाचीन काल

अर्वाचीन काल में भी हिन्दू सभ्यता ने बड़ी स्थिरता दिखाई है और अनुकूलन की शक्ति का भी परिचय दिया है। यूरुप के इतिहास में अर्वाचीन काल १५ वीं—१६ वीं ईस्वी सदी से प्रारंभ होता है क्योंकि उस समय वहां बहुत से राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और मानसिक परिवर्तन एक साथ हुये और जीवन का एक नया भाव प्रगट हुआ। पर हिन्दुस्तान के इतिहास में अर्वाचीन काल अठारहवीं सदी के अन्त में अथवा यों कहिये उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में शुरू होता है। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना होते ही देश संसारव्यापी मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों के चक्र में पड़ गया। क्रान्तिकारी राजनैतिक परिवर्तन ने जीवन के सब अंगों को धीरे २ छाप लिया। हिन्दुस्तान में यूरोपियन सभ्यता का वह प्रभाव प्रारंभ हुआ जो अब तक जारी है और जिसका अन्तिम परिणाम भविष्य के गर्भ में छिपा है।

अर्वाचीन काल

पारस्परिक प्रभाव

पूर्वी और पच्छिमी सभ्यताओं का सम्पर्क और संघर्षण जो आज एशिया के सब देशों में दिखाई देता है विश्वव्यापी महत्त्व की बात है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण—अर्थात् रेल, जहाज़, विमान, तारा, बेतार, छापा इत्यादि के कारण—अब एक सभ्यता दूसरी सभ्यता पर बड़ी तेज़ी से और बड़ा गहरा प्रभाव डाल सकती है। संसार की सब जातियां एक दूसरे के निकट आ रही हैं और कहीं एक दूसरे की नक़ल कर रही है, कहीं घृणा कर रही हैं, कहीं सोच विचार के बाद कुछ विदेशी तत्त्वों का अपने संगठन में समावेश कर रही हैं। भविष्य में हिन्दुस्तान की सभ्यता क्या रूप धारण करेगी—यह निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता। पर अब तक तो पुरानी सभ्यता के लक्षण मौजूद हैं और उन की हज़ारों बरस की स्थिरता यह आशा दिलाती है कि भविष्य में भी ऐसे ही या किसी परिवर्तित रूप में मौजूद रहेंगे। यह बताने की तो कोई आवश्यकता नहीं है कि इस समय तक हिन्दुओं में पुराने धर्म प्रचलित हैं, पुरानी समाजिक व्यवस्था का चलन है, पुराने साहित्य का अध्ययन होता है और जीवन की दृष्टि भी बहुत कुछ पुरानी सी है। परिवर्तन अवश्य हो रहे हैं पर इनसे हिन्दू सभ्यता की निर्बलता नहीं किन्तु शक्ति ही प्रगट होती है।

अनुकूलन

हिन्दू सभ्यता ने अपने को समय के अनुकूल बनाने की शक्ति पहले भी दिखाई थी। इसी शक्ति ने उसको जीवित रक्खा था और आज भी यही शक्ति उसको थामे हुये हैं। गत सौ बरस में यह अनुकूलन अनेक रूपों में प्रगट हुआ है। धर्म और समाज के क्षेत्र में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि के आन्दोलन इस अनुकूलन के द्योतक हैं। सारे समाज में विदेश यात्रा, खान पान,

जाति पांत, ब्याह की आयु इत्यादि के बारे में जो भाव बदल रहा है वह भी अनुकूलन का प्रमाण है। चारों ओर राजनैतिक जागृति हो रही है। आचार में कुछ नई नई बातों पर ज़ोर दिया जा रहा है। इस अनुकूलन में भी पुरानी सभ्यता के तत्त्व दृष्टिगोचर हैं। वेदों के या उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर नये धार्मिक समाज बनाये गये हैं। जीवन के नियमन के लिये गीता आदि के नये अर्थ हो रहे हैं। समाज-सुधारक भी बहुधा किसी न किसी प्राचीन वाक्य की दुहाई दिया करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दूसरे कवियों में प्राचीन अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञान का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर है। हिन्दू तत्त्वज्ञान का प्रभाव तो अठारहवीं सदी के अन्त से यूरुप पर भी कुछ पड़ रहा है। शापनहायर, डायसन, वर्गसन आदि प्रसिद्ध यूरोपियन तत्त्वज्ञानी हिन्दू तत्त्वज्ञान के प्रभाव के नीचे आ चुके हैं।

समीक्षा की आवश्यकता

हिन्दू सभ्यता का महत्त्व

जो सभ्यता कम से कम चार हज़ार बरस पुरानी है और अब तक जीती जागती मौजूद है, जो हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश के सब भागों में प्रचलित रही है, जिसके बहुतेरे सिद्धान्त देश देशान्तर में फैले हैं, और जिसने स्थिरता, अनुकूलन और परिवर्तन का ज्वलंत संयोग दिखाया है वह अवश्य ही संसार की प्रधान सभ्यताओं में गिनी जायगी। सच पूछिये तो वह बिल्कुल अनोखी और अनुपम है। मिस्र, बैबिलन, ऐसिरिया, मीडिया, फ़ारस, ग्रीस और रोम में भी बड़ी बड़ी सभ्यताएं प्राचीन काल में उत्पन्न हुईं पर वह सब काल के गाल में समा गईं। आज कल जो सभ्यताएं यूरुप या अमरीका या पच्छिम एशिया में प्रचलित हैं वह बहुत नई हैं। चीन की सभ्यता अवश्य बहुत पुरानी है पर उसका प्रभाव हिन्दू

सभ्यता का सा नहीं रहा और उसपर बाहर से असर भी बहुत पड़ा है। संसार के इतिहास में हिन्दू सभ्यता का एक विलक्षण स्थान है।

समीक्षा में पक्षपात

इस सभ्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा में किसी पक्षपात की आवश्यकता नहीं है। इसका स्थान सदा ऊंचा रहेगा; अतएव इसकी समालोचन से झिझकने का कोई कारण नहीं है। पर अभी तक हिन्दू सभ्यता की निष्पक्षपात समीक्षा बहुत कम हो पाई है। बहुत से यूरोपियन लेखक तो इसको समझने में ही असमर्थ रहे हैं और इधर उधर की बहुत सी निर्मूल बातें लिख गये हैं। हिन्दुओं को स्वभावतः अपनी सभ्यता का इतना गर्व रहा है कि उनको वह सब गुणों से परिपूर्ण और सब दोषों से रहित मालूम होती है। अपनी जाति या इतिहास का अभिमान तो सारे संसार में दिखाई देता है पर हिन्दुस्तान में यह विशेष प्रबल है। एक तो वर्तमान पतन के समय में पुरानी श्रेष्ठता और परिपूर्णता के चिंतन

कारण

से कुछ मानसिक संतोष होता है। दूसरे, लोग आशा करते हैं कि पूर्वजों की मर्यादा जितनी ऊंची ठहरेगी उतना ही प्रोत्साहन वर्तमान काल की उन्नति को मिलेगा। अस्तु, कई हिन्दू इतिहासकार प्राचीन समय में वर्तमान यूरोपियन ढंग की सामाजिक व्यवस्था, जनसत्ता, इत्यादि २ ढूंढने की चेष्टा कर रहे हैं। यह

पक्षपात से हानि

प्रयत्न पाठकों को भी बहुत सुहाते हैं पर इनकी उपयोगिता संदिग्ध है। एक तो राष्ट्रीय उन्नति का आधार ऐतिहासिक सत्य ही हो सकता है, कल्पना नहीं। जो व्यक्ति अपनी निर्बलताओं को पहिचानने से ही इन्कार करता है वह कभी २ धोखा खाता है। जो

देश अपनी भूलों को भुलाता है और उनके स्थान पर श्रेष्ठता की कल्पना करता है वह अवश्य ही धोखा खायेगा। प्रत्येक देश को अपना इतिहास ठीक २ जानना चाहिये और सत्य घटनाओं से ही स्वाभिमान, आत्मविश्वास, शिक्षा और चेतावनी ग्रहण करनी चाहिये। सच्चे निष्पक्षपात इतिहास के द्वारा ही भिन्न २ प्रश्नों पर यथार्थ विचार हो सकता है। यही इतिहास का उपयोग है। जहां खींच-तान होती है वहां इतिहास की उपयोगिता जाती रहती है। दूसरे, पक्षपातपूर्ण इतिहास बहुत दिन स्थिर नहीं रह सकता। मौलिक सामग्री का अध्ययन करने वालों का विश्वास उससे जाता रहेगा और तरह २ के संदेह पैदा होंगे। एक बात और है। अगर हमारी प्राचीन सभ्यता सर्वथा परिपूर्ण थी, अगर उसमें कोई दोष न था, कोई निर्बलता न थी, तो देश का पतन क्यों हुआ? अगर परिपूर्णता होते हुये ऐसा गहरा पतन हुआ, तो पतित अवस्था के बाद क्या न होगा? फिर भविष्य के लिये क्या आशा है? सच तो यह है कि ऐतिहासिक सत्य को उल्लंघन करके अपनी सभ्यता को दोषरहित समझना भीषण निराशावाद है, एक तरह की आत्महत्या है। अस्तु, पुरानी सभ्यता की समीक्षा बिना किसी पक्षपात के और बिना किसी भय के होनी चाहिये—विशेष कर वर्तमान समय में जब संसार संगठन के मूल आधार और सिद्धान्तों पर बहस कर रहा है।

इतिहास की उपयोगिता

सभ्यता के लक्षण

सभ्यता क्या है? सभ्यता की अथवा यों कहिये सभ्यता की प्रगति की कसौटी क्या है? समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के इस अत्यंत जटिल प्रश्न की पूरी मीमांसा के लिये यहां स्थान नहीं है। पर इतना

सभ्यता की कसौटी

कह सकते हैं कि सभ्यता को एक कसौटी प्रकृति की अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों की विजय है। पशु, पक्षी सदा प्रकृति के अधीन हैं। आँधी पानी, गर्मी सर्दी, अकाल इत्यादि से वह अपनी रक्षा अच्छी तरह नहीं कर सकते। जंगली आदमी पशुओं से अच्छे हैं पर प्रकृति की चोटें उनपर भी बड़े ज़ोर से पड़ती हैं और वह यथेष्ट रूप से अपना बचाव नहीं कर सकते। बाढ़ आये तो वह पानी में बह जाते हैं; सूखा पड़े और शिकार भी न मिले तो वह मर जाते हैं; जानवरों से भी उनको बहुत डर रहता है; उनकी कल्पना के भूत प्रेत भी चारों ओर से उन्हें सताते हैं। सूरज, चन्द्रमा और नक्षत्र, मेह, आंधी और बिजली, पृथवी और पहाड़, नदी और समुद्र आदि को देवता समझ कर वह पूजते हैं और प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं पर उनका ज्ञान प्राप्त कर के उनको जीतने की अर्थात् उनसे रक्षा का पूरा प्रबन्ध करने की और उनकी शक्ति से अपना काम निकालने की चेष्टा नहीं करते। जैसे २ ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे प्रकृति पर विजय होती जाती है। यह सभ्यता की एक कसौटी है और इसका मूलमंत्र है ज्ञान।

प्रकृति पर विजय

दो एक उदाहरणों से यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। अज्ञान की अवस्था में आदमी नदी से पानी पी सकता है पर और कुछ नहीं कर सकता। वह नदी से डरेगा और अगर बहुत साहस करेगा तो डूब मरेगा। पर ज्ञान होने पर आदमी किश्ती बना कर नदी को सुगमतापूर्वक पार कर सकता है; पुल बना कर आने जाने की रुकावट को लगभग बिल्कुल दूर कर सकता है; नदी से खेत सींच सकता है, नहर काट कर दूर दूर तक सिंचाई कर सकता है; नदी की धारा से पनचक्की चला सकता है और बिजली बना कर रोशनी, पंखे और मशीन का प्रबन्ध कर सकता है; नदी के किनारे बड़े २ नगर बसा सकता है और

नदी से व्यापार कर सकता है। इसे नदी पर विजय कह सकते हैं। यह सच है कि कभी २ नदी का वेग ऐसा बढ़ सकता है कि गांव और नगर डूब जांय, पुल और किश्ती बह जांय और चारों ओर हाहाकार मच जाय। पर एक तो ऐसा बहुत कम होगा और दूसरे इससे इतना ही सिद्ध होता है कि नदी पर विजय अभी पूरी नहीं हुई। जैसे २ ज्ञान बढ़ता जायगा और उसका उपयोग होता जायगा वैसे २ विजय की मात्रा भी बढ़ती जायगी। आंधी, मेह पर भी ज्ञान के द्वारा विजय होती है अर्थात् ज्ञान के उपयोग से मज़बूत मकान बनाये जाते हैं और पानी के बहाव का यथोचित प्रबन्ध किया जाता है। ज्ञान के द्वारा पृथिवी पर खेती होती है; खान खोद कर बहुत सी धातु निकाली जाती हैं और उद्योग, व्यापार, रहन सहन इत्यादि का सारा इन्तिज़ाम होता है। गणित और भौतिक शास्त्र के ज्ञान के द्वारा भाप और बिजली को जीत कर रेल, तार, बेतार, जहाज़ इत्यादि चलाये गये हैं, हज़ारों चीज़ बनाने के लिये पुतलीघर स्थापित किये गये हैं। प्रकृति की यह सब विजय ज्ञान के द्वारा होती है; इससे कष्ट दूर होता है और सुख, ऐश्वर्य के साधन बेहिसाब बढ़ सकते हैं। अस्तु, प्रकृति पर मानवी विजय को सभ्यता की एक कसौटी मान सकते हैं।

दृष्टान्त

पर उस ज्ञान के अलावा जिससे प्रकृति पर विजय होती है एक और तरह का ज्ञान भी है। प्राकृतिक शक्तियों के पीछे कोई चेतन शक्ति है या नहीं? इस तमाम विश्व को रचने वाला और इसका नियमन करने वाला कोई है या नहीं? अगर है तो मनुष्य में उसका कोई अंश है या नहीं? अगर है तो इस अप्राकृतिक पदार्थ का सम्बन्ध विश्व के स्वामी से किस प्रकार का है? मरने के बाद

आध्यात्मिक जिज्ञासा

क्या होता है? यह प्रश्न जिस विषय से सम्बन्ध रखते हैं वह शायद अज्ञेय है, जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्वास था; शायद वह हमारी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। पर मानवी मस्तिष्क इन अवश्यं-भावी प्रश्नों को यों ही नहीं छोड़ सकता। वह विश्व की समस्या की तह पर पहुँचने का प्रयत्न करता है और तरह २ के सिद्धान्त निकालता है। जो लोग इस जीवन को ही सब कुछ मानते हैं और परलोकसम्बन्धी प्रश्नों को निरा वितण्डावाद समझते हैं वह भी कभी २, जैसे मृत्यु के दृश्य के सामने, हक्के बक्के रह जाते हैं और अस्तित्व के रहस्य की ओर झुकते हैं। सार्थक हो चाहे व्यर्थ हो, आध्यात्मिक जिज्ञासा मिटाये नहीं मिट सकती। संसार में सैंकड़ों क्या हज़ारों भिन्न भिन्न आध्यात्मिक सिद्धान्त निकले हैं और निकल रहे हैं। इनके पारस्परिक सत्यासत्य का निर्णय कोई नहीं कर सकता पर यह परीक्षा अवश्य की जा सकती है कि किस जाति ने तत्त्वज्ञान में कितनी गम्भीरता और युक्ति से काम लिया है। तत्त्वज्ञान से चाहे भौतिक सुख की वैसी वृद्धि न हो जैसी भौतिक ज्ञान से होती है पर वह एक दूसरी तरह के सुख का साधन है। उससे आभ्यंतरिक शान्ति मिल सकती है या कम से कम यह संतोष हो सकता है कि हमने यथोचित अनुसंधान कर लिया। अस्तु, प्राकृतिक ज्ञान के अलावा आध्यात्मिक अनुसन्धान, अथवा यों कहिये तत्त्वज्ञान, भी सभ्यता की एक कसौटी है।

तत्त्वज्ञान

पर एकमात्र ज्ञान के आधार पर किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता या परिमाण का निर्णय नहीं किया जा सकता। यह एक कसौटी है, पूरे निश्चय की सामग्री नहीं है। सम्भव है कि कोरे ज्ञान-संचय का अन्तिम परिणाम सभ्यता का नाश ही हो अर्थात् इतना

ज्ञान का संकट

ज्ञान इकट्ठा हो जाय कि सभ्यता उसे सम्हाल न सके और उसके बोझ से चूर २ हो जाय। आज पच्छिमी सभ्यता इसी संकट के सामने खड़ी है और पच्छिमी सिद्धान्त और राजनीति इस दुविधा में पड़े हैं कि यह वैज्ञानिक सभ्यता इस शताब्दी में ही लोप हो जायगी या घोर संकट से छुटकारा पा कर और आगे बढ़ेगी? बात यह है कि पच्छिम में वैज्ञानिक खोज इतनी हो चुकी है और लड़ाई की तय्यारी में हत्या के ऐसे २ रोमांचकारी आविष्कार हो चुके हैं कि अगर फिर १६१४—१८ का सा विश्वव्यापी युद्ध हो तो विमान, बम्ब और गैस के द्वारा राजधानी तथा उद्योग, व्यापार, विद्या और कला के सब नगर मिनटों में सदा के लिये मिटाये जा सकते हैं। आज यह सम्भावना यूरुप के सामने है कि विज्ञान सभ्यता को मिटा दे और फिर आप भी मिट जाये। आज गहरे गर्त्त के कगार पर यूरोपियन सभ्यता इस कारण आ पड़ी है कि मनुष्य ने ज्ञान तो बहुत संचय किया है पर उसका ठीक प्रयोग नहीं समझा है अर्थात् उसका ज्ञानबल असामाजिक, पाशविक वृत्तियों के हाथ में है। इससे प्रगट होता है कि ज्ञान और प्रकृतिविजय यथेष्ट नहीं है। सभ्यता की पूर्णता के लिये बाहरी प्रकृति को जीतना काफ़ी नहीं है; मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति भी जीतनी चाहिये। मानवी प्रकृति में कई प्रवृत्ति हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिये एवं समाज के सामंजस्य और संवृद्धि के लिये आवश्यक है। क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या और निठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरों का जीवन स्वार्थपूर्ण और क्लेशमय बना सकता है। इनको जीतना अर्थात् इनके वेग को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में परिणत कर देना सभ्यता के लिये

पच्छिमी सभ्यता की भयंकर स्थिति

मानवी प्रकृति पर विजय

आवश्यक है। अगर यह प्रवृत्तियां उच्छृंखल होकर जीवन पर अपनी ही प्रभुता जमा लें तो मानवी समाज द्वेष और संग्राम का केन्द्र हो जाय और समाज के सुख में और उन्नति में बड़ी बाधा हो। इसके विपरीत अगर अहिंसा, स्नेह, और सहानुभूति की प्रधानता हो यह लोक स्वर्ग के तुल्य हो सकता है। आज तक कोई समाज ऐसा नहीं हुआ जिसमें केवल बुरी प्रवृत्तियां अथवा यों कहिये असामाजिक प्रवृत्तियों का या केवल अच्छी अर्थात् सामाजिक प्रवृत्तियों का अकंटक राज्य रहा हो। इतिहास में सदा दोनों तरह की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण रहा है पर किन प्रवृत्तियों की मात्रा कितनी है—यह सभ्यता की एक कसौटी है।

समाज की सेवा

समाज के सुख के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति एक दूसरे को क्षति न पहुँचाएं पर इसके अलावा समाज की उन्नति के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति समाज की सेवा करे अर्थात् अपने मानसिक, औद्योगिक, राजनैतिक या और तरह के प्रयत्नों से सामाजिक समृद्धि की चेष्टा करे।

यह सामाजिक सहयोग अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि समाज के बहुत से काम इतने विशाल और कठिन हैं कि बहुत से आदमियों के सम्मिलित विचार और प्रयत्न से ही पूरे हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामाजिक अवस्था की समीक्षा और उन्नति के उपाय ढूंढना, राजनैतिक जीवन में ऊंचे आदर्श स्थापित करना और सब के हितों की सेवा करना, सामाजिक न्याय को सर्वव्यापी बनाना—यह काम तभी पूरे हो सकते हैं जब बहुत से स्त्री पुरुष सार्वजनिक जीवन में सम्मिलित हों और स्वार्थ और पक्षपात से रहित होकर समाज की सेवा करें। शिक्षण में, आर्थिक जीवन में, एवं जीवन के दूसरे विभागों में भी सहयोग और सेवा

के भाव की आवश्यकता है। जो सभ्यता यथेष्ट संख्या में निष्काम समाजसेवी पैदा कर सकती है अर्थात् जो अपने आदर्शों और परिस्थितियों के द्वारा समाजसेवा का भाव जागृत कर सकती है और स्थिर रख सकती है वह सभ्यता उन्नति करेगी और सफल कहलाने के योग्य होगी।

सामंजस्य

संसार में बहुत से व्यक्ति हैं जो धनी और विद्वान्, सच्चरित्र और समाजसेवी होते हुए भी सुखी नहीं हैं। बाहर से देखिये तो उनके पास किसी चीज़ की कमी नहीं है पर भीतर ही भीतर वह घोर अशान्ति के शिकार हैं। इसी तरह अनेक समाज हैं जिनके पास विद्या और वैभव की बहुतायत है और समाजसेवकों की भी कमी नहीं है पर वह असंतोष और क्लेश में फँसे हैं। इसका कारण क्या है? यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे तो इस परिणाम पर पहुँचेगा कि सुख और शान्ति के लिये आन्तरिक सामंजस्य की आवश्यकता है। किसी शारीरिक या मानसिक शक्ति का अत्यधिक प्राबल्य हो जाय और अन्य शक्तियां अविकसित पड़ी रहें तो

व्यक्तिगत

जीवन अधूरा रह जायगा और पूर्ण सुख और संतोष दूर भाग जायगा। अगर कुछ चित्तवृत्तियों की अत्यधिक पूर्ति की जाय और अन्य वृत्तियों की अवहेलना की जाय तो आन्तरिक जीवन एक नीरव संग्राम का क्षेत्र हो जायगा। व्यक्तित्व की पूर्णता इसमें है कि सब शक्तियों और वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो, उनमें पारस्परिक विरोध न हो किन्तु बुद्धि के द्वारा उन सब का सामंजस्य और संगठन कर दिया जाय।

व्यक्तिगत जीवन के सामंजस्य के लिये एक बात बहुत ज़रूरी है। मनुष्य सामाजिक जीव है। समाज न हो तो व्यक्ति का न जन्म हो सकता है, न भरण पोषण हो सकता है न शक्तियों का विकास हो सकता है। मा के दूध के साथ बच्चा सामाजिकता का पान करता है। धीरे धीरे वह समाज के जीवन का अटूट भाग बनता जाता है। हिन्दुओं के और अन्य जातियों के संस्कार इसी सामाजिक दीक्षा के चिन्ह अथवा घोषणापत्र हैं। व्यक्ति स्वभावतः समाज का अंग है। समाज से अर्थात् अन्य व्यक्तियों और समुदायों से उसका सामंजस्य होना चाहिए। अगर सामंजस्य नहीं है तो उसके जीवन में कठिनाई और अड़चन होगी और समाज का जीवन किसी न किसी अंश में अस्तव्यस्त हो जायगा।

सामाजिक सामंजस्य

अपने व्यक्तित्व की अथवा यों कहिये अपनी सामाजिकता की पूर्ति के लिये मनुष्य बहुत से समुदाय या संघ स्थापित करता है। राजनीति, शिक्षा, उद्योग, धर्म, साहित्य, मनोरंजन इत्यादि इत्यादि की अवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वह तरह तरह के संगठन करता है। इस प्रकार बहुत से समुदाय बनते हैं। कुटुम्ब का समुदाय तो मानो प्रकृति ने ही बना दिया है। जैसे व्यक्तिगत जीवन में वृत्तियों की संधि और सामंजस्य आवश्यक हैं वैसे ही सामाजिक जीवन में व्यक्तियों के ही नहीं किन्तु समुदायों के सामंजस्य की आवश्यकता है। स्मरण रखना चाहिये कि सामंजस्य का अर्थ दमन नहीं है; सच्चा सामंजस्य विकास और प्रसार का है। व्यक्ति, समुदाय और समाज के वास्तविक सामंजस्य की मात्रा जितनी अधिक होगी उतनी ही सुगमता जीवन में होगी। यदि सभ्यता का लक्ष्य मानवी जीवन की पूर्ति और सुख है तो

समुदाय

सामंजस्य को भी सभ्यता का एक लक्षण और कसौटी मानना पड़ेगा।

पुरानी हिन्दू सभ्यता के लक्षण

समाहरण

इस प्रकार सामान्यतः सभ्यता की परीक्षा के लिये पांच कसौटियां स्थिर की जा सकती हैं—(१) ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय; (२) तत्वज्ञान के द्वारा विश्व एवं आत्मा और परमात्मा, जीवन और मरण, सुख और दुख की पहेलियों को सुलझाने का युक्तिपूर्ण प्रयत्न; (३) मानवी प्रकृति पर विजय अर्थात् चित्तवृत्तियों का संयम और नियमन; (४) सामाजिक हित और सेवा का व्यापक भाव; और (५) व्यक्तिगत और सामाजिक सामंजस्य। किसी सभ्यता ने इन आदर्शों को कहां तक व्यवहार में परिणत किया—इस विषय पर मतभेद के लिये बहुत स्थान है। ऐतिहासिक निर्णय के लिये पूरी सामग्री नहीं मिलती। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक अवस्थाओं का तारतम्य यों भी कठिन है। तथापि यह देखना चाहिये कि इन कसौटियों पर कसने से प्राचीन हिन्दू सभ्यता कैसी उतरती है?

प्राचीन हिन्दू सभ्यता और प्रकृतिज्ञान

प्रकृतिज्ञान में पुराने हिन्दू अपनी समकालीन किसी जाति से कम नहीं थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ बातें जो चीन, मिस्र, ग्रीस या रोम वालों को मालूम थीं हिन्दुओं से छिपी हुई थीं पर इसके विपरीत बहुत सी बातें हिन्दुओं को मालूम थीं किन्तु औरों को नहीं। गत दो सौ बरस में यूरप ने वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मचा दी है और दिन दूनी रात चौगुनी ऐसी उन्नति की है कि आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, पर सत्रहवीं सदी तक

यूरप का प्राकृतिक ज्ञान सामान्यतः प्राचीन भारत से अधिक नहीं था। गणित और ज्योतिष् में हिन्दू उनसे बढ़ कर ही थे; रसायन में उनके बरोबर नहीं थे पर वैद्यक में उनसे बहुत आगे निकल चुके थे; नहर, तालाब, बाँध, भवन इत्यादि बनाने में किसी से कम नहीं थे। शरीर की बनावट का ज्ञान, और वनस्पतियों का ज्ञान, हिन्दुओं को जैसा था वैसा किसी पुरानी जाति को नहीं था। उन्होंने ऐसी ऐसी दवाओं का पता लगाया जो आज भी उपयोगी हैं और आश्चर्य कराती हैं। जन्तुशास्त्र में हिन्दू पीछे रह गये थे पर सच पूछिये तो १८ वीं सदी तक किसी भी जाति का जन्तुज्ञान ऊंचे दर्जे का नहीं था। मनोविज्ञान में हिन्दुओं के कुछ सिद्धान्त बहुत मार्के के हैं। योगशास्त्रों में मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण आश्चर्यजनक है और नीतिशास्त्रों में भी उसकी विवेचना बहुत ऊंचे दर्जे की है। यह सच है कि हिन्दू मानस शास्त्र की पद्धति सर्वथा वैज्ञानिक नहीं थी पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वैज्ञानिक मानस शास्त्र अठारहवीं सदी से पहिले कहीं भी नहीं था। अस्तु, ज्ञान और प्रकृति पर विजय के सम्बन्ध में हिन्दू सभ्यता १६–१७ वीं सदी के पहिले की किसी भी सभ्यता से कम न थी। यह सच है कि प्रकृति पर पूरी विजय न हुई; अतिवृष्टि, अवृष्टि इत्यादि प्राकृतिक विपत्तियों के परिणामों का यथोचित निराकरण नहीं हुआ; आने जाने के मार्गों में असुविधाएं बनी रहीं; वर्तमान समय के से आविष्कार नहीं हुये। पर स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृति की कठिनाइयाँ भी बहुत बड़ी हैं और उन को जीतने में बहुत सदियां लगती हैं। आज भी वह पूरी तरह नहीं जीती जा सकी है। शायद हिन्दुओं को भौतिक शास्त्रों की ओर कुछ अधिक ध्यान देना चाहिये था पर कुछ भी हो

भिन्न २ विषय

उन्होंने जितना किया वह उस समय की दृष्टि से प्रशंसनीय है।

प्रकृतिज्ञान को छोड़ कर तत्त्वज्ञान की ओर देखिये तो हिन्दू-सभ्यता का गौरव और भी स्पष्ट प्रतीत होगा। उपनिषदों के समय से लेकर बारहवीं-तेरहवीं ईस्वी सदी तक हिन्दुओं ने विश्व की मीमांसाओं को सुलझाने का प्रयत्न बड़े योग से और बड़ी युक्ति से किया। उनके निष्कर्षों से कोई सहमत हो या न हो पर उपनिषद्, षड्दर्शन, भगवद्गीता, एवं बौद्ध और जैन दर्शनों के महत्त्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक शापनहायर ने कहा था कि उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शान्ति मिली है और उपनिषदों से ही मुझे अपनी मौत में शान्ति मिलेगी।

तत्त्वज्ञान

मैक्समुलर ने कहा था कि मानवी मस्तिष्क ने सब से बड़े सिद्धान्त और सब से बड़ी युक्तियां हिन्दुस्तान में ही निकालीं। हाउस्टन स्टुअर्ट चेम्बरलेन इत्यादि लेखक भी जो सदा जर्मन जातियों की श्रेष्ठता और प्रधानता के गीत गाया करते हैं इतना तो मानते ही हैं कि तत्त्वज्ञान में हिन्दुओं की बराबरी कोई नहीं कर सका। कह चुके हैं कि विश्व की पहेली सब के सामने कभी न कभी आती है। मौत के बाद क्या होता है?—इस प्रश्न से कोई बच ही नहीं सकता। हिन्दुओं का स्वभाव ऐसा गम्भीर था कि इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना उनको चैन नहीं था। यह भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था, यद्यपि और बहुत सी जातियां १९वीं सदी तक यह न समझ पाईं, कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मतभेद अनिवार्य है और सत्य की खोज में सहनशीलता के बिना काम नहीं चल सकता। हिन्दुओं में

यूरोपियन सम्मतियां

गंभीरता

विचार की स्वतंत्रता का राज्य था। बीसों क्या सैकड़ों मत निकले; कोई किसी सिद्धान्त को मानता था, कोई किसी दूसरे को; कोई परमेश्वर में विश्वास करता था, कोई अनीश्वरवादी था; किसी किसी को आत्मा या पुनर्जन्मका अस्तित्व ही मान्य न था। सब धारणाओं या सिद्धान्तों पर पूरी पूरी बहस हुई और अन्त में कुछ सिद्धान्त लगभग सारी जाति को मान्य हुये। अगर विचार की स्वतंत्रता और सहनशीलता न होती तो तत्त्वज्ञान में ऐसी आश्चर्यकारी, ऐसी चमत्कारिक, सफलता कभी न हो सकती थी। हिन्दू तत्त्वज्ञान का प्रधान गुण यह है कि वह अस्तित्व की तह तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और सदा युक्ति के मार्ग पर चलकर धारणाएं स्थापित करता है। यहां न्याय अर्थात् तर्क की हद हो गई है। सारे तत्त्वज्ञान में निर्भयता कूट कूट कर भरी है। अस्तु, इस सम्बन्ध में हिन्दू सभ्यता का स्थान सब से ऊंचा है। यदि कोई आपत्ति हो सकती है तो यह है कि तत्त्वज्ञान में जाति ने अत्यधिक मानसिक शक्ति व्यय की और यथोचित सामंजस्य की अवहेलना की। परलोक की धुन में बहुत से लोगों ने इस लोक को भुला दिया। किसी किसी काल में आध्यात्मिक अनुसंधान के प्रयास के कारण वैराग्य और सन्यास का ऐसा दौर दौरा हुआ कि बहुत से कुटुम्बों का जीवन अस्तव्यस्त हो गया, बहुत सा नैतिक बल समाजसेवा से खिंच कर दूर जंगलों और पहाड़ों में जा पड़ा और कभी कभी राजनैतिक जीवन में भी कठिनाइयां पैदा हुईं। सामान्यतः, परलोक की चिन्ता ने इस जीवन के निजी महत्त्व को कुछ कर दिया और समाज पर

मतभेद

सहनशीलता

निर्भयता

एक आपत्ति

आनेवाले दुखों और विपत्तियों का सामना पूरी पूरी संगठित शक्ति से न होने दिया। यदि हिन्दुओं को तत्त्वज्ञान का प्रेम ज़रा कम होता तो उनकी मानसिक प्रतिभा भौतिक शास्त्रों में और भी अधिक उन्नति करती और जीवनोपयोगी आविष्कारों के द्वारा मानव जाति की अधिक-सेवा करती।

तत्त्वज्ञान का प्रधान उद्देश्य था सत्य की खोज, पर सत्य के ज्ञानमात्र से हिन्दुओं को संतोष न था।

आत्मसंयम

उसके आधार पर उन्होंने जीवन का और मोक्ष का मार्ग निश्चित करने की भी चेष्टा की। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मनुष्य और कुछ करे या न करे पर उसे अपनी प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये; अपनी निर्बलताओं को दूर करना चाहिए; क्रोध, मान, माया, लोभ, मत्सर आदि प्रवृत्तियों को वश में करना चाहिए, मौत से कभी न डरना चाहिये। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों से जो नीतिशास्त्र संयुक्त हैं उन सब में आत्मसंयम की बड़ी महिमा है।

आदर्श

गुरुओं के साथ या मठों की बड़ी २ पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सब से पहले संयम सिखाया जाता था, गृहस्थों को संयम का उपदेश दिया जाता था और वानप्रस्थों तथा सन्यासियों से तो पूर्ण संयम की आशा की जाती थी। हिन्दुओं में त्याग का जो आदर्श था वह भी ऊंचे संयम का मार्ग था। इसके कारण बहुतेरे लोग संसार के सब ऐश्वर्य और सुख को ही तुच्छ समझते थे और उसे पुराने कपड़े की तरह आसानी से छोड़ने को तय्यार थे। हिन्दू आचार या धर्म का प्रधान अंग, प्रधान लक्षण, संयम था। यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि सब लोग पूरे संयमी हो गये थे। अगर ऐसा होता तो

आंपस के लड़ाई झगड़े बिल्कुल मिट जाते। प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास संग्रामों से, बहुधा अनावश्यक और हानिकर संग्रामों से, भरा हुआ है। पिछले अध्यायों में उनके बहुत से दृष्टान्त मिले होंगे। उनसे प्रगट है कि राजवर्गों में और जनताओं में पूरा संयम नहीं था, दूसरों की धन धरती छीनने की प्रबल आकांक्षा थी, कभी कभी क्रोध और ईर्षा की धूम हो जाती थी। समाज या कुटुम्ब के जीवन के बारे में जो बातें मालूम हैं वह भी पूर्ण संयम नहीं सिद्ध करती। तो भी इतना स्पष्ट है कि संयम का आदर्श बहुत ऊंचा था और बहुतेरे लोग उसको पालन करने की चेष्टा करते थे। सब विद्यापीठों में ब्रह्मचर्य पर ज़ोर

व्यवहार

दिया जाता था और यावज्जीवन आत्मशासन की शिक्षा दी जाती थी। मानवी प्रकृति पर विजय पाने का महान प्रयत्न धार्मिक साहित्य में ही नहीं किन्तु हिन्दू लौकिक साहित्य में, मूर्तियों और चित्रों में, मंदिरों और मठों में भी प्रतिबिम्बित है। आत्मसंयम की दृष्टि से समीक्षा कीजिये तभी हिन्दू कला के गुण और चमत्कार समझ में आ सकते हैं। गौतम बुद्ध की मूर्तियां देखिये जो हिन्दुस्तान और यूरूप के अजायबख़ानों में बहुतायत से मौजूद हैं। यहां मानो संयम को ही मूर्ति के रूप में बैठा दिया है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रथमतः इन्द्रिय जीतने वालों की मूर्तियां हैं। अनेक ब्राह्मण मूर्तियों में भी यही प्रधान लक्षण है। मूर्ति के द्वारा संयम प्रगट करने का अपूर्व कौशल हिन्दुओं में था। ग्रीस की मूर्तिकला का प्रधान लक्ष्य शारीरिक सौन्दर्य था। हिन्दू मूर्तिकला का लक्ष्य नैतिक सौंदर्य था। हिन्दू चित्रों में भी बहुधा शरीर और प्रकृति को गौण रख के मानसिक अवस्था और विशेष कर संयम को प्रगट करने का प्रयास है। बहुत से हिन्दू कवियों और लेखकों ने संयम और आत्मनिग्रह के वर्णन में क़लम तोड़ दी है।

पर इस आत्मसंयम के आदर्श और अभ्यास की जड़ में एक निर्बलता थी जो मध्यकालीन यूरुप और पच्छिम एशिया के देशों में भी नज़र आती है और जिसका संकेत यहां आवश्यक है। प्राचीन हिन्दुओं ने कुछ प्रवृत्तियों को बिल्कुल दबाने का अथवा यों कहिये कभी २ मिटाने का प्रयत्न किया। पर वह यह भूल गये, जैसा कि आजकल का मनोविज्ञान सिखाता है, कि यह प्रवृत्तियां मिटाई नहीं जा सकतीं; यह इतनी स्वभाविक है कि मिटाने का प्रयत्न ही नैतिक और मानसिक जीवन के लिये हानिकर हो सकता है। इस लिये इन प्रवृत्तियों को दबाने या मिटाने के बजाय इनके ध्येय ऊंचे करने का, इनकी शक्ति के लिये अच्छे अच्छे मार्ग निकालने का, प्रयत्न करना चाहिये। इनको स्वभावतः बुरा समझने की, इनकी निन्दा करने की, कोई आवश्यकता नहीं है। इनको स्वीकार कीजये और फिर इनका नियमन करने की चेष्टा कीजिये। ऐसा करने से व्यक्ति का जीवन पूर्ण और सुखमय होगा, समाज में सामंजस्य होगा, चारो ओर उल्लास का भाव होगा और असामाजिक आचार भी बहुत कम होगा। दो एक उदाहरण लीजिये। मनुष्य की चेतना में अहम् का भाव है; विश्व को वह अहम् की आँखों से ही देखता है; इस भाव से अभिमान उत्पन्न हो सकता है; अभिमान के वश हो कर आदमी दूसरों को नीचा समझता है, दूसरों के सुख दुख का विचार छोड़ देता है और अत्याचारी हो जाता है। अहम् के भाव पर कैसे विजय हो? अगर इसे मिटाने का प्रयत्न कीजिये तो व्यक्तित्व के नाश हो जाने का डर है; व्यक्तित्व के नाश हो जाने से जीवनचक्र

एक निर्बलता

दमन

परिवर्तन

अहम्

का केन्द्र ही बिगड़ जायगा। अस्तु, अहम् को मिटाने का प्रयत्न करना अनुचित है। पर अहम् को सामाजिकता से ऐसा परिपूर्ण कर सकते हैं कि उसकी असामाजिक प्रवृत्ति जाती रहे, उसे अभिमान हो तो अहिंसा का हो, समाज सेवा का हो; अगर वह अपने को दूसरों से अच्छा समझे तो उनका अपमान करने के बजाय उनको अपने आदर्श तक उठाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार अहम् को मिटाने के बजाय अहम् को शुद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिये। एक और प्रवृत्ति को लीजिये। जाति को स्थिर रखने के लिये प्रकृति ने अपने विकासक्रम में मानवी चित्त को ऐसा बनाया है कि स्त्री की ओर पुरुष का आकर्षण होता है और पुरुष की ओर स्त्री का। व्यापक अर्थ में इसको कामप्रवृत्ति कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति उच्छृंखल हो जाय तो बहुतेरे जीवनों का सत्यानाश कर सकती है, शरीर, मस्तिष्क, और चरित्र को मिट्टी में मिला सकती है और समाज में हाहाकार मचा सकती है। यह इतनी बलवान प्रवृत्ति है कि इसका नियमन और समाजीकरण सामाजिक संगठन का एक मुख्य उद्देश्य है। पर इसकी प्रबलता से तंग आकर बहुत से धार्मिक और नैतिक शिक्षकों ने इसको मिटाने का उपदेश दिया है; इसको बहुत बुरा बताया है; इस लिये संसार छोड़ने की शिक्षा दी है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, इस प्रकार के भावों के कारण स्त्रीमात्र की बहुत निन्दा हुई, पर्दे का रिवाज शुरू हुआ, स्त्रियां घरों में बन्द रहने लगी, बहुत सी विधवाएं जला दी गईं, विधवाव्याह कम हो गया, और स्त्रियों का पद बहुत गिर गया। प्राचीन भारत में ही नहीं किन्तु मध्यकालीन यूरूप में और कई युगों तक कुछ मुसलमान देशों में भी कुछ कुछ ऐसे ही परिणाम दिखाई देते हैं। अपने प्रधान ध्येय में शायद कुछ सफलता इससे हुई होगी पर सामाजिक क्लेश के रूप में इसका

काम

मूल्य बहुत अधिक था। इसके विपरीत कामप्रवृत्ति को स्वभावतः बुरी समझने के बजाय उसके प्रगटन का यथोचित प्रबन्ध और उसके ध्येय का यथोचित नियमन किया जा सकता है। जहाँ स्त्री पुरुष साधारणतः मिलते जुलते रहते हैं वहाँ बुरी वासनाएं जल्दी नहीं पैदा होतीं; जहाँ शिक्षा और अनुभव से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक बल के विकास का अवसर होता है वहाँ वह सामाजिक जीवन में पूरा भाग लेते हुये भी अपनी रक्षा आप कर लेती हैं। जहाँ प्रेमव्याह का अवसर होता है वहाँ कामप्रवृत्ति सारे जीवन को मधुर कर सकती है, शिष्टाचार को ऊंचा कर सकती है और काव्य तथा कला को प्रोत्साहन दे सकती है। इस सम्बन्ध में जिन समाजों ने कोरी दमन नीति के आधार पर अपने आदर्श बनाये और संस्थाएं रचीं उनको हानि उठानी पड़ी है। हिन्दू आध्यात्मिक आदर्श में तो भूख प्यास, जाड़ा गर्मी आदि को जीतने तक का प्रयत्न है।

निष्कर्ष

हिन्दू संयम की यह निर्बलता स्वीकार करनी पड़ेगी कि इसमें दमन की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। इन्द्रियों को वश में रखने का आदर्श बहुत अच्छा था पर इसके प्रतिपादक मानव प्रकृति को पूरी तरह न जानने के कारण यह भूल गये कि सब प्रवृत्तियों के विकास, सामंजस्य और समाजीकरण से ही जीवन की पूर्णता होती है। तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि साधारणतः संयम में भारतीय आदर्श बहुत ऊंचा था और उससे जीवन के अनेक अंशों के संचालन एवं उन्नति में बहुत सहायता मिली।

समाजिकता

संयम का विषय स्वभावतः सभ्यता की चौथी कसौटी सामाजिकता की ओर ले जाता है। हिन्दू सभ्यता ने व्यक्ति की स्वार्थपरायणता की जगह पर कहाँ तक समाजिकता और समाजसेवा की

स्थापना की ? पर इस प्रश्न के पहिले एक और प्रश्न है कि सामाजिकता और सामाजसेवा का क्षेत्र कितना मानना चाहिये ? जो पुरुष अपने कुटुम्ब के लिये दिन रात परिश्रम करता है, अपनी स्त्री और संतान के आराम के लिये सब क्लेश भी सहता है वह स्वार्थी नही कहा जा सकता। पर अगर उसका सारा स्नेह कुटुम्ब तक ही परिमित है, अगर उसकी सहानुभूति के क्षेत्र की सीमा घर की दीवालें ही हैं, अगर वह अपने कुटुम्ब के लिये दूसरों को धोखा देने या लूटने को तय्यार है तो वह समाजसेवी नही कहा जा सकता और न उसमें सामाजिकता की मात्रा ही अधिक मानी जा सकती है। इसी तरह जो मनुष्य केवल अपने गांव को सब कुछ मान बैठा है और बाहर के सुख दुख से उदासीन है वह ग्रामसेवक है, पूरे समाज का सेवक नही है। जो पुरुष अपने वर्ग या वर्ण के ही हित लगा हुआ है या अपने समुदाय के हितों पर ही ज़्यादा ज़ोर देता है वह भी पूरा समाजसेवक नहीं है। इस युक्ति के अनुसार समाज का क्षेत्र मनुष्य जाति के बराबर है और सभ्यता की कसौटी यह ठहरती है कि उसके आदर्शों और संस्थाओं के द्वारा सब मनुष्य के हित की सेवा होती है या नहीं। आज तक कोई सभ्यता नहीं हुई जो इस कसौटी पर पूरी उतर सके। प्राचीन समय में चीन, मिस्र, पैलेस्टाइन, फ़ारस, ग्रीस, रोम इत्यादि के निवासी अपने ही देशवालों से थोड़ी बहुत सहानुभूति रखते थे और परदेसियों को असभ्य या नीच मान कर उन्हें दासता या पराधीनता के या कम से कम नीचे पद के ही योग्य समझते थे। आज कल भी अमरीका, जापान, इंग्लिस्तान, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशवाले अपने को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरी जातियों से लड़ने को उनकी या

सहानुभूति का क्षेत्र

दूसरे देशों से व्यवहा

कमज़ोरी से स्वार्थसाधन करने को तय्यार हैं। प्राचीन भारतवासी भी अपने को सब से श्रेष्ठ मानते थे पर उनको यह श्रेय प्राप्त है कि बलवान होते हुये भी उन्होंने कभी दूसरे देशों पर अत्याचार नहीं किया। उन्होंने दूर दूर के देशों और द्वीपों में अपने उपनिवेश बनाये और अपनी सभ्यता का प्रचार किया पर वर्तमान यूरोपियन जातियों की तरह कभी आदिम निवासियों को मार कूट कर नष्ट नहीं किया, ग़ुलाम नहीं बनाया, पददलित नहीं किया। अशोक, कनिष्क इत्यादि के राजत्व में उन्होंने दूसरे देशों की सेवा करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से हिन्दू सभ्यता संसार की और सभ्यताओं से ऊंची ठहरती है।

वर्गसम्बन्ध

पर जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके हैं, सामाजिकता की परीक्षा देश के भीतर के वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों से भी होती है। यहां भी आज तक कोई सभ्यता परिपूर्ण नहीं हुई। ग्रीस और रोम की पुरानी सभ्यता तो दासता के आधार पर स्थिर थी अर्थात् लाखों दास थे जो मिहनत मज़दूरी करते थे, अत्याचार सहते थे और स्वतंत्र नागरिक आनन्द से राजनीति, साहित्य, कला इत्यादि में लगे थे या यों ही चैन उड़ाते थे। मध्यकालीन यूरुप में ग़ुलामी लगभग बन्द हो गई पर खेतिहरों की अवस्था अर्धदासता की सी थी। आज कल यूरुप में न तो दासता है और न अर्धदासता पर वर्गभेद बहुत है और सामाजिक एवं आर्थिक संगठन ऐसा है कि मिहनत मज़दूरी करनेवालों को बड़े क्लेश उठाने पड़ते हैं। समाज में कई वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग के हितों की एक बराबर सेवा नहीं होती। वर्गों के अधिकांश मनुष्य विशेषकर अपने ही वर्ग की चिन्ता करते हैं। अमरीका, जापान इत्यादि में भी अनेक अंशों में ऐसी ही परिस्थिति दिखाई देती है। इस प्रकार एक ही देश के

भीतर सामाजिकता या समाजसेवा की कमी नज़र आती है, सहानुभूति का संकोच दिखाई देता है, स्नेह का क्षेत्र परिमित मालूम होता है। इन तमाम सभ्यताओं का यह दोष पुराने हिन्दुस्तान की सभ्यता में भी था और किसी किसी अंश में सब से ज़्यादा था। वर्णभेद की उत्पत्ति के ऐतिहासिक कारणों की विवेचना पहले कर चुके हैं और उस व्यवस्था के प्रकृत व्यवहार को स्पष्ट करने की चेष्टा भी कर चुके हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पुराने हिन्दुस्तान में नीच जातियों का अपमान होता था, उन्नति के अवसर उनको बहुत कम दिये जाते थे, ऊंचे मानसिक और आध्यात्मिक जीवन से वह वंचित थे, उनकी आर्थिक अवस्था भी शोचनीय थी। सूत्रकार, स्मृतिकार, पुराणलेखक आदि सब कहते हैं कि इन जातियों का एक मात्र धर्म है द्विजों की सेवा। इस प्रकार यहां द्विजों के सुख का विचार था, शूद्र केवल उस सुख के साधन थे। कुछ शूद्रों की अवस्था ज़रूर अच्छी थी पर बहुतेरे बड़े नीचे धरातल पर जीवन निर्वाह करते थे। इस मामले में ऊंची जातिवालों के हृदय इतने सकुचित थे कि सामाजिक अत्याचार उनको अत्याचार ही न मालूम होता था। धर्म का विधान या पूर्वजन्म के कर्मों का फल मान कर वह उसी संगठन को उचित समझते थे। सामाजिक न्याय का भाव ही निर्बल हो गया था।

वर्ण

अत्याचार

स्वयं द्विजों में भी समानता का कोई भाव नहीं था। तीन बड़े भेद थे और छोटे छोटे तो सैकड़ों भेद थे। सब को उन्नति और सुख के समान अवसर नहीं थे। जन्म की आकस्मिक घटना से

समानता का अभाव

आदमी का पद नियत हो जाता था। जिसने वैश्य कुल में जन्म लिया उसको प्रचंड से प्रचंड विद्वान् होने पर भी किसी विशाल विद्यापीठ का अध्यक्ष बनने का अवसर बहुत नहीं था। व्यक्ति और समाज के सुख और उन्नति के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों का पूरा पूरा विकास कर सके; जिस व्यवसाय की ओर अपनी प्रवृत्ति और आकांक्षा हो वह व्यवसाय कर सके; अपने गुणों के कारण वह जितने आदर सन्मान के योग्य हो उतना समाज से निष्कंटक रूप में पा सके। अगर वर्णभेद के सिद्धान्त पूरी तरह माने जाते तो यह स्वतंत्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती। मानवी प्रकृति ने सिद्धान्त की बेड़ी को बहुत कुछ तोड़ दिया पर सिद्धान्त ऐसा प्रबल था कि उसने व्यवसाय की स्वतंत्रता में बड़ी रुकावट डाली। हिन्दुओं का

व्यवसाय

कुछ ऐसा विश्वास था कि जन्म से ही व्यवसाय की प्रवृत्ति नियत हो जाती है, जैसे व्यापारी का लड़का व्यापार के योग्य है, मोची का लड़का जूता बनाने के योग्य है, पुरोहित का लड़का पुरोहिती के योग्य है। पर यह विश्वास भ्रममूलक है। वैज्ञानिक परीक्षाओं ने इसे असत्य सिद्ध कर दिया है। घर में पिता के व्यवसाय की शिक्षा का साधन अवश्य रहता है पर मानसिक शक्तियों की विशेषता या प्रवृत्ति पैतृककुल के अधीन नहीं है। स्वतन्त्रता और शिक्षा होने पर ही मनुष्य को अपनी विशेष प्रवृत्ति का पता लगता है। यहां हिन्दू संगठन ने व्यक्तित्व पर आघात किया और समाज-सेवा के अवसर बेतरह घटा दिये। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि अदालत में दण्ड देने के समय वर्ण का जो विचार किया जाता था उससे केवल न्याय की हत्या होती थी।

जातपाँति के भेदों से हिन्दू समाज सैकड़ों टुकड़ों में बिखर गया। हर एक टुकड़े का अपना अलग जीवन था, मानों अपना अलग संसार था। राष्ट्रीयता का भाव कभी उदय न हुआ, हिन्दुत्व का भाव भी मुसलमानों के आने के पहले प्रबल न हुआ। सामाजिक विच्छेद ने राजनैतिक विच्छेद से मिलकर देश को बार बार नीचा दिखाया। छूआछूत, खान पान और सगाई ब्याह के प्रतिबन्धों का प्रभाव मन पर यही पड़ता कि हमारे यहां एक समाज नहीं है, एक जनता नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, अनेक समाज और अनेक जन-ताएं हैं। पूरे समाज की सेवा और पूरे समाज की भक्ति का भाव बहुत कम लोगों के हृदय में जागृत होता है। जब उस समाज पर बाहर से या भीतर से कोई संकट आता है तब थोड़े से आदमी ही अपने हृदय की प्रेरणा से उसकी रक्षा के लिए आगे बढ़ते हैं। सामाजिक विच्छेदों से साधारण समय में भी पूरे समाज की सेवा का भाव निर्बल हो जाता है, सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित हो जाता है, हृदय संकीर्ण हो जाता है। हिन्दू संगठन की यह सब के बड़ी कमज़ोरी थी। वर्णव्यवस्था से देश की रक्षा में एक और तरह से भी रुकावट हुई। इतिहास में घोर संकट के समय अनेक समाजों के सब पुरुष युद्ध के लिए तय्यार हुए है। उदाहरणार्थ, जब ई० पू० पांचवीं सदी में फ़ारस ने ग्रीक नगरराज्य एथेन्स पर हमला किया तब सब एथीनियन नागरिकों ने लड़ाई के लिए कमर बांधी। स्पार्टा में तो यों ही सब लोग समर के लिये तय्यार रहते थे। १९१४ १८ की लड़ाई में जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैंड आदि देशों के सब पुरुष राष्ट्रीय सेवा में लगे थे,—लाखों तो मैदान में लड़ रहे थे और बाक़ी गोला बारूद बना रहे थे, रेल तार चला रहे थे और दूसरे ज़रूरी काम कर

समाजविच्छेद

राजनैतिक सकट

रहे थे । कहने का तात्पर्य यह है कि किसी न किसी रूप में सारी जाति देशरक्षा के काम में लगी हुई थी । पर हिन्दू व्यवस्था में देशरक्षा का काम केवल एक वर्ण को सौंप दिया गया था । यह सच है कि यहाँ भी व्यवस्था का उल्लंघन कर के कुछ ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सेना में आये, नायक भी हुये, और यहाँ तक बढ़े कि राजा और सम्राट् बन बैठे । पर साधारणतः राज्य की रक्षा एक ही वर्ण के हाथ में थी; बहुतेरे समुदायों से युद्ध करने की, हथियार बाँधने की, चर्चा ही उठ गई थी; सैनिक सेवा उनके बस की बात न रही थी । इस अवस्था में कभी २ देश को बड़ी हानि उठानी पड़ी । एक तो राजनैतिक विच्छेद के कारण एक दो राज्यों को अकेले २ ही आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता था । दूसरे, पूरे समाज की सेवा का भाव निर्बल होने से रक्षा के काम में जनता से यथेष्ट सहायता न मिलती थी । तीसरे, वर्णव्यवस्था के कारण बहुधा केवल एक ही वर्ग युद्ध करता था ।

राजनैतिक जीवन

वर्णव्यवस्था के कारण आभ्यंतरिक राजनैतिक जीवन भी छिन्न भिन्न हो गया था । यहाँ क्षत्रियों के अलावा और वर्णों से राजनीतिक निकलते रहे । तथापि व्यवस्था ने उनकी संख्या अवश्य ही कम कर दी । साधारणतः वैसा व्यापक राजनैतिक जीवन नहीं प्रगट हुआ जैसा कि पुराने ग्रीस या रोम में था या सोलहवी सदी के बाद यूरुप में हुआ है । निस्संदेह राजनैतिक जीवन के इस संकोच के और भी कारण थे; जैसा कि कह चुके हैं, राज्य बड़े २ थे; आने जाने की सुविधा आजकल की सी नहीं हो सकती थी; संगठन छोटे छोटे प्रदेशों के आधार पर था; गांव ही बहुत सी बातों में स्वाधीन थे । पर इन सब के अलावा, वर्णव्यस्था ने भी राजनैतिक जीवन के क्षेत्र को परिमित कर दिया ।

अस्तु, सामाजिकता और समाजसेवा की दृष्टि से हिन्दू सभ्यता को वैसी सफलता नहीं हुई जितनी और मामलों में हुई थी। तो भी यह स्पष्ट है कि राजनैतिक, आर्थिक और साधारण सामाजिक जीवन में एक तरह का सामंजस्य हो गया था, एक तरह की व्यवस्था हो गई थी, एक तरह का समझौता हो गया था जो शताब्दियों तक बना रहा। प्रत्येक गांव अपनी बहुत सी आवश्यकताओं को आप ही पूरा कर लेता था। प्रत्येक उपजाति अपनी अन्य आवश्यकताओं को आप ही पूरा कर लेती थी। शेष प्रयोजनों के लिये छोटे छोटे राज्य और दो चार बातों के लिये बड़े बड़े साम्राज्य पर्याप्त थे। प्रत्येक समाज के सामने यह प्रश्न रहता है कि व्यक्ति के विचार, भाव, प्रवृत्ति इत्यादि को सामाजिक रूप कैसे दे, स्वार्थ को परार्थ से कैसे संयुक्त करे? कुछ आदर्श होने चाहिये, कुछ संस्थाएं होनी चाहिये जिनके द्वारा व्यक्तियों की शक्तियों का और उनके हितों का समीकरण और सामंजस्य हो। इस सर्व-प्रधान उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये हिन्दू समाज ने कुछ आदर्शों और कुछ संस्थाओं का विकास किया। आज हज़ारों बरस के अनुभव के बाद हम देख सकते हैं कि उनमें क्या कमी थी पर हमें यह मुक्तकंठ से स्वीकार करना चाहिये कि इनमें समय की बहुत कुछ अनुकूलता थी, आवश्यकताओं को पूरा करने की बहुत कुछ शक्ति थी। उनकी स्थिरता ही उनकी ऐतिहासिक उपयोगिता का एक प्रमाण है।

सामंजस्य

हिन्दू सामंजस्य के सम्बन्ध में एक प्रथा और एक आदर्श का उल्लेख विशेष रूप से होना चाहिये। राजनैतिक संगठन के सम्बन्ध में संघप्रथा का वर्णन पिछले अध्यायों में बार बार कर चुके

संघ

हैं। इस के गुणों और अवगुणों की समीक्षा भी हो चुकी है। यहां पर केवल इस मूलतत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित करना है कि हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश में संघसिद्धान्त सामंजस्य का एक रूप था। सैकड़ों, हज़ारों, मील के फ़ासलों के कारण स्थायी राजनैतिक एकता असम्भव थी। किसी भी राजधानी से बड़े राज्य पर सीधा केन्द्रिक शासन न तो सम्भव था और न उपयोगी हो सकता था। पर इसके साथ साथ राजनैतिक व्यवस्था और सामंजस्य की भी आवश्यकता थी। इस परिस्थिति में हिन्दू संगठन ने संघसिद्धान्त का अवलम्बन किया। राजनैतिक संघप्रथा के बल से हिन्दू राज्य जनता की बहुत सेवा कर सका और सभ्यता के अनेक अंगों—शिक्षा, साहित्य, कला, इत्यादि—को प्रोत्साहन दे सका।

राजनीति

पर संघसिद्धान्त राजनीति तक ही परिमित न था। आर्थिक जीवन में श्रेणियां भी इस सिद्धान्त का एक रूप थीं। तरह तरह के उद्योग और व्यापार करनेवाले अपनी अपनी श्रेणियां बना कर बहुत सा आत्मशासन करते थे। शेष आर्थिक सामंजस्य राज्य, प्रचलित रीति रिवाज और लोकमत के द्वारा हो जाता था। व्यवसायिक स्वराज्य और सामंजस्य निस्सदेह हिन्दुओं के आर्थिक अभ्युदय के कारण थे। साधारण सामाजिक जीवन में सामंजस्य ने वर्ण, अथवा यों कहिये जाति और उपजाति के संगठन का रूप धारण किया। उसकी आलोचना अभी कर चुके हैं। हिन्दू सभ्यता में संघसिद्धान्त इतना प्रबल और व्यापक था कि वह धर्म में भी दृष्टिगोचर है।

आर्थिक जीवन।

यहां धार्मिक सहनशीलता और धर्मों के पारस्परिक ऋण

का फिर उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। पर ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसमें कहीं कट्टरता नहीं है, जटिलता नहीं है। व्यापकता और सहिष्णुता इसके मुख्य लक्षण हैं। अपने अनुयायी को विचार और पूजा की जैसी स्वतंत्रता यह देता है वैसी आज तक संसार में किसी धर्म ने नहीं दी है। चाहे कोई केवल एक परमेश्वर को माने और चाहे अनेक देवी देवताओं की उपासना करे; द्वैतवादी हो, या अद्वैतवादी हो; कर्मकाण्ड वाला है या योगी हो;—सब के लिये ब्राह्मण धर्म के भीतर स्थान है। यह मानों राजनैतिक संघसिद्धान्त का धार्मिक व्यवहार है। इसके बल से ब्राह्मण धर्म ने बहुतेरे अनार्य मतों को और विदेशी आगन्तुकों के मतों को कुछ बदल कर अपने में मिला लिया। हिन्दुओं के दार्शनिक संसार में भी संघसिद्धान्त प्रचलित है।

धर्म

सामंजस्य का एक सर्वव्यापी आदर्श हिन्दुओं ने निकाला था जो अन्य जातियों के धर्मों और नीतिशास्त्रों में मिलता अवश्य है पर जिसकी पूरी व्याख्या हिन्दुस्तान में ही हुई थी। यह अहिंसा का आदर्श था जो बौद्ध और जैन धर्मों का आधार है और ब्राह्मण धर्म को भी मान्य है। हिन्दुओं का अहिंसा का आदर्श मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े मकोड़े सब ही जीवनधारियों के लिये है। जीवमात्र को एक कुटुम्ब मानना और मनुष्य को सब प्राणियों के हित का ध्यान रखने का उपदेश देना—यह हिन्दू आचारशास्त्र का, हिन्दू सभ्यता का, सबसे बड़ा गुण था। सबसे ऊंचा आदर्श जिसकी कल्पना मानवी मस्तिष्क कर सकता है अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जायगा उतनी ही मात्रा सुख और शान्ति की विश्वमंडल में होगी। मानवजाति ने

अहिंसा

अभी तक इस आदर्श को कार्य में परिणत नहीं किया है पर आदर्श की व्याख्या ही एक बड़े महत्त्व की बात है। हिन्दू सभ्यता का श्रेय है कि उसने कुछ समुदाय उत्पन्न किये जो साधारण जीवन में ही नहीं किन्तु आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भी इस आदर्श का प्रयोग करते रहे और जिन्होंने आज तक इसको जीता जागता रक्खा है। जब संसार इस आदर्श का पूरा प्रयोग करेगा तब जीवन का पूर्ण सामंजस्य होगा और गौतमबुद्ध एवं महावीर-स्वामी सरीखे उपदेशक संसार के—जीवमात्र के—सबसे बड़े हितैषी माने जायंगे।

समाप्ति

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दू सभ्यता के आदर्श हिन्दू धर्म, नीति, साहित्य और कला में विद्यमान हैं। सभ्यता के इन अंगों का बड़प्पन वह सब लोग मानते हैं जिनको इनसे थोड़ी सी भी जानकारी है। हिन्दुस्तान में सदा उनका प्रभाव रहेगा और संसार सदा उनको अपना एक बहुमूल्य कोष मानेगा। सब बातों का विचार कर के देखिये तो हिन्दू सभ्यता जगत् की इनी गिनी प्रधान सभ्यताओं में गणना के योग्य है। अभी इसका इतिहास समाप्त नहीं हुआ है। समय के अनुसार यह अपने में परिवर्तन अवश्य करेगी। अनुकूलन ही व्यक्तिगत या जातीय जीवन का प्रधान लक्षण है। पर हिन्दू सभ्यता में ऐसे सिद्धान्त हैं जो सम्भवतः भविष्य में सारे जगत् पर फिर प्रभाव डालेंगे और मानवजाति को नया मार्ग दिखायेंगे। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, त्याग, ज्ञान की खोज, तर्क, सहनशीलता—यह आदर्श कभी न कभी संसार भर में प्रशंसा पायेंगे और सारी सभ्यता की उन्नति के साधन होंगे।

अनुक्रमणिका ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	ढ़ग	ढंग
,,	११	ही	दी
२	१०	है	हैं
३	१	।	था
,,	१८	वीर काव्य	वीरकाव्य
४	२४	हो	ही
,,	१३	नित्र	चित्र
६	९	जाने	थाने
७	१	न	ने
,,	१८	कुनिया	गुनिया
८	६	उतर	ऊपर
९	२४	गोंडे	गोंडे
१०	९	होती	होतीं
११	११	हैं	हैं
१२	२	गूर्जर	गुर्जर
,,	१२	कारि थ	कोरिंथ
,,	२५	केका रण	के कारण
१३	६	है	है
१४	१२	रहीं	रही
१७	१९	दूनिया	दुनियां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	१२	आर्कओलाजिकल	आर्कियोलाजिकल
२३	७	एं सिये	हंसिये
,,	२३	थीं	थी
२४	९	साह्त्यि	साहित्य
२५	११	काफी	काफ़ी
,,	नोट	वेरीडेल कीथ	वेरीडेल कीथ
२६	६	कामदेव	वामदेव
२६	१२	समंत्रमूह	मंत्र समूह
,,	१५	त	तै
२७	फुटनोट	कैंम्ब्रिज	केम्ब्रिज
,,	,,	हिस्ट्री	हिस्ट्री
२९	११	श्रोर	और
३०	१०	आर्या	आर्यों
३०	१५	हिन्दु स्तान	हिन्दुस्तान
३५	१८	थी	थीं
३३	८	राति	रीति
३५	५	मालू मथी	मालूम होती थीं
,,	८	धम क	धार्मिक
,,	१३	आर्या	आर्यों
३६	११	णाया	आर्यों
,,	१२	मुकाबिला	मुक़ाबिला
३७	३	इननी	इतनी
३९	३	पह	यह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१६	आर	और
,,	२४	जाय	जायँ
४२	१	प्रर्थाना	प्रार्थना
४६	१५	प्रवृति	प्रवृत्ति
४८	२	वीच	बीच
६०	१२	का	को
७३	१	ह	है
,,	,,	ह	है
७९	७	पांत	पाँत
८०	१	स्त्रोत	स्त्रोत
,,	फुटनोट	पैलियोग्रीफी	पैलियोग्राफ़ी
८१	नोट ७	अथर्ब	अथर्व
८३	१८	ान	याने
९०	१५	सन्यक	सम्पर्क
१०७	१२	दसवे	दसवें
१०८	१	उनको	उनके
११०	१०	बड़ी	बड़ा
१११	१	हो	हों
११५	१९	जूआ	जुआ
११८	नोट ३	मकडानल	मैकडानल
१२०	२	है	हैं
,,	मार्जिन	तत्त्वज्ञान	तत्त्वज्ञान
१२४	सिरनामा	पुनजन्म	पुनर्जन्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	१	आग	आगे
१३२	नोट ८	बृहद्देवता	बृहद्देवता
१३६	७	क	का
१३७	३	ता	तो
,,	१०	शकिया	शक्तियाँ
१३९	१	स्त्रिया	स्त्रियों
,,	१४	आपना	अपना
१४२	१४	म	में
१४४	१	धानिक	धार्मिक
१५२	५	मडलिया	मंडलियां
१६१	९	होगी	होंगी
१६१	नोट १	शान्तपर्व	शांतिपर्व
१६४	१२	कम	कर्म
,,	१४	निकर्मण्यता	निष्कर्मण्यता
,,	१६	छाड़	छोड़
,,	१८	की	कीं
१३६	५	है	हैं
,	१७	आदमा	आदमी
१६९	२	दानो	दोनो
१७२	मार्जिन	मत्री	मन्त्री
१७३	नोट ४	आर्दपर्व	आदिपर्व
१७७	११	उद्याग	उद्योग
,,	१३	आथिक	आर्थिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७७	२०	छाडना	छोड़ना
१७८	२०	रामायण श्राद	रामायण के श्रादि
१८१	१९	अरण्यड कांड	अरण्यकांड
१८२	१८	जायंगे	जायँगे
१८३	२	कैके ाय	कैकेयि
,,	२०	म	में
१८४	१४	धर्मिक	धार्मिक
१८६	१०	निविकार	निर्विकार
१८७	१२	मम	लम
१८८	९	भक्तिमा	भक्तिमार्ग
१९२	६	हाता	होता
,,	२१	मासूली	मामूली
,,	२४	ससार	संसार
१९३	१	युरूप	युरुप
१९४	६	सख्य	सांख्य
,,	२०	निगुण	निर्गुण
१९७	सिरनामा	प्रतिसकर	प्रतिसंकर
१९८	२०	ग्रहसग	ग्रहसर्ग
२००	१	वोंतुश्रों	वस्तुश्रों
,,	४	मालम	मालूम
,,	१३	है	हैं
२०३	२०	स्थाना	स्थानों
,,	२२	पूवभाग	पूर्व भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०८	१	थन	थँन
२१३	६	पाचवा	पांचवां
२१५	४	न्यायनर्शन	न्यायदर्शन
२१८	७	वैशेपक	वैशेपिक
२२३	२०	पान	पांत
२२५	८	ब्रह्मण	ब्राह्मण
२२६	२	म	में
२२८	२२	मिलतो	मिलतीं
२३३	१८	भिथ्यात्व	मिथ्यात्व
२३७	२	खिचकर	खिंचकर
२३९	२६	अतमा	आत्मा
२४१	१५	के	को
२४५	१८	सिद्धाथ	सिद्धार्थ
२४७	२०	स्वय	स्वयं
२४९	२	वैंस	वैसे
२५०	१४	है	हैं
२५१	४	पदाथ	पदार्थ
२५७	नोट ५	महावरग	महावग्ग
२५८	१०	संगदन	संगठन
,,	नोट १	कर्नमैनुएल	कर्न, मैनुएल
२६५	७	ासकन्दर	सिकन्दर
२६७	२३	जा	जो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६८	११	धन	धर्म
,,	२५	बाद्ध	बौद्ध
२६९	३	धारण	धारणा
,,	१७	दा	दीं
२७०	१३	कम	कर्म
,,	१४	पात	पाँत
२७२	९	नही	नहीं
,,	१६	ब्राह्मणा	ब्राह्मणों
२७७	सिरनामा	व्यसाय	व्यवसाय
२७१	१२	सन्यासा	सन्यासी
,,	१९	व्यस्था	व्यवस्था
२८८	सिरनामा	स्नानगार	स्नानागार
,,	२२	सीढ़िया	सीढ़ियाँ
२९०	१	जातका	जातकों
,,	,,	ह	है
२९२	१८	दोवारिक	दौवारिक
३०१	१	वत	वर्त
३०३	१७	मौय	मौर्य
,,	फुट नोट ४	सा	सी
३०६	६	एश्वय	ऐश्वर्य
३०९	७	धन	धर्म
३१०	११	जेलखानो	जेलखानों
३१०	१	स	से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१२	मार्जिन	रतम्भ	स्तम्भ
३१३	१४	एनवाई	धनवाई
३१८	नोट १	वेवन, हाउस	येवन, हाउस
३२२	१९	हो ग	होना
३२४	३	डांट	डाँट
३२६	३	वस	यस
,,	फुट नोट ७	मोमदेवपूरि	सोमदेव सूरि
,,	,, १४	याज्ञपल्क्य	याज्ञवल्क्य
३४८	४	वग	वर्ग
,,	७	एसा	ऐसा
३३२	सिरनामा	आ र्देव	आर्यदेव
३४४	१३	इन्ह	इन्हें
३४९	१४	उत्पेक्षा	उत्प्रेक्षा
,,	१४	तो--की	तो उनकी
३५१	१६	गई	गईं
३५३	१०	पडा	पड़ा
३५४	३	इन्हे	इन्हें
,,	१५	थीं	थी
,,	२३	नदी	नदीं
३६०	१४	क्राध	क्रोध
३६३	३	हा	ही
३६६	१३	थी	थीं
,,	२२	कह	कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७२	१	ता	तो
३७३	२०	पैर जोर	पैर पर जोर
,,	२३	प्रसद गुण	प्रसाद गुण
३८४	४	चारो	चारों
३८५	३	इसक	इसके
३८७	१३	धम	धर्म
३९३	२५	वहधा	बहुधा
३९४	५	चारो	चारों
३९५	६	कूए	कूएँ
२९८	१२	था	थीं
३९९	११	थी	था
४०१	५	निपम	नियम
,,	१७	द्विजि	द्विज
४१८	६	अहिसा	अहिंसा
४१९	४	पुराणो	पुराणों
४२१	८	छूा	छू
४२३	१६	जह	जहं
४२४	१३	तांहि	ताहि
४२४	८	न	ने
४३२	७	छाड़ते	छोड़ते
४४३	५	.खून	.खून
,,	९	दोवारों	दीवारों
४४४	२	मी	भी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४५	१०	फो	की
४५१	मार्जिन	हूर्यो	हूणों
४५८	१	सट्ट	खट्टे
,,	सिरनामा	प्रधनता	प्रधानता
४६२	मार्जिन	संघसशान	संघशासन
४६३	,,	सन्नाट्	सम्राट्
,,	,,	आकार	आकर
४६६	९	थी	थीं
४६८	१५	यहा	यहां
४७१	४	सतवीं	सातवीं
४७३	१०	तथपि	तद्पि
४७५	९	त्याने	त्यागने
४८४	३	गौंव	गांव
,,	८	चाछिये	चाहिये
,,	१३	चारो	चारों
,,	१५	पठशाला	पाठशाला
,,	२१	अलूरा	इलूरा
,,	२४	है	हैं
४८६	१८	म	में
,,	मार्जिन	कन्मौज	कन्नौज
४९४	१२	मुसलमनों	मुसलमानों
४९६	४	नौर	और
५००	१९	कया	किया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०१	१०	अफीका	अफ्रीक़ा
,,	२४	निर्वलता	निर्बलता
५०३	१५	ढांढस	ढाढ़स
५०३	१७	का	को
५०४	१८	वलात्कार	बलात्कार
,,	२६	निर्वल	निर्बल
५०५	१	वाहर	बाहर
५१९	१४	क़गज	क़ागज़
५२०	नोट १	एपिम्रफिया	एपिग्राफ़िया
५२१	१	ताम्रपत्र	ताम्रपत्र
,,	४	वगाल	बंगाल
५२४	५	यावजवल्क्य	याज्ञवल्क्य
५२६	४	योग्यता	अयोग्यता
५२७	१	ऐसा	ऐसी
,,	,,	थाड़े	थोड़े
,,	२१	उन्हें	उन्हें
५२८	१६	चारो	चारों
५३३	५	हेता	होता
५३९	७	आर	और
५४०	२०	प्राकर	प्रकार
५४२	२१	विहारि	विहार
५४४	१०	जोड़	जोड़ा
,,	१६	तलाव	तालाब

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४५	८	सर्गों	सभों
,,	१०	रचना	रचनाएं
५४६	२२	सत्र	सत्रु
५४७	२९	सूधा	सीधा
५५१	५	चारो	चारों
,,	२३	हमारतें	इमारतें
५५२	१८	रहा हैं	रहा है
५५४	५	चारो	चारों
,,	१४	लोगों	लोगों
,,	१८	दिन्दू	हिन्दू
५५५	१०	बेहिश्त	बहिश्त
५५६	२२	राजओं	राजाओं
५५७	१७	इस	इस
५५९	२	संगटन	संगठन
,,	९	रक्खी	रक्खीं
५६२	५	की	को
,,	११	हये	हुये
,,	नोट अंतिम पंक्ति	पःगसन	फरगसन
५६४	५	प्रचिलित	प्रचलित
५६८	फुट नोट ३	प्रोसोडिंग	प्रोसीडिंग्स्
५६९	४	थी	था
,,	१६	मुसलमानस	मुसलमान
,,	१८	अवश्यक	आवश्यक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७०	१	आर	और
,,	,,	स	से
,,	७	पुराहितों	पुरोहितों
५७३	४	भीं	भी
,,	फुट नोट २	फ़रसी	फ़ारसी
५७४	११	जब	तब
५७५	८	जायगी	जायँगी
५७७	९	गई	गईं
५८१	२२	सव	सब
५८४	२०	हाता है	होता है
५८५	८	कहीँ	कहीं
५८६	२८	उत्पन्न	उत्पन्न
५८७	६	समालोचन	समालोचना
,,	१५	म	में
५८९	१	को	की
५९१	८	विद्‌एडावाद	वितण्डावाद
५९२	२०	प्रवृत्ति	प्रवृत्तियां
५९७	२१	आविप्कार	आविष्कार
,,	२२	है	हैं
५९९	२३	खिच	खिंच
,,	,,	हुई	हुईं
६०२	८	है	हैं
,,	१४	कीजये	कीजिये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०२	१७	चारो	चारों
६०४	१४	निर्वलता	निर्यलता
,,	१९	क	के
,,	२२	वहुत	बहुत
६०५	सिरनामा	व्यवहा	व्यवहार
६०८	७	व्यवसाय	व्यवसाय
,,	१०	प्रकीत	प्रकृति
,,	१२	वड़ी	बड़ी
६०९	२०	वांधी	बांधी
६१०	१	तात्पय	तात्पर्य
,,	९	वस	बस
६११	४	अथिंक	आर्थिक
,,	२८	कोर	और
,	२४	राह	वह
६१४	१५	प्रायोग	प्रयोग